विधि साहित्य
प्रकाशन

हिन्दू विधि

रवीन्द्र नाथ

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

हिन्दू विधि

लेखक

रवीन्द्र नाथ

विधिसाहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

हिन्दू विधि

लेखक

रवीन्द्र नाथ

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

प्रकाशकीय

हिंदी में विधि की मानक पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन भारत सरकार के विधि और न्याय मंत्रालय में विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा किया जा रहा है। इस प्रकाशन योजना का मुख्य उद्देश्य विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के विधि के विद्यार्थियों तथा अधिवक्ताओं और न्यायाधीशों के लिए हिंदी में विधि की पाठ्य पुस्तकें तथा संदर्भ साहित्य उपलब्ध कराना है। प्रस्तुत पुस्तक "हिंदू विधि" श्री रवीन्द्र नाथ द्वारा लिखी गई है।

इस पुस्तक में "हिंदू विधि" के सभी पहलुओं का विशद विवेचन किया गया है। प्रिवी कौंसिल और उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के प्रति यथास्थान निर्देश किया गया है। आवश्यकतानुसार स्मृतियों और टीकाओं से उद्धरण भी दिए गए हैं।

आशा है कि हमारे अन्य प्रकाशनों की भांति इस पुस्तक का भी स्वागत होगा।

जगत नारायण
प्रधान संपादक
विधि साहित्य प्रकाशन

प्रस्तावना

हिंदू धारणा के अनुसार विधि एक जीवन पद्धति है। उनकी यह धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि उनके देवाधिदेव विष्णु भी विधि के अधीन हैं [1] और विधि के प्रवर्तन के लिए वे स्वयं कठिन से कठिन कार्य भी करते हैं।[2] यही कारण है कि हिंदू जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विधि की प्रधानता है। विधि द्वारा व्यक्ति अपना जीवन चलाने के लिए बाध्य है। हिंदुओं की जीवन-पद्धति जिन विधियों से संचालित होती है, वे ही विधियां न्यायालय द्वारा मान्यताप्राप्त हैं। न्यायिक प्रक्रिया में विधि का अर्थान्वियन हिंदू जीवन पद्धति के अनुसार ही करना होता है।[3] यदि न्यायालयों में आने वाले प्रश्नों का अवधारण करने के लिए भारतीय जीवन पद्धति से ही सही मार्गदर्शन प्राप्त होता है तो किसी शब्द का सही अर्थ जानने के लिए उसी में देखा जाना चाहिए।[4] इससे निर्णय हिंदू भावनाओं के अनुकूल होगा। इन्हीं कारणों से भारत में ब्रिटिश न्याय प्रणाली की स्थापना होने पर भी हिंदुओं के लिए उन्हीं विधियों को मान्यता दी जाती रही जो हिंदू जीवन पद्धति की अंग हैं।[5]

हिंदू विधि का विषय-क्षेत्र नागरिक के गर्भाधान से लेकर मरणोपरांत तक है। गर्भ स्थित शिशु का पारिवारिक संपत्ति में अधिकार और व्यक्ति का मरणोपरांत वंशजों से पिंड-दान प्राप्त करने का अधिकार हिंदू विधि के विषय-क्षेत्र की व्यापकता को पूर्णतया परिभाषित करते हैं। हिंदू विधि के अधीन व्यक्ति की सत्ता गर्भ में आते ही स्थापित हो जाती है और तभी से उसके अधिकारों का उदय हो जाता है।[6] मिताक्षरा विधि के अधीन गर्भ में पल रहा

---

[1] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥ ऋ० 1/22/18.

[2] सोऽहं दानवशार्दूल लोकानां हितकाम्यया।
धर्मंप्रवर्तापयितुं तपश्चर्यां समास्थितः॥ वाम० पु० 8/41 (यह पीतवासा विष्णु का कथन है).

[3] आयकर आयुक्त, नई दिल्ली बनाम फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स आफ कामर्स एंड इण्डस्ट्रीज, नई दिल्ली, [1982] 1 उम० नि० प० 1223.

[4] वही।

[5] "भूमि किराए और सामग्रियों की विरासत और उत्तराधिकार के मामलों का तथा संविदा के सभी मामलों का और एक पक्ष तथा दूसरे पक्ष के बीच के संव्यवहारों का अवधारण, हिंदुओं के मामले में हिंदू विधि तथा प्रथा के अनुसार होगा।" 'भारत के लिए सामान्य विधियों को तैयार करने के लिए नियुक्त आयुक्तों की प्रथम रिपोर्ट', पृष्ठ 60 टी इ० हालैण्ड: ऐलीमेंट्स ऑफ जूरिस्प्रूडेंस, 8वां संस्करण (1896), पृष्ठ 58, में उद्धृत।

[6] भूर्या पितामहोपात्ता निबंधों द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥ याज्ञ० 2/121.
—अर्थे पैतामहे पितुःपुत्रपौत्रयोः तुल्यं स्वाम्यम्। विष्णु०, व्य० नि०, पृष्ठ 410 पर उद्धृत। पैतामहं समानं स्यात् पितुः पुत्रस्य चोभयोः। कात्या० वही।
समं स्वामित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चोभयोः। बृह० वही।

पुत्र भी पिता की संपत्ति में अधिकार प्राप्त कर लेता है। किंतु दायभाग विधि के अधीन उसे यह अधिकार पिता के जीवन काल में प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार प्राचीन काल से ही एक दूसरे से भिन्न विधियां चली आ रही हैं। कुछ स्मृतिकार पिता के जीवन काल में भी गर्भस्थित पुत्र को पैतृक संपत्ति में सांपत्तिक अधिकार देने के पक्षधर[1] रहे हैं तो कुछ इसके विरुद्ध रहे हैं।[2] मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर[3] ने पूर्वमत को ग्रहण किया और दायभाग के लेखक जीमूतवाहन[4] ने उत्तरवर्ती मत को। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों ही उद्भट विद्वानों ने अपने व्याख्याकौशल के आधार पर मनु के 'अनीशास्ते हि जीवतो.'[5] अर्थात् उसकी जीवितावस्था में ईश नहीं है की व्याख्या अपने-अपने मत की पुष्टि में की है।[6] गर्भस्थित पुत्र के सांपत्तिक अधिकार संबंधी यह मतभेद केवल पिता के जीवनकाल में ही है। यदि पुत्र के गर्भ में आ जाने के उपरांत पिता की मृत्यु हो जाए और वह जीवित जन्म ले तो मिताक्षरा और दायभाग दोनों ही विधियों में उसके सांपत्तिक अधिकार उसी दिन से उसमें निहित माने जाते हैं जिस दिन से वह गर्भ में आता है।

सांपत्तिक स्वामित्व की उत्पत्ति के विषय में तो मिताक्षरा और दायभाग विधियों में मतभेद है, किंतु पिण्डदान के विषय में दोनों विधियों में मतैक्य है। मरणोपरांत पिता को पिण्डदान देने का प्रथम अधिकार पुत्र को ही है। जीमूत वाहन पुत्र के इस अधिकार को पिता-पुत्र संबंध से जोड़ते हैं[7] जब कि वास्तविकता यह है कि पुत्र को यह अधिकार पिता-पुत्र की समरक्तता के नाते प्राप्त है[8] और दत्तक पुत्र को यह अधिकार औरस पुत्र का प्रति-

---

1 भूर्या पिता महोपान्ता निबंधो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि ।। याज्ञ० 2/121
—अर्थे पैतामहे पितुःपुत्रपौत्रयोः तुल्यं स्वाम्यम्। विष्णु०, व्य० नि० पृष्ठ 410 पर उद्धृत।
पैतामहं समानं स्यात् पितुः पुत्रस्य चोभयोः। कात्या० वही।
समं स्वामित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चोभयोः बृह०, वही।

2 पितर्युपरते पुत्रा विभजेरन् पितुर्धनम्।
अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते ।। देवल०, व्य० नि०, पृ० 412 में उद्धृत।

3 पैतृके पैतामहे च धने जन्मनैव स्वत्वेऽपि विशेषं 'भूर्या पितामहोपात्ता' (याज्ञ० 2/121) इत्यत्र वक्ष्यामः ।। मिता० दायविभाग की भूमिका, (पृ० 200).

4 देवलश्च पितृधने अस्वाम्यमेव स्पष्टयति। दाय० 1/18.

5 मनु० 9/104.

6 'जीवतोऽस्वतंत्रः स्याज्जरयापि समन्वितः' इत्येतदपि पारतंत्र्यं माता-पित्रर्जितद्रव्यविषयम्। तथा—'अनीशास्ते हि जीवतोः 'इत्येतदपि । मिता० याज्ञ० 2/121, अतो जीवत्येव पितरि पुत्राणां तत्र स्वत्वम् न तु तन्निधनात् ।। दाय० 1/13 'अनीशास्ते हि जीवतोः (मनु० 9/104) की व्याख्या करते हुए जीमूतवाहन कहते हैं 'जीवतोरपि पित्रोः पुत्राणां' कुतो न विभाग इत्याशङ्कायाम्, इदमुत्तरम्, तदानीमस्वामित्वादिति। दाय० 1/15.

7 तदेवं पुत्रादिभिर्जन्मतः प्रभृति पितुः परलोकोचितमहोपकारनिष्पादनात्, मृतस्य च पार्वणविधिना पिण्डदानात्। दाय० 11/1/32.

8 लोके अनान्त्यं वंशस्याविच्छेदः दिवः प्राप्तिश्च। याज्ञ० 1/78 की मिता० टीका पुंनाम्नो नरकादयस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।। मनु 9/138.
यथैवात्मा तथा पुत्रः। मनु० 9/130.

निधि होने के नाते। यदि पिता को पिण्डदान देने का अधिकार केवल पिता पुत्र संबंधों पर आधृत होता तो भिन्न वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्र अथवा जारज पुत्र को भी यह अधिकार होता क्योंकि उनमें भी पिता पुत्र संबंध तो होता ही है। समरक्तता का एक आवश्यक तत्त्व है समानवर्ण की विवाहिता पत्नी से उत्पन्न होना। औरस पुत्र को इन विषयों में प्रमुखता और पूर्विकता समरक्तता के नाते ही प्राप्त है।

पिता की पैतृक संपत्ति में गर्भस्थित पुत्र के अधिकारों की उत्पत्ति और मरणोपरांत उस पुत्र से पारलौकिक लाभ हेतु पिण्डदान प्राप्त करने का अधिकार हिंदूजीवन पद्धति के महत्वपूर्ण अंग हैं। इन अधिकारों से संबंधित विधियों की खोज हिंदू जीवन पद्धति में ही की जा सकती है, अन्यत्र नहीं। जहां एक ओर जन्म से पूर्व ही व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार किया गया वहीं दूसरी ओर उसे मृत पिता के पारलौकिक लाभ हेतु और्ध्वदैहिक धार्मिक कृत्य करने का दायित्व भी दिया गया।[1] इतना ही नहीं पुत्र के आरंभिक जीवन में उसका भरण-पोषण करना पिता का दायित्व और पिता के अन्तिम जीवन काल अर्थात् वृद्धावस्था में उसका भरण पोषण करना पुत्र का दायित्व बनाया गया[2] अधिकार और दायित्व का यह समन्वित स्वरूप हिंदू विधि की उत्कृष्ट विशेषता है। हिंदू विधि के इन नियमों में सुदृढ़ता जीवन पद्धति के रूप में इनका अनुपालन करने से ही आयी है। जब कोई विधि स्मरणातीत काल से निरन्तर अनुपालन में बनी रहती है, तब वह समाज या कुटुंब विशेष में रूढ़िगत हो जाती है। यही कारण है कि प्रश्नगत विषय पर शास्त्रीय अथवा सामान्य विधि की अपेक्षा रूढ़ि को अधिमान दिया जाता है। रक्त संबंध और पिण्डदान के अधिकार का विस्तार स्वामी की मृत्यु निःसंतान होने की दशा में उत्तराधिकारी के अवधारण में भी किया गया है। उत्तराधिकारी के अभाव में संपत्ति के राज्यगामी होने पर राज्य को श्राद्ध आदि करने का दायित्व भी दिया गया है।[3] संपत्ति और श्राद्ध के इस अटूट संबंध को ही जीमूतवाहन ने उत्तराधिकारी के अवधारण में निर्णायक माना और यह सिद्धांत घोषित किया कि अधिमान उसी उत्तराधिकारी को दिया जाना चाहिए जिसे मृतक को पिण्डदान करने का अधिमानी अधिकार प्राप्त है।[4] जीमूतवाहन के इस सिद्धांत से हिंदू उत्तराधिकार विधि में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। किंतु इसे व्यापक समर्थन नहीं मिला। फिर भी उससे प्रभावित क्षेत्र अर्थात् बंगाल में यही विधि मान्य हुई और वहां हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के पारित होने तक पिण्डदान का अधिमानी अधिकार ही वारिसों के हक की निर्णायक कसौटी माना जाता रहा। हां हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के बाद उत्तराधिकार संबंधी हिंदू विधि की विभिन्न शाखाओं का विभेद अवश्य समाप्त हो गया।

शास्त्रीय हिंदू विधि पर यह आरोप लगाया जाता है कि इसमें स्त्रियों को पुरुषों

---

[1] पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृ संततिः।
सपिण्डसंततिर्वापि क्रियार्हो नृप जायते ॥ विष्णु॰ पु॰ 3/13/31.

[2] यस्मात्पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति। तस्मादुत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति।
गोप॰ ब्रा॰ 4/17.

[3] इदं चापि जपेदम्बु दद्यादात्मेच्छया नृप।
उपकाराय भूतानां कृतदेवापि तर्पणम् ॥ विष्णु पु॰ 3/11/32.

[4] उपकारत्वे नैव धनसंबंधो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामभिमत इति मन्यते।
दाय॰ 11/6/31.

के सदृश सांपत्तिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। इस आरोप के निराकरण हेतु हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों में हिंदू स्त्रियों को भी पुरुषों के साथ-साथ दायाद (वारिस) माना गया है। पर परंपरागत विधि में स्त्री धन के रूप में स्त्रियों को जो साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त हैं वे भी पुरुषों के सांपत्तिक अधिकारों से कम नहीं हैं। हिंदू स्त्री का स्त्री धन पर आत्यंतिक स्वामित्व होता है जो उसे स्थावर और जंगम दोनों ही प्रकार की संपत्तियों पर प्राप्त होता है। कौटुम्बिक संपत्ति के विभाजन के समय स्त्रियों के स्त्री धन को विभाजित नहीं किया जा सकता। स्त्री के जीवन काल में उसके पुत्र या पुत्री या पति का उसके स्त्री धन पर कोई अधिकार नहीं होता। स्त्री धन पितृ कुटुम्ब और पति-कुटुम्ब दोनों से ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि कुछ प्रकार के स्त्री धन का व्ययन स्त्री पति की अनुमति के बिना नहीं कर सकती तथापि इससे उसके सांपत्तिक अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुत: स्त्री धन को सुरक्षित रखने के लिए यह एक प्रकार का नियंत्रण है। प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार सहदायिक की व्ययन शक्ति पर भी इसी प्रकार का नियंत्रण है। एक सहदायिक अन्य सहदायिकों की अनुमति से ही अपने सांपत्तिक अंश का व्ययन कर सकता है। स्त्रियों की स्त्री धन से सम्बन्धित व्ययन शक्ति पर पति की अनुमति को इसी दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। वास्तविक स्थिति यह है कि स्त्रीधन पर पति का न तो कोई नियंत्रण होता है, न ही किसी प्रकार का अधिकार। स्त्री धन पर स्त्री का पति से स्वतंत्र अधिकार होता है और उसका यह अधिकार व्यक्तिगत होता है। पुरुष और स्त्री के इन संतुलित सांपत्तिक अधिकारों के होते हुए हिंदू विधि पर किए गए आक्षेप या आरोप उचित नहीं हैं।

प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार पुरुष अनेक विवाह तो कर सकता है किंतु विवाह की संस्कारिता की दृष्टि से वह एक समय में एक ही पत्नी रख सकता है। अर्धांगिनी एक ही हो सकती है, अनेक नहीं। विवाह विधि का आदि उद्देश्य यही है। यद्यपि एक पत्नीत्व का उल्लंघन प्राचीन काल से ही होता आया है तथापि अर्धांगिनी पद की अवधारणा में एक पत्नीत्व ही तर्कसंगत है। यज्ञादि के संपादन के समय भी एक ही पत्नी पति के साथ बैठती है। पत्नी के अभाव में शारीरिक अपूर्णता के कारण पति को यज्ञ करने का अधिकार नहीं होता। यज्ञ की यह विधि और अर्धांगिनी की अवाधारणा दोनों ही इस बात के द्योतक हैं कि पुरुष एक पत्नी रखने का अधिकारी है और विवक्षित रूप से हिंदू विधि पुरुष को एक समय में एक ही पत्नी रखने की अनुमति देती है। विधि के इन नियमों का प्रभाव हिंदू समाज पर पड़ा है और हिंदू मानसिकता और भावनाएं एक ही पत्नी के पक्ष में रहीं हैं आपस्तम्ब ने स्पष्ट कहा है कि यदि स्त्री धर्म पालन में सहायक और संतान युक्त है तो दूसरी पत्नी धारण न की जाए।[1]

हिंदू विधि का ध्येय सामाजिक अनुशासन को सुदृढ़ता प्रदान करना है। सामाजिक अनुशासन में सुदृढ़ता कौटुम्बिक अनुशासन से आती है। जिस समाज में कौटुम्बिक विधि सुदृढ़ होती है, उस समाज में अनुशासन सुदृढ़ होता है। कौटुम्बिक विघटन सामाजिक अनुशासनहीनता का जनक है। हिंदू विधि का सूत्रपात कुटुम्ब से होने से व्यक्तियों में विधिक मानसिकता का निर्माण होता है। शैशवावस्था से ही कौटुम्बिक विधियों का अनुपालन करते रहने से युवावस्था आने तक व्यक्ति में विधि के अनुपालन की मानसिकता परिपक्व

[1] धर्मप्रजा संपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। आप० ध० सू० 2/5/11/12.

हो जाती है। सभ्य समाज के निर्माण के लिए ऐसी ही मानसिकता की आवश्यकता होती है। जिस समाज में विधिक मानसिकता होती है, उसमें विधि और व्यवस्था की समस्या नहीं रहती। उसका नैतिक स्तर भी ऊंचा रहता है। पुत्रों द्वारा पिता के जीवन काल में पैतृक संपत्ति के विभाजन की छूट और नियोग द्वारा क्षेत्रज पुत्र की प्राप्ति विधिविहित होते हुए भी उच्च नैतिकता के नाते समाज में अच्छी नहीं मानी जाती रहीं। विभाजन के लिए न्यायालय में वाद लाने के स्थान पर कौटुम्बिक सम्पत्ति को परस्पर मिलजुल कर विभक्त कर लेना ही युक्तियुक्त माना जाता रहा। इस प्रकार का विभाजन कौटुम्बिक व्यवस्था के रूप में आज भी विधिमान्य है। ऐसी उच्चकोटि की मानसिकता के निर्माण में हिंदू विधि के योगदान को कदापि नकारा नहीं जा सकता। पुत्री को संपत्ति में अधिकार न होने का आधार भी यही था कि वह विवाह के पश्चात् अन्य कुटुंब की सदस्या हो जाएगी, अतः पिता के कुटुम्ब की संपत्ति पर उसका अधिकार उचित नहीं।

हिंदू विधि की इस पुस्तक में जहां तक सम्भव हुआ है, शास्त्रीय और निर्णयज विधियों में समरूपता दर्शाने का प्रयास किया गया है। किंतु जब विधि का विस्तार लोक अनुपालन और व्यवहार के लिए किया जाता है, तब परिस्थितियों की दासता स्वीकार करनी पड़ती है और विधि का अर्थान्वयन इस ढंग से किया जाता है कि उद्देश्यों को अप्रभावित रखते हुए विवादों का युक्तियुक्त निर्णय किया जा सके। ऐसे स्थलों पर जहां शास्त्रीय विधि का विस्तार करके विवादों के निर्णय हुए हैं, वहां केवल निर्णयज विधियों को ही आधार माना गया है। सिद्धांतों का निरूपण करते समय यह सतर्कता बरतने की चेष्टा की गई है कि वे निर्णयज विधियों से भी पुष्ट हों किंतु जिन सिद्धांतों के विषय में ऐसा संभव नहीं हो सका है, उन्हें शास्त्रीय विधियों पर ही आधारित करना पड़ा है।

लेखनी की इस यात्रा में स्वभावतः ऐसे विदेशी शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है, जिनके संस्कृत पर्याय तो विद्यमान है किंतु फिर भी जिन्हें न्यायिक प्रक्रिया में आत्मसात् कर लिया गया है जैसे वारिस हक आदि।

पुस्तक का प्रणयन भारत सरकार के विधि और न्याय मंत्रालय की हिंदी में विधि विषयक पुस्तक लिखवाने की योजना के अन्तर्गत हुआ है। अतएव उस मंत्रालय द्वारा दिए गए निदेशों के अनुरूप ही पुस्तक लिखने का यथासाध्य प्रयास किया गया है। पाठकों की सुविधा और पुस्तक की उपादेयता को ध्यान में रखते हुए शास्त्रीय श्लोक और वचन यथास्थान पूर्ण रूप से उद्धृत किए गए हैं। इससे अध्येताओं को विषय समझने में सरलता होगी फिर भी लेखक के प्रयास की सफलता का निर्णय सर्वदा पाठकाधीन होने के नाते इसे उन्हीं पर छोड़ रहा हूं।

अंत में मैं उन सभी व्यक्तियों और कुटुम्बी जनों का हृदय से आभारी हूं, जिन्होंने पुस्तक के प्रणयन में अपना योगदान दिया है।

—रवीन्द्र नाथ

सी /184/351
तुर्कमानपुर,
गोरखपुर, उत्तर प्रदेश
273005.

विषय सूची

निर्णय-सूची

संक्षेपाक्षर सूची

अत्रि स्मृ०	=	अत्रि स्मृति
अप०	=	याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरार्क टीका
अथर्व०	=	अथर्ववेद
आप० गृ० सू०	=	आपस्तम्ब गृह्य सूत्र
आप० ध० सू०	=	आपस्तम्ब धर्म सूत्र
इनसाइ० आफ० दी सोस० साइं०	=	इनसाइक्लोपीडिया आफ दी सोस-लसाइंसेज
उत्तर राम०	=	उत्तर राम चेरितम्
ऋ०	=	ऋग्वेद
कात्या०	=	कात्यायन स्मृति
कौटि०	=	कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौषी० उप०	=	कौषीतीकी ब्राह्मण उपनिषद्
गौत० ध० सू०	=	गौतम धर्म सूत्र
ताण्ड्	=	ताण्ड्य ब्राह्मण
तैत्ति० उप०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति० सं०	=	तैत्तरीय संहिता
द० मी०	=	दत्तक मीमांसा
दाय०	=	दायभाग
दे०	=	देखिए
ध० शा० इति०	=	धर्मशास्त्र का इतिहास (पांडु-रंगवामन काणे)
ारद०	=	नारदस्मृति
नि० सि०	=	निर्णय सिन्धु
ा० टि०	=	पाद टिप्पण
ातं० यो०	=	पातंजल योगदर्शन
क०	=	प्रकरण रत्नाकर (जैन ग्रन्थ)
ृह०	=	बृहस्पति स्मृति
ृहद्० उप०	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
ौधा० ध० सू०	=	बौधायन धर्म सूत्र

भा० पु०	=	श्रीमद्भागवत पुराण
मत्स्य पु०	=	मत्स्य पुराण
मनु०	=	मनुस्मृति
महा०	=	महाभारत
मा० गृ० सू०	=	मानव गृह्य सूत्र
मिता०	=	मिताक्षरा
मुण्ड० उप०	=	मुण्डकोपनिषद्
यजु०	=	यजुर्वेद
याज्ञ०	=	याज्ञवल्क्यस्मृति
वसिष्ठ०	=	वसिष्ठ धर्मसूत्र
वाम० पु०	=	वामन पुराण
वायु० पु०	=	वायु पुराण
वा० रा०	=	वाल्मीकीय रामायण
विष्णु०	=	विष्णुस्मृति
विष्णु० पु०	=	विष्णु पुराण
वीमि० व्य० अ०	=	वीरमित्रोदय, व्यवहार अध्याय
व्य० नि०	=	व्यवहार निर्णय
व्य० मयू०	=	व्यवहारमयूख
शुक्र०	=	शुक्रनीतिसार
स० नि०	=	सरस्वतीविलास
सा० भा०	=	ऋग्वेद आदि पर सायण का भाष्य
स्मृ० चं०	=	स्मृति चन्द्रिका

अध्याय 1

हिंदू विधि—उत्पत्ति, प्रकृति और स्रोत

हिंदू विधि की उत्पत्ति

हिंदू विधि विश्व की सभी ज्ञात विधि-पद्धतियों में प्राचीनतम है। सामाजिक विज्ञान कोश के अनुसार 'हिंदू विधि संभवतः यहूदी विधि के अतिरिक्त किसी भी अन्य विद्यमान विधि पद्धति की अपेक्षा प्राचीनतर है।'[1] इसके उत्कृष्ट लक्षण तीन हजार वर्ष से विधिक विचार-विमर्श और धर्म तथा रूढ़ि के विवेचन के विषय रहे हैं।[2] विधि जगत् में हिंदू विधि की जड़ें पर्याप्त गहरी हैं। किंतु किसी भी प्राचीनतम पद्धति की उत्पत्ति का इतिहास सदैव संदिग्ध ही बना रहता है। यही स्थिति हिंदू विधि की उत्पत्ति के बारे में भी देखने को मिलती है। हिंदू विधि का इतिहास मनु से पूर्णतया संबद्ध है। मनु की उत्पत्ति का काल सुनिश्चित हो जाने से हिंदू विधि की उत्पत्ति का काल स्वतः स्थिर हो जाएगा। कुछ विद्वानों को यह तथ्य अभी भी स्वीकार्य नहीं है कि मनु उन आदि विद्वानों में से एक हैं, जिन्हें उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त था जिसे उन्होंने स्मृति के रूप में व्यवस्थापित किया। फिर भी अब यह तथ्य स्वीकार किया जाने लगा है कि 'आद्य विधिकार और मानव जाति के पिता के रूप में मनु नाम के इतिहास की प्राचीनता ऋग्वेद तक जाती है'।[3] किंतु मनु के विषय में यह भी कहा जाता है कि 'इस प्रकार का व्यक्तित्व अवश्य ही पूर्णतया काल्पनिक है किंतु बहुत पहले समय से ऐसा आभास मिलता है कि विधि की एक संहिता सर्वोपरि प्रमाण के रूप में मान्य रही है और उसे श्रुतियों तथा सूत्रकारों ने विनम्रता से मनु नाम से उद्धृत किया है'।[4] जिस मनु नामक व्यक्ति के अस्तित्व को सामाजिक विज्ञान विश्वकोश के उक्त विवरण में संदिग्ध कहा गया है उसे भारतीय साहित्य और समाज में आदि मानव और विधिकार के रूप में माना गया है। वैदिक वाङ्मय से लेकर पौराणिक साहित्य तक ने, यहां तक कि मध्यकालीन निबंधकार विज्ञानेश्वर[5] और जीमूतवाहन[6] ने भी

---

[1] इनसाइ० आफ दी सोस० साइं० खं० 9, पृष्ठ 257.

[2] वही।

[3] वही, पृष्ठ 260.

[4] वही पृ० 260.

[5] धर्मशास्त्रं मानवादि। याज्ञ० 1/3 की मिता० टीका। याज्ञ० 1/3 में आए 'धर्मशास्त्र' को विज्ञानेश्वर ने मनु आदि के स्मृति ग्रंथ माना है। मिता० की भूमिका में भी विज्ञानेश्वर ने स्पष्टतः मनु को ऐतिहासिक पुरुष माना है—"याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चित् प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास—यथा मनुप्रणीतं भृगुः।"

[6] जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति, किंतूपरतयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादिवचनम्। दाय० 1/30, इसमें आए 'मन्वादिवचनम्' का तात्पर्य है मनु आदि ऐतिहासिक पुरुषों के वचन।

मनु को एक ऐतिहासिक पुरुष माना है। किसी महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का इतिहास यदि उसके देश के साहित्य में पूर्णतया निरूपित हो और यदि प्रत्येक काल के विद्वानों द्वारा उसे मान्यता दी गई हो, तो उसे इस भांति नकारा नहीं जा सकता। इस तथ्य की स्वीकारोक्ति कि "विधि की एक संहिता सर्वोपरि प्रमाण के रूप में मान्य रही है और उसे श्रुतियों तथा सूत्रकारों ने विनम्रता से मनु नाम से उद्धृत किया है।" इस बात की द्योतक है कि मनु के अस्तित्व को नकारने के लिए पाश्चात्य विद्वानों के पास कोई ठोस आधार नहीं है।

डाक्टर जॉली ने नारद स्मृति के प्रथम अध्याय के दूसरे श्लोक की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि "इस स्थान पर उद्धृत मनु असंदिग्ध रूप से स्वायंभुवमनु हैं, जिन्हें मनु संहिता का उपदेश ब्रह्मा द्वारा दिया गया माना जाता है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों का एक वर्ग भी उन्नीसवीं शती से ही मनु को आदि विधिकार के रूप में मानता आया है। स्पष्टतः ये वही मनु हैं जिनके नाम का उल्लेख पिता मनु के रूप में ऋग्वेद की ऋचाओं में हुआ है।[2] वैदिक वाङ्मय में इसी मनु के वचन को औषध कहा गया है[3]; साथ ही इनके वचनों का उल्लंघन न करने का निदेश भी दिया गया है।[4] यदि मनु ऐतिहासिक व्यक्ति न होते तो वैदिक वाङ्मय में उनका विधिकार के रूप में उल्लेख नहीं किया गया होता।

हिंदू शास्त्रों के अनुसार हिंदू विधि की उत्पत्ति वेदों से हुई है।[5] इस मान्यता से हिंदू विधि वेदकालीन हो जाती है। वैदिक संहिताओं में विधि विषयक मंत्रों की विद्यमानता इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।[6] मनु के अनुसार विधिशास्त्र की दैवी उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से हुई थी।[7] इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि विधि संहिता आरंभ में वेदों के समानांतर कोई पुस्तक थी, जिसका अवशेष मनुस्मृति या मानव धर्मशास्त्र के रूप में आज उपलब्ध है। डा० जॉली का उपर्युक्त संकेत इसी दिशा की ओर है। विधिशास्त्र की उत्पत्ति कर्म को दिशा प्रदान करने के लिए हुई थी।[8] विधि की उत्पत्ति का यही मूल

---

[1] सैक० बु० इ० की 'माइनर लॉ बुक्स' में नारदस्मृति 1/2 का अंग्रेजी अनुवाद द्रष्टव्य।

[2] यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत। ऋ० 1/80/16.
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥ ऋ० 1/114/2.
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि॥ ऋ० 2/33/13.

[3] यद्वै किं च मनुरवदत्तद् भेषजम्। तैत्ति० सं० 2/2/10/2.
मनुर्वैयत्किंचावदत्तद् भेषजं भेषजतायाः। तांड्य० ब्रा० 23/16/17.

[4] मानः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः। ऋ० 8/30/3.

[5] वेदोऽखिलो धर्ममूलम्—मनु० 2/6, वेदो धर्ममूलम्—गौ० ध० सू० 1/1, वेदा एव मूलप्रमाणं धर्माधर्मयोः—हरदत्तः आप० ध० सू० 1/1/1/3 की उज्ज्वला टीका.

[6] यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि। अथर्व० 6/119/1, वैश्वानराय प्रतिवेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु। स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम। अथर्व 6/119/2.

[7] इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः। मनु० 1/58.

[8] तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः। स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्।
मनु० 1/102.

कारण है। इस विषय पर हिंदू धारणा यह है कि सृष्टि के आदि में ही ब्रह्मा मानव समाज के हितार्थ विधि का भी सृजन कर देते हैं।[1] वामन पुराण में स्पष्ट रूप से विधि को आदि-कालीन और पुरातन माना गया है।[2]

हिंदू विधि का अर्थ

संस्कृत में "विधि" शब्द का निकटतम पर्याय धर्म है जो "धृ" धातु से निष्पन्न है और जिसका अर्थ है धारण या पोषण।[3] जिस विधि से विश्व ब्रह्मांड के जड़-चेतन तत्वों का धारण-पोषण हो उसे धर्म कहते हैं।[4] धर्म एक व्यापक पारिभाषिक शब्द है, जिसमें धारण-पोषण संबंधी सभी विधियां सम्मिलित हैं। विधि भी एक व्यापक पारिभाषिक शब्द है, जिसमें सृष्टि के सृजन से लेकर प्रलय तक की विधियां आती हैं। सभी कार्य किसी न किसी विधि के नियम के अनुसार किए जाते या होते हैं।[5] इतना ही नहीं प्राकृतिक तत्वों का अपना-अपना धर्म होता है।[6] उनमें जो क्रियाएं होती हैं या जो कार्य वे करते हैं, वे सभी उनके धर्म के नियम के अनुरूप होते हैं।[7] इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हिंदू धारणा में विधि शब्द न्यायालय की विधि तक ही सीमित नहीं है, अपितु विभिन्न प्रकार के नियमों के लिए विधि शब्द का प्रयोग होता है।

हिंदू विधि की प्रकृति

हिंदू विधि की उत्पत्ति आध्यात्मिक विषयों के साथ होने से इसकी प्रकृति धार्मिक है। इसका विकास धर्म के अंग के रूप में हुआ है। फलस्वरूप, धर्म से इसे पृथक् नहीं किया जा सकता। विधि पर धर्म का जो प्रवल गुणकारी प्रभाव पड़ा है वह है इसका अनुपालन। धर्म से संबद्ध होने के कारण हिंदू विधि में अनुल्लंघनीय शक्ति है।[8] सतत प्रयत्नशील रहने पर भी शासन संसदीय विधियों में अनुल्लंघनीय शक्ति नहीं ला सका। किसी भी शासन के सम्मुख आज विधि के अनुपालन की बड़ी समस्या रहती है। अनुपालन के अभाव में गुणकारी विधि भी निरर्थक होती है। सत्ता की शक्ति से संपन्न न होने पर भी हिंदू विधि में वह शक्ति निहित है, जिसके कारण प्रत्येक हिंदू उसका अननुपालन करना अपना कर्तव्य समझता है।[9] किसी भी विधि की यही वास्तविक प्रकृति होती है। हिंदू विधि में

---

[1] इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ मनु 01/58.

[2] इत्यूचुर्मुनयो मह्यं धर्मपादयं पुरातनम्। वाम० पुरा० 15/4.

[3] 'धृ' धारणपोषणयोः।

[4] धर्मे तत्से पुरीषं तेन वर्धस्त का चप्ययस्व। यजु० 38/21.

[5] यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्तसिन्धवो विस्थिरे। यजु० 38/26.

[6] अतो धर्माणि धारयन्॥ यजु० 34/43.

[7] वही।

[8] आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत्॥ मनु० 1/109.

[9] यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शुभे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥ मनु० 12/92.

यह शक्ति धर्म के कारण आई है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में विधि (धर्म) को शासक का भी शासक माना गया है, जिससे निर्बल भी सबल हो जाते हैं।[1] इस रूप में हिंदू विधि की शक्ति शासन से भी उच्च है और वह सर्वोपरि है। विधि का राज्य विधि की इसी सर्वोपरि सत्ता से स्थापित होता है। जिस विधि में सर्वोपरि शक्ति निहित होती है, उसमें शासन एक उपकरण मात्र होता है। यही कारण है कि हिंदू राजतंत्र में कोई भी शासक हिंदू विधि में परिवर्तन नहीं कर सका। यह तथ्य भी हिंदू विधि की अनुल्लंघनीय शक्ति का ही सूचक है।

हिंदू विधि आदिकाल अथवा अति प्राचीन काल से देश-विदेश[2] के हिंदुओं द्वारा अनुपालित होती आ रही है। इससे यह स्पष्ट है कि इसमें ऐसे गुण विद्यमान हैं, जो सार्वकालिक महत्व के हैं। आज संसदीय विधियां तो कुछ ही वर्षों में महत्वहीन हो जाती हैं, पर हिंदू विधि प्राचीनतम काल से एक ही रूप में बनी है। यह इसकी शक्ति को स्वतः प्रमाणित कर देता है। अनेक झंझावातों को झेलते हुए जो विधि इतने लंबे काल तक अपना अस्तित्व बनाए रखने में सफल रही हो, उसकी प्रकृति अवश्य ही अविनाशी कही जाएगी।

अनेक रूढ़ियों और प्रथाओं में भी हिंदू विधि के अधीन विधि की शक्ति निहित है; यथा जाति प्रथा एवं कुल प्रथा आदि।[3] यद्यपि इन्हें धर्म की कोटि में नहीं गिना जा सकता। और न ही इनकी उत्पत्ति दैवी मानी जा सकती है तथापि इन्हें भी अनुल्लंघनीय माना गया है। जो प्रथाएं एवं रूढ़ियां लोकनीति या नैतिकता के प्रतिकूल नहीं हैं, उन्हें धर्म का रूप प्रदान कर दिया गया है।

हिंदू विधि की विशेषता

विधि की हिंदू धारणा में विधि स्वीय (वैयक्तिक) और आनुवंशिक है न कि स्थानीय या प्रादेशिक।[4] इन दोनों विशेषताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन नीचे किया जा रहा है :—

(1) **स्वीय विधि** : 'स्वीय विधि' का अर्थ है "वह विधि जिससे व्यक्ति किसी भी स्थान या प्रदेश या देश में रहने पर भी उससे संबंधित मामलों में सदा शासित हो"। कोई हिंदू जहां भी रहता है, वह हिंदू विधि से ही उन मामलों में शासित होता है, जिन मामलों में हिंदू विधि लागू है परिणामतः कोई बंगाली यदि उत्तर प्रदेश में प्रवासी हो जाए या कोई मद्रासी बंगाल में प्रवासी हो जाए तो वह स्वीय विधि अपने साथ ले जाता है और

---

[1] तदेतत्क्षत्रस्यक्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयाँ् समाशँ् सते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै सः। बृहद्० उप० 1/4/14.

[2] 'ऐसा माना जाता है कि मनु की विधि-संहिता दूरस्थ जावा और वाली तक विद्यमान थी। कंबोडिया के संस्कृत शिलालेख या तो मनु के साहित्यिक उद्धरण हैं या उस पर आधृत हैं।" इनसाई० आफ दी सोस० साइं० खंड 9, पृष्ठ 260.

[3] जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणी धर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ मनु० 8/41.

[4] इनसाई० आफ दी सोस० साई० खं० 9, पृष्ठ 258.

उसका कुटुंब उसकी स्वीय विधि से ही शासित होगा भले ही उसका प्रवास शतियों पूर्व का हो उसके स्वीय विधि पर प्रवास का प्रभाव नहीं पड़ता।[1] प्रवास का प्रभाव तभी पड़ेगा जब प्रवासी कुटुंब अपनी स्वीय विधि का त्यजन करके स्थानीय विधि ग्रहण कर ले।[2] पटना उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि कोई हिंदू कुटुंब एक राज्य (प्रदेश) से आकर दूसरे राज्य में प्रवासी हो जाए तो यह उपधारणा बनती है कि वह जिस राज्य से आया है उसकी उत्तराधिकार आदि की विधियां और रूढ़ियां भी अपने साथ लेकर आया है।[3] यह उपधारणा उस मामले में भी बनती है, जिसमें प्रवास स्थानीय विधि के विकसित होने से पूर्व का हो।[4] उदाहरणार्थ सामान्यतया हिंदू विधि की विभिन्न शाखाओं का विकास ग्यारहवीं शती के पश्चात् हुआ है और अनेक बंगाली तथा मारवाड़ी कुटुंब उससे पूर्व ही भारत के अन्य क्षेत्रों के प्रवासी हो गए हैं किंतु वे अपनी स्वीय विधि का अनुपालन आज भी करते हैं। उनके बारे में यही उपधारणा बनती है कि वे अपनी स्वीय विधि अपने साथ लाए, भले ही संबंधित प्रदेशों में स्थानीय विधि का विकास उनके प्रवास के पश्चात् हुआ हो।

हिंदू विधि का यह नियम सामान्यतया हिंदू कुटुंब की स्वीय विधि और प्रास्थिति पर आधृत है। भारत में पाश्चात्य 'स्थानीय विधि' का सिद्धांत प्रास्थिति के मामले में प्रचलित नहीं है और प्रत्येक हिंदू अपनी वैयक्तिक प्रास्थिति की विधि से शासित होता है।[5]

प्रिवी कौंसिल[6] ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि "एक जिले का दूसरे प्रेसिडेंसी या राज्य में प्रशासनिक प्रयोजन अंतरण हो जाने मात्र से उस जिले के निवासियों की स्वीय विधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब तक कि यह न दर्शाया जाए कि व्यक्ति ने परिवर्तन के लिए आशयित किया है और अपनी स्वीय विधि को तथ्यतः परिवर्तित भी कर दिया है।"

(2) **आनुवंशिक विधि** : हिंदू विधि की अन्य विशेषता है उसका आनुवंशिक होना। कुलाचार के रूप में जो विधि किसी कुटुंब में आचरित होती है या पाई जाती है वह पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त की जाती है। मनु का कथन है कि जिस मार्ग से पिता या पितामह चलते आए हैं, वही मार्ग अनुसरणीय है।[7] यों हिंदू विधि आनुवंशिक है।

---

1 चिन्नम्मा **बनाम** श्रीनिवास, ए० आई० आर० 1971 मैसूर 28; सोमशेखर **बनाम** महादेव, ए० आई० आर० 1936 पी० सी० 18.

2 सोमशेखर **बनाम** महादेव, ए० आई० आर० 1936 पी० सी० 18; चिन्नम्मा **बनाम** श्रीनिवास, ए० आई० आर० 1971 मैसूर 28.

3 श्रीमती सरस्वती कुंअरि **बनाम** देवेन्द्र सिंह, 1956 बी० एल० जे० आर० 482.

4 वही।

5 नटराज पिल्लै **बनाम** सुब्बाराय्या चेट्टियार, 1950 पी० सी० 34; दुर्गाम्मा **बनाम** गणेशय्या, ए० आई० आर० 1965 मैसूर 97.

6 सोमशेखर **बनाम** महादेव, ए० आई० आर० 1936 पी० सी० 18.

7 येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ मनु० 4/178.

हिंदू कौन है ?

विधि में यह प्रश्न कि "हिंदू कौन है", उस समय उठा जब अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी न्याय-पद्धति को स्थापित किया और भारत के सनातन धर्मियों के लिए संपत्ति, विवाह और दत्तक-ग्रहण आदि विषयों से संबंधित मामलों में हिंदू विधि लागू रखी और मुसलमानों के लिए इन विषयों पर मुस्लिम विधि को लागू किया। न्यायालयों के लिए हिंदू विधि और मुस्लिम विधि से शासित होने वाले व्यक्तियों में अंतर स्थापित करना अनिवार्य हो गया। इस अंतर के लिए जो दृष्टिकोण अपनाया गया उससे हिंदू विधि का शासन क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया। संकीर्ण अर्थ में हिंदू विधि के अंतर्गत केवल वे व्यक्ति आते हैं जो हिंदू माता-पिता से जन्म लेने के कारण हिंदू हैं। किंतु व्यापक अर्थ में कोई व्यक्ति धर्म-संपरिवर्तन से भी हिंदू हो सकता है।[1] मिताक्षरा के अनुसार सजातीय माता-पिता से सजातीय संतान उत्पन्न होती है।[2] यदि जन्म से जाति का निश्चय होता है[3] तो इससे धर्म (मजहब) भी निश्चित हो सकता है। विज्ञानेश्वर के सम्मुख जाति निर्णय की ही समस्या थी अतएव उन्होंने केवल जाति पर ही विचार किया। यदि धर्म (मजहब) निर्णय की समस्या रही होती तो उन्होंने धर्म पर भी विचार किया होता। यद्यपि उनके समय में भी जैन और बौद्ध-धर्म भारत में विद्यमान थे चाहे इनके अनुयायी कम ही संख्या में क्यों न रहे हों तथापि ये पृथक्-पृथक् धर्म न होकर हिंदू धर्म की शाखाओं के रूप में प्रचलित थे। ये दोनों धर्म अनादि काल से प्रचलित हिंदू धर्म की जीवंत चिंतन धारा की ही उपज हैं। यही कारण है कि निबंधकारों या टीकाकारों ने उक्त दोनों धर्मों को अनादि धर्म से पृथक् नहीं माना। इस मान्यता का कारण यह भी है कि इनका दर्शन हिंदुओं से भिन्न होते हुए भी इनका लौकिक पक्ष हिंदुओं से भिन्न नहीं है और इनमें निष्ठा रखने वाले लोग हिंदू विधि और रूढ़ियों से संबद्ध रहे हैं। अंग्रेजों ने भी स्वीय विधि के रूप में हिंदू विधि को ही जैनों और बौद्धों पर लागू किया। सिक्ख धर्म के अनुयायी भी इसी आधार पर हिंदू विधि से शासित होते रहे हैं। फलस्वरूप, विधि जगत् में जैन-बौद्ध और सिक्ख धर्मों के अनुयायी भी हिंदू माने जाते हैं। इन समुदायों के लोगों ने इसमें कभी कोई आपत्ति भी नहीं की।

किंतु भारत में रह रहे पारसियों और यहूदियों आदि के लिए हिंदू विधि के अंतर्गत आने वाले विषयों पर ब्रिटिश शासन द्वारा पृथक् अधिनियम अधिनियमित किए गए। इन समुदायों को न तो संहिताकरण के पूर्व और न ही संहिताकरण के पश्चात् हिंदू माना गया। इनकी रूढ़ियां और प्रथाएं हिंदुओं से पृथक् हैं भी।

---

[1] सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः। याज्ञ० 1/90.
सजातयो मातृ-पितृ-समानजातीयाः पुत्रा भवन्ति।......
मातापित्रोश्चैतदेव जातिलक्षणम्। उसी की मिता० टीका
पेरुमल बनाम पुन्नुस्वामी, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 2352.

[2] याज्ञ० 1/90 की मिता० टीका।

[3] यत्र प्रत्यक्षगम्या जातिर्भवति तत्र तथा। वही।

विधि में आज 'हिंदू' की परिभाषा में केवल वे ही व्यक्ति सम्मिलित नहीं हैं जो इस धर्म विशेष के अनुयायी हैं किंतु इसमें वे व्यक्ति भी सम्मिलित हैं, जो इससे विकसित अन्य पंथों या संप्रदायों के अनुयायी हैं। अर्थात्, 'हिंदू' शब्द उन सभी व्यक्तियों का बोधक है, जिन पर हिंदू विधि लागू होती है। किंतु जिन विषयों पर हिंदू विधि का संहिताकरण हो गया है उनसे संबंधित मामलों में हिंदू कौन है, इसका उत्तर उन्हीं अधिनियमों में दी गई परिभाषा में ढूंढना पड़ेगा।

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 2; हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 2; हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 2; और हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 3 में वस्तुतः 'हिंदू' की एक ही परिभाषा है, जिसके अनुसार निम्नलिखित व्यक्ति हिंदू हैं—

(1) ऐसा कोई भी व्यक्ति जो हिंदू धर्म के किसी भी रूप या विकास के अनुसार जिसके अंतर्गत वीरशैव, लिंगायत, अथवा ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज या आर्य समाज के अनुयायी भी आते हैं, धर्मतः हिंदू हो;

(2) ऐसा कोई भी व्यक्ति जो धर्मतः जैन, बौद्ध या सिक्ख हो;

(3) ऐसा कोई भी अन्य व्यक्ति जो उन राज्यक्षेत्रों में, जिन पर इन अधिनियमों का विस्तार है, अधिवसित हो और धर्मतः मुस्लिम, क्रिश्चियन (ईसाई), पारसी या यहूदी न हो, जब तक कि यह साबित न कर दिया जाए कि ये अधिनियम पारित न किए गए होते तो ऐसा कोई भी व्यक्ति इनमें उपबंधित किसी भी बात के बारे में हिंदू विधि या उस विधि के भाग रूप किसी रूढ़ि या प्रथा द्वारा शासित न होता।

स्पष्टीकरण—निम्नलिखित व्यक्ति धर्मतः यथास्थिति हिंदू, बौद्ध, जैन या सिक्ख हैं :—

(क) कोई भी अपत्य, धर्मज या अधर्मज, जिसके माता-पिता दोनों ही धर्मतः हिंदू, बौद्ध, जैन या सिक्ख हों;

(ख) कोई भी अपत्य, धर्मज या अधर्मज, जिसके माता-पिता में से एक धर्मतः हिंदू, बौद्ध, जैन या सिक्ख हो और जो उस जनजाति, समुदाय, समूह या कुटुंब के सदस्य के रूप में पला हो, जिसका वह, माता या पिता सदस्य है या था; तथा

(ख ख) कोई भी अपत्य, धर्मज या अधर्मज, जो अपने माता और पिता दोनों द्वारा परित्यक्त किया गया हो अथवा जिसकी जनकता ज्ञात न हो और जो दोनों में से किसी भी दशा में हिंदू, बौद्ध, जैन या सिक्ख के रूप में पला हो;[1] तथा

(ग) कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो हिंदू, बौद्ध, जैन, या सिक्ख धर्म में संपरिवर्तित या प्रतिसंपरिवर्तित हो गया हो।

---

[1] हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 2 के अनुसार।

ऊपर उल्लिखित "हिंदू" की परिभाषा या स्पष्टीकरण संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड (25) के अर्थ में किसी अनुसूचित जनजाति के सदस्यों को तब-तक लागू नहीं होंगे जब-तक कि केंद्रीय सरकार शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा अन्यथा निदिष्ट न कर दे। इन अधिनियमों के किसी प्रभाग में आए "हिंदू" पद का अर्थ ऐसा लगाया जाएगा मानो उसके अंतर्गत ऐसा व्यक्ति आता हो, जो यद्यपि धर्मतः हिंदू नहीं है तथापि ऐसा व्यक्ति है, जिसे ये अधिनियम इन धाराओं में अंतर्विष्ट उपबंधों के आधार पर लागू होते हैं।

हिंदू विधि से शासित होने वाले व्यक्तियों का वर्गीकरण

हिंदू विधि से शासित होने वाले व्यक्तियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(1) धर्म के कारण हिंदू

(2) जन्म के कारण हिंदू, और

(3) विधिक कल्पना द्वारा हिंदू।

(1) **धर्म के कारण हिंदू**—धर्म के कारण हिंदू माने जाने वाले व्यक्तियों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) जन्म से हिंदू, बौद्ध, जैन या सिक्ख, और

(ख) धर्मसंपरिवर्तन या प्रतिसंपरिवर्तन से हिंदू, बौद्ध, जैन या सिक्ख।

(क) जन्म से हिंदू, बौद्ध, जैन या सिक्ख :

(i) **हिंदू**—हिंदू धर्म में आस्था एवं विश्वास रखने वाले तथा तदनुरूप आचरण करने वाले ऐसे व्यक्ति, जो हिंदू माता-पिता से उत्पन्न हुए हैं, जन्म से हिंदू हैं।[1] उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'जो व्यक्ति वेद को सर्वोपरि मानते हैं या मानते रहे हैं, जन्म तथा पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, या करते रहे हैं और मोक्ष के लिए किसी हिंदू देवी-देवता की पूजा-पाठ करते हैं या करते रहे हैं, वे हिंदू हैं। हिंदू धर्म जीवन प्रणाली है। विभिन्न पूजा-पद्धतियां मोक्ष के भिन्न-भिन्न साधन हैं।'[2] 'अतएव स्वामी नारायण संप्रदाय हिंदू धर्म का ही अंग है। उनका मंदिर हिंदू मंदिर है। इस संप्रदाय के अनुसार कृष्ण भक्ति मोक्ष का साधन है। यह संप्रदाय वेदों को सर्वोपरि मानता है और जन्म तथा पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। एवं अपने अनुयायियों को पवित्र तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है।[3] हिंदू धर्म की मान्यताओं और आदर्शों का अनुपालन न करने मात्र से कोई व्यक्ति अहिंदू नहीं हो जाता है। प्रिवी कौंसिल ने **रानी भगवान् कौर बनाम योगेन्द्र-चन्द्र बोस**[4] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि "कोई हिंदू, यदि हिंदू धर्म के मूल-भूत सिद्धांतों का अनुपालन नहीं करता या कट्टर हिंदू धर्म का आचरण नहीं करता

---

[1] पेरुमल **बनाम** पुन्नुस्वामी, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 2352.

[2] यज्ञपुरुषदासजी **बनाम** मूलदास, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1119.

[3] वही।

[4] आई० एल० आर० (1903) 21 कलकत्ता 11 (पी० सी०).

उदाहरणार्थ मांसाहारी है, या हिंदू धर्म की निंदा करता है, तो वह अहिंदू नहीं हो जायगा अपितु हिंदू ही बना रहेगा ।''

हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदाय—हिंदू धर्म अतिप्राचीन होने के कारण इसमें अनेक संप्रदायों और विश्वासों का विकसित हो जाना स्वाभाविक है । इसे किसी विशिष्ट धर्म ग्रंथ या पूजा पद्धति से सर्वथा जोड़ा नहीं जा सकता । वस्तुतः हिंदू धर्म अब एक जीवन प्रणाली है और विभिन्न पूजा पद्धतियां मोक्ष के विभिन्न साधन ।[1] इस व्यापक परिभाषा से हिंदू धर्म के विविध सम्प्रदाय अर्थात् वैष्णव, वीरशैव, लिंगायत, नम्बूदरी ब्राह्मण, वैरागी, ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, राधास्वामी संप्रदाय, नाथ संप्रदाय और रामकृष्ण मिशन आदि सभी विशाल हिंदू धर्म के ही अंग हैं । इन संप्रदायों की विशेषता यह है कि इनमें किसी विशिष्ट देवी या देवता या प्रार्थना या ऋषि-मुनि के उपदेशों को ही सर्वोपरि माना जाता है । हिंदू धर्म इतना विराट् है कि इन संप्रदायों के संस्थापकों अथवा ग्रंथों के उपदेश या देवी-देवता मूलतः हिंदुत्व के ही अंग रहे हैं जिन्हें आगे चलकर समुदाय विशेष ने प्रमुखता प्रदान कर दी । फलस्वरूप, वे व्यवहार में कट्टर हिंदू धर्म से भिन्न दिखाई देने लगे किंतु वे विशाल हिंदू धर्मरूपी वृक्ष की शाखाएं, पत्तियां या फल हैं । इन्हें हिंदू धर्म से पृथक् धर्म नहीं माना जा सकता । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन संप्रदायों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जा रहा है ।

वैष्णव—विष्णु के उपासक वैष्णव कहलाते हैं । भारत में प्राचीन काल से ही दो प्रमुख संप्रदाय रहे; यथा; वैष्णव और शैव । हिंदू धर्म में तीन प्रधान देव है; ब्रह्मा, विष्णु और शिव । ब्रह्मा सर्जक है, विष्णु पालक और शिव संहारक तथा कल्याणकर्त्ता यद्यपि ये तीनों देव एक ही नित्य परमात्मा के गुण वैशिष्ट्य के कारण पृथक्-पृथक् शक्ति के रूप में दिखाई देते हैं[2] । वैष्णव धर्म में विष्णु पालक रूप में मान्य होने के कारण श्रेष्ठ हैं[3] जिसमें उनके उपासक अपने को श्रेष्ठ मानते हैं । यह संप्रदाय हिंदू धर्म का उत्कृष्ट संप्रदाय है ।

शैव—शिव के उपासक शैव कहलाते हैं । शिव और शक्ति की उपासना भी भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है । इनकी उपासना कल्याण हेतु की जाती है । शिव का एक नाम रुद्र भी है । सृष्टि के संहारक देव होने के कारण अर्थात् रूलाने के कारण शिव को रुद्र[4] कहते हैं । भक्तों के संकट को हरण करने से 'हर' या 'शंकर' नाम से जाने जाते हैं ।[5] वस्तुतः वे परमात्मा के ही एक रूप हैं ।

---

[1] यज्ञपुरुषदासजी बनाम मूलदास, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1119.

[2] अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने ।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे ।।
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शंकराय च ।
वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ।। विष्णु पु० 1/2/1-2.

[3] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । ऋ० 1/22/19.
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । ऋ० 1/22/20.

[4] रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि । विष्णु पु० 1/8/4.

[5] हरये शंकराय च । विष्णु पु० 1/2/2.

शैव अपने को इसलिए श्रेष्ठ कहते हैं कि इनके देवता शिव 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के प्रतीक हैं अर्थात् 'वे सत्य ही कल्याणकारी होने से सुन्दर हैं'। हिंदू धर्म में शिव की आराधना महान संकट के समय, यथा मृत्यु से रक्षार्थ भी, की जाती है।[1] इसी कारण शैव भी वैष्णव संप्रदाय के समकक्ष हैं और हिंदू धर्म के अभिन्न अंग।

शैव संप्रदाय को वीरशैव भी कहते हैं। इस संप्रदाय के अन्तर्गत योगी, अघोरी, दंडी आदि भी आते हैं। हिंदू विवाह अधिनियम आदि संहिताबद्ध हिंदू विधि में शैव के स्थान पर वीरशैव ही उल्लिखित है।

लिंगायत—शैव संप्रदाय की ही एक शाखा लिंगायत है। यह संप्रदाय शिव की शक्ति के रूप में शिवलिंग को प्रमुखता देता है और उसी की उपासना करता है, जिसके कारण इसे लिंगायत कहते हैं। कालांतर में यह संप्रदाय एक जाति के रूप में विकसित हो गया। लिंगायत दक्षिण में बंबई और तमिलनाडु में पाए जाते हैं। भारत में शिवलिंग की उपासना अतिप्राचीन काल से प्रचलित है और शिव की एक संज्ञा भगवान एकलिंग भी है। उत्तर भारत में शिवलिंग के पुजारियों को गिरि कहते हैं जो एक जाति के रूप में विकसित हो चुके हैं। गिरि लिंगायत के सदृश ही एक जाति है बंबई के लिंगायत शूद्र माने जाते हैं।[2] किंतु विनम्रता पूर्वक यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत के गिरि ब्राह्मण से नीचे अवश्य माने जाते हैं फिर भी शूद्र नहीं है और समाज में प्रतिष्ठित हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए लिंगायत को शूद्र मानना उचित नहीं प्रतीत होता। लिंगायत और गिरि शिव सेवक जातियां हैं, इन्हें शूद्र नहीं कहा जा सकता। मद्रास के लिंगायत शूद्र नहीं हैं क्योंकि उनमें उपनयन संस्कार की भांति गुरु द्वारा दीक्षा संस्कार सम्पन्न किया किया जाता है।[3] मैसूर के लिंगायत भी शूद्र नहीं हैं।[4]

नम्बूदिरी ब्राह्मण—नम्बूदिरी या नम्बूदिरीपाद ब्राह्मण दक्षिण में मुख्यतया केरल में पाये जाते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य इसी जाति के थे। यह ब्राह्मण वर्ण की ही एक जाति है। इनकी रूढ़ियां और प्रथाएं स्थानीय विशेषताओं के कारण अन्य ब्राह्मणों से कुछ विषयों में भिन्न अवश्य हैं। किंतु मात्र इतने से नम्बूदिरी पाद ब्राह्मणों को सामान्य ब्राह्मणों से भिन्न नहीं माना जा सकता। वे हिंदू ब्राह्मण हैं।[5]

संथाली—छोटा नागपुर और मानभूमि के संथाली हिंदू हैं।[6] संथाली इन क्षेत्रों की

---

[1] त्र्यम्बकम् यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥ ऋ० 7/59/12, यजु० 3/60.

[2] त्रिकान **गौड बनाम** शिव्वप्पा, आई० एल० आर० 1943 **बंबई** 706.

[3] सोमशेखर **बनाम** महादेव, ए० आई० आर० 1930 मद्रास 496.

[4] **संगन्न गौड़, बनाम** कालकन् गौड़, ए० आई० आर० 1960 **मैसूर** 147.

[5] विष्णु **बनाम** एक्कम्मा, आई० एल० आर० (1911) 34 मद्रास 496.
नारायण नम्बूदिरी **बनाम** के० रवि वर्मा, ए० आई० आर० 1956 त्रावणकोर-कोचीन 74.

[6] **चुंग बनाम** भवानी, आई० एल० आर० (1945) 24 पटना 727 (छोटा नागपुर के संथाली); बुद्ध **बनाम** दुक्खन, ए० आई० आर० 1956 पटना 427 (मानभूमि के संथाली); लांगा **बनाम** जीवा, ए० आई० आर० 1971 पटना 185.

जन-जाति है और इनमें शास्त्रीय संस्कार का अभाव स्वाभाविक है किंतु मात्र इतने से संथाली अहिंदू नहीं हैं।

वैरागी—हिंदू धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों की प्रमुखता होने के कारण इन आश्रमों के लोगों की संख्या भी प्रचुर है। वैराग या वैराग्य कहते हैं भौतिक जीवन से विरक्त हो जाने को। जो लोग विरक्त हो गये हैं, उन्हें वैरागी कहते हैं। वैरागी भी हिंदू धर्म के अंग हैं।

ब्रह्म समाजी—बंगाल प्रांत के समाज-सुधारक राजा राम मोहन राय ने सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। ब्रह्मसमाज का उद्देश्य एक देववाद की मान्यता तथा जातिवाद और मूर्तिपूजा का खंडन है। इस समाज की स्थापना ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को भारत में कम करने के लिए हुई थी। ब्रह्मसमाज को संहिताबद्ध हिंदू विधि में भी हिंदू माना गया है। इस समाज के लोग पहले भी हिंदू थे।[1]

प्रार्थना समाजी—बंबई क्षेत्र में प्रार्थनासमाज नामक एक संस्था है। इनका विश्वास अद्वैतवाद में है। प्रार्थना के माध्यम से उपासना करने के कारण उन्हें प्रार्थना समाजी कहते हैं। ये भी हिंदू हैं किंतु ब्रह्मसमाज की भांति इस समाज पर भी ईसाई मत का प्रभाव है और इस समाज के लोग वेदों तथा मूर्ति-पूजा को नहीं मानते।[2]

आर्य समाजी—स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित आर्यसमाज के सदस्य आर्यसमाजी हैं। आर्यसमाजी मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करते किंतु वेद को सर्वोपरि मानते हैं। ये लोग पौराणिक पद्धतियों का बहिष्कार करते हैं। इनका उद्देश्य सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग है।[3] इनके सत्य की कसौटी वैदिक वचन और सिद्धांत हैं।

अन्य संप्रदाय—कृष्ण भक्ति में विश्वास करने वाले राधास्वामी कहलाते हैं। नाथ अर्थात् महर्षि गोरखनाथ के अनुयायी गोरखपंथी या नाथ संप्रदायी कहलाते हैं। नाथ संप्रदाय का केंद्र गोरखपुर का गुरुगोरखनाथ का मठ या समाधि है। ये लोग गोरखवाणी में विश्वास करते हैं। रामकृष्ण मिशन के सदस्य बंगाल में अधिक हैं और स्वामी रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का अनुपालन करते हैं। इसी प्रकार नानक पंथी, कबीर पंथी, रविदासी, रामदासी आदि भी हिंदू ही हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक छोटे-बड़े संप्रदाय भारत में चल रहे हैं, जो कट्टर हिंदुत्व का विरोध करने पर भी हिंदू हैं।

(ii) जैन धर्म—हिंदू धर्म के वेदप्रामाण्य से पृथक् अस्तित्व रखने वाला प्रथम मत जैनों का है। ये लोग अपने चौबीस तीर्थंकरों या संतों के उपदेशों को मानते हैं।[4] इनके गणधर स्वामी महावीर हैं। वस्तुतः महावीर स्वामी जैन धर्म के प्रमुख तीर्थंकर माने जाते

---

[1] रानी भगबान कौर बनाम जे० सी० बोस, आई० एल० आर० (1903) 31 कलकत्ता 11 (पी० सी०).

[2] सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 241 (द्वितीय संस्करण, संवत् 1939 वि०).

[3] उसी की भूमिका, पृष्ठ 2.

[4] जिण आणा एधम्मो आणा रहि आण फुंड अहमुत्ति। प्रक० 2/6/92. सत्य० प्रका०, समु० 12 पृष्ठ 280 में उद्धृत.

हैं। 'जिन' द्वारा स्थापित होने के कारण इस मत को जैन कहते है।[1] जैन अपने तीर्थंकरों को 'जिन' कहते हैं। जैन लोग वेदों तथा हिंदू देवी-देवताओं और संस्कारों आदि में विश्वास नहीं करते। फिर भी इनका भौतिक पक्ष हिंदुओं से अभिन्न है। यही कारण है कि जैन भी हिंदू धर्म की एक शाखा के रूप में माने जाते हैं। संहिताबद्ध हिंदू विधि में तो जैन को हिंदू के अन्तर्गत माना ही गया है। किंतु इसके पूर्व भी जैन हिंदू के ही अन्तर्गत माने जाते थे।

(iii) **बौद्ध धर्म**—गौतमबुद्ध के अनुयायी उनके उपदेशों को बौद्ध धर्म कहते हैं, जिसका अर्थ है बुद्ध का धर्म। बौद्ध भी जैनों के समान वेद प्रामाण्य के विरोधी और अहिंसावादी हैं। बौद्ध पहले से ही हिंदू के अन्तर्गत माने जाते रहे हैं और इन्हें इसी आधार पर संहितावद्ध हिंदू विधि में भी हिंदू के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

(iv) **सिक्ख धर्म**—गुरु नानक देव के अनुयायी सिक्ख कहलाते हैं। सिक्ख शब्द शिष्य का ही परिवर्तित रूप है। जिस प्रकार ब्रह्म समाज ने हिंदुओं और अंग्रेजों में सद्भाव स्थापित करने के लिए ईसाई धर्म की अनेक मान्यताओं को अपने सिद्धांतों में सम्मिलित किया उसी प्रकार गुरु नानक देव ने इस्लाम की कुछ मान्यताओं को अपने सिद्धांतों में सम्मिलित किया था। आगे चलकर गुरु गोविन्द सिंह ने हिंदू धर्म की रक्षा हेतु खालसा पंथ की स्थापना की और अब सिक्ख धर्म में उन्हीं के सिद्धांतों को प्रमुखता दी जाती है। फिर भी आद्य गुरु नानक देव ही माने जाते हैं। हिंदू धर्म का रक्षक पंथ होने के नाते यह धर्म हिंदू का ही अंग माना जाता रहा है। संहिताबद्ध हिंदू विधि में सिक्ख धर्म को हिंदू के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। संहिताकरण के पूर्व भी सिक्ख हिंदू माने जाते थे।[2]

यहां यह उल्लेखनीय है कि जिन धर्मों को हिंदू के अन्तर्गत संहिताबद्ध हिंदू विधि में या उसके पूर्व से माना जाता रहा उन सभी धर्मों के संस्थापक हिंदू धर्मी ही थे और उन्होंने काल तथा परिस्थितियों के अनुरूप हिंदू धर्म के ही मूल सिद्धांतों को नये रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास किया था। ये सब भी पुनर्जन्म के सिद्धांत को मानते हैं जो हिंदू धर्म का विशिष्ट लक्षण है। विदेशों में भले ही जैन, बौद्ध या सिक्ख धर्म विशेष के रूप में मान्य हों किंतु भारत में ये धर्म हिंदुत्व की परिधि में ही मान्य रहे हैं और आज भी मान्य हैं।

(ख) धर्म संपरिवर्तन द्वारा हिंदू

धर्म संपरिवर्तन का अर्थ है अपने धर्म का परित्याग करके अन्य धर्म को ग्रहण करना। धर्म संपरिवर्तन के मामले में इन दोनों तत्वों का स्थापित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, अपने धर्म का परित्याग और हिंदू धर्म को अपनाया जाना दोनों ही तथ्य सिद्ध होने चाहिए। यदि किसी मामले में यह स्थापित हो जाए कि अमुक व्यक्ति ने अपने धर्म का, आस्था न होने के कारण, परित्याग कर दिया है तो इतने मात्र से वह हिंदू नहीं मान लिया जाएगा; वह व्यक्ति तभी हिंदू माना जायगा जब यह भी स्थापित हो जाय कि उसने हिंदू

---

[1] चिय हरइ जिणमयं धम्मं। प्रक० 2/60/3. उसी के पृष्ठ 275 में उद्धृत.

[2] इन्द्रसिंह बनाम साधुसिंह, आई० एल० आर० (1944) कलकत्ता 233; बहादुर सिंह बनाम दिलीप सिंह, ए० आई० आर० 1950, एम० पी० 1.

धर्म ग्रहण कर लिया है।[1] अपना मूल धर्म परित्याग किये बिना यदि कोई व्यक्ति हिंदू धर्म के देवी-देवताओं का पूजा-पाठ करता है और उसके आदेशों का अनुपालन करता है, तो भी वह व्यक्ति हिंदू नहीं हो जायगा। धर्म संपरिवर्तन दो प्रकार से हो सकता है; यथा; संस्कार[2] द्वारा और धर्म ग्रहण के आशय की सद्भाविक अभिव्यक्ति तथा आचरण द्वारा।

(क) **संस्कार द्वारा धर्म परिवर्तन**-- वस्तुस्थिति यह है कि हिंदू धर्म में धर्म संपरिवर्तन की कोई व्यवस्था नहीं है। हिंदू धर्म यह मान कर चलता है कि अनादिकाल से एक ही धर्म मानव जाति के अनुपालन के लिए चला आ रहा है। परमात्मा एक होने से धारण करने योग्य धर्म भी एक ही है, अनेक नहीं। उसकी प्राप्ति और उससे संबंध जोड़ने के साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं किंतु साधन की विभिन्नताओं से आत्मा और परमात्मा के संबंधों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यही कारण है कि शारीरिक शुद्धता हेतु अनेक संस्कारों का विकास हो जाने पर भी धर्म संपरिवर्तन के लिए किसी संस्कार का विकास नहीं हुआ। फिर भी हिंदू धर्म में दो व्यवस्थाएं ऐसी हैं, जिनके माध्यम से हिंदू धर्म ग्रहण किया जा सकता है यथा, उपनयन संस्कार और गुरु दीक्षा। धर्मशास्त्रों के अनुसार उपनयन संस्कार हिंदू का ही हो सकता है और जिस व्यक्ति का उपनयन संस्कार हो जाता है वह हिंदू है चाहे वह इस संस्कार के पूर्व किसी भी धर्म या पंथ का अनुयायी रहा हो। मनु स्पष्टतः कहते हैं कि 'स्वाध्याय (वेदाध्ययन) व्रत; होम, त्रैविद्य व्रत, देव-ऋषि-पितृ तर्पण रूपी इज्या, पुत्रोत्पादन, पंचमहायज्ञ और अग्निहोत्र आदि यज्ञ द्वारा यह शरीर ब्रह्म गति के योग्य बनाया जाता है'।[3] इन अनुष्ठानों के लिए यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार आवश्यक है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपनयन संस्कार हिंदुत्व का एक तत्व है। दूसरा माध्यम है, गुरु दीक्षा। किसी भी ऋषि-मुनि या ब्रह्मज्ञानी द्वारा जप या पाठ हेतु मंत्र की दीक्षा ले लेने पर कोई भी व्यक्ति बिना किसी धर्म आदि का विचार किये हिंदू धर्म में आ जाता है। स्वामी दयानंद ने इन्हीं दो धारणाओं के आधार पर सबका यज्ञोपवीत करने, यज्ञ करने और दीक्षित करने आदि की व्यवस्था आर्यसमाज में की और अन्य धर्मावलम्बियों को हिंदू धर्म में प्रवेश के लिए 'शुद्धि-संस्कार' प्रारंभ किया। धर्म संपरिवर्तन हेतु 'शुद्धि-संस्कार' को अब हिंदू विधि में मान्यता भी दी जाती है। मद्रास उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी यूरोपियन महिला को शुद्धि संस्कार होने के पश्चात् हिंदू नाम रखने और हिंदू पुरुष से हिंदू संस्कार विधि द्वारा विवाह करने से वह महिला हिंदू हो जाती है।[4] जैन, बौद्ध और सिक्ख संप्रदायों में दीक्षित होने के भी अपने-अपने संस्कार हैं। यदि कोई व्यक्ति इन धर्मों में से किसी में प्रवेश पाना चाहता है तो उसे इसके संस्कार द्वारा दीक्षित होना चाहिए। इस प्रकार का संस्कार एक प्रकार

---

[1] पेरुमल **बनाम** पुन्नुस्वामी, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 2352.

[2] रत्नजी मोरारजी **बनाम** महाप्रशासक, मद्रास, आई० एल० आर० (1952) 52 मद्रास 160.

[3] स्वाध्यायेन व्रतैहोमस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु० 2/28.

[4] रत्नजी मोरारजी **बनाम** महाप्रशासक, मद्रास, आई० एल० आर० (1952) 52 मद्रास 160.

की गुरु दीक्षा ही है, जिसका विवेचन ऊपर किया गया है। सिक्ख धर्म में संपरिवर्तित होने के लिए मुसलमान द्वारा बताशे के साथ पवित्र जल पीना पर्याप्त माना गया है।[1] किंतु धर्म संपरिवर्तन को प्रभावी बनाने के लिए शुद्धीकरण का औपचारिक गृह्यकर्म आवश्यक नहीं है।[2]

(ख) **सद्भाविक आशय और आचरण द्वारा धर्म संपरितंन**— उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'ऐसा व्यक्ति, जिसने किसी अन्य धर्म में जन्म लिया हो, मात्र हिंदू मत की सैद्धांतिक निष्ठा से ही हिंदू धर्म में संपरिवर्तित नहीं हो जाता, न ही हिंदू धर्म में संपरिवर्तित होने के लिए उसकी यह घोषणा कि 'वह हिंदू है' पर्याप्त है। वस्तुतः हिंदू धर्म में संपरिवर्तित होने के लिए सद्भाविक आशय आवश्यक है और तदनुरूप आचरण द्वारा उस आशय की असंदिग्ध अभिव्यक्ति ही धर्मसंपरिवर्तन का पर्याप्त साक्ष्य हो सकती है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति हिंदू धर्म ग्रहण करना चाहता है तो उसे सद्भावपूर्वक इस आशय की अभिव्यक्ति हिंदू धर्म के आदर्शों और मान्यताओं का अनुपालन करके करनी चाहिए। उसका यह आचरण ही हिंदू जीवन में प्रवेश का प्रबल साक्ष्य हो सकेगा।

(ग) **धर्म प्रतिसंपरिवर्तन**— धर्म प्रतिसंपरिवर्तन का अर्थ है एक धर्म से दूसरे धर्म में संपरिवर्तित होने के पश्चात् पुनः अपने पहले के धर्म में वापस आना। प्रतिसंपरिवर्तन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति जिस जाति या संप्रदाय का त्यजन करके अन्य धर्म में गया था, उसी जाति या संप्रदाय में पुनः वापस आये। ऐसे मामले में प्रतिसंपरिवर्तन व्यापक अर्थों में लिया जाता है और प्रतिसंपरिवर्तित व्यक्ति पुनः हिंदू हो जाता है। उच्चतम न्यायालय[3] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'कोई हरिजन हिंदू ईसाई धर्म में संपरिवर्तित हो जाने के उपरांत यदि हिंदू धर्म में प्रतिसंपरिवर्तित हो तो उसे हरिजन जाति का हिंदू तभी माना जा सकता है, जब हरिजन जाति के लोग उसे और उसके बच्चों को अपनी जाति में स्वीकार कर लें।' यही सिद्धांत अन्य हिंदू प्रतिसंपरिवर्तित व्यक्ति की जाति के विषय में भी लागू होता है। यह विधि अब सुस्थिर हो चुकी है कि प्रतिसंपरिवर्तन के पश्चात् यदि प्रतिसंपरिवर्तित हिंदू व्यक्ति अपनी पहले की जाति में रहना चाहे और वह जाति उसे अपनी जाति का माने, तो वह व्यक्ति धर्मसंपरिवर्तित होते हुए भी उसी जाति का माना जाएगा।[4]

(2) **जन्म के कारण हिंदू**—जन्म के कारण हिंदू होने की दो स्थितियां हो सकती हैं। प्रथम यह कि माता-पिता दोनों ही हिंदू हों। और द्वितीय यह है कि माता-पिता में से कोई एक हिंदू हो और दूसरा अहिंदू। इनका पृथक्-पृथक् विवेचन आगे किया जा रहा है :—

(क) **माता-पिता दोनों हिंदू**— यह सामान्य उपधारणा है कि यदि माता-पिता दोनों ही हिंदू हैं, तो उनसे उत्पन्न संतान हिंदू हैं और उन्हीं की जाति और वर्ण की है। यदि

---

1 दिलीप कौर **बनाम** फत्ती, 18 आई० सी० 930.

2 पेरुमल **बनाम** पुनुस्वामी, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 2352.

3 गुंटूर मेडिकल कालेज **बनाम** मोहनराव, ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1904.

4 एस० राजगोपाल **बनाम** सी० एम० अरुमुगम्, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 101.

माता-पिता हिंदू हैं तो बच्चा अवैध होने पर भी उसके विषय में यही उपधारणा की जाएगी कि वह हिंदू है।[1] किंतु अब यह मात्र उपधारणा का ही विषय न होकर संहिताबद्ध विधि बन गया है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 2 (1) के स्पष्टीकरण तथा अन्य तीनों हिंदू अधिनियमों के समरूप उपबंधों में यह सम्मिलित कर लिया गया है कि माता-पिता हिंदू होने पर वैध और अवैध दोनों प्रकार के बच्चे हिंदू होंगे। इसी प्रकार यदि माता-पिता बौद्ध, जैन या सिक्ख हैं तो वैध या अवैध किसी भी प्रकार का बच्चा उसी धर्म का होगा जिस धर्म के उसके माता-पिता हैं। किंतु इस स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट नहीं है कि यदि पिता हिंदू और माता जैन या बौद्ध या सिक्ख हो अथवा माता हिंदू और पिता जैन या बौद्ध या सिक्ख हो तो बच्चा किस धर्म का होगा। ऐसे मामले में यह सिद्धांत लागू होगा कि बच्चे का पालन-पोषण माता या पिता में से जिस किसी के धर्म के अनुसार हुआ है वही उसका धर्म होगा। यह मामले की परिस्थितियों पर निर्भर होगा और वह तथ्य एवं विधि का मिश्रित प्रश्न होगा।

(ख) **माता-पिता में से एक हिंदू हो और दूसरा अहिंदू**—संहिताबद्ध हिंदू-विधि के अनुसार यदि बच्चे के जन्म के समय माता-पिता में से एक हिंदू हो, और दूसरा अहिंदू किंतु बच्चे का पालन-पोषण उस जनजाति, समुदाय, समूह या कुटुम्ब के सदस्य के रूप में हुआ हो जिसका उसका माता या पिता सदस्य है, या था तो वह बच्चा हिंदू होगा। यहां जनजाति, समुदाय, समूह या कुटुम्ब का तात्पर्य हिंदू, जैन, बौद्ध या सिक्ख धर्मावलंबियों में से किसी एक से है। इसका अर्थ किसी अहिंदू धर्म से नहीं लगाया जा सकता है। प्रिवी कौंसिल[2] ने यह अभिनिर्धारित किया था कि 'ईसाई पिता की हिंदू रखैल से उत्पन्न संतानों का पालन-पोषण हिंदू के रूप में होने से वे हिंदू हैं।' यद्यपि प्रिवी कौंसिल का यह अभिनिर्धारण अधर्मज संतानों के मामले में हुआ था तथापि यह सिद्धांत उन मामलों में भी लागू होता है, जिनके माता-पिता में से एक हिंदू है और दूसरा अहिंदू और दोनों वैध रूप से विवाहित हैं।

(3) **विधिक कल्पना द्वारा हिंदू**—न्यायालय के सम्मुख उस समय समस्या उत्पन्न होती है जब पक्षकार ऐसे राज्यक्षेत्र के निवासी या अधिवासी होते हैं जहां हिंदू धर्म के आदर्शों का प्रचलन कम है। संहिताबद्ध हिंदू विधि में इस समस्या का समाधान इस रूप में किया गया है कि "यदि कोई व्यक्ति उन राज्यक्षेत्रों का अधिवासी है जिन पर हिंदू अधिनियमों का विस्तार है और वह धर्म से मुस्लिम, ईसाई, पारसी या यहूदी नहीं है तो वह हिंदू होगा, जब तक कि यह सिद्ध न हो जाय कि वह संहिताकरण के पूर्व हिंदू विधि या रूढ़ि या प्रथा से जो हिंदू विधि का अंश रही हो, उन मामलों के विषय में शासित नहीं होता था, जिन विषयों का संहिताकरण हुआ है।"[3] ऐसा अधिवासी विधि की कल्पना द्वारा हिंदू है, क्योंकि प्रत्यक्षतः हिंदू धर्म का अनुयायी सिद्ध न होने पर भी उसे हिंदू ही माना जाएगा। मध्य प्रदेश के नायक, जो मूलतः गौंड जाति के हैं, विधि की कल्पना द्वारा हिंदू ही माने

---

1 दत्तात्रेय तात्या बनाम मतवाला, ए० आई० आर० 1934 बंबई 36.

2 मैनाबाई बनाम उत्तरम्, (1861) 8 एम० आई० ए० 400.

3 हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 2(ग) तथा अन्य तीनों अधिनियमों के समरूप उपबंध।

जाते हैं क्योंकि हिंदू विधि से शासित होते हैं ।[1]

हिंदू विधि के स्रोत

हिंदू विधि उस अनादि धर्म का एक अंग है, जो मानवता का संदेश देता है। अनादि धर्म का अंग होने से इसका स्रोत भी अनादि है। सामान्यतया किसी भी प्राचीन वस्तु या सिद्धांत, या विधि का कोई आदि स्रोत ढूंढा नहीं जा सकता। ऐतिहासिक विधि शास्त्र के इस कथन का कि 'विधि होती है, बनायी नहीं जाती है', एक अर्थ यह भी है कि विधि का कोई आदि स्रोत उपलब्ध नहीं है। किंतु हिंदू विधि की यह विशेषता है कि इसके आदि स्रोत का ज्ञान हमें शास्त्रों से प्राप्त होता है और सभी शास्त्र एक स्वर से वेद को धर्म का आदि स्रोत मानते हैं[2] जब कि अन्य विधियों का आदि स्रोत रूढ़ि या प्रथा है। मानव सभ्यता के निर्माण में विधि का महत्वपूर्ण योगदान होने के कारण जो समाज विधि के आदि स्रोत को ग्रंथों के माध्यम से प्राचीनतम काल से स्मरण रख सका है वह समाज जीवित रहने का दावा कर सकता है। आदि स्रोत के रूप में हिंदू विधि के अनेक स्रोत हैं जो इस प्रकार हैं :—वेद, स्मृति, आचार और शुद्ध आत्मा[3]। किंतु समय की गति के साथ हिंदू विधि के स्रोतों में विकास होता रहा और अब इसके निम्नलिखित स्रोत हैं :—

(1) श्रुति; (2) स्मृति; (3) आचार; (4) शुद्ध-आत्मा; (5) टीकाएं; (6) निबंध; (7) रूढ़ियां; (8) न्याय, साम्य, शुद्ध अन्तःकरण; (9) पूर्व निर्णय, और (10) विधान।

आगे इन स्रोतों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाएगा :—

(1) श्रुति—वेद को ही श्रुति कहते हैं।[4] मिताक्षरा भी यही मानती है।[5] किंतु श्रुति शब्द का विशिष्ट अर्थ है। 'श्रू' धातु से 'श्रुति' शब्द व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'जो सुना जाय'। अतः 'जो सुना गया' उसे 'श्रुति' कहते हैं। यह श्रुति श्रोत्र इंद्रिय द्वारा सुना हुआ न होकर 'शुद्ध अन्तःकरण' से श्रुत ज्ञान है। यह ज्ञान तभी प्राप्त होता है, जब आत्मा का संबंध परमात्मा से जुड़ा होता है। इसकी प्राप्ति ध्यानावस्था में ही होती है जैसा कि श्रीमद्भागवत में उल्लिखित है कि ब्रह्मा को भी ज्ञान प्राप्ति के लिए ध्यान लगाना पड़ा था।[6]

गोविंद स्वामी के अनुसार जिसके अर्थ का प्रतिपादन सामान्य इंद्रियों के ज्ञान से

---

1 नागी बनाम राजकुंअर, ए० आई० आर० 1956 नागपुर 138.

2 वेदो धर्ममूलम् ॥ गौत० ध० सू० 1/1.
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥ मनु० 2/6.
उपदिष्टो धर्मःप्रतिवेदम् ॥ बोधा० ध० सू० 1/1/1/1.

3 वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनु० 2/12.

4 श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो । मनु० 2/10.

5 श्रुतिर्वेदः । मिता० याज्ञ० 1/7 की टीका.

6 समाहितात्म नो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
हृदयाकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ॥ भागवत पु० 12/6/37.

परे हो उस नित्य ग्रंथराशि का नाम वेद है और उनके द्वारा प्रतिपादित व्यवस्थाएं धर्म हैं।[1] सामान्य बुद्धि और इंद्रियों से परे होने के कारण वेदों द्वारा प्रतिपादित विधि उन्हीं ऋषियों-मुनियों की समझ में आती है, जो मनु आदि के समान तत्वज्ञानी हैं।[2] यही कारण है कि वेद को धर्म-अधर्म अर्थात् विधि अविधि का मूल प्रमाण माना जाता है।[3] वेद स्वतः प्रमाण ग्रंथ हैं क्योंकि इनके वचन वक्तृत्व दोष और बंधनरहित होने से ही प्रामाणिक हैं।[4]

कुछ विद्वानों के मत से मात्र परंपरानुसार ही वेदों को विधि का मूल प्रमाण माना जाता है। इनमें विधि का अंश बहुत ही कम है। महर्षि भृगु ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि मनु द्वारा प्रतिपादित विधियां वेदों में अभिहित अर्थात् अधिकथित हैं।[5] उल्लेखनीय है कि भृगु जी के इस कथन में औपचारिकता नहीं है। इसमें उस तथ्य का स्पष्टीकरण है, जो यह सूचित करता है कि ब्रह्मा ने स्मृति शास्त्र की स्वतंत्र रचना विधिग्रंथ के रूप में की थी।[6] तात्पर्य यह है कि जो विधियां वेदों में निरूपित हैं, उन्हें ही ब्रह्मा ने लोक व्यवहार की दृष्टि से स्मृति के रूप में व्यवस्थित किया क्योंकि यह संभव नहीं है कि सदैव तत्वज्ञानी ऋषि-मुनि विद्यमान रहें। जब यह विचारधारा सुस्थिर हो चुकी है कि सृष्टि के ज्ञान के लिए वेद का ही अध्ययन करना पड़ता है, तब यह भी सुनिश्चित है कि वेद ही विधि के स्वतः मूल प्रमाण हैं। ये स्वतः प्रमाण इसलिए हैं कि इन्हें प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है वेदों में सुव्यवस्थित और स्वानुशासित जीवन-यापन करने की विधियां भरी पड़ी हैं। विधि की आवश्यकता मनुष्य को व्यवस्थित और अनुशासित जीवन प्रदान करने के लिए होती है और जो ग्रंथ इस दिशा में अतिप्राचीन काल से मार्गदर्शन देता आया हो, और आदि ग्रंथ के रूप में विश्व में मान्य हो, उसी को विधि का भी मूल स्रोत माना जा सकता है।

(2) **स्मृति**

विधि के स्रोत रूप में स्मृति को द्वितीय स्थान प्राप्त है। केवल वेद ही धर्म का मूल नहीं है[7] उसके साथ स्मृति ग्रंथ भी धर्म का मूल हैं।[8] स्मृति शब्द का अर्थ है "जो स्मरण रहे" किंतु विधि जगत् में स्मृति का अर्थ है 'धर्मशास्त्र'[9] किंतु वे ही धर्मशास्त्र धर्म या विधि

---

1 अतीन्द्रियार्थप्रतिपादको नित्यो ग्रंथराशिर्वेदः। तत्प्रतिपाद्यो धर्मः।
—बौधा० ध० सू० 1/1/1/1 की गोविन्दस्वामीकृत टीका।

2 यद्युच्येत न बुद्धादीनामतीन्द्रियेर्थे ज्ञानं संभवतीति तन्मन्वादिष्वपि समानम्।
उज्ज्वलावृत्ति आप० ध० सू० 1/1/1/3 की हरदत्त कृत टीका।

3 वेदा एव मूलप्रमाणं धर्माधर्मयोः। वही।

4 स्वतः प्रमाणस्य हि शब्दस्य न वक्तृदोषनिबन्धनमप्रामाण्यम्। वही।

5 यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु० 2/7.

6 इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ। मनु० 1/58.

7 न तु केवलं वेदा धर्ममूलम्। गौत० ध० सू० 1/1 का मस्करीकृत भाष्य।

8 वेदविदां च ये स्मृतिशीले तेऽपि धर्ममूले भवतः।
—गौत० ध० सू० "तद्विदां च स्मृतिशीले—1/2' पर मस्करीकृत भाष्य।

9 "धर्मशास्त्रम तु वै स्मृतिः" मनु० 2/10, स्मृतिर्धर्मशास्त्रम्। याज्ञ० 1/7 की मिता० टीका।

के स्रोत हैं जो वेद विरोधी नहीं हैं।[1] गोविन्दस्वामी के अनुसार समस्त अनुभूत विषय स्मृति के अंतर्गत आते हैं और जिस ग्रंथ में इसकी अभिव्यंजना की जाती है, उसे 'स्मृति' शब्द से अभिहित किया जाता है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि जो ज्ञान मनु को ध्यानावस्था में अनुभूत हुआ था, उसे स्मरण रखकर उन्होंने जिस धर्मशास्त्र की रचना की उसे स्मृति-ग्रंथ कहा गया। कुछ ऐसे भी विषय थे, जिनकी विधि मनु ने वेदाध्ययन करके निश्चित की। ऐसी विधियों को भी अनुभूत ज्ञान माना गया और इन्हें भी स्मृति-विधि के रूप में मान्यता मिली। भाष्यकारों या निबंधकारों का मत इसी ओर इंगित करता है। शास्त्रों के अनुसार स्मृति-विधि द्वितीय श्रेणी में आती है। किसी विषय पर श्रुति विधि और स्मृति विधि में विरोध होने पर श्रुति विधि को प्रामाणिक माना जाता है।[3] किंतु न्याय जगत् में स्मृति विधियों को अधिक प्रामाणिक माना जाता रहा है। वेदों में भले ही उत्कृष्ट विधि या ज्ञान उल्लिखित हो और शास्त्रीय विचारधारा वेद को उच्चतम प्रामाणिकता प्रदान करती आई हो, किंतु न्यायालय की विधि के रूप में कदाचित् ही कोई वैदिक वचन उद्धृत किया गया। जिन विधियों के बारे में स्मृति की अपेक्षा श्रुति को अधिक प्रामाणिकता प्राप्त है वे पांच हैं वर्णविधि, आश्रमविधि, वर्णाश्रम विधि, गुणविधि और निमित्त विधि।[4] असंहिताबद्ध हिंदू विधि के स्रोत के रूप में स्मृति या धर्मशास्त्र आज भी महत्त्वपूर्ण है। यह अवश्य है कि अनेक विषयों पर निर्णयों द्वारा विधि सुस्थिर हो चुकी है और स्रोत के रूप में निर्णय ही मुख्यतया न्यायालयों में प्रस्तुत किए जाते हैं, किंतु आधारभूत प्रामाणिकता स्मृतियों या धर्मसूत्रों को ही प्राप्त हैं, क्योंकि मूलतः विधिक सिद्धांत इन्हीं के आधार पर अभिकथित हैं। न्यायालय की विधि के रूप में मुख्यतया मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पतिस्मृति, पराशरस्मृति, कात्यायनस्मृति गौतमधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, वसिष्ठ-धर्मसूत्र और आपस्तम्बधर्मसूत्र आदि अधिक प्रामाणिक ग्रंथ हैं।

(3) आचार

आचार का तात्पर्य है, शिष्टाचार या सदाचार। शिष्टों का आचार विधि का तृतीय स्रोत है।[5] शिष्ट कौन है, यह शास्त्रों में परिभाषित है। मनु के अनुसार "विधि-पूर्वक जिन विद्वानों ने वेदांग सहित वेद का अध्ययन किया वे विद्वान् ही 'शिष्ट' हैं क्योंकि वे श्रुति को प्रत्यक्ष करने वाले हैं।"[6] इस प्रकार शिष्टाचार का अर्थ है वेदज्ञ विद्वानों का

---

[1] तेऽपि वेदाविरोधिनी, तद्विदामित्यारम्भात्। गौ० ध० सू० 1/2 पर मस्करिकृत भाष्य।

[2] अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। तदभिव्यंजको ग्रंथः स्मृतिशब्देनोपचर्यते ॥
—बौधा० ध० सू० 1/1/1/3 पर गोविन्दस्वामी कृत भाष्य।

[3] अस्य श्रौतधर्मविरोधे सति दौर्बल्यं द्रष्टव्यम्। बौधा० ध० सू० 1/1/1/3 पर गोविन्द-स्वामीकृत भाष्य।

[4] स च स्मार्तो धर्मः पञ्च विधो भवति—वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मश्चेति। बौधा० ध० सू० 1/1/1/3 गोविन्दस्वामी कृत भाष्य।

[5] तृतीयशिष्टागमः। बौधा० ध० सू० 1/1/1/4.

[6] धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदःसपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ मनु० 12/109; धर्मेणाधिगतो येषां वेदस्सपरिबृंहणः। शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥
—बौधा० ध० सू० 1/1/1/6.

आचार। सदाचार की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"सत्" शब्द का अर्थ है 'साधु' और 'साधु' वह है जो 'दोषरहित' हो। उस साधु पुरुष के आचरण को 'सदाचार' कहते हैं।"[1] मनु द्वारा की गई शिष्टाचार की परिभाषा और विष्णुपुराण की सदाचार की परिभाषा में समानता होते हुए भी अंतर है। वह अंतर है 'दोषरहित' होना। जो विद्वान् दोषरहित है, वही साधु या शिष्ट है। मात्र विद्वान् होना ही शिष्टता का लक्षण नहीं है। उसे दोषरहित भी होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति मत्सररहित, अहंकाररहित, अपरिग्रही, अलोलुप तथा दम्भ, दर्प लोभ, मोह और क्रोध से रहित हो, वही शिष्ट है।[2] शिष्ट व्यक्ति विनिर्दिष्ट किए गए हैं, जिनमें सप्तर्षि, मनु और प्रजापति आते हैं।[3] किंतु इसे दृष्टांत स्वरूप ही माना जा सकता है। जिन व्यक्तियों का आचरण सप्तर्षियों और मनु आदि के समान हो वे भी शिष्ट या साधु व्यक्ति माने जा सकते हैं। विधि में आचार, सदाचार या शिष्टाचार तभी हिंदू विधि का स्रोत होता है, जब वह किसी कुल या समाज द्वारा अनुपालित होने लगता है। उस दशा में यह शिष्टाचार न होकर रूढ़ि या प्रथा में परिवर्तित हो जाता है। फिर भी सामाजिक विधि के रूप में, सभ्यता के निर्माण में और विधि का राज्य स्थापित करने में शिष्टाचार या सदाचार विधि का प्रत्यक्ष स्रोत होता है और रहेगा। लोकनीति का निर्माण शिष्टों के आचार के आधार पर ही होता है। अनेक सामाजिक विधियां समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के आचार का अनुकरण करने से विकसित होती हैं। उनका स्रोत मूलतः शिष्टाचार ही होता है। अपराधों की परिभाषा सदाचार के आधार पर ही की जाती है। कोई कृत्य अपराध, दुराचार या भ्रष्टाचार तभी होता है जब उसका शुद्ध रूप समाज में विद्यमान अथवा परिभाषित होता है।

(4) शुद्ध आत्मा

प्राचीन हिंदू विधि का चतुर्थ स्रोत है आत्मप्रियता या शुद्ध-आत्मा की पुकार। मनु ने शुद्धात्मा से किए कर्म की परिभाषा इस प्रकार की है—"जिस कर्म को कर्त्ता दूसरों पर प्रकट करने की इच्छा रखता हो और जिसे करते हुए उसे लज्जित न होना पड़े वही कर्म आत्मा को तुष्ट करता है और वही 'सद्गुण' का लक्षण है।"[4] पर मिताक्षरा के अनुसार जहां एक विषय पर अनेक विधियां हों, वहां अपनी इच्छा से किसी एक विधि को अपनाना आत्मा की पुकार को मानना है। यथा यदि आठ वर्ष की वय का उल्लेख हो तो उसे गर्भाधान से आठ वर्ष मानें या जन्म से आठ वर्ष, इसमें व्यक्ति की इच्छा ही निर्णायक

---

1 साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारस्स उच्यते॥ विष्णु पु० 3/11/3.
सदाचारः सतां शिष्टानामाचारोऽनुष्ठानम्। याज्ञ० 1/7 मिता० की टीका।

2 शिष्टा खलु विगतमत्सराः निरहङ्काराः कुम्भीधान्या अलोलुपादम्भदर्पलोभमोहक्रोध-विवर्जिताः॥ बौधा० ध० सू० 1/1/1/5.

3 सप्तर्षयोऽथ मनवः प्रजानां पतयस्तथा।
सदाचारस्य वक्तारःकर्तारश्च महीपते॥ विष्णु पु० 3/11/4.

4 यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्वगुणलक्षणम्॥ मनु० 12/37.

होती है।[1] यों इस विषय पर मनुस्मृति और मिताक्षरा में मतैक्य नहीं दिखाई देता। मनु के अनुसार यह व्यक्ति की स्वेच्छा का विषय है जिसकी प्रेरणा उसका अंतःकरण देता है। किंतु मिताक्षरा में एक ही विषय पर दो व्यवस्थाओं में से एक को चुनने के विकल्प का उल्लेख है। इनमें मनु का मत अधिक व्यापक है और विधि की गतिशीलता का परिचायक भी है, जिसके द्वारा नई विधि का सर्जन भी संभव है। यदि मनु के मत को आज की संसदीय प्रणाली के परिवेश में देखा जाय तो यह धारणा स्पष्ट हो जाएगी कि संसद के माध्यम से जिन विधियों की विरचना होती है, उनका मूलतः यही स्रोत है। नीति निर्माता की आंतरिक भावना के आधार पर विधेयक का प्रारूप तैयार होता है। उसकी आंतरिक भावना और 'आत्मप्रियता' में कोई विभेद नहीं है। जनतांत्रिक प्रणाली में विधि के स्रोत के रूप में इसी को प्रमुखता प्राप्त है, चाहे इसको कुछ भी संज्ञा देकर इसके स्वरूप को परिवर्तित कर दिया जाय। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह हिंदू विधि का ही स्रोत नहीं रह गया है अपितु इसका क्षेत्र व्यापक हो गया है।

(5) टीकाएं

'टीका' का शाब्दिक अर्थ है, किसी शब्द, वाक्य या वाक्यांश के भाव या आशय का स्पष्टीकरण जिससे वह सामान्य शिक्षित व्यक्तियों को भी बोधगम्य हो सके। विधि के स्रोत के रूप में टीकाओं की महत्ता प्रत्येक युग या काल में रही है। वर्तमान काल में विधि के आशय का स्पष्टीकरण या व्याख्या न्यायपालिका करती है किंतु प्राचीन और मध्यकाल में विधि की व्याख्या करना विद्वानों और चिंतकों का कार्य था। शास्त्रों में धर्म ज्ञान के हेतु वेद-स्मृति वचनों की तर्कसंगत व्याख्या को आवश्यक माना गया है।[2] व्याख्या या टीका के अभाव में विधि का अनुपालन उचित ढंग से नहीं होता। न्यायालय की विधि के रूप में टीकाओं का अपना महत्व है; चाहे वह अधिवक्ता द्वारा मौखिक रूप से की जाय अथवा किसी टीकाकार द्वारा ग्रंथ रूप में।

जब किसी मूल ग्रंथ की व्यवस्थाओं को व्यवहृत किया जाता है तब उन्हें लागू करने में न्यायालयों के सम्मुख अनेक कठिनाइयां या समस्याएं आती हैं। उनका निराकरण न्यायालयों को करना पड़ता है। यदि ऐसे विधि-विषयों पर पहले से टीकाएं विद्यमान हों तो इससे न्यायालयों को निर्णय देने में सरलता होती है। स्मृति या सूत्र ग्रंथों में ऐसे अनेक विषय हैं, जिन पर विभिन्न व्यवस्थाएं देखने को मिलती हैं, जिनमें परस्पर विरोधाभास भी होता है। किसी-किसी विषय पर एक स्मृति या धर्मसूत्र में अनेक वैकल्पिक व्यवस्थाएं दी गई हैं। ऐसे विषयों की विधि को सुस्थिर करने का कार्य टीकाएं ही करती हैं। ब्रिटिश शासनकाल में याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका को सर्वोच्च प्रामाणिकता इस कारण मिली कि इसमें विज्ञानेश्वर ने विभिन्न स्मृमियों और मौलिक ग्रंथों का अध्ययन करके और उनके वचनों को उद्धृत करके उन में समन्वय द्वारा हिंदू विधि को सुस्थिर करने का कार्य किया है। उन्होंने मनु के अनेक वचनों को याज्ञवल्क्य और अन्य परवर्ती स्मृतिकारों

---

1 स्वस्यचात्मनः प्रियं, वैकल्पिके विषये यथा 'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे' (याज्ञ० 1/14) इत्यादावात्मेच्छैव नियामिका। याज्ञ० 1/7 की मिता० टीका।

2 यस्तेर्कणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ मनु० 12/106.

के वचनों के आधार पर स्पष्ट या व्याख्यापित किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर मिताक्षरा एक संतुलित टीका सिद्ध होती है। प्रायः सभी प्रमुख स्मृतियों और धर्मसूत्रों पर टीकाएं उपलब्ध हैं, जिनकी सहायता ब्रिटिशन्याय पद्धति के आरंभिक काल में हिंदू विधि के मामले में न्यायालयों को लेनी पड़ती थी। ये हैं : याज्ञवल्क्य स्मृति पर विश्वरूप की 'बालक्रीड़ा टीका' और सुबोधिनी टीका आदि; पराशरस्मृति पर वेंकट माधव की टीका जिसे पराशर माधवीय कहते हैं; गौतम धर्मसूत्र पर हरदत्त, भर्तृयज्ञ, असहाय और मस्करी के भाष्य; बौधायनधर्मसूत्र पर गोविंदस्वामी का विवरण, जो वस्तुतः भाष्य है, किंतु जिसे 'विवरण' कहा गया है तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र पर हरदत्त की उज्ज्वला वृत्ति। ये सभी टीकाएं विधि की स्रोत हैं और विदेशी विधि-विशेषज्ञों ने भी इन टीकाओं को उचित मान्यता दी है।

(6) निबंध

जब किसी स्मृति के आधार पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखा जाता है तब उसे निबंध कहते हैं। निबंध में मूल ग्रंथ के आशय का स्पष्टीकरण मात्र न होकर संबंधित विषयों पर लेखक के आशय की भी अभिव्यक्ति होती है और अपने आशय की पुष्टि हेतु लेखक विभिन्न स्मृतिकारों के वचनों को उद्धृत करता है। इसी कारण विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका स्वतंत्र निबंध भी मानी जाती है। इसमें विज्ञानेश्वर ने अनेक स्थलों पर अपना स्वतंत्र आशय भी प्रकट किया है। इस हेतु उन्होंने याज्ञवल्क्य के वचनों की कहीं कम करने वाली[1] और कहीं पुष्टि करने वाली[2] व्याख्या की है। अपरार्क की टीका भी इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर स्वतंत्र निबंध है। किंतु इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक स्वतंत्र निबंध हैं जिनका किसी स्मृतिविशेष से कोई संबंध न होकर स्मृतियों में प्रतिपादित विषयों से है। ये निबंध हैं—व्यवहारमयूख, वीरमित्रोदय (व्यवहारकांड), स्मृतिचंद्रिका, सरस्वतीविलास, कृत्य कल्प तरु (व्यवहार काण्ड) और विवादचिन्तामणि आदि। कुछ ऐसे भी निबंध हैं, जो मात्र एक या दो विषयों पर लिखे गए हैं; यथा दायभाग दायतत्व, दत्तकचंद्रिका और दत्तकमीमांशा आदि। ये सभी निबंध न्यायालय की विधि के स्रोत हैं और जिन विषयों का संहिताकरण नहीं हुआ है, उन पर ये निबंध क्षेत्रीय ग्रंथ के रूप में अभी भी प्रामाणिक माने जाते हैं।

(7) रूढ़ि या प्रथा

रूढ़ि की परिभाषा प्रिवी कौंसिल ने इस प्रकार की है—'रूढ़ि वह नियम है जिसने

[1] याज्ञ० 2/123 में आया है 'पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्। अर्थात् "पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्रों में विभाजन होने पर माता को एक पुत्र के बराबर भाग मिलना चाहिए।" इस पर मिताक्षरा का अधिकथन है कि "मातापि स्वपुत्रांशसममंशं हरेत् यदि स्त्रीधनं न दत्तम्। दत्तेत्वर्धांशहारिणीति वक्ष्यते" अर्थात् माता तभी बराबर अंश पाएगी जब उसे स्त्रीधन न मिला हो; और यदि मिला हो तो आधा ही पाएगी।

[2] याज्ञ० 2/135 में पत्नी को पुत्र के अभाव में 'प्रथम उत्तराधिकारी माना गया है ('तत्र प्रथमं पत्नी धनभाक्') इसकी पुष्टि करते हुए मिताक्षरा ने अधिकथित किया है कि पत्नी विवाहसंस्कृता 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे इति स्मरणात्' अर्थात् क्योंकि विवाह-संस्कार से युक्त पत्नी यज्ञ में साथ बैठती है, यह स्मरण रखना चाहिए।"

कुटुंब विशेष या जनपद विशेष में लंबे काल तक व्यवहृत होने के कारण विधि का बल प्राप्त कर लिया है।"[1] प्रिवी कौंसिल ने रूढ़ि या प्रथा की यह परिभाषा हिंदू शास्त्रों की धारणाओं के आधार पर दी है। रूढ़ि के बारे में हिंदू धारणा यह है कि एक ही प्रथा चाहे अनेक कुटुंबों या जनपदों में क्यों न व्यवहार में हो, किंतु उसे उस विशिष्ट कुटुंब या जनपद की ही रूढ़ि माना जाएगा जिसके मामले में वह रूढ़ि प्रश्नगत है। इसी हिंदू धारणा को प्रिवी कौंसिल ने रूढ़ि की उक्त परिभाषा में स्पष्ट किया है। मनु और याज्ञवल्क्य जब यह कहते हैं कि 'जाति विधि, जानपद विधि, श्रेणी विधि की समीक्षा करके निर्णय दिया जाना चाहिए"[2] तब इसका यही अर्थ है कि जो रूढ़ि एक जाति, जनपद या कुटुंब आदि में प्रचलित है, उसे संबंधित जाति आदि के व्यवहारों में मान्यता देनी चाहिए पर उसे जाति आदि की ही प्रथा मानना चाहिए भले ही वह रूढ़ि अन्य जातियों आदि में भी प्रचलित हो। उसे सामान्य प्रथा का रूप नहीं दिया जा सकता। हिंदू रूढ़ि के बारे में वर्तमान विधिज्ञों की मान्यता है कि हिंदू विधि-पद्धति के अधीन प्रथा का स्पष्ट सबूत लिखित शास्त्रीय विधि की अपेक्षा गुरुतर होगा।"[3] किंतु इस विधिक मान्यता या धारणा में अब परिवर्तन हो गया है। संहिताकरण के पश्चात् रूढ़ि की यह मान्यता नहीं रह गई है जो प्राचीन हिंदू विधि के अधीन थी। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955; हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; हिंदू दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 4 तथा हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 5 के उपबंधों के अधीन उन सभी रूढ़ियों तथा प्रथाओं को अविधिमान्य घोषित कर दिया गया है जो इन अधिनियमों के उपबंधों के प्रतिकूल हैं। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि जो रूढ़ियां या प्रथाएं उक्त अधिनियमों के उपबंधों के अनुकूल हैं वे भी अमान्य या अविधिमान्य हैं। जो रूढ़ियां या प्रथाएं अधिनियमित विधि के उपबंधों के अनुकूल हैं उन को व्याख्या या स्पष्टीकरण के लिए ग्रहण किया जा सकता है और वे विधिमान्य होंगी। कुछ रूढ़ियां या प्रथाएं संहिता-बद्ध हिंदू विधि में भी मान्यता प्राप्त हैं और उनमें अब भी विधि का वही बल है, जो संहिताकरण से पूर्व था। निम्नलिखित मामलों में रूढ़ियों को विभिन्न हिंदू अधिनियमों में मान्यता प्रदान की गई है :—

(1) प्रतिसिद्ध नातेदारी में भी विवाह की रूढ़ि;[4]

(2) सपिंड नातेदारी में भी विवाह की रूढ़ि;[5]

(3) हिंदू विवाह के अनुष्ठापन संबंधी रूढ़िगत कृत्य और गृह्यकर्म;[6]

---

[1] हरप्रसाद बनाम शिवदयाल, 3 आई० ए० 259.

[2] जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ मनु० 8/41.
कुलानि जातीःश्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि।
स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि॥ याज्ञ० 1/361.

[3] जिलाधिकारी, मदुरै बनाम मुत्तुरामलिंग, 2 एम० आई० ए० 397.

[4] हिंदू विवाह अधिनियम, 1955, धारा 5 (iv).

[5] उसी में, धारा 5 (v)

[6] उसी में, धारा 7.

(4) रूढ़िगत विवाह-विच्छेद,[1]
(5) रूढ़ि के अनुसार विवाहित व्यक्ति का दत्तक-ग्रहण,[2]
(6) रूढ़ि के अनुसार 15 वर्ष से अधिक आयु के बच्चे का दत्तक-ग्रहण,[3]

(8) न्याय, साम्या और शुद्ध अंतःकरण

अंग्रेजी न्याय पद्धति के साथ-साथ न्याय, साम्या और शुद्ध अंतःकरण का सिद्धांत भी हिंदू विधि में लागू हुआ। उच्चतम न्यायालय[4] के अनुसार हिंदू विधि में किसी नियम या रूढ़ि के अभाव में न्याय, साम्या और शुद्ध अंतःकरण के सिद्धांत के अनुसार निर्णय दिया जा सकता है यदि ऐसा करना हिंदू विधि के किसी सिद्धांत के प्रतिकूल न हो।

(9) पूर्व निर्णय या न्यायिक निर्णय

यहां पूर्व निर्णय का अर्थ है प्रश्नगत विषय पर उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय का किसी अन्य वाद या मामले में निर्णय। प्राचीन हिंदू विधियां प्रिवी कौंसिल या भारतीय उच्च न्यायालयों द्वारा सुस्थिर हुई है। हिंदू विधि के मामले में उच्चतम न्यायालय के अधिकांश निर्णय प्रिवी कौंसिल के पूर्व निर्णयों पर आधृत हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 141 के उपबंधों के अधीन उच्चतम न्यायालय के निर्णय सभी न्यायालय मानने के लिए आबद्ध हैं। अतएव अब पूर्व-निर्णय विधिक स्रोत हैं।

(10) विधान

हिंदू विधि के जिन विषयों पर अधिनियम बन चुके हैं उन पर संबंधित नियम ही विधि के स्रोत हैं। अब अनेक विषयों पर हिंदू विधि के प्रमुख स्रोत शास्त्र न होकर अधिनियम ही हो गए हैं।

हिंदू विधि की शाखाएं

हिंदू दाय विधि की दो प्रमुख शाखाएं हैं; अर्थात् मिताक्षरा और दाय भाग। प्रिवी कौंसिल ने यह अधिकथित किया है कि मिताक्षरा बंगाल के अतिरिक्त संपूर्ण देश में सभी शाखाओं द्वारा स्वीकार की जाती है और उसे सर्वोच्च प्रामाणिकता प्राप्त है, बंगाल में भी इसे उच्च प्रामाणिकता प्राप्त है और मात्र उन्हीं विषयों पर इसकी प्रामाणिकता अस्वीकार की जाती है जिन पर यह दाय भाग से भिन्न मत रखती है।[5] मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति का भाष्य है। दायभाग में जहां कहीं मिताक्षरा से भिन्नता है, वहां बंगाल में वही अभिभावी है और बंगाल तथा अन्य शाखाओं की प्रमुख मतभिन्नता का मूल है।

---

1 उसी में, धारा 29(2).

2 हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956, धारा 10 (iii).

3 उसी में, धारा 10 (iv).

4 गुरुनाथ **बनाम** कमला बाई, [1951] एस० सी० आर० 135; सरस्वती **बनाम** जगदम्बाल, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 20.

5 जिलाधीश मदुरै **बनाम** मुत्तुरामलिंग, (1868) 12 एम० आई० ए० 397.

दायभाग भी याज्ञवल्क्य की प्रामाणिकता को अन्य विषयों में समान रूप से स्वीकार करता है और उसमें विश्वास करता है।" कहने का तात्पर्य यह है कि जिन विषयों पर दायभाग मौन है या दोनों के मत में कोई अंतर नहीं है, वहां मिताक्षरा को प्रामाणिकता प्राप्त है। निबंधकारों या भाष्यकारों में मतभेद का मूलकारण स्थानीय या क्षेत्रीय रूढ़ियां या प्रथाएं हैं, जिन्हें आधार मानकर टीकाएं लिखी गई हैं। यही कारण है कि क्षेत्रीय ग्रंथों को उन विषयों पर मिताक्षरा की अपेक्षा प्रामाणिक माना गया जिन पर उनमें और मिताक्षरा में मतभेद था या मिताक्षरा मौन[1] निबंधकारों ने कोई विधि अधिनियमित नहीं की है अपितु रूढ़ियों या प्रथाओं का स्पष्टीकरण करके ही उसे विधि का रूप दिया है।[2] फिर भी प्रत्येक विषय पर निबंधकारों ने रूढ़ियों का आशय लेकर व्याख्या नहीं की है अपितु अन्यान्य ऐसे स्मृतिवचनों को आधार बनाया है जो मूलरूप में आज उपलब्ध नहीं है। ऐसे वचनों को रूढ़ि नहीं कहा जा सकता। निबंधकारों की टीकाओं को रूढ़ियों पर आधारित मानना उसके साथ अन्याय होगा। शुल्क लेकर कन्यादान की प्रथा, नियोग और मातुल कन्या के साथ विवाह आदि की प्रथाओं की स्मृतियों में भी निंदा की गई है। अस्तु उन्नीसवीं शती के मध्य में न्यायालयों द्वारा हिंदू विधि में शाखाओं को जन्म दिया गया और शाखाएं केवल मिताक्षरा और दायभाग तक ही सीमित नहीं रहीं। मिताक्षरा की चार शाखाओं को भी मान्यता दी गई जो इस प्रकार हैं—वाराणसी, मिथिला, महाराष्ट्र (बम्बई) और द्रविड (मद्रास) शाखाएं। इनका पृथक्-पृथक् विवेचन नीचे किया जाएगा :—

(1) **वाराणसी शाखा** :—इसका क्षेत्र संपूर्ण उत्तर भारत, बिहार का उत्तरी भाग, तथा मध्य और पश्चिमी भारत है। वाराणसी शाखा का मूल प्रामाणिक ग्रंथ है मिताक्षरा और इसके सहयोगी या पूरक ग्रंथ हैं वीरमित्रोदय[3] तथा निर्णय सिंधु[4]। वीरमित्रोदय के विषय में प्रिवी कौंसिल[5] का यह विचार है कि "वीर मित्रोदय को उन विषयों पर उचित प्रामाणिकता प्राप्त है, जिन पर मिताक्षरा संदिग्ध अथवा अस्पष्ट है और यह वाराणसी शाखा की विधि का एक घोषणात्मक ग्रंथ है।" किंतु जिन विषयों पर मिताक्षरा स्पष्ट और असंदिग्ध है वहां यह वाराणसी शाखा का एक मार्गदर्शक प्रामाणिक ग्रंथ भी है। निर्णय सिंधु को विवाह उपनयन स्त्रीधन के उत्तराधिकार और श्राद्ध के अधिकार संबंधी विषयों पर न

---

[1] बुधसिंह **बनाम** लालता सिंह, आई० एल० आर० (1915) 37 इलाहाबाद 604 (पी० सी०); कमलाअम्माल **बनाम** वेंकटलक्ष्मी अम्माल, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1349.

[2] दक्षिण में मातुल कन्या से विवाह विधिविहित न होने पर भी मान्यता, बम्बई द्वीप आदि में स्त्रियों को पुरुष से विरासत में मिली स्थावर संपत्ति पर आत्यंतिक स्वामित्व आदि।

[3] गिरधारीलाल **बनाम** बंगाल सरकार, 12 एम० आई० ए० 448.

[4] कुशलचन्द्र **बनाम** मणिबाई, आई० एल० आर० (1887) 11 मुम्बई 247; द्वारिका नाथ **बनाम** शरत्चन्द्र, आई० एल० आर० (1912) 39 कलकत्ता 319.

[5] गिरधारी लाल **बनाम** बंगाल सरकार, 12 एम० आई० ए० 448.

केवल वाराणसी शाखा में अपितु बम्बई,[1] बंगाल[2] और मद्रास[3] में भी प्रामाणिकता प्राप्त है। पंजाब जो सामान्यतया वाराणसी क्षेत्र में ही माना जाता है, और जहां वीरमित्रोदय को भी प्रामाणिकता प्राप्त है, वहां मुख्यतः, स्थानीय रूढ़ियों और प्रथाओं को प्राथमिकता दी जाती है। दत्तक ग्रहण विषय पर दत्तक मीमांसा और दत्तकचंद्रिका प्रामाणिक ग्रंथ हैं किंतु जिन विषयों पर दोनों में मतभिन्नता है, वहां वाराणसी शाखा में दत्तकमीमांसा को प्राथमिकता दी जाती है।[4] इस शाखा के अन्य पूरक प्रामाणिक ग्रंथ हैं विवादताण्डव[5] और वैजयंती।[6] वाराणसी शाखा वेदवादी हिंदू विधि की शाखा है और इसकी प्रामाणिकता प्राचीन काल से विख्यात है।

(2) **मिथिला शाखा** —हिंदू बिधि की मिथिला शाखा में तिरहुत और उत्तरी बिहार के कुछ जिले आते हैं[7]। सामान्यतया मिथिला भूतपूर्व दरभंगा राज्य और उसके आस पास का क्षेत्र कहा जाता है। इस शाखा के प्रामाणिक ग्रंथ हैं—मिताक्षरा, विवाद-चिंतामणि विवाद-रत्नाकर और मदन-पारिजात। मिथिला में विवाद-चिंतामणि और विवाद-रत्नाकर को अधिक प्रामाणिकता प्राप्त है।[8] मिताक्षरा की प्रामाणिकता मिथिला शाखा में भी है और विवाद-चिंतामणि, विवाद-रत्नाकार तथा मदन-पारिजात की प्रामाणिकता केवल उन्हीं विषयों पर स्वीकार की जाती है जिन पर मिताक्षरा से ये ग्रंथ पृथक् व्यवस्था देते हैं।[9] इनमें भी विवाद-चिंतामणि को प्राथमिकता दी जाती है[10] क्योंकि इसके निबंधकार वाचस्पति मिश्र मिथिला के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं। इस शाखा के अन्य ग्रंथ हैं—लक्ष्मीदेवी कृत व्यवहार-चिंतामणि, विवादचंद्रोदय, श्रीशंकराचार्य कृत स्मृतिसार, हरिनाथोपाध्याय कृत स्मृति सार, तथा केशवमिश्र कृत द्वैतपरिशिष्ट।[11]

(3) **महाराष्ट्र या बम्बई शाखा** :—मिताक्षरा विधि की महाराष्ट्र शाखा के अंतर्गत बम्बई द्वीपसमूह, उत्तरी कोंकण और गुजरात आते हैं। इस शाखा के प्रामाणिक

---

[1] आई० एल० आर० (1887) 11 मुम्बई 247 (विवाह-संस्कार); दत्तात्रेय **बनाम** गंगाबाई, आई० एल० आर० (1922) 46 बम्बई 541 (श्राद्ध अधिकार).

[2] आई० एल० आर० (1912) 39 कलकत्ता 319 (स्त्रीधन का उत्तराधिकार).

[3] विश्वसुन्दरराव **बनाम** सीसुन्दरराव, आई० एल० आर० (1920) 43 मद्रास 876 (उपनयन-संस्कार).

[4] जिलाधिकारी, मदुरै **बनाम** मुत्तु रामलिंग, (1868)12 एम० आई० ए० 397; पुत्तूलाल **बनाम** पार्वतीकुंअर, ए० आई० आर० 1915 पी० सी० 15.

[5] द्वारिकानाथ **बनाम** शरत्चन्द्र, आई० एल० आर० (1912) 39 कलकत्ता 319.

[6] बुध सिंह बनाम लालता सिंह, आई० एल० आर० (1915) 37 इलाहाबाद 604 (पी० सी०).

[7] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल ऑफ हिंदू लॉ, 1 पृष्ठ 50.

[8] भगवानदास **बनाम** मैनाबाई, (1867) 11 एम० आई० ए० 487.

[9] सुरेन्द्रमोहन बनाम हरिप्रसाद, आई० एल० आर, (1926)5 पटना 135 (पी० सी०).

[10] श्रीमती ठाकुरदेई **बनाम** बालकराम, (1886)11 एम० आई० ए० 139.

[11] कामनीदेवी **बनाम** कामेश्वर सिंह, आई० एल० आर० (1946)25 पटना 58.

ग्रंथ हैं—मिताक्षरा, व्यवहारमयूख, वीरमित्रोदय, निर्णयसिंधु, पराशर-माधवीय, दत्तक मीमांसा और विवाद-ताण्डव। इस शाखा को बम्बई शाखा या पश्चिमी भारत की शाखा भी कहते हैं। सामान्यतया इस शाखा में मिताक्षरा की प्रामाणिकता प्रमुख मानी जाती है। पुणे, अहमदनगर और खानदेश क्षेत्रों में मिताक्षरा और व्यवहारमयूख को समान रूप से प्रामाणिक माना जाता है[1] किंतु बम्बई द्वीप, गुजरात और उत्तरी कोंकण क्षेत्रों में जिन विषयों व्यवहारमयूख और मिताक्षरा में मतभिन्नता हो उनमें व्यवहारमयूख को प्राथमिकता दी जाती है।[2] बम्बई क्षेत्र में स्त्रीवारिसों को आत्यंतिक स्वामित्व व्यवहार मयूख के अनुसार ही प्राप्त है[3] जब कि मिताक्षरा सीमित स्वामित्व का पक्षधर है। व्याख्या स्वरूप या स्पष्टीकरण के लिए याज्ञवल्क्य स्मृति की बालम्भट्टी टीका और सुबोधिनी टीका[4] को उद्धृत किया जाता है। संस्कारकौस्तुभ[5], वीरमित्रोदय[6] तथा निर्णयसिंधु भी निर्देशित होते हैं।

(4) **मद्रास या द्रविड़ शाखा** :—यह दक्षिणी भारत की शाखा है। इस शाखा में स्मृतिचंद्रिका को मिताक्षरा के पूरक ग्रंथ के रूप में मान्यता दी गई है।[7] स्मृतिचंद्रिका के निबंधकार देवण्ण भट्ट बारहवीं शती में दक्षिण के एक प्रभावशाली विद्वान् थे। विरासत के मामले में इनके ग्रंथ को उत्कृष्ट माना जाता है। किंतु इस शाखा में न्यायालय द्वारा विधि के किसी भी विषय में मिताक्षरा से असहमति व्यक्त करना उचित नहीं होगा।[8] मद्रास शाखा के अन्य प्रामाणिक ग्रंथ हैं—पराशर-माधवीय[9] तथा सरस्वतीविलास[10]। सरस्वतीविलास को इस शाखा में उच्च स्थान प्राप्त है और उसे प्रिवी कौंसिल द्वारा अनेक मामलों में उद्धृत किया गया है। किंतु उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस शाखा में मिताक्षरा को अधिक प्रामाणिकता प्राप्त है।[11]

---

[1] भागीरथीबाई **बनाम** कान्हाजीराव, आई० एल० आर० (1887) 11 मुम्बई 285; कन्हैयाजी **बनाम** ध्यानजी, ए० आई० आर० 52 कच्छ 18.

[2] कृष्णजी **बनाम** पाण्डुरंग, आई० एल० आर० (1875) 12 मुम्बई 65; लल्लूभाई **बनाम** मानकुंअरिबाई, आई० एल० आर० (1878) 2 मुम्बई 388; भीमबाई **बनाम** गुरुनाथ, 60 आई० ए० 25.

[3] बलवंतराव **बनाम** बाजीराव, ए० आई० आर० 1921 पी० सी० 59; विनायक **बनाम** लक्ष्मीबाई, (1864) 9 एम० आई० ए० 516.

[4] बुधसिंह **बनाम** लालतासिंह, आई० एल० आर० (1915) 37 इलाहाबाद 604 (पी० सी०); डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ : पृ० 57.

[5] जिलाधिकारी, मदुरै **बनाम** मुत्तूरामलिंग, (1868) 12 एम० आई० ए० 397.

[6] गजबाई **बनाम** शाहजी राव, आई० एल० आर० (1893) 17 बम्बई 114.

[7] सुन्दरम् पिल्लै **बनाम** रामस्वामी पिल्लै, आई० एल० आर० (1920) 43 मद्रास 22; कमलाम्माल **बनाम** वेंकट लक्ष्मी, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1349.

[8] शिम्मणि अम्माल **बनाम** मुत्ताम्माल, आई० एल० आर० (1880) 3 मद्रास 265.

[9] चिन्नस्वामी पिल्लै **बनाम** कुंजू पिल्लै, (1912) 35 मद्रास 153.

[10] मुत्तुपाण्ड्यन् **बनाम** अम्मणि अम्माल, आई० एल० आर० (1898) 21 मद्रास 58.

[11] कमलाम्माल **बनाम** वेंकटलक्ष्मी, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1349.

(5) **बंगाल या दायभाग शाखा** :—दायभाग जीभूतवाहन का एक निबंध है जो सांपत्तिक विरासत और विभाजन की सविस्तार विवेचना करता है। जीभूतवाहन ने इस ग्रंथ की रचना विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका के अनेक सिद्धांतों का खंडन करने हेतु की थी। बंगाल के एक राजा के मंत्री होने के नाते इनका प्रभाव बंगला-भाषा-भाषी क्षेत्र में अधिक रहा। फलस्वरूप, दायभाग को बंगाल में सर्वोच्च प्रामाणिकता मिली। इस शाखा के अन्य पूरक ग्रंथ हैं—दायतत्व और दत्तकचंद्रिका। बंगाल शाखा की कोई उपशाखा नहीं है।

□ □ □

अध्याय 2
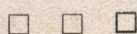
सहदायिकी और सहदायिकी संपत्ति

मिताक्षरा विधि

सहदायिकी

सहदायिक का अर्थ

'सहदायिक' का अर्थ समझने से पूर्व 'सहदाय' का अर्थ समझ लेना उपयोगी होगा। सहदाय एक नवनिर्मित शब्द है, जो 'सह' और 'दाय' शब्दों के योग से बनाया गया है। 'सह' का अर्थ है 'साथ-साथ' और 'दाय' का अर्थ है 'उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति' इस अर्थ में सहदाय की परिभाषा निम्नलिखित रूप में की जा सकती है :—

वह दाय, जिस पर मूल स्वामी के साथ-साथ उसके वंशजों का भी स्वत्व चलता रहता है, अथवा उत्पन्न होता है।

इस प्रकार 'सहदायिक' का अर्थ है, वह पुत्र या वंशज जिसका स्वामित्व दाय में पिता या पूर्वज के साथ-साथ ही उत्पन्न हो जाता है। सहदाय और सहदायिकी दोनों ही पारिभाषिक शब्द हैं और विशिष्ट पारस्परिक संबंधों के वाचक हैं। प्राचीन शास्त्रों में सहदायिक को "समांशी"[1] कहा गया है, जिसका अर्थ 'समान अंश का हकदार'।[2] दाय में समान अंश का हक ही सहदायिकी संबंध का मूल आधार है।

सहदायिक और सहदायिकी की परिभाषा

किसी पुरुष की तीन पीढ़ी तक के वंशज उसके साथ पैतृक संपत्ति में समान अधिकार रखने के कारण सहदायिकी कहलाते हैं।[3]

पिता के साथ पुत्र, पौत्र और प्रपोत्र का पैतृक संपत्ति में सहस्वामित्व सहदायिकी कहलाता है।[4]

---

[1] "ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः॥ याज्ञ 2/114.

[2] "पितापुत्राः समांशिनः॥ बृहस्पति, मिताक्षरा के पृ० 201 पा० टि० में उद्धृत। व्य० मयू० पृ० 59 भी "सर्वे वा ज्येष्ठादयः समांशशाजः कर्त्तव्याः। याज्ञ० 2/114 की मिताक्षरा टीका।

[3] 'अयं च पुत्राणाम् विभागः पुत्रपौत्रप्रपौत्रपर्यन्तः।"
—मित्रमिश्रः वीरमित्रोदय, व्य० अध्याय पृ० 587 (1875 सं०)
जी० बुद्धम् बनाम आयकर आयुक्त, मैसूर, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1523.

[4] "तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥" याज्ञ० 2/121.

हिंदू सहदायिकी की प्रकृति

सहदायिकी हिंदू विधि की रचना है और इस अवधारणा में सामूहिक हित, कब्जे की एकता तथा संयुक्त उपभोग समाविष्ट हैं। प्रत्येक सहदायिक का अधिकार संपूर्ण संयुक्त संपत्ति पर होता है, और उनमें से प्रत्येक सहदायिक का संपूर्ण कौटुम्बिक संपत्ति में हित भी रहता है।[1]

हिंदू विधि में सहदायिकी रूपी विलक्षण संस्था की रचना का आधार मनु का वह मत है, जिसमें कहा गया है कि "तीन पूर्वजों पिता, पितामह और प्रपितामह (पितामह के पिता) को जलतर्पण तथा पिण्डदान करने का अधिकारी चौथा वंशज होता है, पांचवा वंशज नहीं।"[2] यजुर्वेद में भी कहा गया है कि "प्रपोत्र से स्वधा प्राप्त करके पिता, पितामह, प्रपितामह तृप्त होंवे।"[3] पितृ यज्ञ में स्वधा और श्राद्ध में पिण्डदान देने का अधिकारी मृत पितर की चौथी पीढ़ी का वंशज ही होता है। इसी आधार पर पूर्वज के जीवन काल में हिंदू विधि के अधीन पूर्वज सहित चौथी पीढ़ी तक के वंशज सम्मिलित किए गए हैं और पांचवी पीढ़ी अथवा उसके बाद के वंशज सहदायिकी सीमा के बाहर माने जाते हैं। जन्म लेने के साथ-साथ चौथी पीढ़ी तक के वंशजों को स्वधा तथा पिण्डदान देने का अधिकार मिल जाने के कारण उनको साथ-साथ पैतृक संपत्ति में समान अथवा संयुक्त अधिकार भी प्राप्त हो जाता है।

संयुक्त हिंदू कुटुंब में पुत्र का हक जन्म के साथ-साथ अपने अधिकार से उत्पन्न होता है। वह अपने इस अधिकार का प्रयोग पिता के विरुद्ध भी कर सकता है पर वह अपने अधिकार का दावा पिता के अधीन नहीं करता।[4]

पुत्र को पिता के विरुद्ध अपने हक का दावा करने का अधिकार इस आधार पर प्राप्त है कि उसे पितामह को स्वधा तथा पिण्डदान करने का पिता से स्वतंत्र अधिकार है। पुत्र को पिण्डदान आदि का अधिकार पिता के द्वारा प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार सहदायिकी का प्रारंभ एक मूल पुरुष पूर्वज से होता है, जिसे अपने वंशजों से स्वधा और पिण्डदान पाने का अधिकार होता है। मूल पूर्वज की मृत्यु के उपरांत सहदायिकी संबंध में भाई, चाचा, भाई के पुत्र तथा चाचा के पुत्र भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव सहदायिकी की रचना शुद्ध रूप में विधि के द्वारा होती है।[5] किसी संविदा के द्वारा सहदायिकी की रचना संभव

---

1 कालूराम गोविन्दराम बनाम आयकर आयुक्त, नागपुर, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 4.

2 "त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।
चतुर्थः संपदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते॥ मनु 9/186.

3 "पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधानमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः।" यजु० 19/36 (पूर्वार्ध)

4 रामनारायण बनाम विश्वेश्वर प्रसाद, आई० एल० आर० (1888) 10 इलाहाबाद 411.
सुन्दरलाल बनाम क्षेत्रमल, आई० एल० आर० (1907) 29 इलाहाबाद।

5 कालूराम गोविन्दराम बनाम आयकर आयुक्त नागपुर, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 4.

नहीं है। किंतु दत्तक-ग्रहण द्वारा दत्तक पुत्र के साथ कृत्रिम सहदायिकी की रचना संभव है, जो एक अपवाद है। उल्लेखनीय है कि शास्त्रीय विधि के अधीन एक सगोत्र बालक को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण करने का जो नियम है उसमें रक्त संबंध को ध्यान में रखा गया है। वंशज के अभाव में निकट रक्त संबंधी को पिंडदान देने और उत्तराधिकार में संपत्ति प्राप्त करने का अधिकार है। इससे दत्तक ग्रहण द्वारा बनी हुई कृत्रिम सहदायिकी में रक्त संबंध और पिंडदान का अधिकार विद्यमान रहते हैं, जो सामान्यतया निलंबित रहते हैं और परिस्थिति विशेष में उत्पन्न होते हैं।

मिताक्षरा हिंदू विधि के अधीन एकमात्र उत्तरजीवी सहदायिक की मृत्यु के उपरांत सहदायिकी समाप्त हो जाती है, यदि उसने अपने जीवन काल में पत्नी को दत्तक ग्रहण का प्राधिकार नहीं दिया हो। किंतु हिंदू दत्तक ग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम के अधिनियमित हो जाने से विधवा को पुत्र के अभाव में स्वयं दत्तक पुत्र का ग्रहण करने का पूर्ण प्राधिकार प्राप्त हो गया है जिसका प्रयोग करके विधवा अपने पति की सहदायिकी को अक्षुण्ण बनाए रख सकती है।

हिंदू सहदायिकी का संघटन

हिंदू सहदायिकी में जीवित पूर्वज के साथ उसके तीन पीढ़ी के वंशज आते हैं। दूसरे शब्दों में, जीवित मूल पूर्वज सहित चार पीढ़ियां मिलकर सहदायिकी की रचना करती हैं। हिंदू कुटुंब के सभी सदस्य सहदायिक नहीं होते। किसी कुटुंब में मूल पूर्वज के अनेक वंशजों के अतिरिक्त उनकी पत्नियां और अविवाहित पुत्रियां भी पुरुष वंशजों के साथ सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार सहदायिकी एक संकुचित संस्था है। इसे नीचे के वंश वृक्ष चित्र द्वारा समझना सरल होगा :—
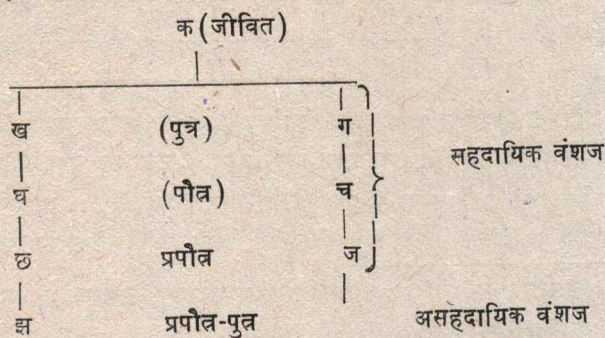
ऊपर के चित्र में जिस कुटुंब को दिखाया गया है, उसमें क जीवित पूर्वज है, उसके साथ उसके चार वंशज भी हैं जो कुटुंब के सदस्य हैं। किंतु क के साथ उसके पुत्र ख तथा ग, पौत्र, घ तथा च, जो क्रमशः ख तथा ग के पुत्र हैं, और प्रपौत्र छ तथा ज जो क्रमशः घ तथा च के पुत्र हैं, सहदायिक हैं। छ का पुत्र झ, जो क के प्रपौत्र का पुत्र अर्थात् चौथी पीढ़ी का वंशज है, सहदायिक नहीं है, क्योंकि क के जीवित रहते उसके तीन ही पीढ़ी के वंशज सहदायिकी सीमा में आते हैं। झ तभी सहदायिकी सीमा में आएगा और सहदायिकी होगा, जब क की मृत्यु हो जाएगी। यदि झ के पिता या पितामह की मृत्यु हो जाए, तब भी वह सहदायिक नहीं बन पाएगा।

एक ही पूर्वज से उत्पन्न होने वाले सहदायिकी कुटुंब में पूर्वज की मृत्यु के उपरांत उसके पुत्रों (सहोदर भाइयों) के वंशजों के साथ भी सहदायिकी संबंध होता है। परिणामतः सहोदर या चचेरे भाइयों और उनके वंशजों में भी सहदायिकी संबंध होता है और वे परस्पर सहदायिक होते हैं किंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी वंशावली किसी एक ही पूर्वज से प्रारंभ हुई हो। इसे नीचे दिए गए वंशवृक्ष चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है :—
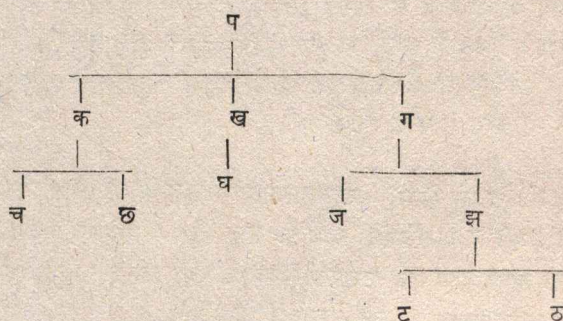
प के कुटुंब में उसके पुत्र क, ख, ग; क के पुत्र च, छ; ख का पुत्र घ; ग के पुत्र ज, झ; और झ के पुत्र ट, ठ पूर्वज प के साथ सहदायिक हैं। प की मृत्यु के उपरांत तीनों भाई क, ख, ग और उनके वंशज सहदायिक होंगे। क, ख की मृत्यु के उपरांत ग तथा उसके भतीजे च, छ, घ और ग के पुत्र ज, झ और झ के पुत्र ट, ठ, सहदायिक होंगे। सांपार्श्विक च, छ, घ, ट तथा ठ भी परस्पर सहदायिक है[1] ये सभी जन्म से सहदायिक होंगे। इसी प्रकार इनके वंशज भी चौथी पीढ़ी तक सहदायिक होते रहेंगे। सहदायिक संबंध का यह क्रम अनिश्चित काल तक चलता रहेगा।

अप्रतिबंध दाय और सप्रतिबंध दाय

मिताक्षरा विधि के अधीन सहदायिकी संपत्ति दो वर्गों में विभक्त होती है— अर्थात् अप्रतिबंध दाय तथा सप्रतिबंध दाय।[2]

अप्रतिबंध दाय—पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र जन्म लेने मात्र से पिता, पितामह तथा प्रपितामह से आगत पैतृक संपत्ति में सम-स्वाम्य प्राप्त करते हैं।[3] पैतृक संपत्ति में इस प्रकार से पुत्रों, पौत्रों तथा प्रपौत्रों के सम-स्वाम्य संबंधी अधिकार के उत्पन्न होने में पिता, पितामह और प्रपितामह के जीवित रहने से कोई प्रतिबंध नहीं लगता। इतना ही नहीं

---

[1] मोरो विश्वनाथ बनाम गणेश, आई० एल० आर० (1873) 10 मुम्बई 444.

[2] 'दाय' शब्देन यद्धनं स्वामितबंधादेव निमित्तादन्यस्व भवति तत्। स च द्विविधः अप्रतिबंधः सप्रतिबंधश्च। याज्ञ० स्मृ० दायविभाग प्रकरण 8 की मिता० टीका की भूमिका में।

[3] "तत्र पुत्राणां पौत्राणां च पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च पितृधनं पितामहधनं च स्वं भवतीत्य प्रतिबन्धो दायः। याज्ञ० स्मृ० दायविभाग प्रकरण 8 की मिता० टीका की भूमिका में। मुह० हुसैन बनाम केशवनंदन सहाय, आई० एल० आर० (1937), इलाहाबाद 65 (पी० सी०) 64 आई० ए० 250.

गर्भ में आने मात्र से पुत्र का पैतृक संपत्ति में अधिकार उत्पन्न हो जाता है[1] किंतु उसके अधिकार और स्वत्व तब-तक स्थगित रहते हैं, जब-तक वह जीवित जन्म नहीं ले लेता। यही कारण है कि विज्ञानेश्वर ने पैतृक संपत्ति को अप्रतिबंध दाय कहा है।

सप्रतिबंध दाय—जब कोई व्यक्ति अपने संतानहीन चाचा या पुत्र की मृत्यु के उपरांत उसकी संपत्ति को रिक्थ (विरासत) में प्राप्त करता है, तब वह संपत्ति सप्रतिबंध दाय होती है[2] क्योंकि चाचा या पुत्र की मृत्यु के पश्चात् ही भतीजे या पिता को रिक्थ का अधिकार रक्त के सामीप्य के कारण उत्पन्न होता है। चाचा या पुत्र के जीवन काल में उनकी संपत्ति में भतीजे या पिता को कोई स्वत्वाधिकार नहीं होता। संपत्ति के स्वामी के जीवित रहते इन सहदायिकों के रिक्थ के अधिकार प्रतिबंधित रहते है। सप्रतिबंध दाय पर सहदायिकों का जन्म से कोई स्वत्व नहीं होता।[3]

वह संपत्ति जो पिता, पितामह या प्रपितामह के अतिरिक्त अन्य संबंधियों से रिक्थ में प्राप्त की जाती है, सप्रतिबंध दाय कहलाती है। सप्रतिबंध दाय का न्यागमन रिक्था-धिकार द्वारा होता है न कि उत्तरजीविता द्वारा। किन्तु सप्रतिबंध दाय के इस सामान्य न्यागमन के कुछ अपवाद हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) पिता, पितामह या प्रपितामह की पृथक संपत्ति को रिक्थ में प्राप्त करने वाले दो या अधिक पुत्रों, पौत्रों या प्रपौत्रों का स्वत्व संयुक्त स्वामी का होता है और उसमें संपत्ति का न्यागमन उत्तरजीविता के आधार पर होता है।[4]

(2) दो या अधिक दौहित्रों द्वारा अविभक्त कुटुंब के सदस्य के रूप में पुत्रहीन नाना की संपत्ति को रिक्थ में प्राप्त करने पर उनका स्वत्व संयुक्त स्वामी का होता है और न्यागमन उत्तरजीविता के आधार पर होता है।[5]

(3) यदि किसी की निःसंतान मृत्यु होती है, और दो या अधिक विधवाएं भी संयुक्त स्वामी के रूप में रिक्थ में दाय प्राप्त करती हैं, तो उनमें न्यागमन उत्तरजीविता के आधार पर होता है।

सहदायिकी संपत्ति

हिंदू कुटुंब में दो प्रकार की संपत्ति हो सकती है—प्रथम, पितृधन या पैतृक संपत्ति जिसे कौटुंबिक संपत्ति भी कहते हैं और द्वितीय अपने श्रम से उपार्जित धन या

---

1 स्पष्टगर्भायां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्तव्यः।
याज्ञ० 2/122 की मिता० टीका

2 'पितृव्यभ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाभ्यभावे च स्वं भवतीति सप्रतिबंधोदायः।"
—मिताक्षरा, याज्ञ० दायविभाग प्रकरण 8 की भूमिका में।
बैजनाथ बनाम महराज बहादुर, ए० आई० आर० 1932 अवध 158.

3 मुहम्मद हुसेन **बनाम** केशवनंदन सहाय, (1937) 64 आई० ए० 250 (पी०सी०).

4 श्यामबिहारी सिंह **बनाम** रामेश्वर प्रसाद साहू, ए० आई० आर० 1942 पटना 213.

5 वेंकयम्मा **बनाम** वेंकटरामयम्मा, 29, आई० ए० 156 (पी० सी०).

स्वार्जित संपत्ति जिसे पृथक् सम्पत्ति भी कहते हैं ।[1]

जो संपत्ति पिता अपने पिता[2] से प्राप्त करता है उसे पैतृक, कौटुम्बिक या सहदायिकी संपत्ति कहते हैं। सहदायिकी संपत्ति की परिभाषा इस प्रकार की गई है :—

"जिस संपत्ति पर सभी सहदायिकों का सह-स्वामित्व, सहहित और सहकब्जा (सह-आधिपत्य) हो वह कौटुम्बिक या सहदायिकी संपत्ति है।"[3]

जो संपत्ति किसी सहदायिक द्वारा कौटुम्बिक संपत्ति की उन्नति, संरक्षण तथा विकास करते हुए अपने श्रम आदि द्वारा उपार्जित की जाती है वह उसकी स्वार्जित या पृथक् संपत्ति होती है ।[4]

पैतृक और पृथक् संपत्तियों की विवेचना पृथक्-पृथक् की जाएगी ।

पैतृक संपत्ति

निम्नलिखित प्रकार की संपत्ति पैतृक संपत्ति कहलाती है :—

(1) **पैतृक पूर्वज से प्राप्त दाय**—वह संपत्ति, जो किसी पुरुष द्वारा पिता, पितामह, या प्रपितामह से प्राप्त की जाती है पैतृक दाय[5] है। कोई संपत्ति तभी पैतृक पूर्वज से प्राप्त दाय हो सकती है जब उसमें निम्नलिखित दो तत्त्व पाए जाए[6] :—

(क) संपत्ति का स्वामित्व एक ही पूर्वज को प्राप्त था, और

(ख) संपत्ति पक्षकार या पक्षकारों को उत्तराधिकार में न्यागत हुई, अन्य प्रकार से नहीं ।

(2) **विभाजन में प्राप्त अंश**—किसी सहदायिक को पैतृक संपत्ति का जो भाग विभाजन में मिलता है वह उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों के लिए पैतृक संपत्ति होता है[7] भले ही वे विभागोपरान्त उत्पन्न हुए हों और पिता विभाजन के समय एक मात्र सहदायिक रहा हो ।[8]

(3) **कुटुम्ब के पूर्वज से दान या विल द्वारा प्राप्त संपत्ति**—यदि पिता या पूर्वज

---

1 अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् । मनु० 9/208
इसमें पितृ-धन और अपने श्रम से उपार्जित धन का उल्लेख है।

2 क्रमागते गृहक्षेत्रे पितापुत्रः समांशिनः । बृहस्पति, व्य० मयू० पृ० 59 में उद्धृत । व्य० नि०, पृ० 410, में व्यास के नाम से उद्धृत ।

3 काटम्मा नच्चियार **बनाम** राजाशिवगंगा, (1863) 9 एम० आई० ए० 543.

4 'पितृद्रव्याविरोधेन यत् किंचित् स्वयमर्जितम्' इति सर्वत्रशेषः । याज्ञ० 2/118 को मिता० टीका ।

5 अन्तरसिंह **बनाम** ठाकुरसिंह, आई० एल० आर० 35 कलकत्ता 1139 (पी० सी).

6 श्रीमती श्यामकौर **बनाम** हरिसिंह, ए० आई० आर० 1973 पंजाब 71.

7 बसंतलाल **बनाम** रामेश्वरप्रसाद, ए० आई० आर० 1953 इलाहाबाद 287.

8 शिवरामकृष्णन् **बनाम** कावेरीअम्माल, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 705.

ने दानपत्र या विल के **विलेख** में यह सुनिश्चित कर दिया है कि उसके द्वारा दी गयी संपत्ति पैतृक होगी तो उसे पैतृक संपत्ति माना जाएगा।[1] यदि दानपत्र या विल में संबंधित संपत्ति के पैतृक संपत्ति या स्वार्जित संपत्ति होने के बारे में कोई निश्चित उल्लेख नहीं हो तो यह विषय विलेख की भाषा और अन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए न्यायालय द्वारा निर्णीत किया जा सकता है।[1]

(4) **कौटुम्बिक निधि से किसी सहदायिक को दिया गया अधिदाय**—हिंदू कौटुम्बिक विधि से जो अधिदाय किसी सहदायिक को दिया जाता है वह पैतृक संपत्ति होती है।[2]

(5) **पैतृक की संपत्ति की संचित आय**—पैतृक संपत्ति की संचित आय भी पैतृक संपत्ति होती है।[3]

(6) **पैतृक संपत्ति की आय या सहायता से क्रीत या उपार्जित संपत्ति**—पैतृक संपत्ति की आय या सहायता से क्रीत या उपार्जित संपत्ति[4] और पैतृक संपत्ति के विक्रय से प्राप्त धनराशि से क्रय की गई संपत्ति भी पैतृक संपत्ति होती है।

(7) **पैतृक संपत्ति के बदले में उपार्जित संपत्ति**—पैतृक संपत्ति का अहित करके उसके बदले में उपार्जित संपत्ति भी पैतृक संपत्ति होती है। चकबंदी के पश्चात् मूल पैतृक संपत्ति के स्थान पर जो भूमि प्राप्त होती है वह पैतृक भूमि होती है।[5]

(8) **पैतृक या कौटुम्बिक संपत्ति में सम्मिश्रित पृथक् संपत्ति**—यदि कोई सहदायिक अपनी स्वार्जित या पृथक् संपत्ति पैतृक अर्थात् कौटुम्बिक संपत्ति में स्वेच्छा से सम्मिश्रित कर देता है तो वह संपत्ति कौटुम्बिक या पैतृक संपत्ति में परिवर्तित हो जाती है।[6] किंतु कौटुम्बिक या पैतृक संपत्ति में पृथक् संपत्ति के सम्मिश्रण हेतु स्पष्ट आशय और संपत्ति का स्पष्ट समर्पण[7] आवश्यक है। सम्मिश्रण के प्रत्येक मामले में स्वार्जित संपत्ति के स्वामी का यह आशय असंदिग्ध होना चाहिए कि वह अपनी स्वार्जित संपत्ति के हित का अन्य सहदायिकों के पक्ष में त्याग कर रहा है और उसे कौटुम्बिक संपत्ति के रूप में समर्पित कर रहा है।

पृथक् संपत्ति

पृथक् संपत्ति पर उपार्जनकर्त्ता सहदायिक का पूर्ण स्वामित्व होता है।[8] उस पर

---

1 अरुणाचल मुदलियार **बनाम** मुरुगनाथ, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 495.

2 सुब्रह्मण्यम् चेट्टियार **बनाम** कुमारप्पा चेट्टियार, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 144.

3 शिवरामकृष्णन् **बनाम** कावेरी अम्माल, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 705.

4 लालबहादुर **बनाम** कन्हैयालाल, आई० एल० आर (1907) 29 इलाहाबाद 244.

5 मालसप्पा बन्दप्पा देसाई **बनाम** मालप्पा देसाई, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1268.

6 रजनीकान्त पाल **बनाम** जगमोहन पाल, ए० आई० आर० 1923 पी० सी० 57.

7 सदाशिव **बनाम** बी० रत्नन्, ए० आई० आर० 1958 आन्ध्र प्रदेश 145; चिन्नवेंकट **बनाम** वेंकटराम, ए० आई० आर० 1957 आन्ध्र प्रदेश 93.

8 अनूपसिह **बनाम** हरवंशकौर, ए० आई० आर० 1958 पंजाब 116; अर्जक एव गृहणीयात्। याज्ञ० 2/118 की मिता० टीका.

पुत्र—पौत्रादि का जन्म के कारण कोई अधिकार नहीं हो जाता। स्वामी अपनी पृथक् संपत्ति का इच्छानुसार दान, विक्रय या विल द्वारा विनियोग करने का अधिकारी होता है।[1] पुत्रादि वंशज पृथक् संपत्ति का विभाजन कराने के अधिकारी नहीं होते।[2] निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त संपत्ति पृथक् संपत्ति होती है :—

(1) **पृथक् संपत्ति में से प्राप्त दान या प्रसाद**—पिता द्वारा अपनी पृथक् संपत्ति में से किसी पुत्र को दान या प्रसाद रूप में दी गयी संपत्ति पृथक् सम्मति होती है।[3]

(2) **पैतृक संपत्ति में से प्राप्त दान या प्रसाद**—पिता द्वारा पैतृक संपत्ति में से किसी पुत्र को स्नेहवश दिया गया दान या प्रसाद पृथक् संपत्ति होगा यदि इस आशय की अभिव्यक्ति विलेख में कर दी गई।[4]

(3) **औद्वाहिक**—विवाह के समय प्राप्त दान या भेंट प्राप्तकर्त्ता की पृथक् संपत्ति होती है।

(4) **मित्रदान या मैत्र**—मित्रों द्वारा दान में प्राप्त संपत्ति मित्रदान या मैत्र कहलाती है और प्राप्तकर्त्ता की पृथक् संपत्ति होती है।[5]

(5) **उद्धार**—जो संपत्ति पैतृक संपत्ति से नष्ट हो चुकी हो और जिसका उद्धार किसी सहदायिक ने बिना पैतृक संपत्ति या कौटुम्बिक संपत्ति की सहायता के ही किया हो वह उद्धारकर्त्ता सहदायिक की पृथक् संपत्ति होगी।[6]

(6) **विद्याधन**—किसी सहदायिक द्वारा ज्ञान या विद्या से या उसकी आय से उपार्जित संपत्ति विद्याधन होती है। पुरोहिताई आदि से प्राप्त धन स्वार्जित या पृथक् संपत्ति है।[7]

(7) **श्रमधन**—किसी सहदायिक द्वारा बिना कौटुम्बिक संपत्ति की सहायता के अपने श्रम से उपार्जित संपत्ति उसकी पृथक् संपत्ति होती है।[8]

(8) **राजकीय अनुदान**—शासन द्वारा प्राप्त किसी प्रकार का अनुदान प्राप्तकर्त्ता सहदायिक की पृथक् संपत्ति होती है।[9]

---

[1] राव बलवंत सिंह **बनाम** रानी किशोरी, आई॰ एल॰ आर॰ (1898) 20 इलाहाबाद 267.

[2] मैत्रादिलब्धं द्रव्यं तद्विभाज्यमिति न वक्तव्यम्। याज्ञ॰ 2/118 की मिता॰ टीका; लोचन **बनाम** नेमधारी सिंह, (1873) 20 डब्ल्यू॰ आर॰ 70.

[3] पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत्। याज्ञ॰ 2/123.

[4] प्रसादो यश्च पैतृकः। नारद॰ 13/6.

[5] अरुणाचल मुदलियार **बनाम** मुरुगनाथ, ए॰ आई॰ आर॰ 1953 एस॰ सी॰ 495. मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत्। याज्ञ॰ 2/118

[6] पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्। मनु 9/209.

[7] विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्। मनु॰ 9/206; हंस पाठक **बनाम** हरमंडी पाठक, ए॰ आई॰ आर॰ 1934 इलाहाबाद 851.

[8] अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्। मनु 2/208.

[9] काटम्मा नच्चियार **बनाम** राजा शिवगांग, (1863) 9 एन॰ आई॰ ए॰ 543.

(9) **पृथक् संपत्ति से उपार्जित आय**—पृथक् संपत्ति से उपार्जित आय उसके स्वामी सहदायिक की पृथक् संपत्ति होती है। भरण-पोषण के लिए आबंटित भूमि की आय से उपार्जित संपत्ति भी संबंधित व्यक्ति की स्वार्जित संपत्ति होती है।[1]

(10) **विभाजन में प्राप्त अंश**—नि:संतान सहदायिक द्वारा विभाजन में प्राप्त अंश उसकी पृथक् संपत्ति है क्योंकि वह एक मात्र स्वामी होता है।[2]

(11) **एक मात्र सहदायिक की संपत्ति**—नि:संतान सहदायिक एक मात्र सहदायिक कहलाता है। वह जिस पैतृक संपत्ति का स्वामी होता है वह उसकी पृथक् संपत्ति होती है। उसकी मृत्यु के उपरांत उसके उत्तराधिकारी उसकी संपत्ति पृथक् संपत्ति के रूप में उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं।[3]

हिंदू कुटुम्ब का प्रबंध

हिंदू कुटुम्ब की एकता को बनाए रखने के लिए इसका प्रबंध विशिष्ट विधि के अनुसार होता है। कुटुम्ब के प्रबंध में सदस्यों के साथ-साथ बच्चों की शिक्षा, उपनयन, विवाह, रोगी की चिकित्सा, मृतकों का दाह-संस्कार, पितरों का श्राद्ध और तर्पण तथा कौटुम्बिक संपत्ति का प्रबंध आदि सम्मिलित हैं। धार्मिक कृत्य भी कौटुम्बिक प्रबंध के अंतर्गत आते हैं। इन सभी कौटुम्बिक कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए 'कर्त्ता' पद की, उत्पत्ति हुई। हिंदू विधि शास्त्र में कर्त्ता के लिए कुटुम्बी[4] या गृहपति[5] शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि कुटुम्ब का कर्ता जीवित पूर्वज (पिता, पितामह या प्रपितामह) अथवा ज्येष्ठ भ्राता या सदस्य ही सामान्यत: होता है तथापि विशेष परिस्थितियों में मझला या कनिष्ठ भ्राता या सदस्य भी कर्त्ता हो सकता है। कर्त्तापद की उत्पत्ति हो जाने के उपरांत उसके कार्य से संबंधित शक्तियां, अधिकार और कर्तव्य भी विकसित हुए। इनके विकास का प्रभाव हिंदू विधि के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ा, यथा—दान का सीमित अधिकार,[6] विल का अभाव[7] कौटुम्बिक संपत्ति में पृथक् संपत्ति का सम्मिश्रण[8] और कुलाचार[9] आदि। ज्येष्ठांश की विधि[10] भी कौटुम्बिक प्रबंध से पूर्णतया संबद्ध है। इन विधियों की विस्तृत विवेचना यथास्थान आगे की जाएगी।

---

[1] कृष्णजी **बनाम** मोरो महादेव, आई० एल० आर० (1901) 15 मुम्बई, 32.

[2] विजयबहादुर **बनाम** भूपेन्द्र, आई० एल० आर० (1895) 17 इलाहाबाद 456.

[3] बच्चू **बनाम** मनकोरबाई, आई० एल० आर० (1907) 31 मुम्बई 373.

[4] प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि ।। याज्ञ० 2/45.

[5] पत्नी त्वमसि धर्मेणाहं गृहपतिस्तव ।। अथर्व० 14/1/51.

[6] नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ।। याज्ञ० 2/175; तथा पुत्रपौत्राद्यन्वये विद्यमाने सर्वं धनं न दद्यात् ।। उक्त पर मिता टीका.

[7] एम० एन० आर्यमूर्ति **बनाम** एम० ए० सुब्बारय्या शेट्टि, ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1279.

[8] मालसप्पा बन्दप्पा **बनाम** मालप्पा, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1268.

[9] मेन, हिंदू लॉ एण्ड यूसेज, (11 वां संस्करण), पृष्ठ 384.

[10] ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषत: । मनु० 9/105; सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् बिभृयात् पितृवत् ।। गौ० ध० सू० 28/3.

प्राकृतिक कर्त्ता—प्राकृतिक कर्त्ता का तात्पर्य है, ऐसा प्रबंधक, जिसमें वंशजों का पूर्वज होने के कारण, कौटुम्बिक संपदा आदि के प्रबंध की शक्ति निहित रहती है। जिस कुटुम्ब में पिता ही ज्येष्ठ पूर्वज या सदस्य हो, उस अविभक्त कुटुम्ब और उसकी कौटुम्बिक संपत्ति आदि का वह प्राकृतिक कर्त्ता होता है।[1] पिता अवयस्क पुत्रों का आवश्यक कर्त्ता है[2] जो प्राकृतिक कर्त्ता का ही अन्य रूप है। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि "अविभक्त कुटुंब के कर्त्तापद के लिए आवश्यक पात्रता सहदायिकी संबंध है। विधवा सहदायिक नहीं होती। वह अविभक्त कुटुंब का कर्त्ता बनने की पात्रता नहीं रखती। अतएव किसी सहदायिक की विधवा अविभक्त हिंदू कुटुंब की कर्त्ता नहीं हो सकती।"[3] हिंदू विधि के अधीन ज्येष्ठ भ्राता या सदस्य संबंधित अविभक्त कुटुंब का प्राकृतिक कर्त्ता होता है।[4]

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन माता एकमात्र अवयस्क सहदायिक की प्राकृतिक संरक्षिका होती है। वह अपने अवयस्क पुत्र की अविभक्त कौटुंबिक संपत्ति का अन्यसंक्रामण कर सकती है।[5] जब तक माता-पिता की मृत्यु के उपरांत अवयस्क पुत्र की संरक्षिका रूप में कार्य करती है तब तक वह अपने कुटुंब की प्राकृतिक कर्त्ता होती है। किंतु माता का कर्त्ता के रूप में उक्त प्राधिकार अस्थायी है और सहदायिक के अवयस्क रहने तक ही सीमित है। वयस्क हो जाने पर वह स्वयं कर्त्ता हो जाता है।

कर्त्ता की स्थिति— हिंदू कुटुंब के कर्त्ता की स्थिति किसी उद्योग के प्रबंधक से भिन्न होती है। वह न तो किसी व्यापारिक संस्थान के अभिकर्त्ता के रूप में होता है,[6] न न्यासी ही।[7] इन सभी से उसकी स्थिति भिन्न और विशिष्ट होती है। कर्त्ता अविभक्त हिंदू कुटुंब का प्रतिनिधि होता है, किंतु कौटुंबिक संपत्ति में उसका स्वामित्व अन्य सहदायिकों से अधिक नहीं होता।

कर्त्ता की शक्तियां—कर्त्ता की शक्तियां संपत्ति के निपटारे और प्रबंध के मामले में कुछ अधिक होती हैं। विधिक प्राधिकार के अधीन वह अन्य सदस्यों की स्पष्ट स्वीकृति के बिना भी कार्य कर सकता है, जिसमें कौटुंबिक संपत्ति के प्रबंध संबंधी कार्य भी सम्मिलित हैं।

---

[1] सूरजवंशी कुंअरि **बनाम** शिवप्रसाद, (1880) 6 आई० ए० 88; श्रीराम **बनाम** कृष्णवेण्णम्मा, ए० आई० आर० 1957 आंध्र प्रदेश 434.

[2] द्विरामपदी नागरत्नम्बा **बनाम** कनकरामैय्या, ए० आई० आर० 1963 आंध्र 177.

[3] आयकर आयुक्त, नागपुर **बनाम** सेठ गोविंदराम शुगर मिल्स, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 24.

[4] 'वरद भक्तवत्सलु **बनाम** दामोजिरूपु वेंकटनरसिंहराव, आई० एल० आर० (1940), मद्रास 752; घासीराम **बनाम** हीरालाल, ए० आई० आर० 1954 मध्य भारत 67.

[5] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 24.

[6] श्रीकान्त लाल **बनाम** सिद्धेश्वरीप्रसाद, आई० एल० आर० (1937) 16 पटना 441.

[7] पि० राजु **बनाम** शुभायडु, (1921) 48 आई० ए० 280.

हिंदू अविभक्त कुटुंब के कर्त्ता के प्राधिकार और उसकी शक्तियां निम्नलिखित हैं—

(1) **कौटुम्बिक संपत्ति की आय और उसका व्यय**—कुटुंब की आय और उसके व्यय पर कर्त्ता का पूर्ण अधिकार होता है। वह आय की बचत को अपने पास रख सकता है। यदि कर्त्ता कौटुम्बिक संपत्ति की आय को कुटुंब के सदस्यों के भरण-पोषण, शिक्षा, विवाह, श्राद्ध और यज्ञादि पर व्यय करता है, तो वह वैध है और वह मितव्यय करने के लिए आबद्ध नहीं होता।[1]

(2) **नया ऋण लेने की शक्ति**—कर्त्ता को नया ऋण लेने की शक्ति प्राप्त है, जिसे वह कौटुंबिक संपत्ति के प्रसुविधार्थ अथवा कौटुंबिक आवश्यकताओं के लिए ले सकता है। अपनी इस शक्ति के अधीन कर्त्ता कौटुंबिक संपत्ति को बंधक रख सकता है। कर्त्ता द्वारा उक्त कार्यों के लिए उपगत ऋण के प्रति सभी वयस्क तथा अवयस्क सहदायिक आवद्ध होते हैं।[2] यदि ऋण उपगत करने के पश्चात् कुटुंब का विभाजन हो जाए तब भी पृथक् हुए सहदायिक उस ऋण के दायित्व से मुक्त नहीं हो जाते।[3]

(3) **संविदा या समझौता करने की शक्ति**—कर्त्ता को संपत्ति के अनुरक्षण तथा कुटुंब की प्रसुविधा हेतु कोई भी संविदा या समझौता करने की शक्ति प्राप्त है। वह रसीद ले सकता है और रसीद दे सकता है या किसी देय धनराशि का भुगतान कर सकता है। उसके द्वारा किए गए उक्त कार्यों से सभी सहदायिक यहां तक कि अवयस्क भी आबद्ध होंगे।[4] किंतु जिस मामले में अवयस्क भी पक्षकार है और कर्त्ता वादार्थ संरक्षक है, उस मामले में न्यायालय की अनुमति आवश्यक है, अन्यथा अवयस्क सदस्य आबद्ध नहीं होगा।[5]

(4) **अन्यसंक्रामण की शक्ति**—अविभक्त हिंदू कुटुंब के कर्त्ता को कौटुंबिक संपत्ति का मूल्य लेकर अन्यसंक्रामण करने की शक्ति प्राप्त है, किंतु वह विधिक आवश्यकता या कौटुंबिक संपत्ति की प्रसुविधा हेतु ही ऐसा कर सकता है।[6] उसकी अन्यसंक्रामण संबंधी शक्ति की सीमा निश्चित है। इन सीमाओं के अधीन किए गए अन्य संक्रामण से वयस्क और अवयस्क दोनों प्रकार के सहदायिक आबद्ध होंगे।[7] पिता कर्त्ता यदि विधिक आवश्यकता के बिना कोई अन्य संक्रामण करता है तो वह उसके अविभक्त अंश को ही आबद्ध करेगा।[8]

---

[1] अभयचन्द्र **बनाम** प्यारेमोहन, (1870) 5 बंगाल लॉ रिपोर्ट 347.

[2] डा० गोपाल **बनाम** त्र्यम्बक, ए० आई० आर० 1953 नागपुर 195.

[3] बांकेलाल **बनाम** दुर्गाप्रसाद, आई० एल० आर० (1931) 53 इलाहाबाद 868.

[4] प्रियतमसिंह **बनाम** उजागिरसिंह, आई० एल० आर० (1978) इलाहाबाद 651.

[5] वेंकटराव **बनाम** तुलजा रामराव, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 69.

[6] रामदयाल **बनाम** बनवारीलाल, ए० आई० आर० 1973 राजस्थान 173.

[7] हनुमानप्रसाद **बनाम** बबुई मुनराजकुंअरि, (1856) 6 एम० आई० ए० 393 (पी० सी०); गोवली बुछन्ना **बनाम** आयकर आयुक्त, मैसूर, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1523.

[8] बालमुकुन्द **बनाम** कमलावती, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1385.

उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश और भूमि व्यवस्था अधिनियम, 1950 के उपबंधों के अधीन कर्त्ता भूमिधारी अधिकारों का अन्यसंक्रामण अपने अंश तक ही कर सकता है अन्य सहदायिकों के अधिकारों या अंश का नहीं, भले ही विधिक आवश्यकता ही क्यों न हो।[1]

(5) **कर्त्ता द्वारा वाद संस्थिति या उसके विरुद्ध वाद संस्थिति**—कुटुंब के प्रतिनिधि के रूप में कर्त्ता किसी के विरुद्ध वाद संस्थित कर सकता है[2] और उसके विरुद्ध वाद संस्थित किया जा सकता है। कर्त्ता के विरुद्ध निर्णय सभी सहदायिकों के पक्ष या विपक्ष में माना जाता है।[3] यह आवश्यक नहीं है कि कर्त्ता वाद संस्थित करते समय प्रतिनिधित्व का स्पष्ट उल्लेख करे। इसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि जो व्यक्ति वाद संस्थित कर रहा है या जिसके विरुद्ध वाद संस्थित किया जा रहा है, वह कुटुंब का प्रतिनिधि हो।

(6) **पूर्वगामी ऋण के भुगतान की शक्ति**—जो पूर्वगामी ऋण अव्यावहारिक नहीं है, उसके भुगतान के लिए कर्त्ता कौटुंबिक संपत्ति का अन्यसंक्रामण कर सकता है।[4] पिता कर्त्ता अपने व्यक्तिगत पूर्वगामी ऋण के भुगतान के लिए भी अन्यसंक्रामण कर सकता है। उसका यह अन्यसंक्रामण पुत्र या पुत्रों पर आबद्धकर होगा, यदि पूर्वगामी, ऋण अनैतिक नहीं हो।[5]

(7) **व्यापार के लिए ऋण लेने की शक्ति**—कर्त्ता कौटुंबिक व्यापार या कुटुंब के लिए ऋण ले सकता है। इस प्रकार वह संपूर्ण कौटुंबिक संपत्ति में अन्य सदस्यों को उनके अंश सहित ऋण के भुगतान के लिए उत्तरदायी बना सकता है।[6]

(8) **डिक्री की धनराशि का भुगतान**—कर्त्ता अपने ऊपर या कुटुंब के अन्य सदस्यों पर हुई डिक्री की राशि का भुगतान कर सकता है।[7]

(9) **कौटुंबिक ऋण का भुगतान**—कर्त्ता कौटुंबिक ऋण का भुगतान कर सकता है।[8] पर उसका यह प्राधिकार तभी तक है, जब तक कुटुंब अविभक्त है विभाजन के पश्चात् या उसके पृथक् हो जाने पर उसकी यह शक्ति समाप्त हो जाती है।[9]

---

[1] महेन्द्रकुमार **बनाम** उपनिदेशक चकबंदी, उ० प्र०, (1968) ए० एल० जे० 460.

[2] बाबूलाल **बनाम** भैयालाल, ए० आई० आर० 1952 विन्ध्य प्रदेश 58.

[3] रामनाथन् **बनाम** वीरप्पा, ए० आई० आर० 1956 मद्रास 89.

[4] लहर अमृतलाल नागजी **बनाम** दोषी जयन्तीलाल, ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 964.

[5] सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वर प्रताप नारायण सिंह, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487; शशि कपूर **बनाम** सुभाषी कपूर, ए० आई० आर० 1972 दिल्ली 84.

[6] डा० गोपाल **बनाम** त्र्यम्बक, ए० आई० आर० 1972 दिल्ली 84.

[7] सूरजमल **बनाम** मेरुलाल, ए० आई० आर० 1958 राजस्थान 311.

[8] वरद भक्तवत्सलु **बनाम** दामोजी पुत्युवेंकट नरसिंहराव, आई० एल० आर० (1940) मद्रास 752.

[9] वरद अम्माल **बनाम** ए० जे० व्यास, ए० आई० आर० 1971 मद्रास 311.

(10) **माध्यस्थम् कराने की शक्ति**—कर्त्ता कौटुंबिक संपत्ति से संबंधित कोई भी विवाद माध्यस्थम् को निर्देशित कर सकता है यदि यह निर्देशन संपत्ति की प्रसुविधा हेतु हो।[1] माध्यस्थम् के विनिश्चय से या विनिर्देशन से वयस्क और अवयस्क दोनों ही सहदायिक आबद्ध होंगे।[2]

(11) **विवाह कालिक वचन की पूर्ति के लिए दान**—कर्त्ता को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपनी पुत्री या कुटुंब के किसी अन्य सदस्य की पुत्री के पक्ष में विवाह के समय या विवाह के विषय में अन्य समय दिए वचन की पूर्ति के लिए विवाहोपरांत अविभक्त कौटुंबिक संपत्ति के उचित अंश का दान कर सकता है। किंतु अन्य व्यक्ति के पक्ष में दान करने की शक्ति के बारे में कोई ऐसी सुनिश्चित विधि नहीं है, जिससे धार्मिक, पवित्र या उत्कृष्ट उद्देश्यों से दिया गया दान वैध हो।[3]

कर्त्ता द्वारा अन्यसंक्रामण

विधिक आवश्यकता और कौटुम्बिक संपत्ति की प्रसुविधा के लिए कर्त्ता अविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति का अन्यसंक्रामण कर सकता है, उसका यह अन्यसंक्रामण वयस्क और अवयस्क दोनों प्रकार के सहदायिकों के हितों को आबद्ध करता है।[4] यदि कर्त्ता बिना किसी विधिक आवश्यकता के अन्यसंक्रामण करे तो वह शून्य तो नहीं पर शून्यकरणीय होता है।[5] अन्यसंक्रामण संबंधी विधिक आवश्यकता को सिद्ध करने का भार अन्यसंक्रांती पर होता है। किंतु अन्यसंक्रांती को यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि धनराशि किस प्रकार व्यय की गई क्योंकि व्यय पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता।[6]

विधिक आवश्यकता की परिभाषा—विधिक आवश्यकता का अर्थ वास्तविक विवशता नहीं, अपितु संपत्ति पर पड़ने वाला वह दबाव है, जिसे विधि के अधीन पर्याप्त और गंभीर समझा जा सकता है।[7]

विधिक आवश्यकताएं—हिंदू विधि के अधीन जिन विधिक आवश्यकताओं को पर्याप्त और गंभीर समझा जाता है, वे निम्नलिखित हैं—

(1) सरकारी राजस्व का भुगतान और कौटुम्बिक संपत्ति से देय ऋण;[8]

(2) सहदायिकों और अविभक्त कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के भरण-पोषण संबंधी व्यय;[9]

---

1 शान्तिलाल **बनाम** मुंशीलाल, आई॰ एल॰ आर॰ (1932) 56 मुम्बई 595.

2 जगन्नाथ **बनाम** मन्नूलाल आई॰ एल॰ आर॰ (1894) 16 इलाहाबाद 231; कौशिकीराम **बनाम** हरदासराम, ए॰ आई॰ आर॰ 1940 लाहौर 73.

3 गुरुम्मा वी॰ सी॰ देशमुख **बनाम** मल्लप्पा चानवासप्पा, ए॰ आई॰ आर॰ 1964 एस॰ सी॰ 510; तिरुपुरसुन्दरी अम्माल **बनाम** कल्याणरामन्, ए॰ आई॰ आर॰ 1973 मद्रास 99.

4 रामदयाल **बनाम** भंवरलाल, ए॰ आई॰ आर॰ 1973 राजस्थान 173.

5 रघुवंशमणिप्रसाद **बनाम** अम्बिकाप्रसाद, ए॰ आई॰ आर॰ 1971 एस॰ सी॰ 776.

6 राधाकृष्णदास **बनाम** कालूराम, ए॰ आई॰ आर॰ 1967 एस॰ सी॰ 574.

7 श्रीमती राजी **बनाम** श्रीमती शान्ताबाला, ए॰ आई॰ आर॰ 1971 एस॰ सी॰ 1028.

8 गरीबुल्ला **बनाम** खालिक सिंह, आई॰ एल॰ आर॰ (1903) 25 इलाहाबाद 407.

9 विजय रामराज **बनाम** विजय आनन्द, ए॰ आई॰ आर॰ 1952 इलाहाबाद 568.

(3) पुत्र-पुत्रियों के विवाह का व्यय;[1]

(4) किसी सदस्य के दाह संस्कार, अन्य संस्कारों तथा कौटुम्बिक धार्मिक कृत्यों पर होने वाले व्यय;[2]

(5) संपत्ति के अनुरक्षण या उद्धार संबंधी व्यय;[3]

(6) कर्त्ता या कुटुम्ब के किसी अन्य सदस्य के विरुद्ध अभियोग के प्रतिवाद के लिए आवश्यक व्यय;

(7) कुटुम्व के लिए या कौटुम्बिक व्यापार के लिए उपगत ऋण का भुगतान ।[5] पूर्ववर्ती ऋण के भुगतान हेतु संपत्ति के अन्य संक्रामण की शक्ति पिता कर्त्ता को अधिक है, किंतु सामान्य कर्त्ता की शक्ति इस मामले में सीमित है । वह अन्यसंक्रामण तभी कर सकता है जब पूर्ववर्ती ऋण के भुगतान के लिए संपत्ति के हितों का भय उत्पन्न हो अथवा संपत्ति पर पर्याप्त दबाव पड़ रहा हो ।[6]

संपदा का फायदा—'संपदा का फायदा' अभिव्यक्ति का आशय व्यापक नहीं है । इसका आशय कौटुंबिक संपत्ति के व्यापक हितों का संरक्षण है। जिस संव्यवहार में कौटुंबिक संपत्ति के व्यापक हितों के संरक्षण के लिए उसके कुछ अंश का कर्त्ता द्वारा अन्यसंक्रामण किया जाए उसे 'संपदा का फायदा' माना जा सकता है । यह संभव है कि प्रबुद्धि के आधार पर कर्त्ता द्वारा किया गया विनिश्चय समान परिस्थितियों में अन्य प्रबुद्ध व्यक्ति से कम बुद्धिमत्तापूर्ण हो किंतु केवल इसी आधार पर कर्त्ता के संव्यवहार में संपदा के फायदे का अभाव नहीं माना जा सकता । इस विषय पर पटना उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि "प्रथमदृष्ट्या वंधक को विक्रय से अधिक हितकर संव्यवहार माना जा सकता है । ऐसा होने पर भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है कि उस बंधक को चालू रखने की अपेक्षा विक्रय करना अधिक हितकर हो । प्रत्येक मामले में न्यायालय द्वारा यह उपधारणा की जानी है कि बंधकमोचन के लिए किया गया विक्रय कर्त्ता का संव्यवहार बुद्धिमत्तापूर्ण है या नहीं ।"[7] इस निर्णय में भी बुद्धिमत्तापूर्ण संव्यवहार का अभिनिर्धारण न्यायालय के ऊपर छोड़ दिया गया है ।

पलनियप्पा बनाम **देवस्क मणिदासी**[8] के मामले में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति ने संपदा के फायदे के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) संपत्ति को नष्ट होने से बचाना, या

---

1 रामचरण **बनाम** मिथिनलाल, ए० आई० आर० 1914 इलाहाबाद 23; शीताप्पा **बनाम** सुप्पन्न, ए० आई० आर० 1937 मद्रास 496.

2 लाला गणपत बनाम तरुण, (1871) 16 डब्ल्यू० आर० 52.

3 मिलर **बनाम** रंगनाथ, आई० एल० आर० (1885) 12 कलकत्ता 389.

4 रामरघुबीर **बनाम** दीपनारायण, आई० एल० आर० (1923) 45 इलाहाबाद 311.

5 चिरंजीवलाल **बनाम** बांकेलाल, आई० एल० आर० (1937) 55 इलाहाबाद 370.

6 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रसाद, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487.

7 रामजी **बनाम** गोपाल अहिर, ए० आई० आर० 1963 पटना 34; जयश्री साहू **बनाम** रामदेव दूबे, ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83.

8 (1917) 44 आई० ए० 147.

(2) संपत्ति को प्रभावित करने वाले पक्षद्रोही वाद (होस्टाइल लिटिगेशन) के विरुद्ध प्रतिवाद करना; या

(3) संपूर्ण संपत्ति या उसके किसी अंश का जल प्लावन से होने वाली क्षति या क्षय से संरक्षण करना ।

प्रिवी कौंसिल ने उक्त निर्णय में संपदा के फायदे संबंधी संव्यवहार के उदाहरण संपत्ति को नष्ट होने से बचाने की दृष्टि से दिए हैं । किंतु इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने **जगत नारायण बनाम मथुरादास**[1] के मामले में संपदा के फायदे संबंधी संव्यवहार की परीक्षा हेतु एक मार्गदर्शक सिद्धांत प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

"वास्तविक परीक्षण इस कसौटी पर होगा कि क्या संव्यवहार ऐसा है, जिसे कोई भी प्रज्ञावान् स्वामी अपने ज्ञान के आधार पर (उस परिस्थिति में) निष्पादित करता" वस्तुतः परीक्षा की यही कसौटी युक्तियुक्त है, जिसे प्रिवी कौंसिल के उपर्युक्त निर्णय में दिए गए संपदा के फायदे के उदाहरणों के साथ इस प्रकार के मामलों में परीक्षण के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है । संपत्ति संबंधी विवादों की प्रकृति में हो रहे परिवर्तनों के कारण संपदा के फायदे संबंधी संव्यवहारों में भी यथोचित परिवर्तन संभव है, जिनकी परीक्षा इस आधार पर की जा सकती है कि 'क्या कोई भी प्रज्ञावान् व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में अपने ज्ञान के आधार पर यही संव्यवहार करता ।'

पिता कर्त्ता की शक्तियां

पिता कर्त्ता की कुछ विशिष्ट शक्तियां हैं, जो सामान्य कर्त्ता को प्राप्त नहीं होतीं। ये शक्तियां निम्नलिखित हैं—

(1) पिता किसी पुत्र, पुत्री या पत्नी को प्रेमवश आर्थिक सहायता या भरण-पोषण हेतु या इसी प्रकार के अन्य आवश्यक कर्त्तव्यों के निर्वाह हेतु, अन्य पुत्रों की स्वीकृति लिए बिना उचित मात्रा में दान कर सकता है;[2]

(2) पिता व्यक्तिगत पूर्वगामी ऋण के, जो अनैतिक नहीं है, भुगतान हेतु पैतृक संपत्ति को पुत्रों, पौत्रों या प्रपौत्रों के हितों सहित विक्रय कर सकता है या बंधक रख सकता है;[3]

(3) पिता आवश्यक धर्म-कार्य के लिए कौटुंबिक संपत्ति का दान या विक्रय कर सकता है । इसके लिए उसे पुत्रों की स्वीकृति लेनी आवश्यक नहीं है ।[4]

इन शक्तियों के अतिरिक्त पिता को कोई शक्ति प्राप्त नहीं है । अन्य शक्तियां सामान्य कर्त्ता के ही समान है ।[5]

---

1 ए० आई० आर० 1928 इलाहाबाद 454.

2 "पितुः ··· प्रसाद-दान-कुटुम्बभरणापद्विमोक्षादिषु च···स्वातन्त्र्यम् याज्ञ० 2/114 की मिता० टीका (दाय विभाग प्र० की भूमिका); सीता महालक्ष्मम्मा **बनाम** कोयम्मा, 71 मद्रास लॉ जर्नल 259.

3 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रतापनारायणसिंह, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487.

4 याज्ञ० 2/114 पर मिता०.

5 बालमुकुन्द **बनाम** कलावती, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1385; डी० एफ० मुल्ला; प्रिंसिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ, उपबंध 256, पृष्ठ 345.

कर्त्ता के दायित्व

कर्त्ता के दायित्व निम्नलिखित हैं—

(1) **लेखा रखने का दायित्व**—कर्त्ता लेखा रखने के लिए तभी आबद्ध है, जब कौटुंबिक संपत्ति ऐसी हो कि उसकी लागत, आय, व्यय और कर आदि का लेखा रखना आवश्यक हो। व्यापारिक कुटुम्ब में लेखा रखना आवश्यक है। विभाजन के समय कर्त्ता तब तक लेखा-जोखा देने का दायी नहीं है, जब तक कि उसके विरुद्ध आय या संपत्ति के दुर्विनियोग या कपटपूर्ण तथा अनुचित संपरिवर्तन का प्रत्यक्ष प्रमाण न हो।[1]

कर्त्ता पिछले संव्यवहारों हेतु दायी नहीं होता। वह विभाजन के समय की वर्तमान आस्तियों के प्रति ही दायी होता है।[2] उसका यह दायित्व विभाजन का वाद संस्थित करने की तिथि से ही प्रारंभ हो जाता है।[3]

नए व्यापार का दायित्व—कर्त्ता सामान्यतया कोई नया व्यापार प्रारंभ नहीं कर सकता। इससे सहदायिकों के हित प्रभावित होते हैं। नवीन व्यापार प्रारंभ करने से पूर्व उसे सभी वयस्क सहदायिकों की स्वीकृति लेनी आवश्यक है। ऐसा कर्त्ता, जो अवयस्क सहदायिक का पिता नहीं है, अवयस्क के हितों को उसके पिता के माध्यम से नए व्यापार में सम्मिलित करके आबद्ध नहीं कर सकता। पिता कर्त्ता भी अवयस्क पुत्र के हितों को नये व्यापार में आबद्ध नहीं कर सकता। यदि नया व्यापार कौटुंबिक संपदा के फायदे के लिए या विधिक आवश्यकतावश प्रारंभ किया जाए तो उस नये व्यापार के लिए अन्यसंक्रामण अवयस्क सदस्यों पर भी आबद्धकर होगा।[4] इतना ही नहीं यदि कुटुंब के सभी सदस्य वयस्क हैं उनसे स्वीकृति लेकर कर्त्ता कोई व्यापार प्रारंभ करे तो पश्चात् उत्पन्न सहदायिक आबद्ध होगा क्योंकि उक्त कार्य या व्यापार उसके जन्म से पूर्व ही कौटुंबिक व्यापार बन चुका था।[5] यदि किसी कुटुंब का कुलकर्म कोई व्यापार हो तो कर्त्ता उसी प्रकार का नया व्यापार कर सकता है।[6]

(3) **दुर्विनियोग आदि का दायित्व**—कौटुम्बिक संपत्ति के दुर्विनियोग तथा कपटपूर्ण और अनुचित संपरिर्तन के मामले में कर्त्ता अन्य सहदायिकों को उनके अंश या दुर्विनियोजित धनराशि की क्षतिपूर्ति करने के लिए दायी होता है।[7]

---

1 रामनाथन् **बनाम** नारायणन्, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 629.

2 बाप्पू अय्यर **बनाम** रामजानकी, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 394.

3 गोपाल **बनाम** त्र्यम्बक, ए० आई० आर० 1953 नागपुर 195.

4 आंग्लेलाल **बनाम** आंग्लेलाल, ए० आई० आर० 1951 इलाहाबाद 400.

5 भूपतिराजु श्रीरामराजु **बनाम** आदिमपल्ली पुल्लम्राजु, ए० आई० आर० 1961 आंध्र प्रदेश 247; ए० आई० आर० 1951 इलाहाबाद 400.

6 कुलीतल्लै बैंक लिमिटेड तिरुचिरापल्ली **बनाम** एस० बी० नागमणिकम्, ए० आई० आर० 1956 मद्रास 570.

7 लक्ष्मी नारायण **बनाम** दिनकर, ए० आई० आर० 1943 नागपुर 181; ए० आई० आर० 1955 मद्रास 629.

(4) **अप्राधिकृत अन्यसंक्रामण का दायित्व**—यदि कर्त्ता सहदायिकी संपत्ति का अन्यसंक्रामण बिना किसी विधिक आवश्यकता या संपदा के फायदे के करे तो इस प्रकार का अन्यसंक्रामण शून्यकरणीय होता है और अन्य सहदायिकों द्वारा अपास्त कराया जा सकता है।[1]

सहदायिकों के अधिकार

सहदायिकी संपत्ति या पैतृक संपत्ति में सहदायिकों के अधिकार निम्नलिखित हैं—

(1) **सामूहिक हित और कब्जे की एकता**—कौटुम्बिक संपत्ति में सभी सहदायिकों का सामूहिक स्वत्व होता है और कब्जे की एकता रहती है।[2] किसी सहदायिक का अंश पैतृक संपत्ति में निश्चित नहीं होता है। प्रत्येक सहदायिकी का स्वामित्व और हित संपूर्ण कौटुंबिक संपत्ति पर होता है। कौटुंबिक संपत्ति के अंश विशेष पर किसी सहदायिक का न तो पृथक् कब्जा होता है, न ही सहदायिक को कौटुंबिक संपत्ति में किसी विशेष हित का अधिकार होता है।[3]

(2) **आय का अंश**—कोई भी सहदायिक न तो कौटुंबिक संपत्ति के किसी अंश को अपना कह सकता है, न ही वह उससे प्राप्त होने वाली आय के किसी अंश का अधिकारी होता है।[4] किंतु कर्त्ता को यह प्राधिकार है कि वह किसी सहदायिक के लिए कौटुंबिक संपत्ति का थोड़ा अंश निर्धारित कर दे जिसकी आय से वह सहदायिक अपना भरण-पोषण करता रहे। कौटुंबिक संपत्ति के इस प्रकार निर्धारित अंश से होने वाली आय की बचत उसकी पृथक् संपत्ति होती है।[5] उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि पिता अपनी पुत्री के भरण-पोषण हेतु कौटुंबिक संपत्ति के थोड़े से अंश का दान कर सकता है।[6]

(3) **भरण-पोषण का अधिकार**—अविभक्त कुटुंब का प्रत्येक सदस्य कौटुंबिक संपत्ति से भरण-पोषण पाने का अधिकारी होता है।[7]

(4) **संयुक्त कब्जा एव उपभोग**—प्रत्येक सहदायिक कौटुंबिक संपत्ति के संयुक्त कब्जे और उपभोग का अधिकारी होता है। अपने इस अधिकार से वंचित किये जाने पर वह

---

1 रघुवंश मणिप्रसाद **बनाम** अम्बिकाप्रसाद, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 776.

2 काटम्मा नच्चियार **बनाम** राजा शिवमांग, (1863)9 एम० आई० ए० 539; कालूराम गोबिन्दराम **बनाम** आयकर आयुक्त, नागपुर, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 4.

3 चरणभाई **बनाम** रणछोड़, आई० एल० आर० (1902) 26 मुम्बई 141.

4 गणपति **बनाम** अन्नाजी, आई० एल० आर० (1899) 23 मुम्बई 144.
जयश्री साहू **बनाम** रामदेवणा दुबे, ए० आई० आर 1962 एस० सी० 287.

5 रामम्मा गौड़न **बनाम** कोलन्द गौड़न, ए० आई० आर० 1939 मद्रास 11.

6 गुरुम्मा भतरि चानवासप्पा देशमुख **बनाम** मालप्पा चानवासप्पा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 510.

7 पितेव वालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रात्रन्यवीयसः। मनु० 9/108,
चेरुट्टि उपनाम वसु **बनाम** हंगम परम्बिलरामु उपनाम कुट्टमन्, ए० आई० आर० 1940 मद्रास 664.

संपत्ति पर कब्जा प्राप्त करने के लिए वाद संस्थित कर सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह विभाजन की ही मांग करे।[1] अपने इन अधिकारों के लिए सहदायिक न्यायालय से व्यादेश प्राप्त कर सकता है।[2]

(5) **विभाजन कराने का अधिकार**—प्रत्येक वयस्क सदस्य को विभाजन की मांग करने तथा अपना अंश प्राप्त करने का अधिकार है। यहां सहदायिक का तात्पर्य पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से है जो पिता, पितामह या प्रपितामह से विभाजन की मांग कर सकते हैं।[3] अवयस्क सहदायिक को विभाजन की मांग स्वयं करने का अधिकार नहीं है, किंतु वह संरक्षक या वादमित्र के माध्यम से न्यायालय की अनुमति से मांग कर सकता है। यदि वयस्क सहदायिकों में विभाजन हो तो अवयस्क सहदायिक का भी अंश परिनिश्चित और आबंटित किया जाना चाहिए।

(6) **अविभक्त अंश का अन्यसंक्रामण**—किसी भी सहदायिक को सहदायिकी संपत्ति में अपने अंश का दान, विल या विक्रय करने का या बंधक रखने का अधिकार नहीं होता किंतु बंबई[4] और मद्रास[5] क्षेत्रों में सहदायिक को सहदायिकी संपत्ति में अपने अविभक्त अंश का विक्रय करने या बंधक रखने का अधिकार है। मिताक्षरा विधि के अनुसार अविभक्त कौटुंबिक संपत्ति में का अपना अंश अन्यसंक्रांत करने से पूर्व सहदायिक को सभी सहदायिकों से स्वीकृति लेनी पड़ती है।[6] अन्यसंक्रामण न करने वाले सहदायिकों से स्वीकृति लिए बिना किया गया विक्रय पूर्णतया अविधिमान्य है और उसके अंश तक की विल भी विधिसम्मत नहीं है।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अधिनियमित हो जाने से सहदायिक के अन्यसंक्रामण संबंधी अधिकार में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। इस अधिनियम की धारा 30 के अधीन सहदायिकों तथा स्त्री स्वामियों को अपने अविभक्त अंश को किसी व्यक्ति के पक्ष में विल करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

यदि एक ही सहदायिक हो तो उसे पैतृक संपत्ति को दान करने का अधिकार होता है।[7]

(7) **उत्तरजीवित का अधिकार**—अविभक्त कौटुंबिक संपत्ति का न्यागमन उत्तरजीविता के आधार पर होता है। किसी सहदायिक की मृत्यु हो जाने पर उसका

---

1 रामचन्द्र **बनाम** दामोदर, आई० एल० आर० (1896) 20 मुम्बई 467; आई० एल० आर० (1902) 26 मुम्बई 141.

2 शशि **बनाम** गणेश, आई० एल० आर० (1902) 21 कलकत्ता 500.

3 कालीप्रसाद **बनाम** रामचरण, आई० एल० आर० (1876) 1 इलाहाबाद 159. नागलिंग **बनाम** सुब्बश्यामनय्या, आई० एल० आर० (1862) 1 मद्रास 77.

4 आत्माराम **बनाम** आनन्दराव, ए० आई० आर० 1953 नागपुर 241.

5 कुलशेखर पेरुमल्ल **बनाम** पतकुट्टी, ए० आई० आर० 1961 मद्रास 405.

6 रामप्रसाद **बनाम** कृपेशकुमार, ए० आई० आर० 1961 असम 54.

7 एक ही सहदायिक होने की दशा में किसी से स्वीकृति लेने का प्रश्न ही नहीं उठता; डी० एफ० मुल्ला, प्रिन्सिपल आफ हिंदू ला, उपबंध 257, पृष्ठ 345-346.

अविभक्त हित उसके उत्तरजीवियों को न्यागमित होता है ।[1] हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 6 के अधीन मिताक्षरा की उत्तरजीविता विधि सुरक्षित है । इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार उत्तरजीविता विधि विधवाओं और अविवाहित पुत्रियों को भी लागू हो गई ।

(8) **पृथक् संपत्ति अर्जन का अधिकार**—प्रत्येक सहदायिक को पैतृक या कौटुंबिक संपत्ति की सहायता के बिना संपत्ति अर्जन का अधिकार होता है ।[2] इस प्रकार से उपार्जित संपत्ति उपार्जनकर्त्ता सहदायिक की पृथक् संपत्ति होती है । स्वार्जित या पृथक् संपत्ति का यथेच्छ विनियोग या उपभोग करने में प्रत्येक सहदायिक स्वतंत्र होता है ।[3] पृथक् संपत्ति पैतृक या कौटुंबिक संपत्ति से असंबद्ध होती है और उस पर किसी भी सहदायिक को जन्म से स्वत्व नहीं प्राप्त होता । यदि कोई सहदायिक स्वार्जित संपत्ति का पैतृक संपत्ति में इस आशय से संमिश्रण कर दे कि वह कौटुंबिक संपत्ति हो जाएगी तो उस पर सभी सहदायिकों का स्वत्व स्थापित हो जाएगा तो उस पर से उसका पृथक् स्वत्व समाप्त हो जाएगा ।[4]

(9) **अप्राधिकृत कार्य**—कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य किसी भी सहदायिक को जमानत की संविदा करने का अधिकार नहीं है । उसके द्वारा की गई इस प्रकार की संविदा बाद में अविधिमान्य या शून्य हो सकती है ।[5] कोई भी सहदायिक ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो कौटुंबिक संपत्ति को तत्वतः प्रभावित करता हो और जिससे संयुक्त उपभोग में बाधा उत्पन्न हो । यदि कोई सहदायिक अप्राधिकृत कार्य करे तो व्यादेश द्वारा रोका जा सकता है ।[6]

(10) **अविभक्त अंश का त्यजन**—कोई भी सहदायिक कौटुंबिक संपत्ति में अपने अविभक्त अंश का त्यजन अन्य सहदायिकों के पक्ष में करने का अधिकारी होता है । किंतु वह अपने अंश का त्यजन किसी एक या कुछ सहदायिकों के पक्ष में नहीं कर सकता । यदि कोई सहदायिक त्यजन करे तो उसका त्यजन सभी के पक्ष में माना जाएगा ।[7]

अविभक्त सहदायिकी अंश का अन्यसंक्रामण

बम्बई[8] और मद्रास[9] क्षेत्रों में मिताक्षरा विधि के अधीन कोई भी सहदायिक कौटुंबिक संपत्ति में अपने अविभक्त अंश का बिना अन्य सहदायिकों की अनुमति के विक्रय,

---

1 गुरुम्मा **बनाम** नालप्पा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 510.

2 अनुपघ्नपित्रद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् । मनु 9/208.

3 वही 'स्वयमर्जित' गौ० ध० सू० 28/31.

4 मालसप्पा वन्दप्पा **बनाम** मालप्पा, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1268; रजनीकांत **बनाम** जगमोहन, ए० आई० आर० 1923 पी० सी० 57.

5 मालिकचन्द **बनाम** हीरालाल, ए० आई० आर० 1935 लखनऊ 50.

6 शादी **बनाम** अनूपसिंह, आई० एल० आर० (1890) 12 इलाहाबाद 436.

7 सुब्बन्ना **बनाम** बालसुब्बा रेड्डी, आई० एल० आर० (1945) मद्रास 610 (पूर्णपीठ)

8 नारायण **बनाम** नामदेव, ए० आई० आर० 1955 नागपुर 208; चिन्नबासप्पा **बनाम** बासप्पा, ए० आई० आर० 1961 मैसूर 191.

9 कुलशेखर पेरुमल्ल **बनाम** पत्तकुट्टी, ए० आई० आर० 1961 मद्रास 405.

बंधक अथवा अन्य प्रकार से मूल्य हेतु अन्यसंक्रामण कर सकता है। इन अन्यसंक्रामणों में विधिक आवश्यकता या कौटुंबिक फायदे का होना आवश्यक नहीं है।[1]

बंगाल[2] और वाराणसी[3] शाखा के अधीन आने वाले उत्तर प्रदेश,[4] पंजाब,[5] बिहार[6] तथा उड़ीसा प्रांतों में कोई भी सहदायिक कौटुंबिक संपत्ति में अपने अविभक्त अंश को बिना अन्य सहदायिकों की अनुमति के अन्यसंक्रांत नहीं कर सकता। कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि बंगाल और उत्तर प्रदेश में कोई भी सहदायिक अपने अविभक्त अंश को बिना सभी सहदायिकों की स्वीकृति के यदि अन्यसंक्रांत करे तो वह अन्यसंक्रामण शून्य है न कि शून्यकरणीय।[2] किंतु विधिक आवश्यकता पड़ने पर या पिता के पूर्वगामी ऋण को चुकाने के मामले में स्थिति वाराणसी शाखा में बदल जाती है और कोई भी सहदायिक इन परिस्थितियों में बिना अन्य सहदायिकों की स्वीकृति के अन्यसंक्रामण कर सकता है।[3]

सहदायिक के अविभक्त अंश के क्रेता के अधिकार

जब कोई अन्यसंक्रांती किसी सहदायिक के अविभक्त अंश का क्रय करता है, तो उसके निम्नलिखित अधिकार उत्पन्न होते हैं :—

(1) **संयुक्त कब्जे का अधिकार**—सामान्यतया कौटुंबिक संपत्ति का विक्रय दो प्रकार से होता है :—प्रथम निजी विक्रय, द्वितीय न्यायालय द्वारा डिक्री के निष्पादन में विक्रय। इन दोनों प्रकार के विक्रयों में क्रेता के अधिकार कुछ क्षेत्रों में भिन्न होते हैं और कुछ क्षेत्रों में एक समान।

बंगाल और उत्तर प्रदेश में न्यायालय की डिक्री के निष्पादन में हुए विक्रय में एवं मद्रास क्षेत्र में निजी विक्रय में, क्रेता को अन्य सहदायिकों के साथ संयुक्त कब्जे का अधिकार प्राप्त नहीं है।[7] ऐसे क्रेता को विभाजन की मांग करने का ही अधिकार प्राप्त है। उसे यह अधिकार उस विक्रेता सहदायिक के द्वारा ही प्राप्त होगा जिसका अविभक्त हित क्रेता ने क्रय किया है और जो अन्य सहदायिकों से सामान्य विभाजन की मांग अपने अंश या हित के पृथक्करण के लिए विक्रय के पूर्व कर सकता था। वह अपने इस अधिकार का प्रयोग विभाजनवाद द्वारा सामान्य विभाजन के रूप में कर सकता है न कि आंशिक विभाजन के रूप में और जिसमें सभी सहदायिक पक्षकार हों।[8]

---

1 ए० आई० आर० 1961 मैसूर 191.

2 भुवनेश्वरी बनाम मुगल मोहिनी, ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 368.

3 रामप्रसाद बनाम कृपेशकुमार, ए० आई० आर० 1961 असम 54.

4 पुत्तूलाल बनाम रघुवीर, आई० एल० आर० (1934) 9 लखनऊ 237; चन्द्रदेव बनाम माताप्रसाद, आई० एल० आर० (1909) 31 इलाहाबाद 176.

5 रल्लाराम बनाम आत्माराम, आई० एल० आर० (1933) 14 लाहौर 585.

6 कृष्णदेव बनाम जोखीलाल, ए० आई० आर० 1956 पटना 290.

7 आतमाराम बनाम आनन्दराव, ए० आई० आर० 1953 नागपुर 241.

8 तावन्नि चेट्टियार बनाम दक्षिणमूर्ति, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 288.

यदि क्रेता ने कब्जा प्राप्त नहीं किया हो और वह संपूर्ण संपत्ति पर अपने स्वामित्व का दावा करे तो वह सहदायिक, जिसने अपने हित का विक्रय नहीं किया है, यह घोषित करने के लिए वाद संस्थित कर सकता है कि विक्रेता के अविभक्त हितों से अधिक का स्वत्वधारी क्रेता नहीं है । ऐसे मामले में क्रेता विक्रेता के मात्र अविभक्त अंश का अधिकारी है न कि पूरी कौटुम्बिक संपत्ति का । अत: क्रेता के अंश का विनिश्चय विभाजन द्वारा किया जा सकता है ।[1] किंतु मद्रास उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी सहदायिक द्वारा अपने अविभक्त अंश का अन्यसंक्रामण पूर्णतया शून्य होगा ।[2]

यदि क्रेता ने कब्जा प्राप्त कर लिया हो तो अन्य सहदायिक, जिन्होंने अपने अंश का विक्रय नहीं किया है, संपूर्ण संपत्ति पर पुन: कब्जा प्राप्त करने के लिए अविभक्त कुटुंब के हित में वाद संस्थित कर सकते हैं । इस वाद में क्रेता विभाजन की मांग नहीं कर सकता उसे पृथक् वाद द्वारा विभाजन की मांग करनी होगी ।[3] इस विषय पर मद्रास उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण यह है कि यदि सभी सहदायिक पक्षकार हों और न्यायालय सामान्य विभाजन का अनुतोष सुविधापूर्वक प्रदान कर सकता हो, तो क्रेता को पृथक् वाद संस्थित करने का निदेश नहीं दिया जाना चाहिए ।[4]

बंबई उच्च न्यायालय का मत निम्नलिखित है—

(1) यदि क्रेता ने कब्जा प्राप्त नहीं किया हो, तो वह अन्य सहदायिकों के साथ सामूहिक अभिधारी के रूप में संयुक्त कब्जा प्राप्त नहीं कर सकता । उसे केवल सामान्य विभाजन का उपचार प्राप्त है । [5]

(2) यदि क्रेता ने कब्जा प्राप्त कर लिया हो, तो विक्रय न करने वाले सहदायिक क्रेता के साथ संयुक्त कब्जे के अधिकारी हैं ।[6] इस प्रकार बंबई क्षेत्र में क्रेता के कब्जे को संरक्षण प्राप्त है ।

(2) **विभाजन का अधिकार**—बंबई[5] तथा मद्रास[7] प्रांतों में किसी अविभक्त सहदायिक की संपत्ति का क्रेता संपत्तिविशेष के विभाजन का वाद नहीं संस्थित कर सकता क्योंकि विक्रेता सहदायिक को भी कौटुंबिक संपत्ति की किसी विशिष्ट संपत्ति का अधिकार नहीं था । क्रेता सामान्य विभाजन द्वारा अपने अधिकारों का प्रवर्तन विक्रेता की भांति कर सकता है ।[8]

---

1 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रतापनारायण सिंह, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487; जगदीश **बनाम** रामेश्वर, ए० आई० आर० 1960 पटना 54.

2 वेंकटअय्या **बनाम** के० राघवय्या, ए० आई० आर० 1951 मद्रास 318.

3 ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487; ए० आई० आर० 1960 पटना 54.

4 रामास्वामी **बनाम** वेंकटराम,ए० आई० आर० 1624 मद्रास 81, दोधनारासी गोविन्द **बनाम** कालम्मा, ए० आई० आर० 1957 मैसूर 35.

5 ईश्वरप्पा **बनाम** कृष्णा, ए० आई० आर० 1922 मुम्बई 413.

6 नाना **बनाम** अप्पा आई० एल० आर० (1896) 20 मुम्बई 627.

7 मंजम्मा **बनाम** षण्मुगम्, आई० एल० आर० (1915) 38 मद्रास 684.

8 ए० आई० आर० 1955 मद्रास 288.

इलाहाबाद[1] और कलकत्ता[2] उच्च न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि क्रेता विशिष्ट संपत्ति के विभाजन की मांग सामान्य विभाजन की मांग किये बिना कर सकता है ।

(3) **विभाजनोपरांत क्रेता के साम्यापूर्ण अधिकार**—सहदायिक की किसी विशिष्ट संपत्ति या उसके अविभक्त अंश के क्रेता को सामान्य विभाजन में प्राप्त संपत्ति रखने का साम्यापूर्ण अधिकार हो जाता है ।[3] उस विक्रेता के उस अंश को रखने का भी साम्यापूर्ण अधिकार होता है जो उसे बिना अन्य सहदायिकों के हितों को प्रभावित किये, प्रदत्त हो जाता हो ।[4]

(4) **विक्रेता की मृत्यु के उपरांत विभाजन कराने का अधिकार** – किसी सहदायिक के अविभक्त कौटुंबिक संपत्ति के अंश का क्रेता उस सहदायिक की मृत्यु के उपरांत भी विभाजन का वाद संस्थित करने और विभाजन कराने का अधिकारी है ।[5] क्रेता का यह अधिकार संपत्ति से संबंधित होने के कारण विक्रेता की मृत्यु से प्रभावित नहीं होता ।

(5) **विभाजनोपरांत अंश पाने का क्रेता का अधिकार** —यदि विक्रेता ने अपने संपूर्ण अविभक्त हित का विक्रय कर दिया है तो जो अंश वह सहदायिक विभाजन के समय कौटुंबिक संपत्ति में प्राप्त करता वही अंश प्राप्त करने का अधिकारी क्रेता है ।[6] यदि विक्रय के समय पुत्र गर्भ में था तो जन्म के पश्चात् वयस्क हो जाने पर वह उक्त विक्रय के विरुद्ध आपत्ति करने का अधिकारी है और इससे क्रेता का अंश कम हो सकता है क्योंकि पश्चात् उत्पन्न पुत्र को उस संपत्ति में से हिस्सा मिलेगा ।[7] पिता को गर्भस्थ पुत्र के अंश का विक्रय करने का अधिकार नहीं होता क्योंकि वह सहदायिक बन चुका होता है ।

(6) **अन्तःकालीन लाभ का अधिकार**—कौटुंबिक संपत्ति में सहदायिक के अविभक्त अंश को क्रय करने पर क्रेता को सामान्यतया क्रय के दिनांक से विभाजन के दिनांक तक का अंतःकालीन लाभ प्राप्त करने का अधिकार नहीं है ।[8] उच्चतम न्यायालय[9] के निर्णयानुसार निष्पादन विक्रय में क्रय की गई संपत्ति का क्रेता भी क्रय के दिनांक से बिभाजन के दिनांक तक के अन्तःकालीन लाभ का अधिकारी नहीं है । यदि कुटुंब की प्रास्थिति का विक्रय से पूर्व ही पृथक्करण हो चुका हो, किंतु संपत्ति

---

1 राममोहन **बनाम** मूलचन्द, आई॰ एल॰ आर॰ (1906) 28 इलाहाबाद 39.

2 तारिणीचरण चक्रवर्ती **बनाम** देवेन्द्रबाला देब, आई॰ एल॰ आर॰ (1935) 62 कलकत्ता 655.

3 गुरुलिंगप्पा **बनाम** शाहू, ए॰ आई॰ आर॰ 1931 मुम्बई 218.

4 सीता महालक्ष्मी **बनाम** रामचन्द्र, ए॰ आई॰ आर॰ 1957 आन्ध्र प्रदेश 572.

5 अय्यागरी **बनाम** अय्यागरी, आई॰ एल॰ आर॰ (1902) 25 मद्रास 690.

6 केंचे गौड़ा **बनाम** चिन्नैया, ए॰ आई॰ आर॰ 1953 मैसूर 22.

7 नारायण **बनाम** नामदेव, ए॰ आई॰ आर॰ 1955 नागपुर 208.

8 त्र्यम्बक **बनाम** पाण्डुरंग, आई॰ एल॰ आर॰ (1920) 44 बम्बई 621, ए॰ आई॰ आर॰ 1920 मद्रास 103.

9 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रसाद, ए॰ आई॰ आर॰ 1953 एस॰ सी॰ 487.

का विभाजन माप और सीमांकन द्वारा नहीं हुआ हो, तो किसी सहदायिक के अंश का क्रेता उन सदस्यों से, जिनका कब्जा उस पर है, अन्त: कालीन लाभ प्राप्त करने का अधिकारी है ।[1]

(7) **विनिर्दिष्ट पालन हेतु वाद चलाने का अधिकार**—यदि विक्रेता ने क्रेता के साथ विक्रय संविदा कर ली हो और वह विक्रय के पूर्व मर जाए, तो क्रेता विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद चलाने का अधिकारी है ।[2] यह वाद उसके उत्तरजीवियों या वारिसों पर चलाया जा सकता है ।

(8) **साम्या के आधार पर क्रेता द्वारा प्राप्ति**—संपत्ति पर क्रेता के अधिकारों के उत्पन्न होने के साथ-साथ भार और दायित्वों को भी वह प्राप्त करता है, क्योंकि ये सभी संपत्ति के साथ-साथ चलते हैं और साम्या के आधार पर क्रेता के विरुद्ध उत्पन्न होते हैं ।[3]

(9) **पूर्ववर्ती अन्यसंक्रामण पर आक्षेप करने का अधिकार**—संपूर्ण कौटुंबिक संपत्ति का क्रेता उससे संबंधित पूर्ववर्ती अप्राधिकृत अन्यसंक्रामणों पर आक्षेप करने का हकदार है ।[4]

सहदायिकी और सहदायिकी संपत्ति की उपधारणा

कोई संपत्ति सहदायिकी है या नहीं, यह प्रश्न सहदायिकी संपत्ति की अवधारणा के साथ मूलत: संबद्ध है । जब तक यह प्रश्न हल नहीं हो जाता तब तक सहदायिकी विधि प्रभावहीन रहती है । ज्योंही कोई संपदा सहदायिकी संपत्ति घोषित होती है, त्योंही वह सहदायिकी विधि का विषय बन जाती है । सहदायिकी संपत्ति संबंधी विवाद्यक तथ्य निम्नलिखित मामलों में उठते हैं :—

(1) जब वादी अविभक्त कुटुंब से कोई संपत्ति विशेष यह कहते हुए प्रत्युद्धरित करना चाहता है, कि वह उसकी स्वार्जित संपत्ति है, और प्रतिवादी यह कहते हुए आपत्ति प्रस्तुत करता हैं कि वह अविभक्त कौटुंबिक संपत्ति है; अथवा

(2) जब वादी किसी विशिष्ट संपत्ति का कौटुंबिक संपत्ति के रूप में विभाजन कराना चाहता है और प्रतिवादी विभाजन की मांग की आपत्ति इस आधार पर करता है कि वह उसकी स्वार्जित संपत्ति है ।

उपरिलिखित दोनों दशाओं में से किसी भी दशा में न्यायालय के सम्मुख प्रमुख विवाद्य विषय यह होता है कि विवादग्रस्त संपत्ति सहदायिक है या नहीं । इस विवाद्य विषय के अभिनिर्धारण के लिए साक्ष्य में जो उपधारणाएं निर्णयज विधि द्वारा सुनिश्चित है, उनकी विवेचना नीचे की जा रही है :—

(1) **हिंदू कुटुंब की अविभक्त स्थिति की उपधारणा**—हिंदू कुटुंब स्वभावत:

---

[1] शिवराममूर्ति **बनाम** वेंकय्या, ए० आई० आर० 1934 मद्रास 364.

[2] भगवान **बनाम** कृष्णजी, ए० आई० आर० 1920 मुम्बई 104.

[3] परमनायकम् **बनाम** शिवरामन्, ए० आई० आर० 1952 मद्रास 419.

[4] मदनलाल **बनाम** चिट्टू, ए० आई० आर० 1930 इलाहाबाद 852.

अविभक्त माना जाता है उसे विभक्त सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है।[1] कुटुंब की अविभक्त स्थिति की उपधारणा का आधार वह शास्त्रीय विधि है, जिसमें यह कहा गया है कि माता-पिता के जीवन काल में विभाजन नहीं करना चाहिए[2] और उनकी मृत्यु के उपरांत ज्येष्ठ भ्राता के संरक्षण में रहना चाहिए।[3] पिता-पुत्र[4] और सहोदर भाइयों[5] के बारे में अविभक्त रहने की उपधारणा शास्त्रीय विधियों और हिंदू कुटुंब की सामान्य स्थिति के आधार पर सुस्थिर हुई है। किसी भी स्थिति को उपधारित करते समय विधि और व्यवहार दोनों को ध्यान में रखना आवश्यक है। हिंदू समाज में विधि और व्यवहार में समानता होने से ही हिंदू कुटुंब की स्वाभाविक अविभक्त स्थिति की उपधारणा विधि जगत् में मान्य हो सकी है। ज्यों-ज्यों वंशज मूलपूर्वज से दूर होते जाते हैं, अविभक्त स्थिति की उपधारणा निर्बल होती जाती है।[5] यही कारण है कि चचेरे भाइयों के सामान्यतया पृथक् रहने की उपधारणा की जाती है।[6] किंतु यह उपधारणा तब तक सही नहीं है जब तक कि कुटुंब का पृथक्करण साक्ष्य द्वारा प्रमाणित न हो जाए।

(2) **कुटुम्ब के पास संपत्ति रहने संबंधी उपधारणा**—प्राचीनतम काल से ही हिंदू कुटुंब का केन्द्र संपत्ति रही है क्योंकि वैदिक वाङमय में भी दाय शब्द कौटुंबिक संपत्ति के लिए प्रयुक्त है।[7] इससे यह उपधारणा पुष्ट होती है कि हिंदू कुटुंब और संपत्ति का अटूट संबंध है। इसी कारण कि यह माना जाता है कि किसी हिंदू अविभक्त कुटुंब की कोई न कोई संपत्ति होती है।[8] एक बार कुटुंब की संपत्ति होना सिद्ध हो जाने पर यह उपधारणा कर ली जाती है कि संपत्ति कौटुंबिक संपत्ति है।[9] किंतु यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी अविभक्त हिंदू कुटुंब के पास कोई संपत्ति हो ही।[10] संपत्ति विहीन कुटुंब की भी चर्चा प्राचीन शास्त्रों में हुई है।[11]

---

1 श्रीमती भगवानी **बनाम** मोहनसिंह, ए० आई० आर० 1925 पी० सी० 132, मोहनलाल **बनाम** रामदयाल, ए० आई० आर० 1941 अवध 331, राघवम्मा **बनाम** चिनचम्मा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 136.

2 भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः। मनु० 9/104.

3 ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा। मनु० 9/105.
सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् विभृयात्पितृवत्। गौ० ध० सू० 28/3.

4 मलिकचन्द **बनाम** हीरालाल, ए० आई० आर० 1935 अवध 510.

5 येलप्पा **बनाम** तिप्पन्ना, ए० आई० आर० 1929 पी० सी० 8.

6 मोरो विश्वनाथ **बनाम** गणेश, आई० एल० आर० (1873) 10 मुम्बई 444.

7 ऋ० 2.32-4 (शतदाय), अथर्व० 5.18.6 (सोमो ह्यस्य दायादः)

8 कमलाकान्त गोपालजी **बनाम** माधवजी मय्याजी, ए० आई० आर० 1935 मुम्बई 343.

9 गुलाब चन्द लाला **बनाम** मुन्नीलाल लाला, आई० एल० आर० (1941) 16 लखनऊ 302.

10 श्रीनिवास कृष्णराव कांगो **बनाम** नारायण देवजी कांगो, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 379.

11 द्रव्य सामान्यऽभावेऽपि त्वत्तोऽहं विभक्त।
नीलकण्ठः व्य० मयू० पृ० 58.

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यह उपधारणा कि किसी कुटुंब के पास कोई कौटुंबिक संपत्ति है, इस उपधारणा का दिशा-निर्देशन नहीं करती कि किस सहदायिक की संपत्ति कौटुंबिक संपत्ति है ।[1] यह तो तथ्यों के साक्ष्य पर निर्भर होती है ।

(3) **कौटुंबिक व्यापार संबंधी उपधारणा**—इस बात की कोई उपधारणा नहीं की जा सकती कि किसी सहदायिक या कर्त्ता द्वारा चलाया जा रहा व्यापार अविभक्त कौटुंबिक व्यापार है ।[2] यदि अविभक्त कुटुंब का सदस्य कोई व्यापार करके पृथक् संपत्ति अपने हितार्थ अर्जित करता है, तो वह संपत्ति तब तक उसकी पृथक् संपत्ति बनी रहती है जब तक यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि संबंधित व्यापार का केन्द्र कौटुंबिक संपत्ति थी या उसकी आय को कौटुंबिक संपत्ति में संमिश्रित कर दिया गया था ।[3] किसी सहदायिक द्वारा यदि कोई व्यापार आरंभ से ही अपने नाम से किया जाता रहा और उससे उपार्जित संपत्ति कभी भी कौटुंबिक संपत्ति में संमिश्रित नहीं हुई तो जो वादी उसे अविभक्त कौटुंबिक व्यापार कहते हुए उसमें अंश पाने का वाद संस्थित करे उसी पर यह सिद्ध करने का भार होगा कि विवादग्रस्त व्यापार अविभक्त कौटुंबिक व्यापार है ।[4]

(4) **विभाजनोपरांत संपत्ति के अविभक्त होने की उपधारणा**—विभाजन सिद्ध हो जाने पर भी यदि कोई सदस्य संपत्ति को अविभाजित कहे तो अपने कथन को सिद्ध करने का दायी वही होगा ।[5] जो व्यक्ति यह कहता है कि विभाजनोपरांत संपत्ति का कोई अंश अन्य सदस्य के कब्जे में होने पर भी अविभक्त है, तो यह उसी को सिद्ध करना चाहिए क्यों कि विभाजन संपूर्ण संपत्ति का होता है, किसी अंश या खंड का नहीं । किंतु यह उपधारणा अब निरर्थक हो चुकी है । कृषि-भूमि और अन्य स्थावर संपत्तियों में वर्गीकरण हो चुका है और दोनों दो प्रकार के न्यायालयों के न्यायक्षेत्र की विषय बन चुकी हैं । पहली का विभाजन राजस्व न्यायालय द्वारा जमींदारी विनाश और भूमि व्यवस्था अधिनियम के अन्तर्गत होता है और दूसरी का विभाजन सामान्य विभाजन-वाद के माध्यम से सिविल न्यायालय द्वारा होता है । अतएव वर्तमान विधि पद्धति में विभक्त कुटुंब के पास भी किसी पैतृक संपत्ति का अविभाज्य रह जाना सामान्य स्थिति बन चुकी है ।

व्यापारिक कुटुंब

वह कुटुंब व्यापारिक कुटुंब कहलाता है जिसमें अनेक पीढ़ियों से परंपरागत व्यापार होता आया है । वैश्य वर्ण के धंधों में एक धंधा व्यापार भी है ।[6] वेदों में 'धन से धन प्राप्ति की इच्छा'[7] का उल्लेख है, जो व्यापार का सूचक है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यापारिक कुटुंब

---

1 श्रीनिवास कृष्णराव कांगो **बनाम** नारायण देवजी कांगो, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 379.

2 चित्तनाथ **बनाम** रामचन्द्र, ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 799.

3 अन्नामल्लै चेट्टि **बनाम** सुब्रह्मण्यन् चेट्टि, ए० आई० आर० 1929 पी० सी० 1.

4 नेईमसिंह **बनाम** त्रिकमसिंह, ए० आई० आर० 1955 इलाहाबाद 388.

5 तेजराम **बनाम** मोहनलाल, ए० आई० आर० 1955 राजस्थान 157.

6 मनु० 1/10 (वणिक्पशुकृषिर्विशः); लाभार्थं क्रयविक्रयौ वाणिज्यम् याज्ञ० 1/119 पर मिता० टीका ।

7 'धनेन देवा धनमिच्छमाननः' अथर्व० 3/15/5-6.

का विकास भी शास्त्रीय विधियों के आधार पर हुआ। यदि किसी कुल के पूर्वज ने वाणिज्य को कौटुंबिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अर्थोपार्जन का साधन बनाया और उसके क्रमागत वंशजों द्वारा उसे चालू रखा गया है, तो इस वाणिज्य वृत्ति के कारण वह कुटुंब व्यापारिक कुटुंब माना जाएगा।

पैतृक वाणिज्य या कौटुंबिक वाणिज्य

परिभाषा—वह वाणिज्य जो पिता, पितामह या प्रपितामह से विरासत (रिक्थ) में प्राप्त हुआ हो, पैतृक वाणिज्य है। इसी को कौटुंबिक वाणिज्य भी कहते हैं।

पैतृक वाणिज्य का न्यागमन—अन्य संपत्ति की भांति वाणिज्य भी उत्तराधिकार के योग्य एक प्रकार की संपदा है। जब कोई हिंदू व्यापारी मरता है तो उसका व्यापार उसके वंशजों द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त किया जाता है। मृतक व्यापारी के पुत्र उसके व्यापार को कौटुंबिक व्यापारिक प्रतिष्ठान के रूप में उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं।

हिंदू कौटुंबिक प्रतिष्ठान का गठन—हिंदू कौटुंबिक व्यापारिक प्रतिष्ठान का गठन हिंदू विधि के अधीन होता है[1] न कि संविदा विधि के अधीन। इस व्यापारिक प्रतिष्ठान की स्थिति सामान्य भागीदारी प्रतिष्ठान से भिन्न होती है।

भागीदारी और अविभक्त हिंदू कौटुंबिक प्रतिष्ठान (फर्म) में अंतर

(1) **गठन**—हिंदू कौटुंबिक वाणिज्य प्रतिष्ठान का गठन हिंदू विधि के अधीन होता है, जब कि भागीदारी प्रतिष्ठान का गठन भारतीय भागीदारी अधिनियम, 1932 के अधीन होता है।

(2) **लेखे-जोखे की मांग का अधिकार**—सहदायिक कर्त्ता से कौटुंबिक वाणिज्य प्रतिष्ठान के लेखे-जोखे की मांग विभाजन के समय सहदायिक उसी समय के संव्यवहार के बारे में कर सकता है।[2] कोई भी सहदायिक कर्त्ता से विभाजन पूर्व के संव्यवहारों के बारे में अन्य सामान्य कौटुंबिक संपत्ति के प्रबंध की भांति लेखे की मांग करने का प्राधिकारी नहीं है।[3] किंतु भागीदारी प्रतिष्ठान के भागीदार को भारतीय भागीदारी अधिनियम के उपबंधों के अधीन यह अधिकार प्राप्त है कि वह पिछले और वर्तमान दोनों ही संव्यवहारों के लेखों की मांग कर सकता है और प्रत्येक भागीदार लाभ-हानि के प्रति उत्तरदायी है।

(3) **ऋण उपगत करने का अधिकार**—हिंदू व्यापारिक कुटुंब के सभी सहदायिकों को ऋण उपगत करने का प्राधिकार नहीं है यह शक्ति मात्र कर्त्ता को प्राप्त है।[4] कर्त्ता को यह विवक्षित अधिकार प्राप्त है कि वह कौटुंबिक संपत्ति के किसी अंश को कौटुंबिक

---

1 लाला बैजनाथप्रसाद **बनाम** रामगोपाल लक्ष्मीनारायण, आई० एल० आर०(1938) 1 कलकत्ता 369; गुलाबचन्द लाला **बनाम** मुन्नीलाल लाला, ए० आई० आर० 1941 अवध 230.

2 रामनाथन् **बनाम** नारायणन्, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 629.

3 मणिराव **बनाम** देवराव, ए० आई० आर० 1955 नागपुर 290.

4 वी० ढी० देशपाण्डे **बनाम** कुसुम कुलकर्णी, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1791.

व्यापार के सामान्य प्रयोजन के लिए बंधक रख सकता है या उससे ऋण उपगत कर सकता है। ऐसे बंधक या ऋण, जिसे कर्त्ता ने कारबार के मामूली अनुक्रम में उपगत किया हो, कौटुंबिक संपत्ति पर अवयस्क सहदायिकों के हितों सहित आबद्ध कर होते हैं।[1] भागीदारी प्रतिष्ठान में कोई भागीदार कारबार के मामूली अनुक्रम में ऋण उपगत करके अन्य भागीदारों को भागीदारी अधिनियम के अधीन आबद्ध कर सकता है।

(4) **ऋण संबंधी दायित्व**—कर्त्ता द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में उपगत ऋण का दायित्व कौटुम्बिक सम्पत्ति में उनके हितों तक ही सीमित नहीं है। कर्त्ता व्यक्तिगत रूप से भी ऋण के लिए आबद्ध है। अन्य सहदायिक कौटुंबिक संपत्ति में मात्र अपने अंश तक ही दायी होते हैं। यदि वयस्क सहदायिक ऋण संविदा के पक्षकार हैं अथवा बाद में उन्होंने अनुसमर्थन किया है तो वे भी उसके भुगतान के लिए व्यक्तिगत रूप से दायी होते हैं।[2] किंतु अवयस्क सहदायिक तभी व्यक्तिगत रूप से आबद्ध होंगे जब प्राप्तवय हो जाने पर उस ऋण संविदा का अनुसमर्थन कर दें।[3] सामान्य भागीदारी के मामले में न केवल प्रत्येक भागीदार का अंश ऋण के भुगतान के लिए आबद्धकर है अपितु उसकी पृथक् संपत्ति भी आबद्धकर है।

(5) **अवयस्क सदस्य**—अवयस्क सदस्य का ऋण के भुगतान का दायित्व फर्म[4] और हिंदू कौटुंबिक कारबार[5] (वाणिज्य) दोनों में ही समान हैं और कौटुंबिक कारबार अथवा फर्म में उसके हितों तक ही सीमित है। अन्तर तभी होगा जब वह प्राप्तवय हो जाने पर कौटुंबिक वाणिज्य के कारबार के मामूली अनुक्रम में कर्त्ता द्वारा उपगत ऋण अथवा भागीदारी फर्म का अनुसमर्थन कर दे।[6]

नया व्यापार

जब एक बार किसी कुटुंब ने जोखिमपूर्ण धंधे को जीविकोपार्जन का साधन बना लिया हो तो उसके कर्त्ता को विधि के अधीन इतनी छूट मिलनी ही चाहिए कि अपने परंपरागत चले आ रहे धंधे में आवश्यकतानुसार सुधार और विस्तार कर सके। जिस कुटुंब का कुल-कर्म व्यापार है, उसके कर्त्ता को यह प्राधिकार प्राप्त है कि वह कुटुंब और कौटुंबिक व्यापार के हित में अनुवृद्धि कर सकता है और कोई नया व्यापार भी प्रारंभ कर सकता है। किंतु कर्त्ता की शक्ति को नियंत्रित करने के लिए निम्नलिखित शर्तें लगाई गई हैं:—

(1) नया व्यापार सट्टा सम्बन्धी नहीं होना चाहिए;[7]

---

1 वी० डी० देशपाण्डे बनाम कुसुम कुलकर्णी, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1791

2 राम राव बनाम सरस्वतीबाई, ए० आई० आर० 1954 नागपुर 38.

3 शासकीय समनुदेशिती बनाम पलनियप्पा, ए० आई० आर० 1919 मद्रास 690.

4 संन्यासीचरण मंडल बनाम कृष्णधन बनर्जी, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 237.

5 चोक्कलिंगम् बनाम मुत्तुकरुप्पन्, ए० आई० आर० 1938 मद्रास 348.

6 विश्वम्भर बनाम शिवनारायण, आई० एल० आर० (1907) 29 इलाहाबाद 166.

7 देशरत्नम्मा बनाम नारायण, ए० आई० आर० 1947 मद्रास 252; आंग्लेलाल बनाम आंग्लेलाल, ए० आई० आर० 1951 इलाहाबाद 400.

(2) नया व्यापार कौटुंबिक व्यापार से मिलता-जुलता होना चाहिए;[1]

(3) नया व्यापार कौटुंबिक हित में होना चाहिए;[2] और

(4) नया व्यापार विवेकपूर्ण जोखिम होना चाहिए ।[2]

इस विषय पर पटना उच्च न्यायालय[2] ने अभिनिर्धारित किया है कि कर्त्ता कुटुंब के वयस्क और अवयस्क सदस्यों पर नये व्यापार का जोखिम तब तक नहीं डाल सकता, जब तक कि संव्यवहार विवेकपूर्ण साहस का और कौटुंबिक हित में नहीं हो ।

उपरिवर्णित शर्तों का पृथक्-पृथक् विवेचन निम्नलिखित है :—

(1) **सट्टा संबंधी व्यापार**— सामान्य संव्यवहार और सट्टे के संव्यवहार में अंतर है । सट्टे में जोखिम की संभावना अधिक रहने के साथ ही अनिश्चितता भी अधिक रहती है । इसमें लाभ किसी वस्तु के मूल्य में हो रही वृद्धि पर अनुमानित होता है, जो परिस्थितियों के परिवर्तन से हानि में परिणित हो सकता है । ऐसे संव्यवहार में व्यक्ति अपने को जोखिम में डालने के लिए स्वतंत्र है, किंतु दूसरों को जोखिम में नहीं डाल सकता । यही कारण है कि सट्टे को कौटुंबिक व्यापार नहीं माना गया ।[3]

(2) **समान प्रकार का व्यापार**—व्यापारिक कुटुंब के कर्त्ता को समान प्रकार का नया व्यापार प्रारंभ करने की ही शक्ति प्राप्त है ।[4] उसे यह छूट नहीं है कि वह मनचाहा कोई भी व्यापार प्रारंभ करके कुटुंब के वयस्क और अवयस्य सदस्यों के हितों को जोखिम में डाल सके ।[5] समान प्रकार के व्यापारिक विस्तार से यह आशा की जाती है कि उसमें कर्त्ता को दक्षता प्राप्त है और उसमें हानि की संभावना कम रहेगी ।

(3) **कुटुंब के हितार्थ व्यापार**—कौटुंबिक हित की दृष्टि से व्यापारिक आस्तियों में संवर्धन और विस्तार अपेक्षित है । यदि कर्त्ता द्वारा प्रारंभ किये गये नये व्यापारिक संव्यवहार से कुटुंब के सदस्य प्रभावित होते हों और वे न्यायालय में दायित्व मुक्ति का वाद संस्थित करें या प्रतिवाद करें तो वादी या प्रतिवादी कर्त्ता द्वारा किए गये संव्यवहार को अन्य साक्ष्य से कुटुंब के लिए अहितकर सिद्ध कर सकता है । किसी व्यापार को कुटुंब हितार्थ सिद्ध करने का भार उस व्यक्ति पर होता है, जो इसका अभिवाक् करता है । यदि कर्त्ता द्वारा प्रारंभ किया गया व्यापार कुटुंब के हितार्थ है, तो उससे वयस्क और अवयस्क दोनों ही सहदायिक आबद्ध होंगे ।[6]

पिता कर्त्ता को भी ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह कौटुंबिक संपत्ति को बंधक रखकर नया व्यापार प्रारंभ करने के लिए पुत्र को धन दे सके । पिता कर्त्ता के इस संव्यवहार से न तो वयस्क सहदायिक आबद्ध होंगे न ही अवयस्क ।[7] किन्तु यदि एकमात्र

---

[1] भगवानसिंह **बनाम** बिहारीलाल, ए० आई० आर० 1937 नागपुर 237.

[2] छोटेलाल चन्दरी **बनाम** दिलीपनारायणसिंह, ए० आई० आर० 1938 पटना 562.

[3] ए० आई० आर० 1951 इलाहाबाद 400.

[4] देशरत्नम्मा **बनाम** नारायण, ए० आई० आर० 1947 मद्रास 252;
आंग्ले लाल **बनाम** आंग्ले लाल, ए० आई० आर० 1951 इलाहाबाद 400.

[5] बाबूबाल **बनाम** बाबूलाल, ए० आई० आर० 1941 इलाहाबाद 194.

[6] रामनाथ **बनाम** चिरंजीवलाल, ए० आई० आर० 1935 इलाहाबाद 221.

[7] गणेश प्रसाद सिंह **बनाम** शिवगोविन्द साहू, ए० आई० आर० 1938 पटना 40.

उत्तरजीवी सहदायिक द्वारा नया व्यापार प्रारंभ किया जाता है, तो पश्चात् उत्पन्न पुत्र का हित दायित्व मुक्त नहीं ह सकताा क्योंकि उसके जन्म के पूर्व ही नया व्यापार कौटुंबिक व्यापार बन चुका होता है ।[1]

(4) **विवेकपूर्ण जोखिम**—व्यापारिक कुटुब व्यापार संबंधी जोखिम उठाने का अभ्यस्त होता है । जोखिम उस कुटुंब के मामूली कारबार का अनुक्रम बन जाता है । किंतु जब कर्त्ता कोई नया व्यापार प्रारंभ करता है तब स्थिति परिवर्तित हो जाती है । यदि कर्त्ता द्वारा उठाये गये नये व्यापार का जोखिम विवेकपूर्ण है, तो उसके इस संव्यवहार से कुटुंब के वयस्क और अवयस्क दोनों ही सहदायिक आबद्ध होंगे,[1] अन्यथा नहीं ।

दान

कोई हिन्दू पिता स्नेहवश पुत्री-पुत्रादि को पैतृक संपत्ति में से कुछ अंश[2] और स्वार्जित संपत्ति में से इच्छानुसार कोई भी अंश या संपूर्ण संपत्ति दान दे सकता है ।[3] याज्ञवल्क्य के अनुसार "पिता द्वारा प्रीतिवश पुत्र को दिया गया स्वरूप धन दान है ।"[4]

बिना किसी प्रतिफल के स्वेच्छा अपने सांपत्तिक अधिकारों का अन्य व्यक्ति के पक्ष में त्याग और उस व्यक्ति द्वारा उसकी स्वीकारोक्ति दान है ।

दान में धन संबंधी प्रतिफल नहीं होना चाहिए ।

दान की प्रसंगतियां—प्राचीन हिन्दू विधि के अधीन कब्जे के परिदान के उपरान्त ही दान या प्रसाद विधिमान्य हैं ।[5] यह परिदान दाता द्वारा आदाता को दिया जाना चाहिए ।[5] दान-पत्र की रजिस्ट्री (निबंधन) मात्र से कब्जे का परिदान नहीं हो जाता; न ही रजिस्ट्री से दाता द्वारा आदाता को संपत्ति का कोई हक संक्रांत होता है ।[6] किंतु संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 123 के उपबधों के अनुसार स्थावर संपत्ति के दान की पूर्णता और वैधता के लिए दान लिखित और दान-पत्र दाता और दो साक्षियों द्वारा हस्ताक्षरित होना तथा उसका रजिस्ट्री कराया जाना आवश्यक है । स्थावर संपत्ति का दान चाहे वह पिता द्वारा स्नेह वश ही क्यों न दिया गया हो कब्जे के परिदान मात्र से संभव नहीं है ।[7] कब्जे का परिदान स्थावर संपत्ति के मामले में दान की वैधता के लिये आवश्यक भी नहीं है क्योंकि उसका भौतिक परिदान संभव नहीं है । किंतु दान का आदाता द्वारा प्रतिग्रहण किया जाना चाहिए ।[8] यदि आदाता ने दान का प्रतिग्रहण नहीं किया है । तो वह

---

[1] बनारस बैंक **बनाम** हरिनारायण, ए० आई० आर० 1932 पी० सी० 182.

[2] स्नेहात्प्रत्युपकारतः । नारद, याज्ञ० 2/176 की मिता० टीका से उद्धय "प्रसादो यश्च पैतृकः ।" नारद 16/6 रामलिंग अन्नावी **बनाम** नारायण अन्नावी, आई० एल० आर० (1922) पी० सी० 201.

[3] पित्र्यं वाथ स्वमं प्राप्तं तद्दातव्यं विवक्षितम् । बृह०, वी० मि०, व्यव० अ० पृ० 394 में उद्धृत. राव बलवंत सिंह **बनाम** रानी किशोरी, 25 आई० ए० 54.

[4] पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तंतस्थैव धनं भवेत् । याज्ञ० 2/123.

[5] श्रीमती नौजी **बनाम** मोहन लाल, ए० आई० आर० 1957 राजस्थान 128.

[6] लक्ष्मिणी **बनाम** नित्यानन्द, आई० एल० आर० (1893) 20 कलकत्ता 464.

[7] कल्याण सुन्दरम् **बनाम** कारुप्पा; ए० आई० आर० 1927 पी० सी० 42.

[8] देवी सिंह **बनाम** वंशीधर, आई० एल० आर० (1922) इलाहाबाद 44.

अविधिमान्य और शून्य है। दान का प्रतिग्रहण संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 122 के अधीन दाता के जीवन काल में ही होना चाहिए क्योंकि यह जीवित व्यक्तियों के बीच का दान है।

अजात आदाता—संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 के अध्याय 2 की परिसीमा और परन्तुकों के अधीन रहते हुए, इस आधार पर कोई दान अविधिमान्य नहीं होगा कि जिस व्यक्ति के हितार्थ दान किया गया है वह व्यक्ति दान के दिन उत्पन्न नहीं हुआ था। किंतु इसके लिये निम्नलिखित तत्त्वों का होना उक्त अधिनियम के अध्याय 2 के परंतुकों के अनुसार आवश्यक है :—

(1) यदि दान पूर्विक व्ययन द्वारा किसी अजात व्यक्ति के पक्ष में किया गया हो तो वह दान संपूर्ण संपत्ति के लिए हो;

(2) दान शाश्वतता के विरुद्ध नियम का उल्लंघन नहीं करता हो।

(3) यदि दान व्यक्तियों के एक वर्ग को किया गया हो और उनमें से कुछ व्यक्तियों के पक्ष में किया गया दान ऊपर (1) या (2) के अधीन शून्य हो, तो भी दान केवल उन्हीं व्यक्तियों के प्रति विफल होगा न कि संपूर्ण वर्ग की बाबत।

(4) यदि अजात व्यक्ति को किया गया दान ऊपर (1) या (2) के अधीन निष्फल हो जाता हो तो ऐसी निष्फलता के पश्चात् या पर प्रभावी होने के आशय से किया गया दान भी निष्फल हो जाता है।

जीवन पर्यन्त हित का आरक्षण—किसी हिंदू दाता को यह अधिकार है कि वह दान की संपत्ति के भोगाधिकार को अपने लिए जीवनांत तक आरक्षित रख ले। ऐसा करने से दान अविधिमान्य नहीं होगा।[1]

दान का प्रतिसंहरण—दान पूर्ण हो जाने पर दाता द्वारा प्रतिसंहरण नहीं किया जा सकता और वह उस पर आबद्धकर होगा।[2] किंतु कपटपूर्ण या अनुचित प्रभाव से किया गया दान अपास्त कराया जा सकता है।[3]

अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने का अधिकार—यदि कर्त्ता या पिता-कर्त्ता या किसी सहदायिक ने कोई अवैध या अपनी शक्ति से अधिक अन्यसंक्रामण कर दिया हो, तो उस अन्य संक्रामण को अपास्त कराने हेतु निम्नलिखित व्यक्ति न्यायालय में वाद संस्थित कर सकते हैं :—

(1) **अन्यसंक्रामण के समय विद्यमान सहदायिक**—यदि कोई सहदायिक अपनी शक्ति से बाहर अन्यसंक्रामण करे तो उसे विद्यमान अन्य सहदायिक अपास्त करा सकते हैं।[4] जो सहदायिक अन्यसंक्रामण के समय मां के गर्भ में था, वह भी उत्पन्न होने के पश्चात्

---

1 लालूसिंह **बनाम** गुरुनारायण; ए० आई० आर० 1922 इलाहाबाद 467.

2 अम्मापन अम्माल **बनाम** षणमुखम्, ए० आई० आर० 1971 मद्रास 370.

3 मणि गौवरी बनाम नाराण दास, आई० एल० आर० (1891) 15 मुम्बई 549.

4 नारायणदास **बनाम** हरदयाल, आई० एल० आर० (1913) 35 इलाहाबाद 571.

वयस्क हो जाने पर उसे अपास्त कराने का अधिकारी है[1]।

(2) **अन्यसंक्रामण के पश्चात् उत्पन्न पुत्र**—कोई नि:संतान पिता एकमात्र सहदायिक के रूप में कौटुंबिक संपत्ति का जो भी अन्य संक्रामण करे, वह वैध होगा भले ही वह अन्य-संक्रामण विधिक आवश्यकता के अभाव में किया गया हो या संपत्ति के हित में न किया गया हो। ऐसे अन्यसंक्रामण को पश्चात् उत्पन्न पुत्र अपास्त कराने का अधिकारी नहीं है।[2] यदि पुत्रवान् पिता जीवित पुत्रों की स्वीकृति लिए बिना अन्यसंक्रामण करे, जो न तो विधिक आवश्यकता के लिए हो। और न ही पूर्ववर्ती ऋण के भुगतान के लिए हो, तो उनमें से कोई पुत्र उसे अपास्त करा सकता है। किंतु यदि अपने अधिकारों का प्रयोग किये बिना ही सभी पिता के जीवन काल में मर जाएं और अंतिम पुत्र की मृत्यु के उपरांत कोई पुत्र उत्पन्न हो तो पश्चात् उत्पन्न पुत्र उक्त अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने का हकदार उत्तरप्रदेश और बंगाल में तो है किंतु अन्य क्षेत्रों में नहीं है। यदि पश्चात् उत्पन्न पुत्र अंतिम पुत्र की मृत्यु के पूर्व उत्पन्न हो तो उसे अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने का अधिकार प्राप्त हो जाता है[3] क्योंकि सहदायिकी समाप्त होने के पूर्व ही वह सहदायिक बन जाता है।

उत्तरप्रदेश और बंगाल में सभी पुत्रों की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न पुत्र का अन्य-संक्रामण को अपास्त कराने का अधिकार निम्नलिखित कारणों से समाप्त हो सकता है, अर्थात्:—

(1) यदि पूर्ववर्ती पुत्रों ने अन्यसंक्रामण को स्वीकृत कर दिया हो,[4] या

(2) यदि पूर्ववर्ती पुत्रों ने अन्यसंक्रामण का बाद में अनुसमर्थन कर दिया हो,[5] या

(3) यदि पूर्ववर्ती उत्पन्न पुत्रों का वादहेतुक परिसीमा से वर्जित हो गया हो।[6]

(3) **दत्तक पुत्र**—पश्चात् बना दत्तक पुत्र वैध अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने का अधिकारी नहीं है।[7]

---

[1] देवनारायण **बनाम** गंगासिंह, ए० आई० आर० 1915, इलाहाबाद 65; वेंकटचिन्नच्य्या **बनाम** रामलिंगम्, ए० आई० आर० 1957 आन्ध्र प्रदेश 744.

[2] विश्वेश्वरराव **बनाम** सूर्यराव, ए० आई० आर० 1936 मद्रास 440; हितेन्द्र **बनाम** सुखदेव आई० एल० आर० (1929) 8 पटना 558.

[3] नारायण **बनाम** नामदेव, ए० आई० आर० 1955 नागपुर 208; वरद **बनाम** श्रीरामुलु, ए० आई० आर० 1956 मद्रास 894.

[4] कृष्णदेव **बनाम** जोखूलाल, ए० आई० आर० 1956 पटना 290; डी० एफ० मुल्ला, 2 प्रिंसिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ, उपबंध 260, पृष्ठ-347.

[5] छुट्टन लाल **बनाम** कालू, आई० एल० आर० (1911) 33 इलाहाबाद 283.

[6] शेषम्मा **बनाम** वेंकय्या, ए० आई० आर० 1957 आन्ध्र प्रदेश 386.

[7] वृजराजशरण **बनाम** एलायंस बैंक आफ शिमला, ए० आई० आर० 1936 लाहौर 946.

उत्तरप्रदेश में अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने संबंधी विधि :

किसी एक सहदायिक द्वारा कौटुंबिक संपत्ति का अन्यसंक्रामण करने पर किस सहदायिक को उसे अपास्त कराने का अधिकार है, इस विषय में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित सिद्धांत अभिकथित किया है :—

(1) जिन सहदायिकों ने अन्यसंक्रामण नहीं किया है, या जिस व्यक्ति ने सम्पूर्ण कौटुंबिक संपत्ति को तत्पश्चात् अंतरण द्वारा प्राप्त कर लिया है[1] वे अन्यसंक्रामण अपास्त कराने के अधिकारी हैं;

(2) अन्यसंक्रामणकर्त्ता स्वयं अपने अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने का अधिकारी नहीं है;

(3) अन्यसंक्रामणकर्त्ता के विरुद्ध डिक्री के निष्पादन में उसके हितों का क्रेता पिछले अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने की आपत्ति कर सकता है;[1]

(4) अन्यसंक्रामण न करने वाले सहदायिक का उत्तरभोगी वारिस किसी दूसरे सहदायिक द्वारा किये गये अन्यसंक्रामण को अपास्त कराने का अधिकारी है;[2]

(5) किसी सहदायिक से कौटुंबिक संपत्ति का पूर्ववर्ती बन्धकदार उसी संपत्ति के पश्चात्वर्ती विक्रय को अपास्त कराने का अधिकारी नहीं है।[3]

दायभाग विधि

दायभाग शाखा में अविभक्त कुटुंब प्रणाली :

हिंदू विधि की दायभाग शाखा में भी मिताक्षरा की भांति अविभक्त कुटुंब प्रणाली प्रचलित है, जिसके माध्यम से सहदायिकी की रचना होती है। अन्तर इतना ही है कि मिताक्षरा सहदायिकी में स्वामित्व की एकता रहती है और दायभाग सहदायिकी में कब्जे की। कब्जे की एकता ही दायभाग शाखा में सहदायिकी की रचना करती है। जब-तक कब्जे की एकता बनी रहती है, तब-तक दायभाग शाखा में कोई भी सहदायिक यह नहीं कह सकता कि पैतृक संपत्ति का कौन-सा भाग उसका है। पृथक्करण के प्रमाण के अभाव में दायभाग कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति की उपधाराणा की जाती है।[4]

सहदायिकी का दायभाग सिद्धांत

जीमूतवाहन ने भी सहदायिक की रचना का मूलाधार सपिंड संबंध माना है। उनके अनुसार एक पुरुष अपने जीवन काल में तीन पुरुष पूर्वजों को पिंडदान देता है, किंतु उस पुरुष की मृत्यु हो जाने पर जब उसका पुत्र उसका सपिंडीकरण करता है तब वह

---

1 मदन लाल बनाम चिट्टू, ए० आई० आर० 1930 इलाहाबाद 825.

2 सरजूप्रसाद बनाम मंगल, ए० आई० आर०, 1952 इलाहाबाद 339.

3 दुर्गाप्रसाद बनाम भगवान, ए० आई० आर०, 1919 इलाहाबाद 6.

4 बटाईबाला दासी बनाम छबिलाल सेन, ए० आई० आर०, 1974 पटना 147.

मध्यस्थ मृत पुरुष पुत्र द्वारा दिये गये तीनों मृत पूर्वजों के पिंडों का भोग करता है और जो उसे पिंड देते हैं तथा जिन्हें वह मध्यस्थ पुरुष पिंड देता है, वे अविभक्त दायाद सपिंड है।[1] दूसरे शब्दों में, तीन पीढ़ी ऊपर के पूर्वज, मध्यस्थ पिता और पिंडदाता पुत्र ये पांच सहदायिक परस्पर सपिंड कहलाते हैं।

यद्यपि जीमूतवाहन की पिण्डदान संबंधी व्याख्या का आधार बौधायन का तद्विषयक मत है[2] जिसमें उन्होंने प्रपितामह, पितामह, पिता, मध्यस्थ पुरुष, उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र को अविभक्त रहने पर सपिण्ड माना है, तथापि पिण्डदान की दृष्टि से गणना करने पर पांचवां वंशज ही पिण्डदाता होता है, जिससे दायभाग शाखा में सपिण्ड संबंध पांचवीं पीढ़ी तक माना जाता है। दायभाग शाखा में पिता की मृत्यु के उपरांत अविभक्त भाइयों में सहदायिकी संबंध होता है और वे परस्पर सहदायिक होते हैं।

दायभाग के अनुसार दाय या पैतृक संपत्ति

जीमूतवाहन ने 'दाय' की परिभाषा मुख्यतः बृहस्पति की 'दाय' शब्द की निरुक्ति के आधार पर की है, जिसे समझ लेना आवश्यक है—"(ददाति) अर्थात् पिता पुत्रों को जो धन देता है, या (दीयते) अर्थात् पिता द्वारा पुत्रों को जो धन दिया जाता है।[3]" इसी की व्याख्या करते हुए जीमूतवाहन 'दाय' शब्द की 'दीयते' वाली द्वितीय व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं, जिसका अर्थ है, जो दिया जाता है अर्थात् दिया जाने वाला।[4] जीमूतवाहन के अनुसार दाय की परिभाषा निम्नलिखित है—

"जो दिया जाय वह दाय (पैतृक संपत्ति) है।"

दाय में दाता अपने अधिकारों का त्याग करता है, उसकी स्वत्व निवृत्ति से प्राप्तकर्ता के अधिकारों की उत्पत्ति होती है। संपत्ति में अधिकार पाने के लिए उस पर से विद्यमान स्वामी के स्वत्व की निवृत्ति होनी आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में नये स्वत्व की उत्पत्ति संभव नहीं है। जीमूतवाहन ने लेन-देन की सामान्य विधि को ध्यान में रखते हुए कौटुम्बिक संपत्ति में स्वामित्व की उत्पत्ति की जो परिभाषा की है, वह निम्नलिखित है:—

> "पिता की मृत्यु होने या उसके संन्यासी आदि हो जाने पर संपत्ति पर से उसके स्वामित्व की निवृत्ति होती है और पुत्र के स्वामित्व की उत्पत्ति होती है न कि उसके पूर्व यां जन्म से ही।"[5]

---

[1] पित्रादि पिण्डत्रये सपिण्डनेन भोक्तृत्वात् पुत्रादिभिश्च त्रिभिस्तत्पिण्डस्यैव दानात् यश्च जीवन् यत्पिण्डदाता, स मृतःसन् सपिण्डनात् तत्पिण्डभोक्ता।.........ते अविभक्त पिण्डरुपं दायमदन्तीत्यविभक्तदायादाः सपिण्डाः॥ दायभाग 11/1/38.

[2] अपि च प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः, सवर्णायाः पुत्रः पौत्रः प्रपौत्र-स्तत्पुत्रवर्जंतेषां च पुत्रपौत्रमविभक्तदायं सपिण्डानाचक्षते॥ बौ० ध० सू० 1/5/11/7.

[3] ददाति दीयते, पित्रा पुत्रेभ्यः स्वस्थ यद्धनम्।
—बृह०, सरस्वतीविलास, पृष्ठ 344, में उद्धृत।

[4] "दीयते इति व्युत्पत्या 'दाय' शब्दः" दाय० 1/4.

[5] "मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात् न तु तत्र मृतादीनां त्यागोऽस्ति।"—दाय० 1/4.

जीमूतवाहन स्वत्व की उत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि :—

> "पूर्व स्वामी से संबंधित होने के कारण उसके मरने पर जिस संपत्ति में स्वत्व प्राप्त होता है, उस संपत्ति के लिए दाय शब्द रूढ़िगत है।"[1]

दायभाग सामान्यतया पिता के स्वत्व की निवृत्ति के पश्चात् ही पुत्र के स्वत्व की उत्पत्ति मानता है। साथ ही पिता से संबंधित होने के कारण, दाय या पैतृक संपत्ति में पुत्र के स्वत्व की उत्पत्ति, होना भी स्वीकार करता है। यही कारण है कि दायभाग शाखा के अधीन पिता से विरासत (स्विथ) में प्राप्त संपत्ति पैतृक संपत्ति मानी जाती है।[2] कुछ अन्य संपत्तियों को भी पैतृक माना गया है, जो इस प्रकार है :—

(1) सभी सहदायिकों द्वारा संयुक्त प्रयास से उपार्जित संपत्ति;

(2) कौटुंबिक संपत्ति में संमिश्रित संपत्ति;

(3) कौटुंबिक संपत्ति से अनुवृद्ध की गई संपत्ति।

इन संपत्तियों की जो विवेचना मिताक्षरा विधि के अधीन की जा चुकी है, वही इस शाखा में भी मान्य है।

पिता-पुत्र का सम-स्वाम्य

जीमूतवाहन पिता-पुत्र के सम-स्वाम्य के प्रश्न पर बहुत उलझे हुए हैं। कहीं तो वे कहते हैं कि पिता की मृत्यु के उपरांत ही पुत्र दाय में स्वामित्व प्राप्त करते हैं[3] और कहीं कहते हैं कि "यह सुव्यक्त है कि पिता जब पुत्रों में विभाजन करता है, तब वह स्वार्जित संपत्ति में स्वेच्छा से उन्हें न्यूनाधिक हिस्सा दे सकता है किंतु पैतृक संपत्ति में उसे ऐसा करने का अधिकार नहीं है क्योंकि उस पर पिता-पुत्र का तुल्य स्वामित्व है, वह पिता की स्वतंत्र संपत्ति नहीं है।"[4] एक अन्य स्थान पर जीमूतवाहन स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि कहीं-कहीं स्वत्व की उत्पत्ति जन्म से मानी गई है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि जीमूतवाहन जन्म स्वत्व के विस्तृत तात्पर्य से असहमत थे किंतु पिता को पैतृक संपत्ति पर स्वार्जित संपत्ति की भांति अधिकार भी नहीं देना चाहते थे। यही कारण है कि जन्मस्वत्ववाद को न मानते हुए भी वह इतना अवश्य मानते हैं कि पिता अपने पुत्रों के हितों को ध्यान में रखकर ही पैतृक संपत्ति का विनियोग करे क्योंकि वे सपिंड वारिस (दायाद) हैं। किंतु ब्रिटिश न्यायालयों के संमुख संभवतः जन्म स्वत्व की विरोधी व्याख्या को ही रखा

---

[1] "ततश्च पूर्वस्वामिसंबंधाधीनं तत्स्वाम्युंपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वम् तत्र निरूढ़ो दायशब्दः।" दाय० 1/5.

[2] श्रीमती सूरजीमणि दासी बनाम दीनबन्धु, (1856) 6 एम० आई० ए० 527.

[3] दाय० 1/4, दे० यू० 117 यू० पानदि 2.

[4] इदं सुव्यक्तं यदि पिता पुत्रान्विभजति तदा स्वोपात्तेऽर्थे न्यूनाधिक विभागं स्वेच्छया पुत्रेभ्यो दद्यात्, पैतामहे तु नैतत्, यस्मात्तत्र तुल्यं स्वामित्वं, न पुनः पितुः स्वच्छन्दवृत्तिता।"—दाय० 2/17.

[5] क्वचिज्जन्मैवेति च जन्मनिबंधनत्वात् पिता पुत्र संबंधस्य। दाय० 1/20.

गया, जिससे बंगाल क्षेत्र में पिता का पैतृक संपत्ति पर भी पूर्ण स्वामित्व मान लिया गया।[1]

पिता का पूर्ण सांपत्तिक अधिकार

जीमूतवाहन ने दायभाग में यह स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि "माता-पिता के जीवित रहते पुत्रों का धन पर कोई अधिकार नहीं है, उनकी मृत्यु हो जाने पर ही है, यही ज्ञान मनु[2] के वचन से प्राप्त होता है।[3] मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर ने भी मनु के उक्त वचन 'अनीशास्ते हि जीवतो:'[4] की व्याख्या की है और कहा है कि "यह वचन माता-पिता द्वारा कमाए धन पर ही लागू होता है और उस पर पुत्रों का कोई हक नहीं होता।"[5] इस प्रकार जीमूतवाहन और मिताक्षरा की भिन्न व्याख्याओं के कारण हिंदू विधि में दो प्रमुख शाखाएं चल निकलीं। वर्तमान समय में निर्णयज विधि द्वारा यह सुस्थिर विधि हो चुकी है कि दायभाग शाखा में पैतृक संपत्ति में भी पिता का पूर्ण स्वामित्व है उसका वह यथेच्छ (इच्छानुसार) विनियोग कर सकता है।[6]

पैतृक संपत्ति में सहदायिकों का अंश

जैसा कि पहले कहा जा चुका है दायभाग विधि के अधीन सहदायिकों के कब्जे की एकता रहने से सबका अंश परिनिश्चित रहता है। उनके अंशों का परिनिश्चिय उसी समय हो जाता है, जिस समय पिता की मृत्यु के उपरांत संपत्ति को विरासत में प्राप्त करते हैं। उनका अंश सहदायिकों के जन्म-मृत्यु से घटता-बढ़ता नहीं है। वे विभाजन के पूर्व भी कौटुम्बिक संपत्ति में अपने अंश का उल्लेख कर सकते हैं।

अन्यसंक्रामण का अधिकार

दायभाग शाखा में प्रत्येक सहदायिक को अपने अविभक्त अंश का अन्यसंक्रामण करने का पूर्ण अधिकार है।[7] फलस्वरूप, कोई भी सहदायिक कौटुंबिक संपत्ति में अपने अंश का विक्रय; बंधक, दान या विल उसी प्रकार कर सकता है, जिस प्रकार अपनी पृथक् संपत्ति का। दायभाग शाखा में सहदायिकों का विल द्वारा अन्य संक्रामण का अधिकार हिन्दू उत्तराधिकार, अधिनियम की धारा 30 के अधीन सुरक्षित है।

%कर्त्ता और उसकी शक्ति

हिंदू विधि की दायभाग शाखा में भी कुटुंब के प्रबंधक के रुप में कर्त्ता को मान्यता प्राप्त है। कर्त्ता की शक्ति दायभाग विधि में भी वही है, जो मिताक्षरा विधि के अधीन

---

[1] रामकिशोर बनाम भुवनमयी, (1859) बंगाल सदरे दीवानी अदालत 229.

[2] "अनीशास्ते हि जीवतो" मनु० 9/104.

[3] अतो जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति, किन्तूपरनयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादि-वचनम् दाय० 1/30.

[4] मनु० 9/104.

[5] जीवतोरस्वातंत्र्यः प्राज्ञतयापि समन्वितः इत्येतदपि पारतन्त्र्यम् मातापित्रर्जित-द्रव्यविषये। तथा अनीशास्ते हि जीवतोः इत्येतदपि।। याज्ञ० 2/121 की मिता० टीका।

[6] कुंजविहारी बनाम गौरहरि ए० आई० आर० 1958 कलकत्ता 105.

[7] कंवल बनाम रामहरि, (1827) बंगाल एल० आर० 146 (नया सं० 247).

है।[1] कर्त्ता कुटुंब के लिए ऋण उपगत कर सकता है। उसके विरुद्ध कौटुंबिक ऋण के भुगतान के लिए हुई डिक्री सभी सहदायिकों पर आबद्ध-कर होगी चाहे वे वाद के पक्षकार न रहे हों।[2] पिता कर्त्ता भी कुटुंब के हित में ही अन्यसंक्रामण कर सकता है। किंतु पिता के रूप में उसे अन्यसंक्रामण के लिए पुत्रों की स्वीकृति लेनी आवश्यक नहीं है।[3]

सहदायिकी संपत्ति का उपभोग

सहदायिकी संपत्ति में प्रत्येक सहदायिक का अंश परिनिश्चित होने के कारण कोई भी सहदायिक अपने अंश का उपभोग अपनी इच्छानुसार करने का अधिकारी है।[4] इस अधिकार का उपयोग करते समय शर्त यह है कि सहदायिक संपूर्ण सहदायिकी संपत्ति को जोखिम में नहीं डाल सकता,[5] जिससे कि दूसरे सहदायिकों के हित प्रभावित हों।

सहदायिक का विभाजन कराने का अधिकार

मिताक्षरा विधि की भांति दायभाग विधि के अधीन भी प्रत्येक वयस्क सहदायिक विभाजन की मांग करने का अधिकारी है।[6]

पिता के जीवन काल में विभाजन की मांग का अधिकार

पिता के जीवन काल में पुत्र विभाजन कराने का अधिकारी नहीं है। दायभाग विधि के अधीन विभाजन पिता की इच्छा से होता है पुत्र की इच्छा से नहीं।[7] जीमूतवाहन का यह मत उस स्थिति का द्योतक है, जब पुत्र पिता पर विभाजन के लिए दबाव डालते हैं और पिता को इसके लिए सहमत कर लेते हैं। पिता पर पुत्र तभी दबाव डाल सकते हैं, जब उनका हक पैतृक संपत्ति में किसी न किसी रूप में स्वीकृत हो अन्यथा अधिकारविहीन दबाव या अनुरोध का विधि की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है और न ही पिता पर उसका कोई प्रभाव पड़ सकता है।

मिताक्षरा और दायभाग सहदायिकी में अन्तर

मिताक्षरा और दायभाग सहदायिकी में निम्नलिखित अन्तर है :—

(1) मिताक्षरा सहदायिकी में जन्म से स्वत्व की प्राप्ति होती है। दायभाग सहदायिकी में पुत्रों का सांपत्तिक स्वत्व पिता की मृत्यु के उपरांत उत्पन्न होता है, जन्म से नहीं।

(2) मिताक्षरा सहदायिकी में पैतृक या कौटुंबिक संपत्ति का न्यागमन उत्तरजीविता के सिद्धांत के अनुसार उत्तरजीवियों को होता है। दायभाग सहदायिकी में एक सहदायिक की मृत्यु हो जाने पर अविभक्त कौटुंबिक संपत्ति में उसका अंश उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होता है।

---

1 बालकृष्णस्वामी **बनाम** मुत्तुस्वामी, आई० एल० आर० (1909) 32 मद्रास 271.
2 द्वारिकानाथ **बनाम** बंगशी, (1905) 9 सी० डब्लू० एन० 879.
3 धर्मदास **बनाम** अमूल्यधन, आई० एल० आर० 33 कलकत्ता 1119.
4 ईशानचन्द्र **बनाम** नन्दकुमार, (1867) 8 डब्ल्यू० आर० 239.
5 गोपीकृष्ण **बनाम** हेमचन्द्र, (1870) 13 डब्ल्यू० आर० 322.
6 सूरजीमणि दासी **बनाम** दीनबन्धु, (1856) 6 एम० आई० ए० 526.
7 पितुरिच्छात एव विभागो न पुत्रेच्छयेति सिद्धम्। दाय० पृ० 2/8.

(3) मिताक्षरा सहदायिकी में केवल पुरुष सहदायिक होते हैं। दायभाग सहदायिकी में विधवाएं भी सहदायिक मानी जाती हैं और उनकी सहदायिकी वस्तुतः पति के द्वारा होती है।

(4) मिताक्षरा सहदायिकी विधि में कोई सहदायिक अपने अविभक्त अंश का अन्यसंक्रामण नहीं कर सकता। दायभाग विधि के अधीन कोई भी सहदायिक अपने अविभक्त अंश का अन्य संक्रामण कर सकता है।

(5) मिताक्षरा सहदायिकी में पिता विधिक आवश्यकता पड़ने पर या पूर्ववर्ती ऋण के भुगतान के लिए कौटुंबिक संपत्ति का अन्यसंक्रामण कर सकता है। दायभाग सहदायिकी में पिता का स्वत्व पूर्ण होने से वह इच्छानुसार अन्यसंक्रामण करने का अधिकारी है।

(6) अब हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 30 के अधीन प्रत्येक हिंदू को विल करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया है। फलस्वरूप, विल के मामले में मिताक्षरा और दायभाग विधि का अन्तर समाप्त हो गया है। प्राचीन हिंदू विधि के अधीन मिताक्षरा शाखा में किसी भी सहदायिक, यहां तक कि पिता को भी अविभक्त हित को विल करने का अधिकार नहीं था किंतु दायभाग विधि में किसी भी सहदायिक अथवा पिता को भी पैतृक या स्वार्जित संपत्ति को विल करने का अधिकार था।

□ □ □

अध्याय 3
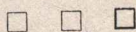
विरासत विधि

दाय का अर्थ और परिभाषा

मिताक्षरा के अनुसार 'दाय वह संपत्ति है, जिस पर उसके स्वामी के साथ अन्य व्यक्ति का स्वामित्व अथवा अधिकार उससे संबंधित होने के कारण स्थापित होता है।'[1]

पैतृक संपत्ति पर पुत्र का अधिकार पिता-पुत्र संबंध के कारण होता है, जिसकी उत्पत्ति जन्म लेने से होती है।[2]

दाय भाग के अनुसार 'जो दिया जाय, वह दाय है।'[3] इस प्रकार दायभाग विधि में दाय की उत्पत्ति दान से हुई मानी जाती है। दान में दाता अपने अधिकार का त्याग करता है। उसकी स्वत्व-निवृत्ति से प्राप्तकर्त्ता के अधिकार (स्वत्व) की उत्पत्ति होती है। किंतु स्वत्व-निवृत्ति स्वामी की मृत्यु या सन्यासी होने से भी होती है और ऐसे मामलों में मृतक या सन्यासी अपने स्वत्व का त्याग करते हैं। दाय में 'देने' की क्रिया गौण अर्थ की वाचक है क्योंकि मृत आदि देते नहीं हैं। उनके स्वत्व की समाप्ति हो जाती है और वह स्वत्व अन्य को चला जाता है।[4] अतः पूर्व स्वामी से संबंध होने के नाते संपत्ति के स्वामित्व के न्यागमन में 'दाय' शब्द रूढ़िगत है।[5] दाय की जो परिभाषा या दाय शब्द का जो अर्थ जीमूतवाहन ने दायभाग में किया है, उसमें 'पूर्व स्वामी से संबंध' का उल्लेख है। किंतु वह 'पूर्व स्वामी से संबंध' को उत्तराधिकार से जोड़ते हैं न कि जन्म से। वह दाय को इसी अर्थ में निरूढ़ मानते हैं।

इस प्रकार हिंदू विधि में 'दाय' के दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थ विज्ञानेश्वर ने किया है, जिसके अनुसार 'दाय' कौटुंबिक संपत्ति का वाचक या बोधक है। द्वितीय अर्थ जीमूतवाहन ने किया है, जिसके अनुसार 'दाय' उत्तराधिकार में मिलने वाली संपदा या संपत्ति है। हिंदू विधि में दाय शब्द का प्रयोग दोनों प्रकार की संपत्तियों के लिए विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन के पूर्व से ही होता आया है। जीमूतवाहन 'दाय' शब्द का एक विशिष्ट अर्थ

---

[1] तत्र 'दाय' शब्देन यद्धनं स्वामिसंबंधादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते। मिता० दाय० प्रक० 8 की भूमिका।

[2] पितामहस्य हि स्वार्जितमपि पुत्रे पौत्रे च सत्यदेयमिति वचनं जन्मना स्वत्वं गमयति। मिता० वही।

[3] दीयते इति व्युत्पत्या 'दाय' शब्दः। दाय० 1/4.

[4] ददाति प्रयोगश्च गौणः, मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात्, न तु मृतादीनां त्यागोऽस्ति। दाय० 1/4.

[5] ततश्च पूर्वस्वामिसंबंधाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वम् तत्र निरूढो दायशब्दः। दाय० 1/5.

करके इसे उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली संपत्ति तक सीमित कर देते हैं, जिससे उनकी परिभाषा एकांगी हो जाती है। शास्त्रों में 'दाय' व्यापक अर्थों में प्रयुक्त है, जिसके अंतर्गत समस्त कौटुंबिक संपत्ति आती है तैत्तिरीय संहिता में मनु पुत्रों द्वारा उनके जीवन काल में ही दाय विभाजन का उल्लेख मिलता है[1] और उसकी चर्चा बौधायन ने भी की है।[2] मनु की जिन्हें आदि मानव माना जाता है, पैतृक संपत्ति नहीं थी क्योंकि वे स्वयंभू थे। उनकी संपत्ति स्वार्जित ही रही होगी, जिसे 'दाय' शब्द से संबोधित किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनतम हिंदू विधि में 'दाय' शब्द कौटुंबिक संपत्ति का वाचक है। इस परिवेश में विचार करने पर जीमूतवाहन की परिभाषा ठोस नहीं कही जा सकती है।

निघंटु के अनुसार "मनीषियों ने विभाजन के योग्य पितृधन को दाय शब्द से संबोधित किया है।"[3] यद्यपि निघंटु की यह परिभाषा दाय के विभाजन के संदर्भ में है, तथापि यह इस कौटुंबिक संपत्ति का बोधक है, जिस पर पिता के साथ दायाद के रूप में पुत्रों का भी अधिकार होता है। मित्र मिश्र ने दाय शब्द का अर्थ यौगिक न मानकर निरूढ़ माना है।[4] दाय का रूढ़ अर्थ इसलिए उचित प्रतीत होता है कि यह प्राचीनतम काल से पैतृक कौटुंबिक संपत्ति के लिए प्रयुक्त होता आया है। 'दानवाची दा' धातु से निष्पन्न दाय शब्द का यौगिक अर्थ व्याकरण सम्मत होते हुए भी लंबे काल तक पैतृक कौटुंबिक संपत्ति का वाचक होने के नाते इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है। विधि में किसी शब्द का रूढ़ या पारिभाषिक अर्थ ही युक्तियुक्त माना जाता है। किंतु दाय उस कौटुंबिक संपत्ति का वाचक है, जिसमें स्वामी के साथ-साथ वारिस या दायाद का भी अधिकार चलता रहता है न कि पूर्वस्वामी की मृत्यु या सन्यासी हो जाने के उपरांत उत्पन्न होता है। दाय के इस अर्थ को जीमूतवाहन भी मानते हैं क्योंकि उन्होंने पिता के जीवनकाल में उसकी इच्छा से दाय के विभाजन की जो विधि अधिकथित की है,[5] वह दायाद के रूप में पुत्रों के उस अधिकार का द्योतक है जो पिता के जीवन में ही चालू हो जाता है। मनु ने स्पष्ट रूप से पैतृक कौटुंबिक संपत्ति को दाय शब्द से संबोधित किया है।[6] दाय के लिए धर्मशास्त्रों में 'रिक्थ' शब्द भी प्रयुक्त है[7] जो पैतृक संपत्ति के लिए रूढ़ है।[8]

---

1 मनुःपुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। तैत्ति० सं० 3/1/9/4.

2 मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदिति श्रुतिः। बौधा० ध० सू० 2/2/3/2.

3 विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायामाहुर्मनीषिणः। निघण्टु, वी० मि० व्य० अ०, पृ० 521 में उद्धृत.

4 निरुढत्वाङ्गीकारे 'दाय-ददाति' शब्दयोर्गौणत्वोपन्यासानर्थक्यात्। सर्वथाऽवयवार्थराहित्ये हि निरूढत्वं न च योगरुढत्वम्। वी० मि० व्य० अ०, पृ० 522.

5 अतः पितापुत्रयोः पैतामहधने समाविभागार्थं 'सदृशं स्वाम्यमितिवचनम्।'—दाय०2/18 अतः पैतामहादिधने पितुर्भागद्वयम्; पितुरिच्छात एव विभागो, न पुत्रेच्छयेति सिद्धम्। दाय० 2/20.

6 सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः। मनु० 10/115.

7 'भजेरन् पैतृकं रिक्थं' मनु० 9/104, उर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं विभजेरन्। गौत० ध० सू० 28/1.

8 रिक्थं पैतृकं द्रव्यं कृष्णादि लब्धं रूढ्या। गौत० ध० सू० 28/1 के मस्करी कृत भाष्य में उद्धृत वचन.

मिताक्षरा प्रतिपादित उत्तराधिकार या दाय विधि

(1) उत्तराधिकार के सिद्धांत

मिताक्षरा-प्रतिवादित हिंदू विधि में उत्तराधिकार विधि की अपनी विशेषताएं हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पैतृक कौटुंबिक संपत्ति में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र जन्म से अधिकारी हो जाने के कारण उनके रहते उत्तराधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। उत्तराधिकार का शाब्दिक अर्थ है 'उत्तर' अर्थात् 'पश्चात्' का अधिकार। दूसरे शब्दों में, जो अधिकार स्वामी के पश्चात् उदित हो उसे उत्तराधिकार कहते हैं। यह स्वामी के विद्यमान रहते उत्पन्न नहीं होता। मिताक्षरा हिंदू विधि के अधीन उत्तराधिकार का प्रश्न पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र के अभाव में उठता है। इस प्रकार इसमें न्यागमन के दो सिद्धांत हैं; प्रथम, उत्तरजीविता और द्वितीय, उत्तराधिकार। इन दोनों सिद्धांतों का पृथक्-पृथक् विवेचन नीचे किया जाएगा।

(क) **उत्तरजीविता का सिद्धांत**—उत्तरजीविता का अर्थ है, मृतक के पश्चात् जीवित रहना। जब कोई व्यक्ति मृतक के पश्चात् जीवित रहने से संबंध विशेष के नाते उसकी संपत्ति का वारिस या दायाद होता है तब उसे उत्तरजीवी और उसकी सत्ता को उत्तरजीविता कहते हैं। उत्तरजीवी दायादों या वारिसों के अधिकार मृतक की संपत्ति में उसके जीवन काल में विद्यमान रहते हैं जो उसकी मृत्यु के उपरांत चलते रहते हैं। उत्तरजीविता का प्रमुख आवश्यक तत्व यह है कि इसमें मृतक और उत्तरजीवी सदस्य के बीच सहहित रहता है।[1] अविभक्त हिंदू कुटुंब में किसी भी सहदायिक का हित या अंश परिनिश्चित या परिभाषित न होने के कारण किसी सहदायिक की मृत्यु का कुटुंब की प्रास्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और संयुक्त कुटुंब की संपत्तियां, उसके एक सदस्य के निर्वापन के पश्चात् भी पूर्ववत् उसके उत्तरजीवी सदस्यों के स्वामित्व में बनी रहती है।[2] मृत सदस्य का हित सभी उत्तरजीवी सहदायिकों को उत्तरजीविता के द्वारा प्राप्त होता है किंतु उनका हित अनिश्चित ही रहता है। उत्तरजीविता के सिद्धांत की प्रकृति यह है कि ज्योंही एक सदस्य की मृत्यु होती है, त्योंही उसका सांपत्तिक अधिकार उत्तरजीवी सदस्यों में निहित हो जाता है और उत्तराधिकार खुलता ही नहीं। मिताक्षरा विधि में उत्तरजीविता का नियम संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति के विषय में लागू होता है।

(ख) **उत्तराधिकार का सिद्धांत**—जब न्यागमन मृतक स्वामी के दायादों को होता है तब इसे उत्तराधिकार कहते हैं और जिस सिद्धांत के द्वारा वारिसों या दायादों को हक प्राप्त होता है, उसे उत्तराधिकार का सिद्धांत कहते हैं। यह स्वामी की मृत्यु के उपरांत उत्पन्न होता है और स्वामी के जीवन काल में ऐसे किसी भी दायाद का कोई हक उसकी संपत्ति पर नहीं होता। मृतक की स्वार्जित संपत्ति का न्यागमन उत्तराधिकार के सिद्धांत के अनुसार होता है न कि उत्तरजीविता के अनुसार। उसके पुत्रों को भी उसकी स्वार्जित संपत्ति इसी सिद्धांत के द्वारा न्यागत होती है न कि उत्तरजीविता द्वारा।[3] मिताक्षरा विधि

---

1 श्यामलाल **बनाम** बैज नारायण, आई० एल० आर० (1917) पटना 121.

2 सदानन्द वरपण्डा **बनाम** बैकुण्ठनाथ, (63) आई० सी० 833.

3 वैरावन चेट्टि **बनाम** श्रीनिवासाचार्य, (62) आई० सी० 944 (मद्रास).

में हिंदू पिता की स्वार्जित संपत्ति में पृथक् हुए पुत्रों को भी संयुक्त रह रहे पुत्रों के साथ अंश पाने का हक है।[1] पुत्र या पौत्र या प्रपौत्र अथवा अन्य सहदायिक के अभाव में पैतृक संपत्ति भी उत्तराधिकार द्वारा मृत स्वामी के वारिसों या दायादों को न्यागत होती है।

(2) दाय (विरासत) की प्रकृति

मिताक्षरा हिंदू विधि में दाय की प्रकृति तीन प्रकार की है—प्रथम, अंतिम पुरुष स्वामी के दाय की प्रकृति; द्वितीय, स्त्रीधन के दाय की प्रकृति और तृतीय सीमित स्वामी के दाय की प्रकृति।

(क) अंतिम पुरुष स्वामी के दाय की प्रकृति—अन्तिम पुरुष स्वामी कौटुंबिक संपत्ति का वह धारक होता है जिसका न तो कोई सहदायिक होता है और न ही कोई उत्तरजीवी। ऐसे पुरुष स्वामी की संपदा उसके वैयक्तिक दायादों (वारिसों) को न्यागत होती है, जो पुरुष या स्त्री या दोनों ही हो सकते हैं। यह अप्रतिबंध दाय होता है, अर्थात् इस प्रकार के दाय पर कोई प्रतिबंध नहीं होता। अंतिम पुरुष स्वामी की मृत्यु के उपरांत उसके वैयक्तिक दायाद उसकी संपदा को उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं। जब कोई पुरुष दायाद अंतिम पुरुष स्वामी की संपदा दाय में प्राप्त करता है, तब उसकी यह पृथक् संपत्ति होती है।

(ख) स्त्रीधन के दाय की प्रकृति—स्त्रीधन का दाय (विरासत) स्त्री-स्वामी के दायादों को न्यागत होता है। स्त्रीधन वह धन है जो स्त्री का होता है, जिसे वह आत्यंतिक स्वामी के रुप में धारण करती है। इसका न्यागमन पति के दायादों को नहीं होता। किंतु स्वयं पति स्त्रीधन का दायाद या उत्तराधिकारी हो सकता है। जब पति अपनी पत्नी के स्त्रीधन को दाय में प्राप्त करता है, तब वह उसकी पृथक् संपत्ति होती है न कि कौटुंबिक संपत्ति। स्त्रीधन की दायाद स्त्रियां भी हो सकती हैं और पुरुष भी। जो भी दायाद या वारिस स्त्रीधन दाय में प्राप्त करे, वह उसकी पृथक् संपत्ति होती है। ऐसी संपत्ति पर सहदायिकी की रचना नहीं होती। स्त्रीधन का विवेचन विस्तार से पृथक् अध्याय में आगे किया जाएगा।

(ग) सीमित स्वामी के दाय की प्रकृति—जब कोई स्त्री किसी पुरुष से दाय में उसकी संपदा प्राप्त करती है, तब वह सीमित संपदा होती है। किसी अंतिम पुरुष स्वामी की संपदा क्रमागत रूप से स्त्री वारिसों को उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकती है और जब ऐसी संपदा किसी स्त्री स्वामी से उसकी मृत्यु के उपरांत किसी स्त्री दायाद को उत्तराधिकार में प्राप्त होती है, तब भी वह सीमित अधिकार ही उसे प्रदान करती है न कि आत्यंतिक अधिकार। इसका विस्तृत विवेचन आगे एक पृथक् अध्याय में किया जाएगा।

दाय का प्रास्थगन में न होना—दाय की यह प्रमुख प्रकृति है कि यह किसी भी परिस्थिति में प्रास्थगन में नहीं रहता है[2] किसी हिंदू की मृत्यु होते ही वह व्यक्ति जो मृत स्वामी का निकटतम वारिस (दायाद) होता है, उसकी संपत्तियों का हकदार हो जाता

---

1 कुंअरबहादुर **बनाम** माधवप्रसाद, (17) ए० एल० जे० 151.

2 श्रीनिवासराव **बनाम** अन्नाधनम् शेषाचारुलु, ए० आई० आर० 1942 मद्रास 6.

है। किंतु जब एक अधिमानी दायाद, अर्थात् पुत्र, स्वामी की मृत्यु के समय गर्भ में होता है तब स्थिति भिन्न हो जाती है और संपदा किसी दायाद में निहित नहीं होती और यदि निहित हो जाती है तो भी उसके जीवित जन्म लेते ही वह अन्यों को निर्निहित करने का हकदार हो जाता है। यदि गर्भस्थ व्यक्ति पुत्री हो तो भी उसे निर्निहित करने का हक है।[1] विधवा द्वारा पति की मृत्यु के पश्चात् कोई पुत्र दत्तक लेने पर भी दत्तक पुत्र को यह हक है कि वह अपने दत्तक पिता की संपदा विरासत में प्राप्त करे और उसका दत्तकग्रहण पश्चात्वर्ती होते हुए भी दत्तकता पिता की मृत्यु के दिन से ही प्रभावी होती है। अपने इस हक के अधीन दत्तक पुत्र मृत दत्तक पिता की संपदा के किसी दायाद में निहित होने पर भी उसे निर्निहित करता है।[2] किंतु दत्तक अपत्य के इस पूर्व संबंध के सिद्धांत को हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 12 के परंतुक (ग) के द्वारा समाप्त कर दिया गया है, जिसमें यह अधिकथित है कि दत्तक अपत्य किसी व्यक्ति को संपदा से निर्निहित नहीं करेगा जो उस व्यक्ति में दत्तक के पूर्व निहित हो गई हो। मुख्यतया इस परंतुक का तात्पर्य विधवा दत्तक माता के उत्तराधिकार से है जो उसे हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों में प्राप्त हो गया है। इस प्रकार दत्तक पुत्र या पुत्री मृत पिता की संपदा को, जो विधवा दत्तक माता में उसके दत्तक-ग्रहण से पूर्व निहित हो गई हो, निर्निहित नहीं कर सकते।

प्रतिनिधित्व का सिद्धांत—पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र अपने पिता, पितामह और प्रपितामह का प्रतिनिधित्व उनकी मृत्यु के उपरांत करते हैं प्रतिनिधित्व का सिद्धांत इन्हीं पर लागू है, अन्यथा नहीं।[3] पिता की मृत्यु के उपरांत यदि पुत्र जीवित हो तो वह उसका प्रतिनिधित्व करेगा और यदि पुत्र की पूर्व मृत्यु हो चुकी हो और उसका पुत्र जीवित हो। तो वह अपने पितामह और पिता दोनों का प्रतिनिधित्व करेगा। इसी प्रकार यदि पुत्र, पौत्र दोनों की ही पूर्व मृत्यु हो चुकी हो और प्रपौत्र जीवित हो तो वह पिता, पितामह और प्रपितामह तीनों का प्रतिनिधित्व करेगा। प्रतिनिधित्व का यह सिद्धांत मिताक्षरा विधि की पितापुत्र की सहदायिकी नातेदारी पर आधृत है जो हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अनुसार भी विधिमान्य है।

दृष्टांत
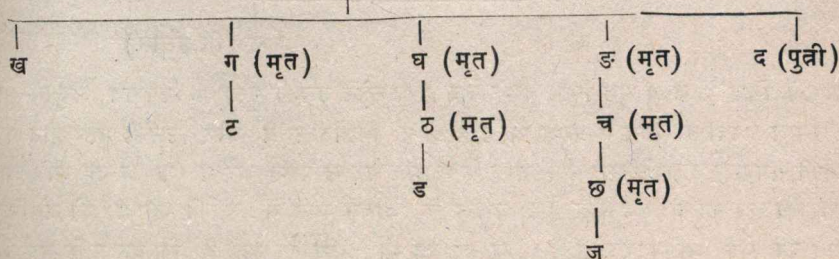
[1] वयम बनाम पार्वतेय, ए० आई० आर० 1933 मुंबई 126.

[2] वामनदास बनाम तारिणी, (1858) 7 एम० आई० ए० 169.

[3] मरुदै बनाम दुरै स्वामी, आई० एल० आर० (1907) 30 मद्रास 348; सुशील चन्द बनाम मंगतराम, आई० एल० आर० (1954) पंजाब 449.

एक मिताक्षरा शासित हिंदू क की मृत्यु हो जाती है और वह अपने पीछे एक पुत्र ख, एक पौत्र ट जो पूर्व मृत पुत्र ग का पुत्र है, एक प्रपौत्र ङ जो पूर्वमृत पुत्र घ के पूर्व-मृत पुत्र ठ का पुत्र है, एक प्रपौत्र पुत्र (प्रपौत्र का पुत्र) ज जो पूर्व मृत पुत्र ङ के पूर्व मृत पुत्र च के पूर्व मृत पुत्र छ का पुत्र है और जो पूर्वज क का चौथा वंशज होने से सहदायिकी सीमा से बाहर है, और एक पुत्री द छोड़ जाता है। क की संपदा ख, ट और ड को न्यागत होगी। ज को क की संपदा में कोई हक नहीं होगा किंतु यदि ज के पिता छ, या पितामह ज, या प्रपितामह ङ अपनी मृत्यु के पूर्व क से पृथक् हो गए होते तो ज को उसकी संपदा न्यागत हो गई होती। इस दृष्टांत में ज अविभक्त हिंदू कुटुंब का सदस्य अवश्य है किंतु सहदायिक नहीं, अतएव वह प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का लाभ संपदा के न्यागमन के मामले में क की मृत्यु होने पर नहीं उठा पा रहा है और वह संपदा में कोई अंश प्राप्त करने का हकदार नहीं है। क की पुत्री द का भी कोई हक क की संपदा में नहीं होगा।

उत्तराधिकार का अवसर—उत्तराधिकार के अवसर का प्रश्न पिता-पुत्र की सहदायिकी में नहीं उठता क्योंकि ऐसे मामले में पैतृक कौटुंबिक संपत्ति में पुत्र का अधिकार होता है। यह प्रश्न भाइयों की सहदायिकी में उस समय उठता है, जब एक भाई निःसंतान होता है और उसकी मृत्यु के पश्चात् अन्य भाई जीवित रहने पर उत्तरजीविता के सिद्धांत के आधार पर उत्तरजीवी होता है। इस मामले में निःसंतान भाई की संपदा को दाय (विरासत) में प्राप्त करने का अधिकार मात्र उत्तराधिकार का अवसर है, उसकी संपदा तब तक अन्य भाई में निहित नहीं होती है जब तक वह (स्वामी) जीवित रहता है। अन्य भाई निःसंतान भाई की संपदा का कोई अंश विधिमान्यतः संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 6 के अधीन अंतरित नहीं कर सकता। इसी प्रकार निःसंतान स्वामी के जीवन काल में अन्य भाई द्वारा उत्तराधिकार के अवसर के आधार पर की गई कोई संविदा उसे उस समय आबद्ध नहीं करेगी, जब उत्तराधिकार निःसंतान भाई की मृत्यु के पश्चात् खुलेगा।[1] इसे निम्नलिखित दृष्टांत द्वारा समझा जा सकता है—

दृष्टांत

ऊपर के चित्र में ख ग मृत पिता क के पुत्र हैं जिन्होंने उसकी मृत्यु के उपरांत संयुक्त रूप से उसकी संपदा को दाय में प्राप्त किया है। ग निःसंतान है और उसकी मृत्यु होने पर उसकी संपदा उत्तराजीविता के सिद्धांत के आधार पर ख प्राप्त करेगा। ख का यह अधिकार उत्तराधिकार का अवसर मात्र है। उसे ग के जीवन काल में उसकी संपदा को अंतरित करने का कोई अधिकार नहीं है। ख को यह भी अधिकार नहीं है कि वह ग के अंश से संबंधित कोई ऐसा करार किसी व्यक्ति से ग के जीवन काल में कर ले कि वह उसकी मृत्यु के उपरांत उसका अंश अंतरित कर देगा। यदि ख ऐसा करे तो यह करार अविधिमान्य

[1] बहादुरसिंह बनाम मोहरसिंह, (29) आई० ए० 1 (पी० सी०).

होगा और अविधिमान्य करार के अधीन दूसरे पक्षकार को यह अधिकार नहीं है कि वह ख को उस समय आबद्ध कर सके जब वस्तुतः उत्तराधिकार खुले।

सह-दायाद (वारिस)—मिताक्षरा हिंदू विधि के अधीन दो या अधिक दायाद मृत स्वामी की संपदा सामान्य अभिधारी के रूप में प्राप्त करते हैं।[1] इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं, जिनके मामले में दायाद संयुक्त अभिधारी के रूप में मृतक की संपदा उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं और उनमें उत्तराजीविता का अधिकार होता है।

(क) दो या अधिक पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र जो संयुक्त कुटुंब के सदस्य हैं और अपने पैतृक पूर्वज की स्वार्जित या पृथक् संपत्ति के दायाद के रूप में उत्तराधिकारी होते हैं।[2]

(ख) दो या अधिक दौहित्र (पुत्री के पुत्र) जो अपने मातामह (नाना) की संपदा को दायाद के रूप में प्राप्त करते हैं और संयुक्त कुटंबं के सदस्य हैं।[3] किंतु मद्रास उच्च न्यायालय ने **गोदावरी लक्ष्मी नरसम्मा** बनाम **गोदावरी रामब्राह्मण**[4] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि मातामही (नानी) से दो या अधिक दौहित्र जो संपदा विरासत में प्राप्त करते हैं, वे सामान्यिक अभिभारी के रूप में होते हैं और उनमें उत्तरजीविता का अधिकार नहीं होता है।

(ग) दो या अधिक विधवाएं अपने पति की संपदा संयुक्त अभिधारी के रूप में उत्तराधिकार में प्राप्त करती हैं और उनमें उत्तरजीविता का अधिकार होता है।[5] यदि विधवाओं में किसी एक की मृत्यु हो जाए, तो उत्तरजीवी विधवा उसके अंश की उत्तरवर्ती होती है।

(घ) दो या अधिक पुत्रियां अपने पिता की संपदा संयुक्त अभिधारी के रूप में उत्तराधिकार में प्राप्त करती हैं और उनमें उत्तरजीविता का अधिकार होता है।[6] किंतु बम्बई राज्य में ये आत्यंतिक संपदा के रूप में पृथक्तः प्राप्त करती हैं।[7] यहां उनका यह अधिकार सामान्य मिताक्षरा विधि का अपवाद है जो व्यवहारमयूख की व्यवस्थाओं पर आधृत है।

व्यक्तिवार और शाखा उत्तराधिकार

उत्तराधिकार विधि का यह सामान्य नियम है कि उत्तराधिकारी अपने ही अंश को मृत स्वामी की संपदा में प्राप्त करता है। उसके साथ किसी का अंश संलग्न नहीं रहता। किंतु कुछ मामलों में इस सामान्य नियम के अपवाद भी हैं। मिताक्षरा हिंदू विधि में पुत्र,

---

1 कारुप्पै **बनाम** शंकर नारायणन्, आई० एल० आर० (1904) 27 मद्रास 300.

2 राजा योगेन्द्र **बनाम** नित्यानन्द, आई० एल० आर० (1890) 18 कलकत्ता 151 (पी० सी०); राघव संभाजी **बनाम** शान्ताबाई, (1957) 59 बोम्बे एल० आर० 999.

3 मु० हुसेनखां **बनाम** केशवनन्दनसहाय, ए० आई० आर० 1937 पी० सी० 233.

4 ए० आई० आर० 1950 मद्रास 680.

5 भगवानदीन **बनाम** मैना बाई, (1860) 11 एम० आई० ए० 487.

6 छोटेलाल **बनाम** चुन्नूलाल, (6) आई० ए० 15; क्षत्रसिंह **बनाम** हुकुमकुंअर, (1936) 58 इलाहाबाद 391.

7 बिठप्पा **बनाम** सावित्री, आई० एल० आर० (1910) 34 मुंबई 510.

पौत्र या प्रपौत्र मृत पुरुष स्वामी की संपदा शाखावार प्राप्त करते हैं। मातामह (नाना) की संपदा को दौहित्र शाखावार प्राप्त करते हैं, अर्थात् मृत पुरुष स्वामी की प्रत्येक पुत्री के पुत्र शाखावार अपनी माता का अंश संयुक्त अभिधारी के रूप में प्राप्त करते हैं। अध्ययन की दृष्टि से शाखावार और व्यक्तिवार उत्तराधिकार की विवेचना आवश्यक होने से इन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन नीचे किया जाता है।

शाखावार उत्तराधिकार- जब वंशज मृत स्वामी के पुत्र या पुत्री न होकर उसके पुत्र के पुत्र या पुत्री या पौत्र या पौत्री हों तब उनका दायाधिकार शाखावार होता है। दायाधिकार की शाखाएं मृतक की संततियों से उत्पन्न होती हैं। मृतक की संतति की संख्या जितनी होगी, उतनी ही उत्तराधिकार की शाखाएं मानी जाएंगी। प्रत्येक संतति की संतति अपने पिता के अंश का ही उत्तराधिकार प्राप्त करेगी और इसी प्रकार संतति की संतति की संतति। इसे नीचे के दृष्टांत द्वारा समझा जा सकता है:—

दृष्टांत
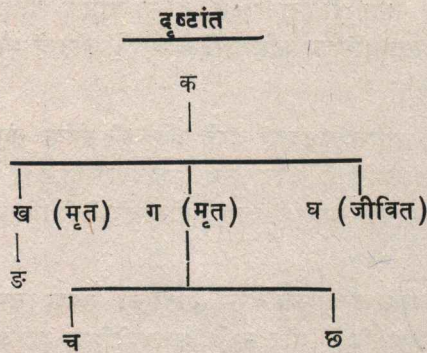
ऊपर के वंशवृक्ष में क की मृत्यु होने पर उसकी संपदा के दायाद ङ, च, छ और घ होंगे। क के पुत्र ख और ग की मृत्यु पहले ही हो चुकी है और क की मृत्यु के समय ख का पुत्र ङ तथा ग के पुत्र च, छ जीवित हैं और क का तृतीय पुत्र घ जीवित है। घ, ङ, च और छ सहदायिक के रूप में क की संपदा के वारिस होंगे किंतु इनका उत्तराधिकार शाखावार होगा। क के पुत्र ख, ग और घ तीन शाखाओं की रचना करेंगे। इस प्रकार क की संपदा अविभक्त होते हुए भी सैद्धांतिक रूप से तीन शाखाओं में न्यागत होगी। ख का पुत्र ङ अपने पिता के अंश के दायाद (वारिस) होगा, ग के पुत्र च और छ संयुक्त रूप से अपने पिता के अंश के दायाद होंगे और घ अपने पिता क की संपदा में अपने अंश का दायाद होगा।

व्यक्तिवार उत्तराधिकार—व्यक्तिवार उत्तराधिकार का अर्थ है मृत स्वामी से सभी उत्तराधिकारियों का एक ही संबंध या नातेदारी होने के नाते समान उत्तराधिकार का अधिकारी होना। जब अनेक उत्तराधिकारी या दायाद होने पर भी सभी उत्तराधिकारी मृतक की संपदा में बराबर-बराबर अंश का उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं, तब इसे व्यक्तिवार

उत्तराधिकार कहा जाता है। इसे नीचे के दृष्टांत द्वारा समझा जा सकता है :

दृष्टांत
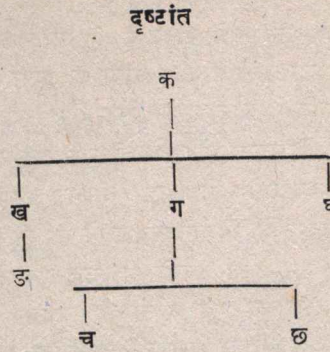
ऊपर के वंशवृक्ष में क के तीन पुत्र ख, ग, घ हैं और तीनों जीवित हैं। ख का पुत्र ङ है और ग के पुत्र च, छ हैं। क की मृत्यु होने पर उसके पुत्र ख, ग और घ समान अंश का उत्तराधिकार प्राप्त करेंगे। यदि इनमें क की मृत्यु के उपरांत विभाजन हो तो संयुक्त पैतृक संपदा में ख, ग और घ तीनों ही बराबर-बराबर अंश प्राप्त करेंगे।

विरासत की मिताक्षरा विधि

मिताक्षरा हिंदू विधि में तीन प्रकार के दायाद हैं और विरासत इन्हीं दायादों के अनुसार होता है। ये दायाद इस प्रकार हैं :—

(क) गोत्रज सपिंड, (ख) समानोदक, और (ग) बंधु। दायादों का यह वर्गीकरण उत्तराधिकार के अधिमान के अनुसार हुआ है। यद्यपि गोत्रज सपिंड, समानोदक और बंधु सभी मृतक के रक्त नातेदार हैं तथापि इनमें रक्त सामीप्य की कोटि या पीढ़ी का अंतर होता है। उत्तराधिकार खुलने पर सर्वप्रथम गोत्रज सपिण्डों में से रक्त सामीप्य के आधार पर उत्तराधिकारी या उत्तराधिकारियों का चयन किया जाता है,[2] इसके अभाव में समानोदकों में से उत्तराधिकारी का चयन होता है[3] और इन दोनों के अभाव में बंधुओं में से उत्तराधिकारी का चयन किया जाता है।[4] इनकी पृथक्-पृथक् विवेचना नीचे की जाएगी।

गोत्रज सपिण्ड् वारिस

सपिण्ड का अर्थ—सपिण्ड शब्द का अर्थ मिताक्षरा और दाय भाग शाखाओं में भिन्न-भिन्न है।

सपिण्ड की मिताक्षरा में परिभाषा—मिताक्षरा के अनुसार सपिंड का अर्थ है, एक ही पिंड अर्थात् शरीर रखने वाला अर्थात् एक ही शरीर के अवयव रखने के नाते सपिंडता

---

1 भ्रातृपुत्राणामप्यभाये गोत्रजा धनभाजः। गोत्रजाः पितामही-सपिन्डाः-समानोदकाश्च। तत्रपितामही प्रथमं धनभाक्। ......गोत्रजाभावे बधवो धनभाजः। याज्ञ० 2/135-136. की मिता० टीका।

2 समानगोत्राणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम्। वही।

3 तेषामभावे समानदोकानां धनसंबंधः। वही।

4 पिण्डगोत्रर्षि संबंधा रिक्थं भजेरन्निति। गो० ध० सू० 28/19.

होती है।[1] इसका दृष्टांत देते हुए विज्ञानेश्वर स्पष्ट करते हैं कि पिता **और** पुत्र सपिंड हैं **क्योंकि** पिता के शरीर के अवयव पुत्र में आते हैं और इसी प्रकार पितामहादि के अवयव पिता आदि के द्वारा पौत्रादि में आने से वे सपिंड हैं।[2] माता के शरीर का अवयव पुत्रादि में आने से माता के साथ सपिंडता होती है और माता के द्वारा मातामहादि (नाना आदि) के शरीर के अवयव दौहित्र आदि में आने से वे सपिंड हैं।[3] पति और पत्नी से एक शरीर का आरंभ होने, अर्थात् पूर्णांग की रचना होने, के कारण पति-पत्नी भी सपिंड हैं।[4] इसी प्रकार जहां-जहां सपिंड शब्द का प्रयोग हो वहां 'साक्षात् परंपरा से' अथवा 'एक शरीर का अवयव' अर्थ समझना चाहिए।[5] विज्ञानेश्वर इतने से ही संतुष्ट नहीं होते हैं, अपनी व्याख्या को पुष्ट करने के लिए उन श्रुति वचनों को उद्धृत करते हैं, जिनमें यह अधिकथित है कि अपनी ही आत्मा का अन्य रूप पुत्र होता है अथवा अपना ही अन्य रूप पुत्र के रूप में जन्म लेता है।[6] यही विज्ञान **गर्भोपनिषद्** के वचन से भी स्थापित होता है कि पिता और माता के अंग अर्थात् अस्थि, स्नायु, त्वचा, रक्त, मांस, मज्जा से संतान की रचना होती है।[7] मिताक्षरा की यही परिभाषा सपिंड के लिए प्रिवी कौंसिल ने भी **रामचन्द्र** बनाम **विनायक**[8] और **लालूभाई बापूभाई बनाम काशीबाई**[9] के मामलों में स्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि मिताक्षरा विधि के अधीन दो व्यक्तियों में सपिंड नातेदारी की उत्पत्ति एक ही शरीर अर्थात् मूल पूर्वज के अंशों से संबंधित होने के कारण होती है। दूसरे शब्दों में, रक्त समुदाय या समरक्तता से होती है।[10] इस प्रकार शास्त्रीय[11] और निर्णयज[12] दोनों ही विधियों के अनुसार मिताक्षरा शाखा में दायादों के क्रम अवधारण की कसौटी रक्त सामीप्य है।

सपिंड की दायभाग में परिभाषा—इसके विपरीत दायभाग में जीमूतवाहन सपिंड शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'कोई भी पुरुष अपने जीवनकाल में तीन पुरुष पूर्वजों

---

1 सपिंडता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। याज्ञ० 1/52 की मिता० टीका।

2 तथाहि पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रासहैकपिण्डता। एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्। वही

3 एवं मातृशरीराधयवान्वयेन मात्रा। तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण। वही

4 तथा पत्यासह पत्न्या एकशरीरारम्भकतया। वही

5 एवं यत्र तत्र 'सपिण्ड' शब्दस्तत्र तत्र साक्षात्परम्परया वा एक शरीरावयवान्वयो वेदितव्यः।

6 'आत्मा हि जज्ञ आत्मनः' इत्यादिश्रुतेः। तथा 'प्रजामनुप्रजामसे' इति च। याज्ञ० 1/52 की मिता० टीका।

7 तथा गर्भोपनिषदि—'एतत् षाट्कौशिकं शरीरं त्रीणिपितृतस्त्रीणि मातृतअस्थिस्नायु-मज्जानः पितृतस्त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतः' इति तत्रतत्रावयवान्वयप्रतिपादनात्। वही।

8 (1914) 41 आई० ए० 290.

9 (1880) 7 आई० ए० 212.

10 बुद्धूसिंह **बनाम** लालसासिंह, (1915) 42 आई० ए० 208.

11 अविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिका। याज्ञ० 2/136 की मिता० टीका।

12 बालासुब्रह्मणियं पाण्ड्यसालैवार **बनाम** सुब्बय्या तेवाड़, ए० आई० आर० 1938 पी० सी० 34.

को पिंडदान करता है किंतु उसकी मृत्यु होने पर जब उसका पुत्र सपिंडी करण करता है, अर्थात् मृत पिता और उसके तीन पूर्वजों के पिंड बना कर फिर उन पिंडों को मिलाकर एक पिंड बनाता है तब वह मध्यस्थित मृत पुरुष के पुत्र द्वारा दिए गए तीन पूर्वजों के पिंडों को वह अपने पिता और पितामह के साथ भोग करता है, अतएव जिन्हें वह (मध्यस्थ मृत पुरुष) पिंड देता है, और जो उसे पिंड देते हैं वे अविभक्त दायाद सपिंड कहलाते है।[1] जीमूतवाहन के अनुसार दायाद (वारिस) होने की कसौटी पिंडदान से मृतक तथा उसके पितरों को आध्यात्मिक लाभ (उपकारकत्व) पहुंचाने की क्षमता है।[2] दायादक्रम अर्थात् उत्तराधिकार क्रम इसी आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए।[3] दायभाग की इस निर्णायक कसौटी को स्वीकार करते हुए प्रिवी कौंसिल ने यह अधिकथित किया है कि दायभाग शाखा में पिंडदान द्वारा आध्यात्मिक लाभ की धारणा से सपिंड नातेदारी की उत्पत्ति होती है।[4] हिंदू विधि की दायभाग शाखा में पिंड का अर्थ श्राद्ध में मृत स्वामी तथा उसके पितरों को दिया जाने वाला चावल या जौ के आटे का गोला है और पिंडदान के अधिकार द्वारा पूर्वजों तथा वंशजों से संबंद्ध होने वाले व्यक्ति सपिंड कहलाते हैं।[5]

पिंड शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ करने से मिताक्षरा और दायभाग विधियों की सपिंडता की धारणाएं एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हो गईं। शास्त्रों में सपिंडता की दोनों ही धारणाएं प्रतिपादित हैं किंतु ये एक दूसरे की पूरक हैं न कि विरोधी। वंशज अपने पितरों को पिंडदान द्वारा आध्यात्मिक लाभ भी प्रदान करने वाला होता है और उसमें पूर्वजों का रक्तांश भी प्रवाहित होता है। रक्तांश के आधार पर ही पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र को पिंडदान का अधिकार प्राप्त होता है। पितरों को आध्यात्मिक लाभ वही व्यक्ति प्रदान करा सकता है, जिसमें उनका रक्त प्रवाहित होता हो न कि कोई पर व्यक्ति। सपिंडता की व्याख्या करते समय इन दोनों तत्त्वों पर विचार किया जाना चाहिए। रक्त संबंध के आधार पर ही दौहित्र अपने मातामह (नाना) का पिंडदान करने का अधिकारी होता है।

सामान्य अर्थ में सपिंडता शब्द उन सभी नातेदारों का द्योतक है, जिनमें मृत पूर्वज का रक्त प्रवाहित होता है। किंतु संकुचित अर्थों में पितृ-कुटुंब में सात पीढ़ी तक और

---

1 पित्रादिपिण्डत्रये सपिण्डने भोक्तृत्वात् पुत्रादिभिश्च त्रिभिः तत्पिण्डस्यैव दानात्, यश्च जीवन् यत्पिण्डदाता, स मृतः सन् सपिंडनात् तत्पिण्डभोक्ता, एवं च सति मध्यस्थितः पुरुषः सर्वेषां जीवन् पिण्डदाता, स मृतः तत्पिंडभोक्ता च, परेषां जीवतां पिंडसम्प्रदानभूत आसीत्; मृतैश्च तैः सह दौहित्रादिदेयपिण्डभोक्ता, अतो एषामयं पिंडदाता, ये वास्य पिंडदातारः, ते अविभक्तपिंडरूपं दायमदन्तीत्यविभक्तदायादाः सपिंडाः दाय० 11/1/38.

2 उपकारकत्वेनैव धनसंबंधो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामभिमत इति मन्यते। दाय० 11/6/31

3 तस्मात् यथा यथा मृतधनस्य तदुपयुक्यत्वं भवति, तथा तथा अधिकारक्रमोऽनुसरणीयः। दाय० 11/6/28.

4 बुद्धूसिंह बनाम लालता सिंह, (1915) 42 आई० ए० 208.

5 मृतस्य तस्य पार्वणविधिना पिंडदानात्, पुत्राद्यर्थं तद्धनं मृतमेवोपकरोतीति न्यायप्राप्तं पुत्रादीनां स्वामित्वं श्रुतम्। दाय० 11/1/32.

मातृ-कुटुंब में पांच पीढ़ी तक सपिंडता होती है।[1] उत्तराधिकार के प्रयोजनार्थ मिताक्षरा ने सपिंड नातेदारी का परिभाषिक अर्थ किया है और इसे दो वर्गों में विभक्त किया है—(क) गोत्रज सपिंड और (ख) भिन्न गोत्रज सपिंड या बंधु। गोत्रज सपिण्ड को पुन: दो वर्गों में विभक्त किया गया है--(अ) सपिंड, और (आ) समानोदक।[2]

गोत्रज सपिण्ड—एक ऋषि गोत्र में उत्पन्न होने वाले पूर्वज और वंशज गोत्रज या समानगोत्रज सपिंड कहलाते हैं।[3]

(क) गोत्रज सपिंड वहीं हैं, जो छह पीढ़ियों के पूर्वज तथा छह पीढ़ियों के वंशज होते हैं।[4]

(ख) मृत स्वामी के छह पीढ़ी के पूर्वज और उनकी पत्नियां;

(ग) मृतक के पिता के छह पीढ़ी के सांपार्श्विक (वंशज),
मृतक के पितामह के छह पीढ़ी के सांपार्श्विक, (वंशज)
मृतक के प्रपितामह के छह पीढ़ी के सांपार्श्विक, (वंशज)
मृतक के वृद्ध प्रपितामह (पिता के पिता के पिता के पिता) के छह पीढ़ी के सांपार्श्विक, (वंशज)

मृतक के वृद्ध प्रपितामह के पिता के छह पीढ़ी के सांपार्श्विक, (वंशज)
मृतक के वृद्ध प्रपितामह के पितामह के छह पीढ़ी के सांपार्श्विक, (वंशज);

(घ) मृत पुरुष की विधवा पत्नी, पुत्री और दौहित्र (पुत्री का पुत्र)।

ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि सपिंड नातेदारी में सात पीढ़ी ऊपर और सात पीढ़ी नीचे पितृ परंपरा के पूर्वजों और वंशजों की गणना की जाती है, जिसमें मृत स्वामी, जिसका उत्तराधिकार प्रश्नगत होता है, सम्मिलित रहता है। किंतु मृत स्वामी को अपवर्जित कर देने पर छह पीढ़ी के ही पूर्वज और वंशज सपिंड होते हैं। मिताक्षरा के अनुसार पूर्वज सपिंडों की पत्नियां भी सपिंड नातेदार मानी गई हैं। मृत स्वामी की पत्नी भी सपिंड नातेदार है। किंतु छह पीढ़ी के वंशजों की पत्नियां सपिंड नहीं है। पुत्र के सदृश पुत्री भी सपडिं है। पुत्री का पुत्र (दौहित्र) गोत्रज सपिंड न होते हुए भी पिंडदान करने का अधिकारी होने से उत्तराधिकार के प्रयोजनार्थ गोत्रज सपिंडों में नामत: सम्मिलित कर लिया गया है। मृत स्वामी के छह पीढ़ी ऊपर के पूर्वजों के छह पीढ़ी के वंशजों को भी गोत्रज सपिंड में सपिंडता की उक्त गणना के आधार पर सम्मिलित किया गया है क्योंकि उनमें भी सातवीं पीढ़ी के पूर्वज का रक्तांश विद्यमान होता है। किंतु वे मृत स्वामी की सीधी पुरुष परंपरा में नहीं आते हैं और इन्हें सांपार्श्विक कहते हैं। जिस प्रकार मृत स्वामी के छह पीढ़ी के पुरुष वंशजों की पत्नियां सपिंडनातेदारी में सम्मिलित नहीं होतीं उसी प्रकार छह पीढ़ी के

---

1 पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृत:पितृतस्तथा। याज्ञ० 1/53.

2 गोत्रजा: पितामही सपिण्डा: समानोदकाश्च। याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

3 समाने आर्षगोत्रे यस्यासौ समानार्षगोत्रस्तस्माज्जाता समानार्षगोत्रजा याज्ञ० 1/53 की टीका।

4 तथाच पित्रादय: षट् सपिण्डा: पुत्रादतश्च षट् आत्मा च। वही।

पूर्वजों के छह पीढ़ी तक के वंशजों (सांपार्श्विकों) की पत्नियां भी सपिंड नातेदारी में सम्मिलित नहीं होतीं।

इनमें पूर्ण रक्त अर्थात् सहोदर को अर्ध रक्त अर्थात् भिन्नोदर (सौतेले) सपिंडों की अपेक्षा पूर्विकता प्रदान की जाती है। प्रिवी कौंसिल के अनुसार इस प्रकार की पूर्विकता, एक ही पूर्वज के वंशजों की सपिंडता में हिंदू विधि की मिताक्षरा शाखा की सभी उपशाखाओं में, यहां तक कि बम्बई और पंजाब में भी, लागू है।[1]

सांपार्श्विक—हिंदू विधि में सांपार्श्विक एक पारिभाषिक पद है जिसमें मृत स्वामी के, जिसकी संपदा का उत्तराधिकार प्रश्नगत होता है, छह पीढ़ी के पूर्वजों के वे वंशज आते हैं जो उसकी सीधी पुरुष परंपरा में नहीं आते किंतु उनमें भी छठी पीढ़ी के पूर्वज का वही रक्तांश विद्यमान रहता है, जो मृत स्वामी में। अन्य शब्दों में, छह पीढ़ी के पूर्वजों के वंशज भी मृतक के पूर्वज या वंशज होते हैं। इन्हें सांपार्श्विक इसलिए कहा जाता है कि इनमें समरक्त होते हुए भी ये पार्श्व (बगल) के होते हैं। सांपार्श्विक पद दो शब्दों के योग से विरचित है—सम् और पार्श्व। 'सम्' का अर्थ है, 'समान' और 'पार्श्व' का अर्थ है, 'बगल' या 'निकटता'। उत्तराधिकार के प्रयोजनार्थ सांपार्श्विक का अर्थ है निकटस्थ गोत्रज सपिंड। इनमें रक्त सामीप्य के आधार पर निकटवर्ती शाखा को दूरवर्ती शाखा की अपेक्षा और एक ही शाखा में दूर के वंशज की अपेक्षा निकटस्थ को पूर्विकता दी जाती है।

समानोदक—मिताक्षरा के अनुसार गोत्रज सपिंड नातेदारों के अभाव में समानोदक नातेदारों को विरासत का हक प्राप्त है।[2] समानोदक नातेदारी में सपिंडों के उपरांत सात पीढ़ी तक के पूर्वज और वंशज आते हैं।[3] किंतु एक सिद्धांत यह भी है कि जहां तक जन्म और नाम ज्ञात हो सके वहीं तक समानोदक नातेदारी की सीमा होती है।[4] इस सिद्धांत के प्रतिपादक मनु हैं।[5] किंतु प्रिवी कौंसिल ने समानोदक नातेदारी को सपिंड नातेदारी के उपरांत आठवीं से चौदहवीं पीढ़ी तक ही माना है।[5]

वस्तुतः समानोदक वे रक्त नातेदार होते हैं जिनका कोई हिंदू श्राद्ध के समय जलांजलि देकर तर्पण करता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है मिताक्षरा ने बृहन्मनु[7] के नाम से जिस श्लोक को उद्धृत करके सपिंड नातेदारी की सातवीं पीढ़ी के उपरांत के आठवीं से चौदहवीं पीढ़ी तक के

---

1 गुरुदास **बनाम** लालदास, ए० आई० आर० 1933 पी० सी० 141; कालागौड़ **बनाम** अन्ना गौड़, आई० एल० आर०, (1962) मैसूर 65.

2 तेषामभावे समानोदकानां धनसंबंधः। याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

3 ते च सपिण्डानामुपरि सप्तवेदितव्याः। वही।

4 जन्मनामज्ञानावपिका वा। याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

5 समानोदकभावस्तु निवर्तेताऽऽचतुर्दशात्।
जन्मनाम्नो स्मृतरेके तत्परं गोत्रमुच्यते॥ बृहन्मनु के नाम से (किंतु व्यवहार निर्णय में पृ० 454 पर बृह० के नाम से उद्धृत) याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका में उद्धृत। समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ मनु० 5/60.

6 आत्माराम **बनाम** वैतराव, (1935) 62 आई० ए० 139.

7 समानोदक भावस्तु निवर्तेतऽऽचतुर्दशात्। बृहन्मनु (मिता० याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका में उद्धृत)

पूर्वजों और वंशजों को समानोदक माना है, उसके साथ एक अन्य श्लोक[1] बृहन्मनु के नाम से ही उद्धृत किया है, जिसमें जन्म नाम की स्मृति न रह जाने पर गोत्रज नातेदारी मानी गई है। इससे यह अर्थ निकलता है कि समानोदकों के अभाव में उत्तराधिकारक्रम में वे गोत्रज नातेदार आते हैं, जो चौदह पीढ़ियों के उपरांत के वंशज या पूर्वज हैं। यही अर्थ उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि उत्तराधिकार क्रम में हिंदू विधि सामान्यतः सगोत्र वंशजों या वंशज को ही पूर्विकता देने के पक्ष में है। व्यवहार निर्णय ने भी समानोदकों के अभाव में सगोत्रों को उत्तराधिकारी माना है।[2] मिताक्षरा ने भी इसी अर्थ में यह अधिकथित किया है कि जन्म नाम ज्ञात न होने पर समानोदक नातेदारी की निवृत्ति होती है।

बंधु (भिन्न गोत्रज सपिंड)

बंधु का अर्थ है आत्मीय संबंध से आबद्ध। मिताक्षरा के अनुसार बंधु पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है और भिन्न गोत्रज सपिंडों का वाचक[2] है—यथा मामा, मौसी या बुआ के पुत्र आदि। मामा माता का भाई होने से बंधु है और मातामह (नाना) के गोत्र का होने से भिन्न गोत्रज है। बौधायन ने तीन प्रकार के बंधुओं का उल्लेख किया है।[3] बंधुओं के विषय में बौधयन ने तीन प्रकार के बंधुओं का उल्लेख किया।[4] बंधुओं के विषय में बौधायन के मत का समर्थन करते हुए[5] मिताक्षरा ने तीन प्राचीन श्लोकों[6] को उद्धृत करके इनकी व्याख्या की है। तीन प्रकार के बंधु इस प्रकार है[7]:—

(क) **आत्म बंधु** —आत्म बंधु तीन प्रकार के हैं:—यथा अपने पिता की बहिन (बुआ) के पुत्र, अपनी माता की बहिन (मौसी) के पुत्र और अपनी माता के भाई (मामा) के पुत्र।

(ख) **पितृ बंधु**—पितृ बंधु भी तीन प्रकार के हैं—यथा पितामह की बहिन के पुत्र, पितामही (पिता की माता) की बहिन के पुत्र और पिता के मामा के पुत्र।

(ग) **मातृ बंधु**—मातृ बंधु भी तीन प्रकार के हैं—माता के पिता (मातामह) की बहिन के पुत्र, मातामही (नानी) की बहिन के पुत्र और माता के मामा के पुत्र।

इन बंधुओं में आत्बंधु को पूर्विकता दी जाती है, इनके अभाव में पितृबंधु का

---

1 जन्मनामस्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते। बृहन्मनु० वही।

2 समानोदकानामभावे सगोत्रा धनभाजः। वरदराज; व्य० नि० पृष्ठ 454.

3 योगीश्वर वचनेऽपि बन्धुधुपदेन मातुललक्षणम्। वीमि० व्य०अ० पृष्ठ 674.

4 बान्धवास्त्रिविधा इति बौधायनः। व्य० निर्ण० पृष्ठ 455.
त्रयहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः। बौधा० ध० सू० 1/5/11/6.

5 बन्धवश्च त्रिविधाः। याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

6 आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः।
आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्कबान्धवाः।
पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः।
पितुर्मातुल पुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः। मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्भातृष्वसुः सुताः।
मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः॥ मिता०। वही

7 वही।

उत्तराधिकार क्रम है और इन दोनों बंधुओं अभाव में मातृबंधु का अधिकार है।[1] यहां यह उल्लेखनीय है कि आत्मबंधु, पितृबंधु और मातृबंधु में प्रथम दो के बंधु अपनी ही सपिंड कन्याओं के पुत्र हैं। पिता की बहिन, पितामह की पुत्री है और पितामह की बहिन मृतक के पिता की बुआ है। इस प्रकार आत्मबंधु और पितृबंधु के प्रथम प्रकार अपने ही सपिंड की कन्याओं के वंशज हैं। किंतु अन्य बंधु गोत्रज सपिंड हैं। मृतक से इनकी नातेदारी माता, पिता की माता (पितामही) और मातामह के नाते है। इस विवेचना से बंधु केवल तीन नहीं हैं अपितु नौ हैं। प्रिवी कौंसिल ने गिरधारी लाल बनाम **बंगाल सरकार**[2] और **मुत्तु स्वामी** बनाम **सीमम्बेड**[3] के मामलों में बंधुओं की व्याख्या की है।

आचार्य

रक्त संबंधियों में कोई न होने की दशा में प्राचीन हिंदू विधि के अधीन मृत हिंदू स्वामी की संपदा आचार्य को न्यागत होती है।[4] यह उत्तराधिकारक्रम शूद्र हिंदू के विषय में भी लागू है। इस मामले में आचार्य का अर्थान्वयन पुरोहित या गुरु किया जाना चाहिए क्योंकि हिंदुओं में आनुवंशिक गुरु और पुरोहित रखने की रूढ़ि या प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। आचार्य का अर्थ शिक्षक गुरु उसी दशा में किया जा सकता है जब कि मृत स्वामी द्विज हो और उसने प्राचीन गुरुकुल परंपरा से विद्याध्ययन किया हो। आधुनिक काल में अधिकांश द्विज शैक्षणिक संस्थाओं में विद्याध्ययन करते हैं अतएव शिक्षक के अर्थ में आचार्य को नहीं लिया जा सकता। पुरोहित को कुटुंब के सदस्य के रूप में मान्यता रही है।[5] इससे यही अर्थ युक्तियुक्त है। यदि मृतक के आध्यात्मिक गुरु और पुरोहित दोनों ही हों, तो आध्यात्मिक गुरु को पूर्विकता दी जाएगी।[6]

शिष्य

मिताक्षरा के अनुसार आचार्य के भी न होने पर मृतक की संपदा शिष्य को उत्तराधिकार में प्राप्त होती है।[7]

---

1 तत चान्तरङगत्वात्प्रथममात्मबन्धवो धनभाजस्तदभावे पितृबन्धवस्तदभावे मातृबन्धव इति क्रमो वेदितव्यः। याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

2 (1869) 12 एम० आई० ए० 448.

3 (1896) 23 आइ० ए० 83.

4 बन्धूनामभावे आचार्यः। याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

5 ॐ मे ब्रह्म सऊ शितं वीर्यं बलम्।
सऊँ शितं क्षतजिष्णुर्यस्या हमस्मि पुरोहितः॥ यजु० 11/81
पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्। याज्ञ० 1/313, यों लौकिक-पारलौकिक हितों के लिए पुरोहित का वरण अनिवार्य है, जिससे वह उस हिंदू कुटुंब का अभिन्न अंग हो जाता है।

6 शम्भुशिव **बनाम** भारत के राज्य सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया), ए० आई० आर० 1921 मद्रास 537.

7 तदभावे शिष्यः (अर्थात् आचार्य के अभाव में शिष्य) याज्ञ० 2/135-136 की मिता टीका।

सब्रह्मचारी

शिष्य के भी न होने पर सब्रह्मचारी को मृत स्वामी की संपदा को विरासत में प्राप्त करने का अधिकार है ।[1] विज्ञानेश्वर ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो उपनयन के उपरांत एक ही आचार्य से ऐसा प्राप्त करता है, वही सहपाठी सब्रह्मचारी है[2] और उसे ही मृत स्वामी की संपदा का उत्तराधिकार ऊपर के सभी वारिसों के अभाव में प्राप्त है ।

श्रोत्रिय ब्राह्मण या सामान्य ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य ने सब्रह्मचारी पर्यंत ही उत्तराधिकार, क्रम का उल्लेख किया है ।[3] किंतु मिताक्षरा ने इस उत्तराधिकार क्रम को गौतम के मत के आधार पर आगे बढ़ाया है और सहपाठी के भी न होने पर ब्राह्मण मृत स्वामी की संपदा का उत्तराधिकारी श्रोत्रिय ब्राह्मण अथवा सामान्य ब्राह्मण को माना है ।[4] अपने इस उत्तराधिकार क्रम को उन्होंने मनु के मत के आधार पर संपुष्ट किया है ।[5] यह उत्तराधिकार क्रम केवल ब्राह्मण के लिए ही लागू है, अन्य द्विजों के लिए नहीं, क्योंकि ब्राह्मण की संपदा राज्यगामी नहीं हो सकती ।[6]

राज्यगामित्व

ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय आदि अन्य मृतस्वामी की संपदा सब्रह्मचारी वारिसों के भी न होने पर राज्यगामी होती है ।[7] विज्ञानेश्वर ने अपने मत के समर्थन में मनु के उस वचन को उद्धृत किया है, जिसमें यह व्यवस्था है कि ब्राह्मण से भिन्न वर्णों में किसी भी प्रकार का वारिस न होने की दशा में मृतक की संपत्ति राजा द्वारा प्राप्त की जाय ।[8] इसे प्रिवी कौंसिल और उच्चतम न्यायालय द्वारा संपुष्ट भी किया गया है ।[9] किंतु जब राज्य राज्यगामित्व द्वारा मृतक की संपदा का दावा करे तब उसे यह स्थापित करना होगा कि अंतिम मृत स्वामी का कोई वारिस नहीं है ।[10]

---

1 शिष्याभावे सब्रह्मचारी धनभाक् । याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका ।

2 येन सहैकस्मादाचार्यादुपनयनाध्ययनतदर्थज्ञानप्राप्तिः, स सब्रह्मचारी । वही ।

3 तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः । याज्ञ० 2/135.

4 तदभावे ब्राह्मणंद्रव्यं यः कश्चित् श्रोत्रियो गृह्णीयामात् । 'श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्' इति गौतमस्मरणात् (गौत० ध० सू० 28/42) । तदभावे ब्राह्मणमात्रम् । याज्ञ० 2/136 की मिता० टीका ।

5 सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः । मनु० 9/188.

6 अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ! मनु० 9/189 (पूर्वा०) न कदाचिदपि ब्राह्मणद्रव्यं राजा गृह्णीयात् । याज्ञ० 2/136 की मिता० टीका ।

7 क्षत्रियादिधनं सब्रह्मचारिपर्यन्तानामभावे राजा हरेत् । न ब्राह्मणः । वही ।

8 इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ।। मनु० 9/189 (उत्तरार्ध)

9 जिलाधिकारी, मच्छलीपट्टम **बनाम** कावेली वेंकट, (1860) 8 एम० आई० आर० 500; रामचन्द्र **बनाम** मानसिंह, ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 954.

10 गिरधारीलाल **बनाम** बंगाल सरकार, (1968) 12 एम० आई० ए० न48. मद्रास राज्य **बनाम** रामनाथराव, ए० आई० आर० 1960 मद्रास 436.

वानप्रस्थ, संन्यासी या ब्रह्मचारी की संपत्ति का उत्तराधिकार क्रम

याज्ञवल्क्य के अनुसार वानप्रस्थ, यति या ब्रह्मचारी की संपदा के उत्तराधिकारी (विपरीत) क्रम से आचार्य, सत्शिष्य और एकतीर्थी धर्मभ्राता होते हैं।[1] यों वानप्रस्थ का उत्तराधिकारी उसी के आश्रम (तीर्थ) में रहने वाला धर्मभाई होता है। यति का उत्तराधिकारी उसका सत्शिष्य होता है और ब्रह्मचारी का उत्तराधिकारी उसी का आचार्य होता है। विज्ञानेश्वर ने भी यही बात कही है।[2] पर उसने सत् शिष्य की व्याख्या करते हुए यह भी कहा है कि सत् शिष्य वह होता है जो अध्यात्म शास्त्र को सुनने, धारण करने और तदनुरूप अनुष्ठान (आचरण) करने में समर्थ होता है।[3] विज्ञानेश्वर के अनुसार 'धर्मभ्रात्रेकतीर्थी का अर्थ है मृतवानप्रस्थ का धर्म भ्राता अर्थात् प्रतिपन्न भाई जो उसी के साथ आश्रमवासी (एकतीर्थी) हो।[4] मिताक्षरा की विधि के अनुसार धार्मिक पंथों के इन मृतकों की संपदा में स्पष्टतः उन के गृहस्थ जीवन के रक्त संबंधों को उत्तराधिकार प्राप्त नहीं हैं। उच्चतम न्यायालय ने सीतलदास **बनाम** सन्तराम[5] के मामले में यह अधिकथित किया है कि 'किसी धर्मपंथ में प्रवेश सामान्यता सांसारिक मत्यु के रूप में प्रभावकारी होता है। जो व्यक्ति सन्यासी होता है, वह अपने नैसर्गिक कुटुंब से संबंध-विच्छेद कर लेता है और कहा जा सकता है कि अपने गुरु द्वारा ग्रहण कर लेने पर वह उसका आध्यात्मिक पुत्र हो जाता है। उसके गुरु के अन्य शिष्य उसके भाई के रूप में होते हैं जब कि उसके गुरु के सहशिष्य चाचा की भांति होते हैं और इस प्रकार से एक आध्यात्मिक कुटुंब की स्थापना नैसर्गिक कुटुंब के सादृश्य पर होती है।' इस हिंदू धारणा के अनुसार किसी वानप्रस्थ या सन्यासी या इसी प्रकार के किसी अन्य धार्मिक पंथ के अनुयायी की, जिसमें गृहस्थाश्रम का पूर्णतः और आत्यन्तिक रूप से त्याग किया जाता है, संपदा के वारिस उसके आध्यात्मिक कुटुंब के सदस्य ही होंगे और वे उपर्युक्त क्रम में होंगे।

पुनरेकीकरण (संसृष्टि) के पश्चात् उत्तराधिकार

विभाजनोपरान्त पुनरेकीकृत सदस्यों के उत्तराधिकार क्रम पर भी याज्ञवल्क्य और मिताक्षरा ने विचार किया है कहा है कि विभक्तधन पुर्नमिश्रित हो तो संसृष्ट होगा और उसका स्वामी संसृष्टी। केवय पिता, भाई और पितृव्य ही संसृष्टि (पुनरेकीकरण) की रचना कर सकते हैं। विभाजन के पश्चात् पुनरेकीकृत सदस्य की मृत्यु होने पर उसका अंश मृत स्वामी के उस पुत्र को दिया जाये[6] जिसका जन्म विभाजन के पश्चात् हुआ और जिसका गर्भ में होना विभाजन के समय ज्ञात नहीं था।

---

[1] वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां खिथ भागिनः। क्रमेणाचार्य सच्छिणधर्मभ्रातेकतीर्थिनः॥ याज्ञ० 2/137.

[2] वानप्रस्थस्य यतेर्ब्रह्मचारिणश्च क्रमेण प्रतिलोमक्रमेणाचार्यः सच्छिष्यो धर्मभ्रातेकतीर्थी च खिथस्य धनस्य भागिनः। उसी पर मिता० टीका।

[3] सच्छिष्यः पुनरध्यात्मशास्त-श्रवण-धारण-तदर्थानुष्ठानक्षमः। वही।

[4] धर्मभ्राता प्रतिपन्नो भ्राता; एकतीर्थी एकाश्रमी। वही।

[5] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 606.

[6] संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदस्य तु सोदरः।
दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च॥ याज्ञ० 2/138.

इसी प्रकार यदि मृत संसृष्टी सोदर था तो अन्य सोदर ही पश्चात् उत्पन्न पुत्र का अंश देंगे ।[1] पश्चात् गर्भाहित और उत्पन्न पुत्र न हो तो पुनरेकीकारण के शेष सदस्य जो परिवार के संसृष्ट अर्थात् पुनरेकीकृत सदस्य आदि हैं वे ही उत्तरधिकारी होंगे पत्नी आदि नहीं ।[2] मिताक्षरा की यह सामान्य विधि है कि पुनरेकीकृत सदस्य ही पुनरेकीकृत मृतस्वामी की संपदा के वारिस (दायाद) हो सकते हैं ।[3] किंतु पुनरेकीकरण के पश्चात् का कोई उत्पन्न पुत्र न होने या किसी पुनरेकीकृत सदस्य के उत्तराधिकारी न होने पर मिताक्षरा का सामान्य उत्तराधिकार क्रम लागू होगा ।[4] किंतु पुनरेकीकृत कुटुंब के मृतसदस्य के उत्तराधिकार क्रम में यह अपवाद है कि सहोदर अर्थात् पुनरेकीकृत सहोदर को ही पूर्विकता प्रदान की जाती है न कि भिन्नोदर (सौतेले) पुनरेकीकृत को ।[5] यदि कुछ ऐसे भी सौतेले भाई हैं जो पुनरेकीकरण होने पर पुनरेकीकृत या संसृष्ट नहीं होते हैं तो पुनरेकीकृत सौतेले भाई को ही मृतस्वामी की संपदा उत्तरजीविता के सिद्धांत के आधार पर प्राप्त होगी न कि उस सौतेले भाई को जो मृतक से पृथक् है ।[6] मिताक्षरा के इस सिद्धान्त को न्यायालय की विधि के रूप में मान्यता प्राप्त है ।[7] किन्तु पुनरेकीकृत भाई के न रहने पर उन विभक्त भाईयों का उत्तराधिकार क्रम में हक होता है, जो विभाजन काल में संयुक्त थे ।[8] विभक्त सहदायिकों के भी न रहने पर मिताक्षरा विधि के अधीन सामान्य उत्तराधिकार क्रम लागू होता है[9] जिसकी विवेचना उपर की जा चुकी है ।

दायभाग शाखा में दाय (विरासत) विधि

न्यागमन के सिद्धांत

हिन्दू विधि की दायभाग शाखा में न्यागमन के दो सिद्धांन्त हैं :—

(क) सहदायिकी और स्वार्जित दोनों ही संपत्तियों का न्यागमन उत्तराधिकार के

---

1 तस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं विभागं विभागकाले अविज्ञागर्भायां भार्यायां पश्चादुत्पन्नस्य पुत्रस्य संसृष्टी दद्यात् ।··· अतश्च सोदरस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं सोदरः संसृष्टी संसृष्टानुजातस्य सुतस्य दद्यात् । उसी पर मिता० टीका ।

2 पुत्राभावे संसृष्ट्येवापहरेद् गृहणीयान्न पत्न्यादिः । वही०

3 संसृष्टिन : संसृष्टीत्यनुवर्तते । वही

4 तदभावे अपहरेदिति पूर्बवत् सम्बन्धः । याज्ञ० 2/138 की मिता० टीका ।

5 एवं च सोदरासोदरसंसर्गे सोदरसंसृष्टिनो धनं सोदरएव संसृष्टी गृहणाति न भिन्नोदरः संसृष्ट्यपीति पूर्वोक्तस्यापवादः । वही ।

6 अन्योदर्यः सापत्नो भ्राता संसृष्टी धनं हरेत् न पुनरन्योदर्यो धनं हरेदसंसृष्टी । याज्ञ० 2/139 की मिता० टीका ।

7 यशोदा **बनाम** शिव, आई० एल० आर० (1890) 17 कलकत्ता 33, नाना **बनाम** रामचन्द्र, आई० एल० आर० (1909) 32 मद्रास 377.

8 सार्वविभक्तिकस्तसिः । विभागकाल इति यावत् । याज्ञ० 2/139 की मिता० टीका ।

9 हीयेत, स्वांशात् भ्रश्येत; आश्रमान्तरपरिग्रहेण, ब्रह्महत्यादिना वा, म्रियते वा तस्य भागो न लुप्यते । अतः पृथगुद्धरणीयो न संसृष्टिन एव गृह्यणीयुरित्यर्थः : वही ।

द्वारा होता है[1] न कि उत्तरजीविता के द्वारा।

(ख) उत्तराधिकार की निर्णायक कसौटी मृत स्वामी को पिंडदान द्वारा आध्यात्मिक लाभ पहुंचाने की क्षमता या अधिकार हैं,[2] न कि खत सामीप्य।

उत्तराधिकार का सिद्धांत—दायभाग शाखा में सहदायिकों के बीच उत्तरजीविता का सिद्धांत लागू नहीं है। संपत्ति के स्वामी के जीवित रहते अर्थात् पिता के जीवन काल में पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र के सांपत्तिक अधिकारों का उदय नहीं होता।[3] संपत्ति पर जो अधिकार उसके स्वामी के स्वत्व या स्वामित्व की निवृत्ति के उपरांत उत्पन्न हो उसे उत्तराधिकार कहते हैं। दायभाग इसी अधिकार का प्रतिपादक है।[4]

आध्यात्मिक लाभ का सिद्धांत—जीमूतवाहन ने स्पष्ट शब्दों में यह मत व्यक्त किया है कि मृत पिता, या पितामह के साथ पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र का तुल्य अधिकार पिंडदान के अधिकार पर विशेषत: आधृत होता है।[5] उसमें भी पार्वण श्राद्ध में पिंडदान का अधिकार विशेष रूप से अभिप्रेत है।[6] पितरों का श्राद्ध तीन प्रकार से किया जाता है—(क) पिंडदान द्वारा, (ख) पिंडलेप द्वारा और (ग) जलतर्पण द्वारा।

पिंडदान पिंडदान पितृ कुटुंब में दो प्रकार का होता है और मातृकुटुंब में एक प्रकार का। किसी भी हिन्दू को तीन प्रकार के पिंडदान करने होते हैं, प्रथम, अपने पिता को; द्वितीय, पिता सहित तीन पूर्वजों (पितरों) को, और तृतीय, मातामह (नाना) और उसके दो पूर्वजों को। अतएव पिंडदान केवल दो प्रकार का होता है—एकोद्दिष्ट (एकपुरुष) और पार्वण (त्रिपुरुष)। अध्ययन की दृष्टि से इन दोनों श्राद्धों की विवेचना संक्षेप में यहां की जाएगी।

एकोद्दिष्ट पिंडदान—जब एक ही मृत पुरुष के लिए पिंडदान किया जाता है, तब उसे एकोद्दिष्ट पिंडदान कहते हैं।[7] यह पिंडदान व्यक्ति की मृत्यु के वर्ष में प्रतिमास[8] और

---

1 पितृत आगतं पित्रयम्, तच्च पितृमरणोपजातस्वत्वमुच्यते। दाय० 1/3. दुर्गादास **बनाम** चिन्तामणि (1906) 31 कलकत्ता 214.

2 उपकारकत्वेनैव धनसंबंधो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामभिमत इति मन्यते। दाय० 11/6/31. नलिनाक्ष **बनाम** रजनीकान्त, ए० आई० आर० 1931 कलकत्ता 741.

3 अतो जीवतो: पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति, किन्तूपरतयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादिवचनम्। दाय० 1/30.

4 वही।

5 अतएव मृतपितृ-पितामहक: प्रपौत्रोऽपि पुत्रपौत्राभ्यां सहतुल्याधिकारी भवति, पिण्डदत्वाविशेषात्। दाय० 2/10.

6 पार्वणविधिना पिण्डदानेन द्वयोरपि तदुपकारकत्वाविशेषादित्यभिप्राय:। दाय० 1/9.

7 एककोद्दिष्टं, एक उद्दिष्टो यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम्। मिता० याज्ञ० 1/25। की टीका। मृताहनि च कर्तव्यमेकोद्दिष्टमत: परम्। विष्णु पु० 3/13/23.

8 एकोद्दिष्टमयोधर्मं इत्थंमावत्सरात्स्मृतत:। वही 3/13/26,

उसके उपरांत प्रतिवर्ष मृत्यु तिथि पर किया जाता है।[1] इस पिंडदान में मात्र उसी व्यक्ति को लक्ष्य किया जाता है, जिसको पिंडदान किया जाता है।[2]

पार्वण पिंडदान—जब पितृ-कुटुंब के तीन पूर्वजों और मातृकुटुंब के तीन पूर्वजों के साथ मृतक का पिंडदान किया जाता है तब उसे पार्वण पिंडदान कहते हैं।[3] इसे त्रिपुरुष श्राद्ध भी कहा जाता है[4] क्योंकि इसमें पिता के प्रपितामह (वृद्धप्रपितामह) पर्यन्त पात्र होते हैं और इन सभी को लक्ष्य करके पिण्डदान किया जाता है।[5] इस प्रकार के श्राद्ध में प्रथम पितृ-कुटुंब के पूर्वजों का श्राद्ध किया जाता है तत्पश्चात् मातृ-कुटुंब के पूर्वजों का।[6] जीमूतवाहन ने पार्वण[7] पिंडदान को महत्त्व इसकी इस विशेषता के नाते दिया है कि इसमें पिता और माता दोनों ही के कुटुंबों के पूर्वजों के उपकार या आध्यात्मिक लाभ की व्यवस्था है।

(2) **पिंड लेप**—तीन पीढ़ी के उपरान्त चौथी से छटी पीढ़ी तक के पूर्वजों के आध्यात्मिक लाभ हेतु जो क्रिया की जाती है, उसे पिंडलेप कहते हैं। इसमें पिता, पितामह और प्रपितामह तक को पिंडदान करने के पश्चात् कुशा द्वारा हाथ साफ करने से जो लेप बच जाता है, वह चौथी से छठी पीढ़ी तक के पूर्वजों को दिया जाता है।[8] इसे सहदायिकों से नींचे के तीन पीढ़ी तक के वंशज, जो सपिंड नातेदारी में आते हैं, प्रदान करते हैं। दायभाग के अनुसार इसी कारण चौथी से छठी पीढ़ी तक के पूर्वज और वंशज सकुल्य कहलाते हैं।[9]

(3) **जल तर्पण**—हिन्दुओं में छठीं पीढ़ी से चौदहवीं पीढ़ी तक के पूर्वजों के आध्यात्मिक लाभ की भी व्यवस्था है, इनको मात्र जल दिया जाता है।[10] जिन पूर्वजों को

---

1 प्रतिसंवत्सरं राजन्नेकोद्दिष्टविधानतः। वही 3/13/40.

2 प्रेताय पिण्डो दातव्यो भुक्तवत्सु द्विजातिषु ॥ वही 3/13/24.

3 तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्। याज्ञ० 1/217 की मिता० में भूमिका। पित्र्येषु त्रिषु पार्वणवत्। याज्ञ० 1/254 की मिता० टीका। ततः प्रागुक्तं स्त्रिया अपि मातुरपि कर्तव्यं। वही।

4 वहीं।

5 तस्मात्पितृपात्रेषु तत्पितृपापात्रं प्रसे चयेदिति, पितुः प्रपितामहपात्रं पित्रादि पात्रेषु प्रसेचयेदिति-तदयुक्तम्। याज्ञ० 1/254 की मिता० टीका।

6 मातु: श्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितृणां तदनन्तरम्। ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम्। याज्ञ० 1/250 की मिता० टीका में उद्धृत शातोतपका वचन।

7 पार्वणविधिना पिंडदानोपकारकत्वस्य विशेषात्। दाय० 11/1/34.

8 त्रींस्तु तस्माद्धविः शेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः। औदकेनैव विधिना निवपेद्दक्षिणामुखः। न्युप्यपिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधि पूर्वकम्। तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेप भागिनाम्। मनु० 3/215-216.

9 एतेन वृद्धप्रपितामहप्रभृतयस्त्रयः पूर्वपुरुषाः प्रतिग्रणप्तुश्च प्रभृत्यधस्तनास्त्रयः पुरुषाः एकपिण्डभोक्तृत्वाभावात् विभक्तदायादाः सकुल्याः इत्याचक्षते। दाय०। 11/1/38.

10 तेषामभावे सर्वेषांसमानोदक सन्ततिः। मातृपक्षसपिण्डेन संबद्धा ये जलेन वा। विष्णु पु० 3/13/32.

जल तर्पण किया जाता है और जो वंशज जल तर्पण करते हैं, वे पूर्वज तथा वंशज परस्पर समानोदक कहलाते हैं ।[1]

दायदों (वारिसों) के वर्ग

दायभाग विधि में भी तीन वर्ग के उत्तराधिकारी हैं । किंतु मिताक्षरा से कुछ भिन्नता है । हिन्दू विधि की इस शाखा में जिस क्रम से पिंडदाताओं का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसी क्रम से उत्तराधिकारी भी मृतक की पितृ-परम्परा के वंशजों में होते हैं— सपिंड, सकुल्य और समानोदक ।

(क) **सपिंड**—दायभाग हिन्दू विधि में तीन प्रकार के सपिंड होते हैं—प्रथम, वे पूर्वज जिन्हें मृत स्वामी जीवित रहने पर पिंडदान करने के लिए आबद्ध था; द्वितीय, वे वंशज जो मृतस्वामी को उसकी मृत्युपरान्त पिंडदान करने के लिए आबद्ध हैं और तृतीय वे वंशज जो मृत स्वामी और उसके तीन पितृपरंपरा के पूर्वजों और मातृ-परंपरा के पूर्वजों को पिंडदान करने के लिए आबद्ध है ।[2] ये सभी मृत स्वामी के सपिंड नातेदार हैं ।[3]

सपिंडों के प्रथम समूह में व्यक्ति की पितृ-परंपरा के तीन पूर्वज (पिता, पितामह और प्रपितामह) और मातृ-परंपरा के तीन पूर्वज (मातामह, प्रमातामह और वृद्ध प्रमातामह आते हैं ।

सपिंडों के द्वितीय समूह में संबंधित व्यक्ति की पितृ-परंपरा तीन वंशज अर्थात् पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र और उस संबंधित व्यक्ति के दौहित्र, उसके पुत्र के दौहित्र और उसके प्रपौत्र के दौहित्र सम्मिलित हैं ।

सपिंडों के तृतीय समूह में संबंधित व्यक्ति की पितृ-परंपरा के तीन पूर्वज और मातृ-परंपरा के तीन पूर्वज और वह व्यक्ति स्वयं सम्मिलित हैं ।

सपिंडों में पूर्विकता के सिद्धांत

दायभाग में सपिंडों में पूर्विकता के निम्नलिखित सिद्धांत हैं:—

(1) सपिंडों में पूर्विकता क्रम में सर्वप्रथम वे सपिंड आते हैं जो मृतक को पिण्डदान करते हैं, अर्थात् पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र ।[4]

---

[1] तेषामभावे सर्वेषां समानोदक सन्ततिः ।
मातृपक्ष सपिण्डेन सम्बद्धा ये जलेन वा ।। विष्णु पु० 3/13/32.

[2] पित्रादिपिण्डत्रये सपिंडने भोक्तृत्वात्, पुत्रादिभिश्च त्रिभिः तत्पिण्डस्यैव दानात् यश्च जीवन् यत् पिंडदाता, स मृतः सन् सपिंडनात् तत्पिण्डभोक्ता एवंच सति मध्यस्थितिः पुरुषः सर्वेषां जीवन् पिंडदाता, स मृतः तत्पिण्डभोक्ता च परेषां जीवतां पिंडसम्प्रदानभूत आसीत्, मृतैश्च तैः सह दौहित्रादिदेय पिंड भोक्ता अतो एषामयं पिंडदाता, ये वास्य पिंडदातारः, ते अविभक्तपिंडरूपं दायमदन्तीत्यविभक्तदायादाः सपिंडाः । दाय० 11/1/38.

[3] गुरुगोविन्द **बनाम** आनन्दलाल (1870) 5 बंगाल एल आर 15 (पूर्णपीठ).

[4] युक्तं चैतत् यन्मृतधनं पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रणामेव प्रथमं भवति । ......11/1/31 पुत्राद्यर्थं तद्धनं मृतमेवोपकरोतीति न्यायप्राप्तं पुत्रादीनां स्वामित्वं श्रुतम् । दाय० 11/1/32.

(2) पूर्विकता के क्रम में द्वितीय स्थान उन सपिंडों को प्राप्त है, जो पितृ-परम्परा और मातृ-परंपरा दोनों के ही पूर्वजों को पिंडदान करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार पूर्ण रक्त-संबंधियों को अर्ध रक्त-संबंधियों (सौतेले) की अपेक्षा पूर्विकता प्रदान की जाती है। सहोदर भाई मृतक के पितृ-परंपरा के तीन पूर्वजों और मातृ-परंपरा के तीन पूर्वजों को पिंडदान करता है किंतु भिन्नोदर (सौतेले) भाई मृतक के पितृ-परंपरा के ही तीन पूर्वजों को पिंडदान करता है, उसकी माता के पूर्वजों को नहीं क्योंकि उसकी माता भिन्न होती है।[1]

(3) पूर्विकता के तृतीय क्रम में वे सपिंड आते हैं, जो मृत स्वामी के पैतृक पूर्वजों को पिंडदान करते हैं अपेक्षाकृत उन सपिंडों के जो मातृक पूर्वजों को पिंडदान करते हैं। सकुल्य इसी क्रम के सपिंड हैं। क्योंकि ये पैतृक पूर्वजों को पिंडदान करते हैं और प्रपौत्र तक के अभाव में सकुल्य को पूर्विकता प्रदान की गई है।[2] इसी आधार पर पत्नी को भी सपिंड माना जाता है और वह इसी क्रम की उत्तराधिकारी है।[3] पत्नी को पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से भिन्न सपिंडों की अपेक्षा पूर्विकता दी जाती है क्योंकि वह केवल मृत पति को पिंडदान देती है और मृत स्वामी को सीधे पिंडदान देने वाला अधिक निकट सपिंड होता है।[4]

(4) पूर्विकता के चतुर्थ क्रम में वह व्यक्ति आता है जो अधिक पूर्वजों को पिंडदान करने की अपेक्षा कम पूर्वजों को पिंडदान करता है क्योंकि उसका पिंडदान मृतक का अधिक पारलौकिक हित साधन करता है।

सकुल्य

दायभाग के अनुसार मृतक के तीन पितृ-पूर्वजों के ऊपर के तीन पितृपूर्वज और तीन पुरुष वंशजों के नीचे के तीन पुरुष वंशज उसके साथ एक पिंड भोग न करने के कारण विभक्त दायाद या सकुल्य कहे जाते हैं।[5] अन्य शब्दों में, जो समान ? कुल या कुटुंब के हों उन्हें सकुल्य कहते हैं। मिताक्षरा में सकुल्य सपिंड के अन्तर्गत ही सम्मिलित हैं। वस्तुतः सकुल्य का विभेद दायभाग विधि में ही जीमूतवाहन की सपिंड नातेदारी की विशिष्ट व्याख्या के कारण है। जीमूतवाहन के अनुसार जिस प्रकार व्यक्ति की मृत्यु

---

1 यच्च 'सर्वे ते तेन पुत्रेण (मनु० 9/182) इति पुत्रत्वस्मरणम्, तत् पिंडदाना-र्थम्, भ्रात्रभावे च धनाधिकारर्थम्। ·· ···तस्मात्भ्रातुरेव प्रथममधिकारः। तत्रापि प्रथमं सोदरस्यैव। दाय० 11/5/7,8,9.

2 इदंच सपिंडत्वम् सकुल्यवंच दायग्रहणार्थमुक्तम्। दाय० 11/1/39.

3 प्रपौत्रपर्यन्ताऽभावे तु वैधव्यात् प्रभृति व्रतादिना भर्तुः परलोकहिता चरणेन पुत्रादिभ्यो जघन्येति, तेषामभावे धनहारिणी पत्नी। दाय०। 11/1/43.

4 पत्न्या आपि नरकनिस्तारकत्वश्रुतेः धनहीनतया वा अकार्यं कुर्वंही पुण्यापुण्यफल सम-त्वेन भर्तरमपि पातयति तदर्थं तद्धनम् पूर्वस्वाम्यर्थमेव भवतीतियुक्तं पत्न्याः स्वाम्यम्। दाय० 11/1/44.

5 एतेन वृद्धप्रपितामहप्रभृतयस्त्रयाः पूर्वपुरुषाः प्रतिप्रणप्तुश्च प्रभृत्यधस्तनास्त्रयः पुरुषाः एकपिंडभोक्तृत्वाभावात् विभक्तदायादाः सकुल्याः इत्याचक्षते। दाय० 11/1/38.

होने पर वह अपने पितृपूर्वजों को दिये गये पिंडदान में सम्मिलित रहता है, उसी प्रकार वह चौथी से छठीं पीढ़ी तक के वंशजों द्वारा दिये गये पिंड लेप में भी सम्मिलित रहता है।[1]

सपिंडों के न रहने पर मृतस्वामी की संपदा सकुल्य को न्यागत होती है।[2] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दायभाग विधि के अधीन तीन प्रकार के सकुल्य नातेदार हैं[3] जो इस प्रकार हैं :—

(1) मृतक के प्रपितामह से ऊपर के तीन पीढ़ी तक के वे पूर्वज जिन्हें वह अपने जीवनकाल में पिंडलेप करने के लिए आवद्ध था। इसमें उसके चौथी पीढ़ी से छठी पीढ़ी तक के पूर्वज आते हैं।

(2) मृतक के तीन पीढ़ी से नीचे के वे वंशज जो उसकी मृत्युपरांत पिंडलेप करने के लिए आबद्ध हैं। इनमें उसके चौथी से छठीं पीढ़ी तक के पुरुष वंशज आते हैं।

(3) मृतक के चौथी पीढ़ी से छठीं पीढ़ी तक के पूर्वजों के वंशज तथा उसके पिता पितामह और प्रपितामह के चौथी पीढ़ी से छठी पीढ़ी तक के वंशज सकुल्य है।

सकुल्यों का उत्तराधिकार क्रम—सकुल्यों का पूर्विकता-क्रम सपिंडों के सदृश है। पूर्विकता-क्रम में सकुल्यों में सर्वप्रथम, जो मृतक को पिंडलेप देते हैं, वे आते हैं। तदुपरान्त जो मृतक के साथ पूर्वजों को भी पिंडलेप करते हैं, वे आते हैं। इनमें भी जो मृतक के साथ कम पूर्वजों को पिंडलेप देते हैं उन्हें पूर्विकता दी जाती है, अपेक्षाकृत उनके जो मृतक के साथ पूर्वजों को पिंडलेप देते हैं, क्योंकि मृतक के साथ कम पूर्वजों को पिंडलेप देने वाला उसे अधिक पारलौकिक-हित साधन का प्रदाता होता है।

समानोदक

समानोदक की दायभाग धारणा भी वही है, जो मिताक्षरा में है। मृतक की सातवीं पीढ़ी के पूर्वजों से लेकर तेरहवीं पीढ़ी तक के पुरुष पूर्वज और सातवीं पीढ़ी से तेरहवीं पीढ़ी तक के पुरुष वंशज समानोदक हैं। वंशज अपने से सात पीढ़ी ऊपर के पूर्वजों को मात्र जल-तर्पण करता है। समानोंदकों के अवधारण का सिद्धान्त दायभागविधि में जल-तर्पण है और इस सिद्धान्त के आधार पर निम्नलिखित पूर्वज और वंशज समानोदक हैं—

(1) जिन्हें मध्यम व्यक्ति जल-तर्पण करने के लिए आबद्ध हैं,

(2) जो उस मध्यस्थ व्यक्ति की मृत्युपरान्त उसे जलतर्पण करने के लिए आबद्ध हैं, और

(3) जिन्हें मध्यस्थ पुरुष अपने जीवन काल में जल-तर्पण करता है, और जो वंशज उसे जल-तर्पण करने के लिए आबद्ध हैं।

---

1 अशौचावधर्यन्तु पिण्डलेपभुजामपि तद्दत्तापिण्डलेपभोक्तृत्वेन सपिंडत्वम्। दाय० 11/1/41.

2 एतत्पर्यन्ताभावे तु सकुल्याः। दाय० 11/6/21.

3 सकुल्यः विभक्तपिण्डः प्रतिप्रणप्तृतः प्रभृति पुरुत्रयमध्यस्तनं वृद्धप्रपितामहादि संततिश्च। दाय० 11/6/21.

ऐसे सभी व्यक्ति मृतक या संबंधित मध्यस्थ पुरुष के समानोदक हैं। सकुल्य की भांति समानोदक भी पुरुष ही होते हैं।

समानोदकों के उत्तराधिकार क्रम का सिद्धांत—समानोदकों की पूर्विकता क्रम भी सपिंडों के सदृश है। इन पूर्विकता-क्रम में भी सर्वप्रथम वे नातेदार आते हैं, जो मृतक को ही जलतर्पण करते हैं। उनके न होने पर वे व्यक्ति आते है, जो मृतक के उन पूर्वजों को भी जलतर्पण करते हैं, जिन्हें वह जल-तर्पण करने के लिए आबद्ध था। समानोदकों में भी पूर्विकता का यही सिद्धांत लागू है कि जो मृतक के साथ कम पूर्वजों को जलतर्पण करता है उसी को अधिमान दिया जाता है अपेक्षाकृत उनके जो अधिक पूर्वजों को जलतर्पण करते हैं।

आचार्य, शिष्य और सब्रह्मचारी उत्तराधिकारी

मिताक्षरा के सदृश दायभाग विधि में भी आचार्य, शिष्य और सहपाठी (सब्रह्मचारी) को उत्तराधिकारियों में सम्मिलित किया गया है। जीमूतवाहन के अनुसार समानोदकों तक के उत्तराधिकारी न रहने पर मृतक की संपदा उसके आचार्थ को न्यागत होती है।[1] यदि आचार्य भी नहीं हो तो शिष्य उत्तराधिकारी होता है।[2] उसके भी न रहने पर जो मृतक का सब्रह्मचारी (सहपाठी शिष्य) हो, उसे उसकी संपदा न्यागत होती है।[3]

सगोत्र और सप्रवर उत्तराधिकारी

जीमूतवाहन ने उत्तराधिकारियों की अनुसूची में सगोत्र और सप्रवर नातेदारों को भी सम्मिलित किया है।[4] उन्होंने इन नातेदारों को गौतम के वचन के आधार पर उत्तराधिकारी माना है।[5] दायभाग के पिंडदान या उपकारत्व (आध्यात्मिक लाभ) के सिद्धान्त और मिताक्षरा के रक्तांश के सिद्धांत दोनों में ही सगोत्र और सप्रवर को मान्यता प्राप्त है।

राजगामित्व

उपर्युक्त सभी उत्तराधिकारियों के अभाव में ब्राह्मण की संपदा के अतिरिक्त अन्य वर्णों के मृत स्वामियों की संपदा राज्यगामी होती है।[6] अन्य शब्दों में, राजा मृतक की संपदा अधिग्रहण करता है। दायभाग अथवा मिताक्षरा की यह व्यवस्था मनु के वचनों पर आधृत है।[7]

पुनरेकीकृत कुटुंब के सदस्य की संपदा का उत्तराधिकार क्रम

दायभागविधि के अधीन सभी सहदायिकों का अंश परिनिश्चित होने से पुनरेकीकरण

---

1 तेषामभावे आचार्यः। दा० 11/6/24.

2 तस्याप्यभावे शिष्य, आचार्यःशिष्य एव वेति मनुवचनात्। दाय० 11/6/24 वही।

3 तदभावे सब्रह्मचरी शिष्यः। सब्रह्मचारिण इति निर्देशात्। यही दाय० 11/6/24.

4 तदभावे चैकगोत्राएतदभावे चैकप्रवराः। दाय० 11/6/25.

5 पिंडगोत्रर्षिसंबंधा रिक्थं भजेरन्निति (गौ० ध० सृ० 28/19) गौतमवचनात्। वही।

6 ब्राह्मणधनवर्जः राजा गृह्णीयात्। दाय० 11/6/34.

7 अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राजा नित्यमिति स्थितिः।
इतरेषान्तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप :॥ मनु० 9/189.

का प्रभाव कुटुंब की प्रास्थिति पर कम पड़ता है। पुनरेकीकृत कुटुंब के सदस्य की संपदा का न्यागमन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अविभक्त कुटुंब के सदस्य का। किंतु जब एकही कोटि के वारिस होते हैं, तब उस वारिस को पूर्विकता प्रदान की जाती है, जो पुनरेकीकृत होता है। इस आधार पर किसी पुनरेकीकृत भाई को उस भाई की अपेक्षा पूर्विकता दी जाएगी जो पुनरेकीकृत नहीं हुआ है और विभक्त है। इस सिद्धांत का विस्तार पुत्रों तक है। यदि कुटुंब के विभाजन के पश्चात् उसका पुनरेकीकरण हो, और कोई पुत्र पिता के साथ पुनरेकीकृत न होकर पृथक् बना रहे तो उस पुत्र या उन पुत्रों को विरासत में पूर्विकता या अधिमान्यता दी जायगी जो पिता के साथ पुनरेकीकृत हो गये हैं।[1]

मिताक्षरा और दायभाग विरासत विधि में अन्तर

हिन्दू विधि की मिताक्षरा और दायभाग शाखाओं की विरासत विधियों में निम्नलिखित अन्तर है :—

(1) मिताक्षरा शाखा में दायादों को सपिंड, समानोदक और बन्धु में विभक्त किया गया है, जब कि दायभाग विधि में सपिंड, सकुल्य और समानोदक में। दायभाग विधि के सकुल्य मिताक्षरा विधि में सपिंड के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। दायभाग विधि के सकुल्य पांचवीं से सातवीं पीढ़ी तक के सपिंड हैं। इस विधि में उत्तराधिकार के प्रयोजन के लिए सपिंड नातेदारी मात्र चार पीढ़ी तक ही मानी जाती है, जबकि मिताक्षरा में सपिंड नातेदारी सात पीढ़ी तक होती है। समानोदक मिताक्षरा और दायभाग दोनों ही विधियों में आठवीं से चौदहवीं पीढ़ी तक के गोत्रज नातेदार हैं। मिताक्षरा के कुछ (आत्म) बन्धु दायभाग विधि में सपिंड नातेदारों के अन्तर्गत सम्मिलित हैं, किंतु कुछ बंधुओं को सम्मिलित नहीं किया गया है। पृथक् कोटि के उत्तराधिकारी के रूप में बन्धुओं का कोई उल्लेख दायभाग विधि में नहीं है।

(2) मिताक्षरा विधि में गोत्रज सपिंडों के रहते हुए कोई बन्धु या सांपार्श्विक विरासत का हकदार नहीं है किन्तु दायभाग विधि के अधीन सांपार्श्विक भी गोत्रजों के साथ सम्मिलित हैं और इस प्रकार वे सकुल्यों तथा समानोदकों की अपेक्षा अधिमानी वारिस हैं।

(3) मिताक्षरा विधि में सांपार्श्विकों की संख्या अधिक है जब कि दायभाग विधि में इनकी संख्या सीमित है। दायभाग विधि के सभी सांपार्श्विक मिताक्षरा विधि के सांपार्श्विक हैं। किन्तु मिताक्षरा विधि के अनेक सांपार्श्विक दायभाग विधि में वारिस नहीं माने गये हैं। दायभाग विधि में पारलौकिक उपकारत्व के सिद्धांत के आधार पर गणना होने के कारण अनेक सांपार्श्विक वारिस नहीं रह गये।

(4) मिताक्षरा और दायभाग विधियों का प्रमुख अन्त 'पिंड' की धारणा है। मिताक्षरा विधि में 'पिंड' शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है जिससे इसका अर्थ रक्तांश है, जबकि दायभाग विधि में इसकी आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है, जिससे इस शब्द का अर्थ पार्वण श्राद्ध में पितरों को दिया जाने वाला पिंड है। इससे मिताक्षरा विधि में सपिंड

---

[1] अक्षय कुमार बनाम हरिदास, आई० एल० आर० (1908) 35 कलकत्ता 72.

नातेदारी की गणना का आधार पूर्वज या मृतक की समरक्तता अथवा रक्त-समीप्य है और दायभाग विधि में सपिंड नातेदारी की गणना का आधार मृतक को पिंडदान करने का अधिकार है और नातेदार का पिंडदान मृतक को अधिक पारलौकिक उपकार प्रदान कर सकता है, उसे विरासत में पूर्विकता या अधिमान्यता दी जाती है।

(5) मिताक्षरा शाखा की विरासत विधि में उत्तरजीविता का सिद्धांत, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र पर्यन्त वारिसों में लागू होता है जबकि दायभाग शाखा की विरासत विधि में इनके वारिसों में भी उत्तराधिकार का ही सिद्धांत लागू है। फिर भी दायभाग विधि में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र को मृत-स्वामी की संपदा का प्रथम कोटि का उत्तराधिकारी माना गया है।

(6) मिताक्षराविधि में दो या अधिक वारिस संयुक्त अभिधारी के रूप में दाय प्राप्त करते हैं जबकि दायभाग विधि में सामान्य अभिधारी के रूप में। मिताक्षराविधि में सहदायिक वारिसों का अंशमृतक की संपदा में परिनिश्चित नहीं होता जब कि दायभाग विधि में इन वारिसों का भी अंश मृतक की संपदा में परिनिश्चित होता है।

विरासत के लिए निर्योग्यताएं

प्राचीन हिंदू विधि में जन्मांध, मूक, बधियर, कुष्ठरोगी, मूर्ख, उन्मत्त, नपुंसक, पतित, जातिच्युत और संन्यासी आदि को दाय के लिए निर्रहित माना गया है[1] मिताक्षरा[2] और दायभाग[3] शाखाओं में भी ऐसे व्यक्ति विरासत के लिए निर्रहित हैं। किंतु इनमें से अधिकांश को वर्तमान काल में विरासत का हकदार मान लिया गया है। प्राचीन हिंदू विरासत विधि के अधीन जिन्हें निर्रहित माना गया है, उनका पृथक्-पृथक् विवेचन नीचे किया जा रहा है—

(1) **असतीत्व**—हिंदू विधि की मिताक्षरा शाखा के अधीन विधवा पत्नी उत्तराधिकार खुलने के समय यदि असती है तो उसे अपने मृत पति की संपदा के विरासत का हक नहीं है।[4] किंतु एक बार मृत पति की संपदा विधवा पत्नी में निहित हो जाने के पश्चात् यदि वह असती हो जाए तो संपदा निर्निहित नहीं होगी।[5] किंतु स्त्रीधन के स्त्री वारिसों को असतीत्व के आधार पर निर्योग्य नहीं माना जाता।[6] दायभाग विधि के अनुसार भी विधवा, पुत्री और माता यदि असती हैं तो उन्हें विरासत के लिए निर्योग्य माना गया

1 क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पंगुरुन्मत्तको जडः। अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्त्तव्याः स्युः निरंशकाः॥ याज्ञ० 2/140.

2 एते क्लीबाद्योऽनंशाः रिक्थभाजो न भवन्ति। याज्ञ० 2/140 की मिता० टीका।

3 तथा अपपात्रितस्य रिक्थपिण्डोदकानि निवर्तन्ते। दाय० 5/3. अपात्र की सूची दायभाग के अध्याय 5 में वही है, जो मिताक्षरा की है।

4 डालसिंह बनाम दीनी, आई० एल० आर० (1910) 32 इलाहाबाद 155.

5 जड़नागबाई बनाम जड़गंगाबाई, ए० आई० आर० 1958 आन्ध्रप्रदेश 19.

6 अंगम्माल बनाम वेंकट, आई० एल० आर० (1903) 26 मद्रास 509; नगेन्द्र बनाम विनय आई०, एल० आर० (1903) 30 कलकत्ता 521.

है ।[1] किंतु असम उच्च न्यायालय[2] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि दायभाग विधि में भी सतीत्व की शर्त केवल विधवा के मामले में ही लागू है न कि अन्य स्त्री वारिसों के मामलों में ।

(2) **धर्म सपरिवर्तन और जाति च्युति**—प्राचीन हिंदू विधि में धर्म संपरिवर्तित और जातिच्तुत व्यतियों को विरासत का हक प्राप्त नहीं है । इन निर्योग्यताओं को जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम, 1850 के उपबंधों द्वारा समाप्त कर दिया गया है ।

(3) **विधवा द्वारा पुर्नविवाह**—यदि विधवा पति की मृत्यु के उपरान्त पुर्नविवाह कर लेती है, तो उसे अपने पति की संपदा की विरासत का हक नहीं रह जाता ।

(4) **शारीरिक और मानसिक निर्योग्यताएं**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हिंदू विधि में जन्म से अन्धे, बधिर, गूंगे, पंगु, विकलांग या नपुंसक, उन्मत्त और उग्र कुष्ठ रोगग्रस्त व्यक्ति विरासत के हकदार नहीं होते । किंतु इनमें अधिकांश निर्योग्यताओं को हिंदू विरासत (निर्योग्यता निवारण) अधिनियम, 1928 द्वारा समाप्त कर दिया गया है । 20 सितम्बर 1928 से अर्थात् इस अधिनियम के लागू होने के दिन से उन्मत्त और जड़ व्यक्ति ही विरासत से निर्रहित हैं ।

(5) **हत्या**—हत्यारे को वर्तमान विधिक सिद्धांत के आधार पर उस व्यक्ति की संपदा को विरासत में प्राप्त करने से निर्रहित कर दिया गया है, जिसकी वह हत्या करता है । विरासत के हक का दावा हत्यारे के माध्यम से भी नहीं किया जा सकता । हत्यारे के माध्यम से दावा करने वाले वारिस को हत्या किये गये व्यक्ति का उत्तराधिकार खुलने पर अस्तित्वविहीन माना जायगा और उसे नये वंश का पूर्वज भी नहीं माना जा सकेगा, जिसके द्वारा नई वंशावली का निर्माण हो ।[3]

(6) **जारत्व**—हिंदू विधि में द्विजातियों में जारज अपत्यों को विरासत का हक प्राप्त नहीं है किंतु शूद्रों में जारज पुत्र को विरासत का हक है । द्विजातियों में स्त्रीधन के के विरासत का हक जारज पुत्रों को है ।

निर्योग्यता का प्रभाव

हिंदू विधि के अधीन निर्योग्य वारिस को अस्तित्वविहीन माना जाता है और संपदा अन्य निकट वारिस को न्यागत होती है ।[4] निर्योग्यवारिस के माध्यम से अगले वारिस को भी विरासत का हक प्राप्त नहीं होगा ।[5]

---

1 अपपात्रितः-भिन्नोदकी कृतः । दाय० 5/3. रामनाथ **बनाम** दुर्गा, आई० एल० आर० (1879) 4 कलकत्ता 550 (माता का मामला) सुन्दरी **बनाम** पीताम्बरी, आई० एल० आर० (1905) 5 कलकत्ता 871 (पुत्री का मामला)

2 चारुप्रिय **बनाम** रमाकान्ता, ए० आई० आर० 1964 असम 106.

3 केंचवा **बनाम** गिरिमाल्लप्पा, ए० आई० आर० 1925 पी० सी० 209; माताबदल **बनाम** विजयबहादुर, ए० आई० आर० 1956 इलाहाबाद 707.

4 बोधनारायण **बनाम** उमराव, (1870) 13 एम० आई० ए० 520.

5 बुध कुंअरि **बनाम** सहोदराकुंअरि, ए० आई० आर० 1931 पटना 367.

अध्याय 4

उत्तराधिकार विधि

(हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 क अनुसार)

उत्तराधिकार विधि का परिचय

विगत अध्याय में प्राचीन विरासत विधि का विवेचन करने के उपरांत इस अध्याय में हिंदूओं की उत्तराधिकार-विधि की विवेचना की जाएगी जिसे हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 द्वारा संशोधित तथा संहिताबद्ध किया गया है। यह विधि हिंदुओं पर 17 जून 1956 से लागू है और इसका विस्तार इस अधिनियम की धारा 1 की उपधारा (2) के अनुसार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय सम्पूर्ण भारत पर है। तात्पर्य यह है कि जम्मू-कश्मीर राज्य के हिंदुओं को प्राचीन हिंदू विरासत (दाय) विधि लागू है। अतएव हिंदू विधि में प्राचीन विरासत विधि और संहिताबद्ध उत्तराधिकार विधि दोनों का महत्त्व है।

उत्तराधिकार के प्रकार

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार उत्तराधिकार दो प्रमुख शीर्षकों में विभक्त है, प्रथम, निर्वसीयती उत्तराधिकार और द्वितीय, वसीयती उत्तराधिकार।

(क) **निर्वसीयती उत्तराधिकार**—किसी मृत व्यक्ति की संपदा का ऐसा न्यागमन, जिसके विषय में उस व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में ऐसा वसीयती व्ययन न किया हो, जो प्रभावशील होने के योग्य हो, निर्वसीयती उत्तराधिकार है।

निर्वसीयती उत्तराधिकार को समझने के लिए निर्वसीयत को जानना आवश्यक है। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 3 की उपधारा (1) के खण्ड (छ) में निर्वसीयत की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

"कोई व्यक्ति चाहे पुरुष हो या नारी जिसने किसी संपत्ति के बारे से ऐसा वसीयती व्ययन न किया हो, जो प्रभावशील होने के योग्य हो, वह संपत्ति के विषय में निर्वसीयत मरा समझा जाता है।"

जब कोई व्यक्ति निर्वसीयत मरता है तब उसकी संपदा का न्यागमन निर्वसीयती उत्तराधिकार के द्वारा उसके वारिसों को होता है। वारिस पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकती है।

(ख) **वसीयती उत्तराधिकार**—किसी मृत व्यक्ति की संपदा का वह न्यागमन, जिसके विषय में उस व्यक्ति ने ऐसा वसीयती व्ययन किया हो जो प्रभावशील होने योग्य हो, वसीयती उत्तराधिकार होता है।

इस अध्याय में मात्र निर्वसीयती न्यागमन के विषय में ही विवेचन किया जायगा। वसीयती व्ययन के विषय में हिंदू विल विधि के अन्तर्गत विस्तृत विवेचना की जायगी। किंतु यहां यह उल्लेख कर देना उचित है कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अध्याय 3 के अधीन वसीयती उत्तराधिकार को उत्तराधिकार का एक प्रकार माना गया है। इस अधिनियम की धारा 30 के उपबन्धों के अनुसार वसीयती उत्तराधिकार वह उत्तराधिकार है, जिसके अधीन कोई हिन्दू अपनी संपत्ति के विषय में विल या अन्य वसीयती व्ययन द्वारा उत्तरा- धिकारी या वारिस नियुक्त या नामित कर सकता है।

वसीयती उत्तराधिकार विरासत विधि के सामान्य नियमों के अनुसार न होकर संपदा के स्वामी की इच्छाओं के अनुरूप होता है। वसीयती उत्तराधिकार विरासत विधि का एक अपवाद है, जिसे विधि जगत् में उसी प्रकार से मान्यता प्राप्त है, जिस प्रकार से निर्व-सीयती उत्तराधिकार को। किंतु हिंदू विधि में वसीयती उत्तराधिकार का प्रवेश मुख्यतया ब्रिटिश विधिक प्रणाली के लागू होने से हुआ है। इस अधिनियम की धारा 30 के माध्यम से वसीयती उत्तराधिकार को हिंदू विधि में सुदृढ़ बनाया गया है। फलस्वरूप, वसीयती उत्तराधिकार हिंदू उत्तराधिकार विधि का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार हो गया है जिसके अधीन कोई हिंदू अपनी सम्पत्ति का वारिस नाम निर्दिष्ट कर सकता है जिसे उसकी संपदा उसकी मृत्युपरांत न्यागत हो।

मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति में के हित का न्यागमन

इस अधिनियम की धारा 6 में सहदायिकी संपत्ति में के हित के न्यागमन की चर्चा हुई है। किंतु इस धारा में केवल मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति के ही न्यागमन की चर्चा की गई है। दायभाग सहदायिकी संपत्ति में के हित के न्यागमन की नहीं। इस धारा में यह अधिकथित है कि जब कोई हिंदू पुरुष अपनी मृत्यु के समय मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति में हित रखते हुए इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् मरे, तब उस संपत्ति में उसका हित सहदायिकी के उत्तरजीवी सदस्यों पर उत्तरजीविता के आधार पर न्यागत होगा, इस अधिनियम के अनुसार नहीं। किंतु इस धारा के परन्तुक द्वारा सहदायिकी संपत्ति के न्यागमन की सामान्य उत्तरजीविता को शिथिल करके स्त्री संबंधिनियों और उनके माध्यम से दावा करने वाले पुरुषों को भी उत्तरजीवियों के साथ सम्मिलित कर लिया गया है। इस धारा के परंतुक का पाठ इस प्रकार है—"परन्तु यदि मृतक अनुसूची (1) में विनिर्दिष्ट किसी नारी संबंधिनी को या उस वर्ग में विनिर्दिष्ट ऐसे किसी पुरुष संबंधी को, जो ऐसी संबंधिनी के माध्यम से दावा करता हो, अपना उत्तरजीवी छोड़े तो मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति में मृतक का हित इस अधिनियम के अधीन, यथास्थिति, वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा, उत्तरजीविता द्वारा नहीं।" इस परन्तुक से यह स्पष्ट है कि उत्तरजीवी सहदायिकों के साथ अनुसूची (1) में विनिर्दिष्ट किसी नारी संबंधिनी या उसके माध्यम से दावा करने वाले उस पुरुष संबंधी को जो अनुसूची के वर्ग (1) में विनिर्दिष्ट हो मृतक के उत्तरजीवियों के साथ उत्तराधिकार का हक प्राप्त हो गया है। विशुद्ध उत्तरजीविता के सिद्धांत द्वारा उसी हिंदू पुरुष की सहदायिकी संपत्ति का हित न्यागत होगा जिसका अनुसची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट कोई नारी संबंधिनी या उस वर्ग

में विनिर्दिष्ट ऐसा कोई पुरुष संबंधी जो ऐसी नारी संबंधिनी के माध्यम से दावा कर सकता हो, वारिस न हो।

धारा 6 के स्पष्टीकरण (1) के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस धारा के प्रयोजनों के लिए हिंदू मिताक्षरा सहदायिक का हित संपत्ति में का वह हित समझा जायगा जो उसे बांट में मिलता यदि उसकी अपनी मृत्यु से अव्यवहित पूर्व संपत्ति का विभाजन किया गया होता, इस बात पर विचार किये बिना कि वह विभाजन का दावा करने का हकदार था या नहीं। इस स्पष्टीकरण के द्वारा मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति में मृतक सहदायिक के हित की परिभाषा की गई है और यह स्पष्ट किया गया है कि उसका अंश सहदायिकी संपत्ति में वही होगा जो उसे उसकी मृत्यु से पूर्व हुए विभाजन में प्राप्त हुआ होता यदि विभाजन किया गया होता। इस स्पष्टीकरण द्वारा एक विधिविहित कल्पना सहदायिकी संपत्ति में के मृतक के अंश के अवधारण के मामले में सम्मिलित की गई है। इस विधिक कल्पना का उद्देश्य मात्र मृतक के अंश को उसकी मृत्यु के दिन सहदायिकी संपत्ति में का अवधारित करने का है, जिससे कि उसके उन वारिसों को भी उसकी संपदा में अंश मिल सके जो उत्तरजीविता द्वारा अंश प्राप्त करने के हकदार नहीं हैं और जिन्हें अनुसूची के वर्ग 1 में उत्तराधिकारी के रूप में विनिर्दिष्ट किया गया है। यद्यपि परन्तुक में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिन मामलों में मृतक अपने पीछे कोई नारी संबंधिनी या उसी वर्ग में, जिस वर्ग की वह नारी संबंधिनी थी, विनिर्दिष्ट ऐसे किसी पुरुष संबंधी को छोड़ जाता है, जो ऐसी संबंधिनी के माध्यम से दावा करता हो तो मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति में उसका हित उत्तरजीविता द्वारा न्यागत न होकर निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा। परन्तुक और स्पष्टीकरण (1) की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि उत्तराजीविता द्वारा न्यागमन में उत्तराधिकार खुलता ही नहीं है और संपदा स्वामी की मृत्यु होते ही उत्तरजीवियों में निहित हो जाती है। विभाजन की विधिविहित कल्पना की आवश्यकता भी इसीलिए पड़ी जिससे कि नारी संबंधिनी या उसके माध्यम से दावा करने वाले पुरुष संबंधी का हक, जो उसे इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन मिला है, विफल न हो सके। विभाजन की विधिक कल्पना कर लेने से उत्तरजीविता का आधार ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि पृथक् हुए सहदायिक के सहदायिकी संपत्ति में के उसके अंश पर उत्तरजीविता का सिद्धांत उन उत्तरजीवियों पर लागू नहीं होता जो पृथक्करण से पूर्व सहदायिक थे। इतना ही नहीं, इससे उसका अंश भी अवधारित हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् उसका यह अंश घट नहीं सकता। किंतु स्पष्टीकरण (1) की विभाजन की विधिक कल्पना मिताक्षरा सदायिकी कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति को प्रभावित नहीं करती। कुटुंब पूर्ववत् संयुक्त बना रहता है। इस विधिक कल्पना का विस्तार कुटुंब की संयुक्त प्रास्थति को विच्छिन करने के लिए नहीं किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय ने यह अधिकथित किया है कि किसी विधिक कल्पना का विस्तार उसके निश्चित प्रयोजन से परे या अधिक नहीं किया जा सकता।[1]

किंतु एक नये निर्णय में उच्चतम न्यायालय[2] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि

[1] बंगाल इम्यूनिटी कम्पनी लि० बनाम बिहार राज्य, (1955) 2 एस० सी० आर० 603.

[2] गुरुपाद बनाम हीराबाई, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1239.

'मिताक्षरा सहदायिक का हित संपत्ति में का वह अंश समझा जाएगा जो उसे बांट में मिलता का अर्थ यह मानना चाहिए कि मृत सहदायिक और अन्य सहदायिकों के बीच मृत्यु से पूर्व वस्तुतः विभाजन हो चुका था। वस्तुतः विभाजन के परिणाम जो होते वे सभी व्यवहार में होंगे अर्थात् उत्तराधिकारियों का अंश इस आधार पर परिनिश्चित किया जाना चाहिए कि वे मृतक सहदायिक के जीवन काल में एक दूसरे से पृथक् हो गये थे तथा उन्हें विभाजन में अंश प्राप्त हो गया था। उत्तराधिकारियों को मृत सहदायिक के हित में से मिलने वाला अंश विभाजन में प्राप्त होने वाले अंश के अतिरिक्त होगा।''

उच्चतम न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय में अभिव्यक्त विचार का यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि ऐसे मामलों में प्रत्येक दशा में कुटुम्ब की संयुक्त प्रास्थिति विच्छिन्न हो जाएगी। वास्तविक स्थिति यह है कि उच्चतम न्यायालय ने गुरुपाद[1] के मामले में उस व्यावहारिकता की चर्चा की है, जिसको व्यवहृत किये बिना धारा 6 के स्पष्टीकरण (1) के अनुसार उन उत्तराधिकारियों का अंश परिनिश्चित नहीं किया जा सकता जो सहदायिकों से भिन्न हैं। अंश परिकलन का यही व्यावहारिक ढंग है। इस परिकलन से सभी सहदायिकों का अंश परिनिश्चित हो जाता है जिससे सहदायिकी के मिताक्षरा-सिद्धांत के अधीन सहदायिकी समाप्त हो सकती है किंतु इसे इस रूप में लिया जाना चाहिए कि मृतसहदायिक पृथक् हो गया था और अन्य सहदायिक पूर्ववत सहदायिकी के सदस्य बने हुए हैं। इसका दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि एक बार सभी सहदायिकों का अंश परिनिश्चित हो जाने के पश्चात् जो सहदायिकी अस्तित्व में आती है, उसकी प्रकृति दायभाग सहदायिकी के सदृश होती है। इस प्रकार हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के प्रवृत्त होने से हिंदू विधि की मिताक्षरा शाखा में दायभाग शाखा के अनुरूप सहदायिकी का क्रमशः विकास होगा। विधि की धारणा के परिवर्तन से कौटुंबिक धारणा में भी परिवर्तन अवश्यंभावी है और तदनुरूप सहदायिकी की धारणा भी प्रभावित होगी किंतु सहदायिकी अस्तित्व में बनी रहेगी। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 6, उसका परंतुक और उसके स्पष्टीकरण का आशय सहदायिकी को समाप्त करना नहीं है। किंतु इनके प्रवर्तन से सहदायिकी की उपर्युक्त नई धारणा का उदय अवश्य होता है। हिंदू विधि में सहदायिकी की वर्तमान विधिक परिवेश में क्या स्थिति है इसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि विधिक कल्पना की प्रकृति को भी समझा जाय। कोई विधिक कल्पना वास्तविक प्रास्थिति को परिवर्तित नहीं कर सकती; न ही इससे तथ्य के प्रश्न का अभिनिर्धारण होता है। इससे तो बस किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने में सहायता भर मिलती है। मृतक की संपदा में स्त्री उत्तराधिकारी या उसके माध्यम से दावा करने वाले उसी के वर्ग के पुरुष उत्तराधिकारी के अंश का अवधारण करने के लिए इस प्रकार की विधिक कल्पना आवश्यक है क्योंकि वह भिन्न कुटुंब का सदस्य होता है और मृतक की संपदा में से उसका अंश आवंटित कर देने से उसके कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि ऐसा वारिस विभाजन की मांग द्वारा अपना अंश पृथक् कराना चाहे, और उसके बाद में उसके साथ सभी सहदायिकों का अंश परिनिश्चित कर दिया जाए, तो इससे कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति विच्छिन्न हो जाती है और यदि सहदायिक पूर्ववत् संयुक्त बने रहें तो इससे कुटुंब की प्रास्थिति पुनरेकीकृत कुटुंब की होगी। पुनरेकीकरण की धारणा मिताक्षरा और दायभाग

---

1 ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1239.

दोनों ही शाखाओं में होने के कारण पुनरेकीकृत सहदायिकी की उपधारणा करने में धारा 6 का स्पष्टीकरण (1) बाधक नहीं होगा। किंतु ऐसे मामले में पुनरेकीकृत सहदायिकी की उपधारणा परिस्थितियों पर निर्भर होगी। यदि कौटुंबिक व्यवस्था द्वारा स्त्री वारिस य उसके माध्यम से दावा करने वाले उसी वर्ग के पुरुष उत्तराधिकारी का अंश आबंटित करके पृथक् कर दिया जाए तो कुटुंब पूर्ववत् संयुक्त बना रहेगा और उसे पुनरेकीकृत नहीं माना जाएगा और यही स्थिति उस समय भी होगी जब उपर्युक्त वारिसों के बाद में उत्तरजीवी सहदायिक लिखित कथन में यह इच्छा व्यक्त करें कि यथास्थिति केवल वादी या वादीगण का अंश कौटुंबिक संपत्ति में से आबंटित करके पृथक् कर दिया जाय और शेष सहदायिकों का अंश पूर्ववत् रहने दिया जाय।

दायभाग सहदायिकी संपत्ति में के हित का न्यागमन

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों में दायभाग सहदायिकी संपत्ति में के हित के न्यागमन की कोई चर्चा नहीं है। इसका कारण यह है कि हिंदू विधि की दायभाग शाखा में किसी सहदायिक की संपदा की विरासत में प्राप्ति उत्तरजीविता द्वारा न होकर उत्तराधिकार द्वारा होती है। इस अधिनियम के उपबंधों में उत्तराधिकार के ही साधारण नियमों की चर्चा होने से दायभाग विधि की सहदायिकी की विनिर्दिष्टतः चर्चा करने का कोई औचित्य नहीं रहा। दायभाग सहदायिकी में प्रत्येक सहदायिक का अंश परिनिश्चित होने से इस अधिनियम की धारा 6 के परंतुक और स्पष्टीकरण (1) के उपबंध महत्वहीन हैं और मृत सहदायिक की सहदायिकी संपत्ति में के हित का न्यागमन धारा 8 के उपबंधों के अनुसार होगा न कि धारा 6 के अनुसार।

तरवाड़ तावषि कुटुंब, कवरू या इल्लम् की संपत्ति में के हित का न्यागमन

भारत के दक्षिणी-पश्चिमी तटवर्ती प्राचीन केरल में, जिसमें मलाबार, भूतपूर्व तिरुवांकुर-कोचीन राज्य और दक्षिणी कनारा के जिले सम्मिलित हैं, मातृवंशी कुटुंब पद्धति प्रचलित है। मातृवंशी कुटुंब पद्धति नायर और थित्या जातियों में विशेषतया पायी जाती है। इस कुटुंब पद्धति की दो प्रमुख विशेषताएं हैं — (1) कुटुंब और वंश परंपरा का आधार नारी होती है। विवाहोपरांत पत्नी पतिगृह में न जाकर पितृ-गृह में ही रहती है। फलस्वरूप, कुटुंब का मूल पूर्वज नारी होती है। (2) पिता की संपदा का उत्तराधिकारी पुत्र न होकर भांजा होता है। ऐसा इसलिए है कि वंश परंपरा बहिन से ही चलती है। इस विशिष्ट विरासत विधि को मरुमक्त्तायम् कहते हैं, जिसका अर्थ है, मरुपक्कल् अर्थात् भांजे का ताय (दाय)। दक्षिण कनाड़ा के कन्नड़ प्रांत में इस विरासत को आलियसंतान कहते हैं जिसका अर्थ भी पूर्वोक्त ही है। प्राचीन रूढ़ि के अनुसार तरवाड़, तावषि कुटुंब, कवरू या इल्लम् में संपत्ति का न्यागमन उक्त मरुमक्त्तायम् विधि से होता है।[1]

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 7 के उपबंधों के अनुसार मरुमक्त्तायम् और नंबूदिरी विधियां समाप्त हो गई हैं। धारा 7 की उपधारा (1) का पाठ इस प्रकार है—"जब कोई हिंदू जिसे यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो मरुमक्त्तायम् या नंबूदिरी विधि लागू होती, इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् अपनी

---

[1] अच्युतन् नायर बनाम आम्मा, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 411.

मृत्यु के समय, यथास्थिति तरवाड़, तावषि या इल्लम् की संपत्ति में हित रखते हुए मरे तब संपत्ति में उसका हित इस अधिनियम के अधीन, यथास्थिति, वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा, मरुमक्कत्तायम् या नम्बूदिरी विधि के अनुसार नहीं।" जो स्वामी मृत्यु के पूर्व कोई विल कर गया हो, उसकी संपदा विल में नियुक्त वारिस की होगी और जिसने कोई विल नहीं किया, उसकी संपदा मृत्यु के पश्चात् इस अधिनियम की धारा 8 के उपबंधों के अनुसार पुरुष की संपत्ति न्यागत होगी और धारा 15 के उपबंधों के अनुसार नारी की संपत्ति इसमें उल्लिखित उत्तराधिकारियों को धारा 16 में दिए गए नियमों के अनुसार न्यागत होगी। फलस्वरूप, मृतक सदस्य के वारिस अन्य सदस्यों के साथ तरवाड़ की रचना नहीं कर सकते और न ही उनकी प्रास्थिति नए तरवाड़ की होगी। तरवाड़ के उत्तरजीवी सदस्य और मृतक के वारिस कौटुंबिक संपत्ति में अपने-अपने हितों को, जब तक विभाजन नहीं होता, सामान्यिक अभिधारी के रूप में धारण करेंगे न कि संयुक्त अभिधारी के रूप में।

प्राचीन रूढ़ि या प्रथा के अनुसार तरवाड़ की संपत्ति अविभाज्य थी और उसका प्रबंधक कारणवन् (कर्त्ता) करता था। कारणवन् (कर्त्ता) का पूर्ण अधिकार तरवाड़ संपत्ति पर होता था। अपने इस अधिकार के अधीन वह संपत्ति का विक्रय कर सकता था तथा उसे बंधक भी रख सकता था।[1] उसके इस अधिकार को मद्रास मरुमक्कत्तायम् अधिनियम, 1932 द्वारा नियंत्रित कर दिया गया और इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार उसे तरवाड़ संपत्ति का विक्रय करने या उसे बन्धक रखने के लिए लिखित बहुमत प्राप्त करना अनिवार्य था। किंतु हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 7 के उपबंधों द्वारा कारणवन् (कर्त्ता) का यह अधिकार भी समाप्त हो गया।

धारा 7 की उपधारा (1) के स्पष्टीकरण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए तरवाड़, तावषि या इल्लम् की संपत्ति में हिंदू का हित, यथास्थिति तरवाड़, तावषि या इल्लम् की संपत्ति में वह अंश समझा जाएगा जो उसे मिलता यदि उसकी अपनी मृत्यु के अव्यवहित पूर्व, यथास्थिति, तरवाड़, तावषि या इल्लम् के उस समय जीवित सब सदस्यों में उस संपत्ति का विभाजन व्यक्तिवार हुआ होता, चाहे वह अपने को लागू मरुमक्कत्तायम् या नम्बूदिरी विधि के अधीन ऐसे विभाजन का दावा करने का हकदार था या नहीं बस ऐसा अंश उसे बांट में आत्यन्तिकतः दिया गया समझ लिया जाएगा। यह स्पष्टीकरण धारा 6 के स्पष्टीकरण 1 के सदृश है। इस स्पष्टीकरण में वाक्यांश "चाहे वह अपने को लागू मरुमक्कत्तायम् या नंबूदिरी विधि के अधीन ऐसे विभाजन का दावा करने का हकदार था या नहीं" उन मरुमक्कत्तायम् और नंबूदिरी विधियों की ओर संकेत करता है, जिनमें रूढ़ि के अनुसार कौटुंबिक संपत्ति के विभाजन का हक नहीं होता पर कौटुंबिक संपत्ति के मदों को कुटुंब के सदस्यों द्वारा पारस्परिक करार करके उपभोग किया जा सकता है। इस अधिनियम के लागू हो जाने से मृत स्वामी या सदस्य का अंश कौटुंबिक संपत्ति में विभक्त होकर आत्यंतिक रूप से उसे दे दिया गया समझा जाएगा। यदि इस स्पष्टीकरण की विरचना न हुई होती तो धारा 7 की उपधारा (1) का अर्थान्वयन मृतक की पृथक् रूप से उपभोगी जा रही कौटुंबिक संपत्ति के लिए

1 अच्युतन् नायर बनाम अम्मा, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 411.

किया जा सकता था, जो विभाजन का हक न होने के कारण संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति का ही अंश मानी जाती रही। स्पष्टीकरण का वाक्यांश "ऐसा अंश उसे बांट में आत्यंतिकत: दे दिया गया समझा जाएगा" का आशय भी यही है कि विभाजन की विधिक कल्पना द्वारा परिनिश्चित मृत स्वामी के अंश पर आत्यंतिक रूप से उसका स्वामित्व या अधिकार मृत्यु के पूर्व ही प्राप्त हो गया था। इस उपबंध के फलस्वरूप तरवाड़, तावषि या इल्लम् के सदस्य मृत स्वामी के सांपत्तिक अंश के हकदार उत्तरजीविता द्वारा नहीं हो सकते। मृतक की संपदा यथास्थिति धारा 8 या धारा 15 और 16 के उपबंधों के अनुसार उनमें विनिर्दिष्ट उसके वारिसों की होगी।

दक्षिण की मरुमक्कत्तायम् और नंबूदिरी विधियों को धारा 7 की उपधारा (1) के उपबंधों द्वारा निरसित करने अथवा विरासत के मामले में प्रभावहीन करने के उपरांत उपधारा (2) के उपबंधों द्वारा इसी क्षेत्र की अलियसंतान विधि को निरसित या विरासत के मामले में प्रभावहीन किया गया है। उपधारा (2) में यह अभिकथित है कि जब कि कोई हिंदू, जिसे यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता, तो अलियसंतान विधि लागू होती, इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् अपनी मृत्यु के समय, यथास्थिति, कुटुंब या कवरु की संपत्ति में अविभक्त हित रखते हुए मरे तब संपत्ति में उसका अपना हित इस अधिनियम के अधीन, यथास्थिति, वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा, अलियसंतान विधि के अनुसार नहीं। धारा 7 की उपधारा (2) भी उपधारा (1) के ही सदृश है यदि कोई हिंदू कुटुंब या कवरु का सदस्य है और अपनी कौटुंबिक संपत्ति में अविभक्त हित रखता है तो उसकी मृत्यु के पश्चात् इस अधिनियम के पारित और प्रारंभ हो जाने के कारण उसकी संपदा या उसके हित अलियसंतान विधि से न्यागत न होकर यथास्थिति, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 या धारा 15 और 16 के उपबंधों के अनुसार न्यागत होंगे।

अलियसंतान विधि —अलियसंतान का अर्थ भी बहिन का पुत्र या भांजा होता है। दक्षिण कनाड़ा के कन्नड़ क्षेत्र में जो विधि या रूढ़ि उत्तराधिकार, स्वामित्व, विभाजन और अविभक्त हित में न्यागमन के लिए लागू रही उसे अलियसंतान विधि या रूढ़ि कहते हैं। मरुमक्कत्तायम् विधि और अलियसंतान विधि की प्रकृति और विशिष्टताओं में एकरूपता है। अलियसंतान विधि के अनुसार कौटुंबिक संपत्ति पर संयुक्त स्वामित्व होता है इसका प्रबंध वृद्धतम पुरुष या वृद्धतमा स्त्री द्वारा किया जाता है जिसे यथास्थिति यजमान या यजमानी कहते हैं। रूढ़ि के अनुसार यजमान या यजमानी को कौटुंबिक संपत्ति का विक्रय करने या उसको बंधक रखने के व्यापक अधिकार हैं। कौटुंबिक संपत्ति का विभाजन संशोधित विधि के अनुसार तब तक संभव नहीं है जब तक कि सभी या अधिकांश वयस्क सदस्य इसके लिए सहमत न हों। अलियसंतान विधि के अधीन भी मिताक्षरा विधि के सदृश जन्म लेने से ही कौटुंबिक संपत्ति में अधिकार प्राप्त हो जाता है, किंतु इसमें स्त्री वंशज सांपत्तिक हक प्राप्त करते हैं और सबसे वृद्ध स्त्री ही कर्त्री हो सकती है। रूढ़ि के अनुसार कौटुंबिक संपत्ति अविभाज्य मानी जाती है और सदस्यों को, संपत्ति में स्वामित्व होते हुए भी, भरण-पोषण पाने का ही हक होता है[1]।

---

[1] सुन्दरी बनाम लक्ष्मी, ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 198 (इस निर्णय में दिए गए विवरण के आधार पर ही अलियसंतान विधि के विषय में यहां लिखा गया है।)

किंतु धारा 7 की उपधारा (2) के उपबंधों के अनुसार अब यह विशिष्ट रूढ़ि समाप्त हो गई है और इस क्षेत्र में भी सामान्य हिंदू विधि लागू हो गई है। धारा 7 की उपधारा (2) के स्पष्टीकरण के अनुसार इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए कुटुंब या कवरु की संपत्ति में हिंदू का हित, यथास्थिति कुटुंब या कवरु की संपत्ति में वह अंश समझा जाएगा जो उसे मिलता यदि उसकी अपनी मृत्यु के अव्यवहित पूर्व, यथास्थिति, कुटुंब या कवरु के उस समय जीवित सब सदस्यों में उस संपत्ति का विभाजन व्यक्तिवार हुआ होता, चाहे वह अलियसंतान विधि के अधीन ऐसे विभाजन का दावा करने का हकदार था या नहीं, तथा ऐसा अंश उसे बांट में आत्यंतिकत: दे दिया गया समझा जाएगा।

स्थानम् विधि—भारत के दक्षिण-पश्चिम तटवर्ती क्षेत्र में महाराजा के सामन्तों के कुटुंब में एक विशिष्ट प्रकार की प्रास्थिति या श्रेणी का विकास प्राचीन काल में हुआ, जिसे 'स्थानम्' कहते हैं। स्थानम् का अर्थ है, कुटुंब का स्थान या स्थिति। स्थानम् के धारक को स्थानी या स्थानमदार कहते थे। शासक अपने सामंतों और प्रमुख प्रशासकों को स्थानम् अनुदान देते थे जो प्राय: भूमि के साथ अनुदान होता था, जिससे कि वे अपने पद की गरिमा को बनाए रख सकें। राजकुमारों और सामन्तों के कुटुंबों के अतिरिक्त भी ऐसे कुटुंब थे, जो बिना किसी विशिष्ट गरिमा के 'स्थानम्' रखते थे। 'स्थानम्' की प्रसंगतियां यह थीं कि कुटुंब का ज्येष्ठ सदस्य स्थानमदार होता था जो सामान्यतया पुरुष ही होता था, किंतु ऐसे भी दृष्टांत मिलते हैं जिनमें कुटुंब का कनिष्ठतम सदस्य भी स्थानमदार हुआ है। पृथक् संपत्तियों का स्वामित्व प्रत्येक स्थानम् का होता है और स्थानमदार पद के तत्समय धारक में निहित रहता है और इस पद के उत्तराधिकारी को न्यागत होता है। स्थानमदार की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि तरवाड़ की संपत्ति में का उसका हित समाप्त हो जाता था और उसके तरवाड़ के सदस्यों का अपने क्रम में स्थानम् की संपत्ति में मात्र उत्तरभागी अधिकार रहता था। स्थानम्दार की संपदा इस अर्थ में सीमित संपदा थी कि उसे मात्र विधिक आवश्यकता पड़ने पर ही अन्यसंक्रांत करने का या बंधक रखने का अन्य सीमित स्वामियों की भांति अधिकार था; अन्यथा वह स्थानम् की संपत्तियों की आय का अपने कार्यकाल के दौरान आत्यंतिक हकदार था। उसकी स्थिति अविभाज्य संपदा के धारक के सदृश होती थी। उसके उत्तराधिकारी का स्थानम् संपत्ति में कोई हित नहीं होता था और उसका अधिकार उत्तराधिकार के अवसर से कुछ अधिक नहीं था।[1]

इस अधिनियम की धारा 7 के उपबंधों के अनुसार सभी स्थानम् क्रमश: पूर्णतया समाप्त हो जाएंगे[1] भले ही अभी धारा 17 के उपबंधों में विशेष उत्तराधिकार इनके लिए भी उपबंधित है।

मरुमक्कत्तायम् और अलियसंतान विधियों द्वारा शासित व्यक्तियों का उत्तराधिकार क्रम

हिंदू विधि की मरुमक्कत्तायम्, अलियसंतान और नंबूदिरी विधियों में उत्तरा-

1 बालकृष्ण मेनन बनाम संपदा शुल्क सहायक कलक्टर, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 2392.

धिकार की विशेष व्यवस्था है। इनकी रूढ़ियों या प्रथाओं के विषय में ब्रिटिश काल में अनेक अधिनियम भी अधिनियमित हुए थे। इन विधियों में जो विशेषतायें पायी जाती हैं, उनको ध्यान में रखते हुए हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 में इनसे शासित होने वाले व्यक्तियों के लिए विधायिका को धारा 17 में विशेष उपबंध करना पड़ा। इस धारा के अनुसार धाराओं 8,10,15 और 23 के उपबंध उन व्यक्तियों के संबंध में, जो यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो मरुमक्कत्तायम् विधि या अलियसंतान विधि द्वारा शासित होते ऐसे प्रभावशील होंगे मानो—

(i) धारा 8 के उपखंडों (ग) और (घ) के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित कर दिया गया हो, अर्थात्

(ग) तृतीयतः, यदि दोनों वर्गों में किसी का कोई वारिस न हो तो उसके संबंधियों को चाहे वे गोत्रज हों या बंधु हों;"

(ii) धारा 15 की उपधारा (1) के खंड (क) से लेकर (ङ) तक के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित कर दिया गया हो, अर्थात्—

"(क) प्रथमतः, पुत्रों और पुत्रियों को (जिसके अंतर्गत किसी पूर्वमृत पुत्र या पुत्री के अपत्य भी आते हैं) और माता को;

(ख) द्वितीयतः, पिता और पति को;

(ग) तृतीयतः, माता के वारिसों को;

(घ) चतुर्थतः, पिता के वारिसों को, तथा

(ङ) अन्ततः, पति के वारिसों को।"

(iii) धारा 15 की उपधारा (2) का खंड (क) लुप्त कर दिया गया हो;

(iv) धारा 23 लुप्त कर दी गई हो।

इस अधिनियम की धारा 6 के मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति में के किसी सहदायिक के हित के न्यागमन के समरूप उपबंध मरुमक्कत्तायम् या नंबूदिरी विधियों के अधीन तरवाड़, तावषि या इल्लम् की संपत्ति में के तरवाड़, तावषि या इल्लम् के सदस्य के हित के न्यागमन के लिए विशेष उपबंध धारा 7 की उपधारा (1) में किए गए हैं। अलियसंतान विधि के अधीन कुटुंब या कवरु की संपत्ति में के कुटुंब या कवरु के सदस्य का हित धारा 7 की उपधारा (2) के अनुसार न्यागत होगा। स्थानम् की संपत्ति में के स्थानम्दार का हित धारा 7 की उपधारा (3) के अनुसार न्यायगत होगा। किंतु मरुमक्कत्तायम्, अलियसंतान या नंबूदिरी विधियों से शासित होने वाले व्यक्तियों (पुरुष या नारी) की पृथक् या स्वार्जित संपत्ति इस अधिनियम के विभिन्न उपबंधों के अनुसार, जिनकी चर्चा धाराओं 8,10,15 और 23 में हुई है और साथ ही साथ उनमें धारा 17 के उपबंधों द्वारा की गई प्रतिस्थापना के अनुसार न्यागत होगी।

मरुमक्कत्तायम् या अलियसंतान विधि से शासित होने वाले निर्वसीयत पुरुष का उत्तराधिकार क्रम

किसी हिंदू पुरुष की संपत्ति इस अधिनियम की धारा 8 के उपबंधों के अनुसार न्यागत होती है। इस धारा में चार प्रकार के वारिसों का उल्लेख है; यथा, अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट मृतक के संबंधी, अनुसूची के वर्ग 2 में विनिर्दिष्ट मृतक के संबंधी, गोत्रज और बंधु। इनमें प्रथम दो प्रकार के वारिस मरुमक्कत्तायम् या अलियसंतान विधि से शासित होने वाले व्यक्तियों के संबंध में भी वे ही हैं, किंतु अंतिम दो प्रकार के वारिसों का पृथक्तः क्रमानुसार उल्लेख न करके उन्हें एक ही साथ धारा 8 के उपबंधों (ग) और (घ) के स्थान पर एक ही उपखंड (ग)द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया है। फलस्वरूप, उपर्युक्त विधियों से शासित होने वाले व्यक्तियों के संबंध में धारा 8 में चार उपखंडों के स्थान पर तीन उपखंड इस प्रकार होंगे :—

(क) प्रथमतः, उन वारिसों को जो अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट संबंधी हैं;

(ख) द्वितीयतः, यदि वर्ग 1 में वारिस न हो तो उन वारिसों को जो अनुसूची के वर्ग 2 में विनिर्दिष्ट संबंधी हैं,

(ग) तृतीयतः, यदि दोनों वर्गों में किसी का कोई वारिस न हो तो उसके संबंधियों को चाहे वे गोत्रज हों या बंधु हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुसूची के वर्ग 1 और 2 प्रत्येक हिंदू पुरुष के लिए समान रूप से लागू हैं चाहे वह इस अधिनियम के पारित होने से पूर्व किसी भी विधि, रूढ़ि या प्रथा द्वारा शासित होता था। मरुमक्कत्तायम् या अलियसंतान विधि से शासित होने वाले पुरुषों के संबंध में गोत्रज या बंधु में अंतर किया जाना संभव नहीं है, क्योंकि उन विधियों में मातृवंशी कुटुंब पद्धति लागू होती है जिससे एक ही व्यक्ति, गोत्रज भी हो सकता और बंधु भी। अतएव इन विधियों से शासित होने वाले हिंदू पुरुष का जो निकट रक्त संबंधी है, चाहे वह गोत्रज हो अथवा बंधु हो अनुसूची के वर्ग 1 या 2 के वारिसों के अभाव में उत्तराधिकारी होगा। धारा 10 में उपबंधित अनुसूची के वर्ग 1 में के वारिसों में संपत्ति के विषय में धारा 17 में कुछ भी अधिकथित नहीं है अतएव वितरण के मामले में धारा 10 के उपबंध अपने मूल रूप में ही इन व्यक्तियों के लिए भी लागू होंगे।

मरुमक्त्तायम् या अलियसंतान विधि से शासित होने वाली नारी का उत्तराधिकार क्रम

इस अधिनियम की धारा 15(1) के उपबंधों को धारा 17 के खंड (ii) के उपबंधों के अनुसार पूर्णतया प्रतिस्थापित कर दिया गया है। इस प्रकार धारा 15 की उपधारा (1) मरुमक्कत्तायम् तथा अलियसंतान विधियों से शासित होने वाली नारियों का उत्तराधिकार क्रम धारा 17 के खंड (ii) द्वारा प्रतिस्थापित उपधारा ही लागू होगी न कि धारा 15 की उपधारा (1) के उपबंध अपने मूल रूप में धारा 17 के खंड (iii) के उपबंधों द्वारा धारा 15 की उपधारा (2) का खंड (क) पूर्णतया लुप्त कर दिया गया है। इसी प्रकार इस धारा के खंड (iv) द्वारा धारा 23 के उपबंध इन विधियों द्वारा शासित

व्यक्तियों के मामले में लागू नहीं होंगे क्योंकि इनमें मातृक कुटुंब पद्धति प्रचलित होने से विवाहित पुत्रियां पिता के गृह में ही निवास करती हैं और उनके साथ उनके अपत्य भी। अतः इन व्यक्तियों के विषय में धारा 23 का प्रश्न ही न उठने से उनके लिए यह धारा लुप्त मानी जाएगी।

निर्वसीयती हिंदू पुरुष की संपत्ति का न्यागमन

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 के उपबंधों के अधीन निर्वसीयत मरने वाले हिंदू पुरुष की संपत्ति के न्यागमन के लिए वारिसों के चार समूह अधिकथित हैं। इनका अधिमान्यता क्रम निम्नलिखित है—

(क) प्रथमतः, उन वारिसों को, जो अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट संबंधी हैं,

(ख) द्वितीयतः, यदि वर्ग 1 में वारिस न हो तो उन वारिसों को जो अनुसूची के वर्ग 2 में विनिर्दिष्ट संबंधी हैं,

(ग) तृतीयतः यदि दोनों वर्गों में से किसी में का कोई वारिस न हो तो मृतक के गोत्रजों को, तथा

(घ) अंततः, यदि कोई गोत्रज न हो तो मृतक के बंधुओं को।

अनुसूची के वर्ग 1 में के वारिसों के बीच उत्तराधिकार क्रम : इस अधिनियम की धारा 9 के उपबंधों के अनुसार अनुसूची में विनिर्दिष्ट वारिसों में के वर्ग 1 में के वारिस एक साथ, और अन्य सब वारिसों का अपवर्जन करते हुए, अंश भागी होंगे। मृत स्वामी के अनुसूची के वर्ग 1 के प्रथमतः वारिस निम्नलिखित हैं :—

पुत्र, पुत्री, विधवा, माता, पूर्वमृत पुत्र का पुत्र, पूर्वमृत पुत्र की पुत्री, पूर्वमृत पुत्री का पुत्र, पूर्वमृत पुत्री की पुत्री, पूर्वमृत पुत्र की विधवा, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र का पुत्र पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की पुत्री, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा।

अनुसूची के वर्ग 1 के वारिस प्रथम श्रेणी के वारिस हैं, जिनमें पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र मिताक्षरा विधि के अनुसार मृतक के सहदायिक हैं[1] और दायभाग विधि के अनुसार मृतक को पार्वण विधि से पिंडदान करने वाले।[2] स्त्री वारिसों में मृतक की विधवा, पुत्र वधू और पौत्रवधू को विरासत का हक हिंदू स्त्रियों के सांपत्तिक अधिकार अधिनियम, 1937 के उपबंधों के अधीन 1937 से ही प्राप्त है। किंतु पुत्री और माता को नये वारिस के रूप में समानान्तर उत्तराधिकार के अधिकार के साथ नामित किया गया है। विधवा को भी

---

1 अयञ्च पुत्राणाम् विभागः पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-पर्यन्तः। वीमि०, व्य० अ० पृ० 587 **जी० बुद्धम् बनाम** आयकर आयुक्त, मैसूर, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1523,

2 यन्मृतधनं पुत्र-पौत्र-प्रपौत्राणामेव प्रथमं भवति। दाय० 11/1/31॥ तदेवं पुत्रादिभर्जन्मतः प्रभृति पितुः परलोकोचितमहोपकारनिष्पादनात्, मृतस्य तस्य च **पार्वणविधिना पिण्डदानात्**। दाय० 11/1/32.

इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन जो विरासत का अधिकार प्राप्त हुआ है, वह समानान्तर हक है । पुत्री को मृतक की संपदा का प्रथम श्रेणी का समानान्तर वारिस नामित कर देने से प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के द्वारा पौत्री, प्रपौत्री, दौहित्र और दौहित्री भी समानान्तर वारिस हो गए । पुत्री को समानान्तर विरासत का अधिकार मिलने से पूर्व मृत पुत्र की पुत्री, पूर्वमृत पौत्र की पुत्री, पूर्वमृत पुत्री की पुत्री और पूर्वमृत पुत्री के पुत्र को भी समानान्तर विरासत का अधिकार प्राप्त हो गया । अनुसूची वर्ग 1 के वारिसों के समूह में पुत्री को वारिस बनाना शास्त्रीय हिंदू भावनाओं के भी अनुकूल है । मनु ने पुत्री का पुत्र का औचित्य बताते हुए कहा है कि पुत्री भी पुत्र के समान है क्योंकि वे दोनों पिता की आत्मा तुल्य हैं ।[1] इसका सैद्धांतिक पक्ष अत्यधिक प्रबल है । किंतु इसका व्यावहारिक पक्ष कौटुंबिक प्रास्थिति का विभाजक है । पिता की मृत्यु होते ही पुत्री का अंश परिनिश्चित करके पृथक् करना होगा । धारा 6 के परंतुक के स्पष्टीकरण 1 के अनुसार मृतक की संपदा में से पुत्री का अंश परिनिश्चित्त करने के लिए कौटुंबिक संपत्ति का उसकी मृत्यु से अव्यवहित पूर्व विभाजन उपधारित करना होगा । धारा 10 के उपबंधों में निर्वसीयत मृतक के पुत्री-वंशजों से भिन्न स्त्री-वारिसों के अंश को परिनिश्चित करने के लिए अनेक नियम अधिकथित हैं जिनका विवेचन यथास्थान आगे किया जाएगा । अध्ययन की दृष्टि से यहां यह स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि धारा 8 की अनुसूची 1 के वारिसों में मृत स्वामी के तीन पीढ़ी के ही वंशज विनिर्दिष्ट हैं । इससे इस बात का संकेत मिलता है कि वर्ग 1 के वारिसों के अवधारण में सहदायिकी के मिताक्षरा सिद्धांत को आधार माना गया है, अन्यथा इस वर्ग के वारिसों में पुत्र, पुत्री और विधवा के अतिरिक्त अन्य सभी वारिस वर्ग 2 में दिए गए होते । मिताक्षरा सहदायिकी सिद्धांत में हीं तीन पीढ़ी नीचे तक के वंशजों को समान अंश का हक प्राप्त है और वे समानान्तर उत्तराधिकारी होते हैं । किंतु उनका यह अधिकार प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर भी आधृत है ।

अनुसूची के वर्ग 1 में के वारिसों में संपत्ति का वितरण—यद्यपि धारा 9, जहां तक अनुसूची के वर्ग 1 में के विनिर्दिष्ट वारिसों से संबंधित है, यह उपबंधित करती है कि सभी वारिस एक साथ, और अन्य सब वारिसों का अपवर्जन करते हुए, अंशभागी होंगे; तथापि इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि प्रत्येक व्यक्ति जो इस वर्ग का समानान्तर वारिस माना गया है, मृतक की संपदा में समान अंश का हकदार होगा । अंश की संगणना के लिए इस अधिनियम की धारा 10 में वितरण के मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित हैं जिनके अनुसार किसी निर्वसीयती की संपत्ति अनुसूची के वर्ग 1 में के वारिसों में निम्न लिखित नियमों के अनुसार विभाजित की जाएगी :—

नियम 1—निर्वसीयत की विधवा को, या यदि एक से अधिक विधवाएं हों तो सब विधवाओं को, मिलाकर एक अंश मिलेगा । यह नियम, यथास्थिति, विधवा या विधवाओं के अंश के परिनिश्चय की चर्चा करता है । इसके अनुसार विधवा को एक पुत्र के समान अंश मिलेगा और उसी एक अंश में से ही एक से अधिक विधवाएं होने की दशा में भी अंश पाएंगी । तात्पर्य यह है कि पुत्रों के सदृश प्रत्येक विधवा एकअंश की भागी नहीं होगी ।

[1] यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ मनु० 9/130.

नियम 2—निर्वसीयत के उत्तरजीवी पुत्रों और पुत्रियों और माता, हर एक, को एक एक अंश मिलेगा। यह नियम हिंदू विधि के उस सिद्धांत को संहिताकृत करता है, जिसके अनुसार समान कोटि का प्रत्येक रक्त-संबंधी मृतक की संपदा में एक अंश का अधिकारी होता है। किंतु इस नियम का क्रियान्वयन इस अधिनियम की धारा 19 के उपबंधों के अनुसार किया जाना है, जिसमें यह अधिकथित है कि यदि दो या अधिक वारिस निर्वसीयत की संपत्ति के एक साथ उत्तराधिकारी होते हैं, तो वे संपत्ति को निम्नलिखित प्रकार से पाएंगे :—

(क) इस अधिनियम में अभिव्यक्त तौर पर अन्यथा उपबंधित के सिवाय व्यक्तिवार, न कि शाखावार आधार पर लेंगे, और

(ख) सामान्यिक अभिधारियों की हैसियत में, न कि संयुक्त अभिधारियों की हैसियत में लेंगे।

इस धारा के खंड (क) से धारा 10 का नियम 2 स्पष्ट हो जाता है कि मृतक की संपदा का विभाजन उतनी ही संख्या में किया जाना है, जितनी संख्या समान कोटि के रक्त संबंधी उत्तराधिकारियों की है, और सभी समान कोटि के रक्त संबंधी वारिस व्यक्ति-वार आधार पर एक-एक अंश लेंगे। समान कोटि के रक्त संबंध का आधार वंशजों या पूर्वजों की पीढ़ियां होंगी। एक पीढ़ी के पुत्र या पुत्री समान कोटि के रक्त संबंधी माने जाएंगे। पीढ़ी में अंतर आते ही अंश का परिनिश्चय शाखावार होगा न कि व्यक्तिवार जिसमें प्रतिनिधित्व का सिद्धांत लागू होगा। पूर्वमृत पुत्र के पुत्रों और पुत्रियों को एक साथ उनके पिता का ही अंश प्राप्त होगा। इन्हें जो अंश मिलेगा वह शाखावार और प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के आधार पर मिलेगा न कि व्यक्तिवार आधार पर। इस धारा का नियम 3 इसी सिद्धांत को स्पष्ट करता है, जो इस प्रकार है :—

नियम 3—निर्वसीयत के हर एक पूर्वमृत पुत्र की या हर एक पूर्वमृत पुत्री की शाखा में के सब वारिसों को मिलाकर एक अंश मिलेगा।

इस नियम से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुत्रों की भांति पुत्रियां भी शाखाओं की रचना करेंगी और पूर्वमृत पुत्रों या पुत्रियों के वंशज अपनी माता का वह अंश एक साथ मिलकर प्राप्त करेंगे जो यदि वह जीवित रहती तो विभाजन में प्राप्त करती। किंतु प्रश्नगत मृत स्वामी की संपदा में अंश के वितरण का यहीं अंत नहीं होता। पूर्वमृत पुत्र या पूर्वमृत पुत्री के अंश का वितरण उसके वारिसों में भी किया जाना है, जिसके विषय में नियम 4 में चर्चा की गई है, जो इस प्रकार है :—

नियम 4—नियम 3 में विनिर्दिष्ट अंश का वितरण—(1) पूर्वमृत पुत्र की शाखा में के वारिसों के बीच ऐसे किया जाएगा कि उसकी अपनी विधवा को (या सब विधवाओं को मिलाकर) और उत्तरजीवी पुत्रों और पुत्रियों को बराबर भाग प्राप्त हों, और उसके पूर्वमृत पुत्रों की शाखाओं को वही भाग प्राप्त हो,

(2) पूर्वमृत पुत्री की शाखा में के वारिसों के बीच ऐसे किया जाएगा कि उत्तरजीवी पुत्रों और पुत्रियों को बराबर भाग प्राप्त हो।

इस धारा का नियम 4 इसी के नियम 2 की ही आंशिक पुनरावृत्ति है । इस नियम के उपबंधों में पूर्वमृत पुत्र या पुत्री के उत्तरजीवी पुत्रों और पुत्रियों के अंश के वितरण की चर्चा की गयी है और यह स्पष्ट किया गया है कि उनका पूर्वमृत पुत्र या पुत्री के भाग के बराबर भाग प्राप्त करने का हक है । इस नियम के उपबंधों में पूर्वमृत पुत्र के वारिसों में उसकी विधवा का उल्लेख नहीं है किंतु धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 के वारिसों में पूर्वमृत पुत्र की विधवा भी उसी प्रकार वारिस हैं, जिस प्रकार मूलमृत स्वामी जिसके वारिसों में उसकी संपदा का वितरण प्रश्नगत है और उसे भी एक पुत्र के बराबर अंश वितरण द्वारा मिलेगा ।

उपर्युक्त चारों नियमों में पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र के वारिसों में वितरण की चर्चा नहीं हुई है । किंतु यदि ऐसा प्रश्न उठता है तो उनमें अंश का वितरण नियम 3 और 4 के अनुसार होगा । धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 के वारिसों में पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र अर्थात् पूर्वमृत पौत्र के भी वारिस मृत स्वामी की संपदा में अंश प्राप्त करने के अधिकारी हैं और उनके भी वारिसों में पुत्र, पुत्री और माता उत्तराधिकारी हैं । ये तीनों वारिस धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 के अंतिम वारिस हैं और मृतक की चौथी पीढ़ी के हैं अर्थात् उसकी तृतीय पीढ़ी के वंशज हैं अथवा यथास्थिति तृतीय पीढ़ी के पुरुष वंशज की विधवा है ।

धारा 10 के उपबंधों में मृत स्वामी की संपदा के वितरण के जिन नियमों की चर्चा हुई है, वे उसी प्रकार हैं जिस प्रकार मिताक्षरा विधि के अधीन एक सहदायिक की मृत्यु होने पर उसके तीन पीढ़ी के पुरुष वंशज सहदायिकी विधि के अनुसार उसकी संपदा में हकदार होते हैं । वितरण का यही नियम मिताक्षरा विधि में भी है । अंतर इतना ही है कि मिताक्षरा विधि में पुत्री या विधवा को समानान्तर विरासत का हक नहीं है ।

अनुसूची के वर्ग 2 में के वारिसों के बीच उत्तराधिकार क्रम : इस अधिनियम की धारा के उपबंधों के अधीन वर्ग 1 में कोई वारिस न होने की दशा में अनुसुची के वर्ग 2 में विनिर्दिष्ट संबंधी वारिस होंगे । वर्ग 2 के वारिस नव(9) प्रविष्टियों में विभक्त है, जो इस प्रकार है—

(1) पिता

(2) (i) पुत्र की पुत्री का पुत्र, (ii) पुत्र की पुत्री की पुत्री, (iii) भाई (iv) बहिन ।

(3) (i) पुत्री के पुत्र का पुत्र, (ii) पुत्री के पुत्र की पुत्री, (iii) पुत्री की पुत्री का पुत्र, (iv) पुत्री की पुत्री की पुत्री ।

(4) (i) भाई का पुत्र, (ii) बहिन का पुत्र, (iii) भाई की पुत्री (iv) बहिन की पुत्री ।

(5) पिता का पिता, पिता की माता ।

(6) पिता की विधवा, भाई की विधवा ।

(7) पिता का भाई, पिता की बहिन।

(8) माता का पिता, माता की माता।

(9) माता का भाई, माता की बहिन।

इस अधिनियम की धारा 9 के उपबंधों के अनुसार वर्ग 2 में के वारिसों के बीच उत्तराधिकार का क्रम प्रविष्टियों के क्रम से होगा। पहली प्रविष्टि में के वारिसों को दूसरी प्रविष्टि में के वारिसों की अपेक्षा अधिमान प्राप्त होगा, दूसरी प्रविष्टि में के वारिसों को तीसरी प्रविष्टि में के वारिसों की अपेक्षा अधिमान प्राप्त होगा और इसी प्रकार आगे क्रम से अधिमान प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि प्रविष्टियों में अधिमान का क्रम लागू होता है और प्रत्येक प्रविष्टि के वारिस समान अंशभागी होते हैं।

अनुसूची के वर्ग 2 की प्रविष्टियों की विशेषता यह है कि मृतक के पिता को प्रथम प्रविष्टि का वारिस माना गया है। द्वितीय प्रविष्टि के प्रथम दो वारिस पुत्र के दौहित्र और दौहित्री हैं जो पुत्र के वारिस हैं और उसी के माध्यम से उत्तराधिकारी होते हैं और अन्तिम दो वारिस मृत स्वामी के भाई और बहिन हैं। इनमें भाई उस कोटि का वारिस हैं, जिसे मिताक्षरा शाखा में उत्तरजीविता का अधिकार प्राप्त था और बीच में कोई स्त्री वारिस आ जाने पर उसे उत्तरभोगी हित प्राप्त होता था। बहिन को पिता की पुत्री होने के नाते वारिस माना गया। तृतीय प्रविष्टि के सभी वारिस पुत्री के माध्यम से विरासत का हक प्राप्त करते हैं। चतुर्थ प्रविष्टि के सभी वारिस पिता के वंशज होने से उत्तराधिकारी हैं। पंचम प्रविष्टि के वारिस मृतक के पितामह और पितामही हैं जो उसकी दूसरी पीढ़ी ऊपर के पूर्वज हैं। षष्ट और सप्तम, प्रविष्टियों के वारिस पितामह के वंशज होने से या वंशजों के माध्यम से विरासत का हक प्राप्त करते हैं। अष्टम् और नवम् प्रविष्टियों के वारिस क्रमशः नाना, नानी, मामा और मौसी हैं जो मातृ-कुटुंब के सपिण्ड नातेदार होने से वारिस हैं।

अनुसूची के स्पष्टीकरण के अनुसार इस अनुसूची में भाई या बहिन के प्रति निर्देशों के अंतर्गत उस भाई या बहिन के प्रति निर्देश नहीं है, जो केवल एकोदर रक्त के हों। स्पष्टतया भाई या बहिन के प्रति निर्देशों के अंतर्गत वे भाई या बहिन भी आते हैं जो सौतेले या भिन्नोदर होते हैं।

अनुसूची के वर्ग 2 के वारिसों में संपत्ति का वितरण—इस अधिनियम की धारा 11 के उपबंधों के अनुसार अनुसूची के वर्ग 2 में की किसी एक प्रविष्टि में विनिर्दिष्ट वारिसों के बीच निर्वसीयत की संपत्ति ऐसे विभाजित की जाएगी कि उन्हें बराबर अंश मिले। किंतु प्रविष्टियों में अधिमान का क्रम लागू होने से एक प्रविष्टि में का कोई वारिस न होने की दशा में ही उसके ठीक पश्चात् की प्रविष्टि के वारिस उत्तराधिकारी होंगे और एक प्रविष्टि के सभी वारिसों का हक समानान्तर होगा जो बराबर अंश के भागी होंगे। धारा 11 केवल किसी एक प्रविष्टि में विनिर्दिष्ट वारिसों के बीच निर्वसीयत की संपत्ति में अंश वितरण की चर्चा करती है। अनुसूची के वर्ग 2 की प्रविष्टियों में अधिमान के लिए इस धारा के साथ धारा 9 के द्वितीय अंश का पाठ आवश्यक है।

गोत्रज उत्तराधिकारी

इस अधिनियम की धारा 8 (ग) के उपबंधों के अनुसार अनुसूची के वग 1 और वर्ग 2 में विनिर्दिष्ट संबंधियों में से किसी के भी न होने की दशा में मृतक की संपदा उसके गोत्रजों को न्यागत होगी।

गोत्रज की परिभाषा—इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन गोत्रज की परिभाषा जानना आवश्यक है। धारा 3 की उपधारा (1) के खंड (क) में गोत्रज की परिभाषा दी हुई है जो इस प्रकार है :—

> "एक व्यक्ति दूसरे का 'गोत्रज' कहा जाता है यदि वे दोनों केवल पुरुषों के माध्यम से रक्त या दत्तक द्वारा एक दूसरे से संबंधित हों।"

उपर्युक्त परिभाषा प्राचीन हिंदू विधि की गोत्रज की परिभाषा के सदृश है। प्राचीन हिंदू विधि में भी दत्तक को गोत्रज माना गया है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि इस अधिनियम के अधीन उत्तराधिकार के प्रयोजनों के लिए गोत्रज से वे ही रक्त-संबंधी अभिप्रेत हैं जो मृतस्वामी की पुरुष-परंपरा के पूर्वज या वंशज हैं न कि स्त्री-परंपरा के। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों में गोत्रज संबंधी विनिर्दिष्ट नहीं हैं। अतएव गोत्रज से प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार विनिर्दिष्ट संबंधी ही अभिप्रेत हैं किंतु वे संबंधी केवल पुरुष-परंपरा से मृतक से संबंधित होने चाहिए। यद्यपि गोत्रज की परिभाषा में एक दूसरे से संबंधित ऐसे व्यक्तियों को गोत्रज माना गया है जो परस्पर पुरुषों के माध्यम से रक्त या दत्तक द्वारा संबंधित हों तथापि धारा 8 (ग) के उपबंधों में गोत्रज से वे ही व्यक्ति अभिप्रेत हैं जो मृतक के गोत्रज हैं अर्थात् उत्तराधिकार के माध्यम से रक्त या दत्तक द्वारा संबंधित हैं। किंतु ऐसे अनेक गोत्रज हो सकते हैं, जो मृतक की संपदा के दावेदार हों, ऐसी दशा में वास्तविक वारिस कौन गोत्रज संबंधी होगा इसका अवधारण अधिमान के आधार पर किया जाएगा।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अधिमान के नियमों की विवेचना करने से पूर्व गोत्रज के वर्गों की विवेचना करना आवश्यक है।

गोत्रज का वर्गीकरण—गोत्रज के निम्नलिखित तीन वर्ग हैं :

(1) **वंशज गोत्रज**—ऐसे रक्त या दत्तक संबंधी जो निर्वसीयत मृतक के नीचे की पीढ़ी के पुरुष परंपरा के वे वंशज हैं जो अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट वंशजों से नीचे की पीढ़ी के हैं, अर्थात् पुत्र के पुत्र के पुत्र का पुत्र (पुत्र का प्रपौत्र) और पुत्र के पुत्र के पुत्र की पुत्री और इनके भी नीचे के वंशज।

(2) **पूर्वज गोत्रज** ऐसे रक्त या दत्तक संबंधी जो निर्वसीयत मृतक के ऊपर की पीढ़ी के पुरुष परंपरा के पूर्वज हैं और जो अनुसूची के वर्ग 2 में विनिर्दिष्ट पूर्वजों से ऊपर की पीढ़ी के हैं, अर्थात् पिता के पिता का पिता और पिता के पिता के पिता की माता और इनके भी ऊपर की पीढ़ी के पूर्वज।

(3) **सांपार्श्विक गोत्रज**—ऐसे रक्त या दत्तक संबंधी जो निर्वसीयत मृतक के ऊपर और नीचे दोनों ही प्रकार की पीढ़ियों से संबंधित होते हैं किंतु सीधी परंपरा में न

होकर पार्श्व परंपरा के होते हैं और जो अनुसूची के वर्ग 2 के विनिर्दिष्ट संबंधी नहीं हैं, अर्थात् पिता का भाई जो पिता के पिता का पुत्र है, पिता के पिता के पिता के वे वंशज जो पिता के पिता के भाई हैं और इसी प्रकार के अन्य पूर्वज या भाई या पार्श्व वंशज।

गोत्रज और सांपार्शिवक संबंधियों की विस्तृत जानकारी के लिए विरासत विधि के अध्याय में देखना चाहिए।

गोत्रजों में उत्तराधिकार क्रम

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 12 में गोत्रजों में उत्तराधिकार क्रम अवधारित करने के अधिमान नियमों की चर्चा हुई है। इस धारा में तीन नियम दिए गए हैं—जो इस प्रकार हैं :—

(1) दो वारिसों में से उसे अधिमान प्राप्त होगा जिसकी उपरली ओर की डिग्रियां अपेक्षातर कम हों या हों ही नहीं।

(2) जहां कि उपरली ओर की डिग्रियों की संख्या एक समान हो या हो ही नहीं, वहां उस वारिस को अधिमान प्राप्त होगा जिसकी निचली की ओर की डिग्रियां अपेक्षातर कम हों या हों ही नहीं।

(3) जहां कि नियम 1 या नियम 2 के अधीन कोई-सा भी वारिस दूसरे से अधिमान का हकदार न हो वहां वे दोनों साथ-साथ अंशभागी होंगे।

डिग्रियों की संगणना का नियम उत्तराधिकारी अवधारित करने के लिए अत्यावश्यक विषय है इसके अभाव में न्यायालयों के सम्मुख अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। इसे ध्यान में रखते हुए इस अधिनियम की धारा 13 में डिग्रियों अर्थात् पीढ़ियों की संगणना के तीन नियम उपबंधित हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) गोत्रजों (या बंधुओं) के बीच उत्तराधिकार क्रम के अवधारणा के प्रयोजन के लिए निर्वसीयत से यथास्थिति उपरली डिग्री या निचली डिग्री या दोनों के अनुसार वारिस के संबंध की संगणना की जाएगी।

(2) उपरली डिग्री और निचली डिग्री की संगणना निर्वसीयत को गिनते हुए की जाएगी।

(3) हर पीढ़ी एक डिग्री गठित करती है; उपरली हो चाहे निचली।

इस धारा में डिग्रियों की संगणना करने का हिंदू ढंग यथावत् रखा गया है। संगणना करने का हिंदू ढंग यह है कि चाहे उपरली डिग्री की संगणना की जाए चाहे निचली डिग्री की, संगणना का प्रारंभ संबंधित व्यक्ति से अर्थात् निर्वसीयत से की जाती है। हिंदू पद्धति में उत्तराधिकार के प्रयोजनार्थ संबंध मृतक से ही स्थापित किया जाता है। जिस व्यक्ति की विरासत प्रश्नगत होती है, उसे गिनते हुए वारिस के संबंध की संगणना करना उचित और युक्तियुक्त होता है। जब तक मृतक को नहीं गिना जाएगा तब तक न तो प्रत्यासत्ति का न ही पिण्डदान द्वारा उसे पारलौकिक हित लाभ का और न ही रक्त संबंध का ज्ञान हो सकता है। गोविन्दस्वामी ने संबंध को सपिण्डता या सकुल्यता जानने का

साधन माना[1] है, चाहे वह विशेष संबंध हो अथवा संबंध मात्र। बस, संबंध का तत्त्व विद्यमान होना चाहिए। वारिस में समरक्तांश की (अर्थात् जो रक्त मृतक में था, वही वारिस में भी है) विद्यमानता का पता भी निर्वसीयत मृतक से गिनने पर ही चलता है। विज्ञानेश्वर सपिण्डता की गणना करने के ढंग पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि पिता की छह सपिण्डता पुत्रादि की छह पीढ़ियां हैं और वह (पिता) स्वयं सातवां है, संतान की भेद की दृष्टि से सातवीं सपिण्डता की गणना करने का सभी क्षेत्रों में (जहां भी पीढ़ी की गणना प्रश्नगत हो) उचित ढंग है।[2] वे गणना के इस ढंग को उपरली पीढ़ी की गणना के लिए स्पष्ट करते हैं कि पिता से आरंभ करते हुए उसके पिता आदि की गणना की जानी चाहिए और सातवें पुरुष से जो संतान है, वही पितृपरम्परा में सातवीं है।[3] धारा 13 में अधिकथित नियम एक और दो विज्ञानेश्वर के गणना के ढंग के स्पष्टीकरण हैं और नियम तीन में डिग्री के अर्थ को स्पष्ट किया गया है कि डिग्री शब्द पीढ़ी का वाचक है। विज्ञानेश्वर द्वारा इस संदर्भ में प्रयुक्त 'संतान' शब्द भी पीढ़ी या डिग्री का वाचक है।[4]

बौधायन ने पीढ़ी की गणना में चाहे उपरली हो चाहे निचली धारा 13 के नियम तीन के अनुरूप ही ढंग का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—"प्रपितामह, पितामह, पिता, स्वयं (संबंधित व्यक्ति) उसके सहोदर भाई, सवर्णाजात पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र और उनके अविभक्त-दाय पुत्र-पौत्र सपिण्ड है।[5] अपनी गणना में बौधायन ने स्पष्ट रूप से संबंधित व्यक्ति और उसके भाई या भाइयों को एक पीढ़ी या डिग्री माना है, साथ ही उपरली डिग्री (पूर्वज) या निचली डिग्री (वंशज) की संगणना में संबंधित व्यक्ति को भी गिना है। बौधायन की सपिण्डता की उपर्युक्त परिभाषा से धारा 13 में अधिकथित तीनों नियम सुस्पष्ट हो जाते हैं और यह भी विदित हो जाता है कि इन नियमों का आधार शास्त्रीय हिंदू विधि है।

जहां तक गोत्रज वारिसों के अधिमान के मामले में डिग्रियों के अपेक्षातर कम होने या न होने, या डिग्रियों की संख्या एक समान होने या एक ही पीढ़ी में होने अथवा एक ही डिग्री का होने से समान अधिमान का हकदार होने संबंधी नियम धारा 12 के अधीन उपबंधित हैं। इनकी भी चर्चा विज्ञानेश्वर ने की है और उनका यह अधिकथन है कि इन मामलों में प्रत्यासत्ति ही नियामक विधि है।[6] प्रत्यासत्ति पद का अर्थ है, सामीप्य। जो

---

1 सम्बन्धविशेषज्ञाने सति सपिण्डा उच्यन्ते। सम्बन्धमात्रज्ञाने सकुल्याः।
—बौधा० ध० सू० 1/5/11/8 की गोविन्दस्वामी कृत टीका।

2 तथाच पित्रादयः षट् सपिण्डाः; पुत्रादयश्च षट्; आत्मा च सप्तमः। संतान भेदेऽपि यतः संतानभेदस्तमादाय गणयेद्यावत्सप्तम इति सर्वत्र योजनीयम्।
—याज्ञ० 1/53 की मिता० टीका।

3 एवं पितरमारभ्य तत्पित्रादिगणनायां सप्तमपुरुषसंतानवर्तिनी पितृतः सप्तमीति। वही।

4 मातृतो मातुः सन्ताने पञ्चमादूर्ध्वं; पितृतः पितुः सज्ञाने सप्तमादूर्ध्वम्।

5 अपि च प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः पौत्र प्रपौत्र-स्तत्पुत्रवर्जं तेषां च पुत्रपौत्रमविभक्तदायं सपिण्डानाचक्षते। बौ० ध० सू० 1/5/11/7.

6 धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकेत्यस्मादेव वचनादवगम्यत इति।
याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

डिग्री या पीढ़ी मृतक से जितनी ही कम होगी वह उतनी ही निकट होगी और उसी को धारा 12 के नियम 1 के अधीन अधिमान दिया जाएगा। धर्मशास्त्रीय विधि में पूर्वजों की अपेक्षा वंशजों को अधिमान दिया गया है क्योंकि मृतक के अधिक रक्तांश की विद्यमानता वंशजों में अर्थात् निचली ओर की डिग्री या पीढ़ी में होती है।[1] उपरली डिग्री के पूर्वजों में पूर्वजों के अधिक रक्तांश की विद्यमानता होती है अपेक्षाकृत मृतक के। धारा 12 के नियम 2 में इसी शास्त्रीय और वैज्ञानिक सिद्धांत को आधार मानकर अधिमान्यता निर्धारित की गई है। पारलौकिक उपकार या लाभ का सिद्धांत भी निचली ओर की पीढ़ी को अधिमान देता है क्योंकि मृतक को उसी का पिण्डदान प्राप्त होता है[2] न कि पूर्वज द्वारा दिया गया पिण्डदान। दावेदार वारिसों में समान डिग्री या पीढ़ी होने की दशा में और नियम एक (1) या दो (2) के अनुसार अधिमान का हकदार न होने की दशा में सभी वारिस साथ-साथ अर्थात् समानान्तर अंश के भागी होंगे। ये ही वे नियम और सिद्धांत हैं जिनके आधार पर गोत्रज वारिस अवधारित किया जाना है।

बंधु उत्तराधिकारी

अधिनियम की धारा 8 के चौथे और अंतिम वारिस बंधु हैं।

बंधु की परिभाषा: हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 3 (ग) में बंधु की परिभाषा इस प्रकार की गई है :—

"एक व्यक्ति दूसरे का बंधु कहा जाता है यदि वे दोनों रक्त या दत्तक द्वारा एक दूसरे से संबंधित हों, किंतु केवल पुरुषों के माध्यम से नहीं।"

बंधु की जो परिभाषा इस अधिनियम में की गई है वह भी हिंदू शास्त्रों के अनुरूप है। बंधु केवल पुरुषों के माध्यम से मृतक से संबंधित न होकर स्त्रियों के माध्यम से भी संबंधित होते हैं। किंतु गोत्रजों के सदृश बंधुओं की भी कोई सूची इस अधिनियम में नहीं दी गई है। इससे बंधुओं में वे व्यक्ति आएंगे जो मिताक्षरा द्वारा विनिर्दिष्ट है। दायभाग विधि में बंधुवारिसों की कोई चर्चा नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि इस अधिनियम में बंधु पद में मिताक्षरा द्वारा विनिर्दिष्ट संबंधी ही आते हैं जिनमें पुरुषों और स्त्रियों दोनों के ही माध्यम मे संबंधित व्यक्ति हैं। बंधु भी, चाहे वह पुरुष के माध्यम से हो या स्त्री के माध्यम से, मृतक से रक्त या दत्तक द्वारा संबंधित होना चाहिए। बंधुओं के वर्गीकरण और संबंधियों की विवेचना विरासत विधि के अध्याय में की जा चुकी है और विस्तृत जानकारी के लिए वहीं देखना चाहिए।

---

1 तत्रायं जायते स्वयम्। याज्ञ 1/56, अत्र च तत्रायं जायते स्वयमिति। उसी पर मिता०। इनमें पुत्र अपना ही रूप माना गया है। इसका विस्तार करने पर स्पष्टतः अपना रक्तांश क्रमशः निचली ओर की पीढ़ियों को उतरता है।

2 अपि धन्यः कुले जायादस्माकं मतिमान्नरः।
अकुर्वन्वित्तशाद्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति ॥ विष्णु पु० 3/14/22.
इसमें पिण्डदान प्राप्ति के लिए वंशज की कामना की गई है
पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृसन्ततिः।
सपिण्डसन्ततिर्वापि क्रियार्हो नृप जायते ॥ विष्णु० पु० 3/13/31.

बंधुओं में उत्तराधिकार क्रम

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 12 में गोत्रजों के साथ ही बंधुओं में भी उत्तराधिकार क्रम अवधारित करने के अधिमान के नियमों की चर्चा हुई है। इन नियमों को गोत्रजों के उत्तराधिकार क्रम में ही देखना चाहिए। अधिमान के लिए डिग्रियों की संगणना के नियम की भी धारा 13 में, गोत्रजों के साथ ही, बंधुओं के बीच उत्तराधिकार क्रम के प्रसंग में चर्चा हुई है और इन नियमों को भी गोत्रजों के उत्तराधिकार क्रम उपशीर्षक में देखना चाहिए। यहां उन विषयों की पुनरावृत्ति उचित नहीं है।

पूर्ण रक्त और अर्ध रक्त में अधिमान

इस अधिनियम की धारा 18[1] के उपबंधों के अनुसार पूर्ण रक्त संबंधी को अर्ध रक्त संबंधी की अपेक्षा अधिमान्यता दी जाएगी। धारा 18 का पाठ इस प्रकार है— '.निर्वसीयत से पूर्ण रक्त संबंध रखने वाले वारिसों को अर्ध रक्त संबंध रखने वाले वारिसों पर अधिमान प्राप्त होगा यदि उस संबंध की प्रकृति सब प्रकार से वही हो"। इस प्रकार के अधिमान का प्रश्न उस समय उठता है, जब एक ही डिग्री या पीढ़ी के और एक ही क्रम के वारिस मृतक की संपदा के दावेदार होते हैं किंतु उनमें से एक पूर्ण रक्त संबंध रखने वाला वारिस हो और दूसरा अर्ध रक्त संबंध रखने वाला वारिस, तब इसमें से पूर्ण रक्त संबंध रखने वाले को अधिमान्यता दी जाएगी क्योंकि उसमें मृतक का पूर्ण रक्तांश है। यह नियम उन सभी शंकाओं का निवारण कर देता है जो इस धारा के न होने पर उठते और निवारण न हो पाने की दशा में दोनों ही समानान्तर अंश के भागी हो जाते। किंतुइस धारा की विरचना से यह सुस्पष्ट हो गया कि संबंध की प्रकृति सब प्रकार से समान रहने पर पूर्ण रक्त वारिस को ही अधिमान दिया जाएगा।

हिंदू शास्त्रों में भी पूर्ण रक्त संबंध रखने वाले वारिस को अर्ध रक्त रखने वाले वारिसों पर अधिमान प्राप्त है[2] और धारा 18 उसी शास्त्रीय विधि को संहिताकृत करती है। अधिमान का यह नियम स्त्री और पुरुष दोनों ही वारिसों को समान रूप से लागू होता है। इस धारा में आए 'संबंध की प्रकृति" पदों के अर्थान्वियन पर ही अधिमान पूर्णतया निर्भर है। निर्वसीयत के भाई और बहिन एक ही संबंध की डिग्री में वारिस हैं किंतु बहिन सहोदर है और भाई सौतेला (भिन्नोदर)। इनमें संबंध की प्रकृति सब प्रकार से वही है, किंतु बहिन पूर्णरक्त वारिस है और भाई अर्ध रक्त वारिस। ऐसे मामले में बंबई उच्च न्यातालय[3] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि भाई को अधिमान प्राप्त होगा जबकि पंजाब और हरियाणा[4] उच्च न्यायालय ने पूर्ण रक्त बहिन को अधिमान दिया है।

---

[1] इस अध्याय में 'इस अधिनियम' और 'धारा' या 'उपधारा' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है वहां क्रमशः हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 और उसी की धारा, उपधारा विवक्षित है।

[2] भ्रातृष्वपि सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः; भिन्नोदराणां मात्रविप्रकर्मात्।
—याज्ञ० 2/135-136 की मिता० टीका।

[3] पुरुषोत्तम बनाम श्रीपाद, ए० आई० आर० 1976 मुंबई 375.

[4] सरोपासिंह बनाम धान कौर, ए० आई० आर० 1971 पंजाब-हरियाणा 323.

इस प्रकार न्यायिक मतों में भिन्नता है और इसे अभी उच्चतम न्यायालय द्वारा सुस्थिर किया जाना है।

हिंदू नारी का सांपत्तिक स्वामित्व

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 14 की उपधारा (1) के उपबंधों के अनुसार हिंदू नारी के कब्जे में की कोई भी संपत्ति, चाहे वह इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व या पश्चात् अर्जित की गई हो, उसके द्वारा पूर्ण स्वामी के तौर पर न कि परि-सीमित स्वामी के तौर पर धारित की जाएगी। धारा 14 की उपधारा (1) के स्पष्टी-करण के अनुसार इस उपधारा में 'संपत्ति' के अंतर्गत वह जंगम और स्थावर संपत्ति आती है जो हिंदू नारी ने विरासत द्वारा अथवा वसीयत द्वारा अथवा विभाजन में अथवा भरण-पोषण में या भरण-पोषण के बकाया के बदले में अथवा अपने विवाह के पूर्व या विवाह के समय या पश्चात्, दान द्वारा किसी व्यक्ति से, चाहे वह संबंधी हो या न हो, अथवा अपने कौशल या परिश्रम द्वारा अथवा क्रय द्वारा अथवा चिरभोग द्वारा अथवा किसी अन्य रीति से चाहे वह कैसी ही क्यों न हो अर्जित की हो और ऐसी कोई संपत्ति भी जो इस अधिनियम के प्रारंभ से अव्यवहितपूर्व स्त्रीधन के रूप में उसके द्वारा धारित थी। इस प्रकार हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के लागू होने के दिन से अर्थात् 17 जून, 1950 से हिंदू नारी द्वारा धारित संपत्तियों पर, चाहे उनके अर्जन का ढंग कोई रहा हो, उसको पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हो गया। इस अधिनियम के लागू होने तक हिंदू नारी द्वारा धारित संपत्ति पर उसके अधिकार संपत्ति की विभिन्न प्रकृतियों पर निर्भर होते थे; यथा, स्त्रीधन, सीमित संपत्ति या जीवन पर्यन्त संपदा और स्वार्जित संपत्ति आदि। इस धारा के उपबंधों द्वारा इन विभिन्नताओं को समाप्त कर दिया गया है। स्पष्टीकरण की आवश्यकता इसीलिए पड़ी कि जिससे संपत्ति आगम या धारण के स्रोतों के अनुसार नारी के अधिकारों की विभिन्नताओं को विनिर्दिष्टतः समाप्त किया जा सके और इसे न्यायिक अर्थान्वयन का विषय न रहने दिया जाय। संहिताकरण से पूर्व हिंदू नारी को कुछ संपत्तियों, यथा स्त्रीधन और स्वयं उपार्जित आदि, के सिवाय जीवित व्यक्तियों के बीच और कोई वसीयती व्ययन करने की शक्ति नहीं थी। कुछ प्रकार की संपत्तियों को वह केवल संपदा के लाभ या विधिक आवश्यकता के लिए ही व्ययनित कर सकती थी। हिंदू नारी की शक्ति पर लगी संपत्ति की व्ययन संबंधी इन परिसीमाओं को इस धारा के उपबंधों द्वारा पूर्णतया समाप्त करके उसे पुरुष के समस्तर पर ला दिया गया है। उच्चतम न्यायालय ने **एरम्मा बनाम वीरप्पा**[1] के मामले में इस धारा के विस्तार पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि 'हिंदू नारी द्वारा धारित संपत्ति, जैसा कि इस धारा में अनुध्यात है, स्पष्टतः वह संपत्ति है, जिस पर उसने किसी प्रकार का हक अर्जित किया है, चाहे वह इस अधिनियम के पूर्व का हो या पश्चात् का। धारा 14(1) के स्पष्टीकरण में विभिन्न प्रकार के संपत्ति उपार्जन के ढंग दिए गए हैं और यह संकेत दिया गया है कि यह धारा उसी संपत्ति पर लागू होती है, जिस पर हिंदू नारी ने कोई हक अर्जित किया है, चाहे वह हक परिसीमित प्रकृति का ही क्यों न हो। वाक्यांश 'पूर्ण स्वामी के तौर पर न कि परिसीमित स्वामी के तौर पर' जैसा कि उपधारा (1) के अंतिम भाग में उल्लिखित है, स्पष्टतः सुझाता है कि विधायिका

[1] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1879.

का आशय हिंदू नारी के परिसीमित स्वामित्व को पूर्ण स्वामित्व में परिवर्तित करना है।" किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे हिंदू नारी को उस संपत्ति पर भी हक प्राप्त हो जाता है जिस पर वह वस्तुतः या तथ्यतः कोई हक नहीं रखती।[1] इससे यह भी स्पष्ट है कि यह उपधारा उन्हीं संपत्तियों पर लागू होती है जिनको कोई हिंदू नारी 'सीमित संपदा' अथवा विधवा की संपदा के रूप में धारित करती थी न कि अन्यथा।[2]

धारा 14 की उपधारा (2) में उन अपवादों को उपबंधित किया गया है जिनके अधीन किसी हिंदू नारी को उपधारा (1) में अंतर्विष्ट कोई बात ऐसी किसी संपत्ति को लागू न होगी जो दान अथवा विल द्वारा या अन्य किसी लिखत के अधीन अथवा सिविल न्यायालय की डिक्री या आदेश के अधीन या पंचाट के अधीन अर्जित की गई हो यदि दान, विल या अन्य लिखत अथवा डिक्री, आदेश या पंचाट के निबंधन ऐसी संपत्ति में निर्बंधित संपदा विहित करते हों ।

उच्चतम न्यायालय ने **वाघी बावीना तुलसम्मा** बनाम **शेष रेड्डी**[3] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 14 की उपधारा (2) को उपधारा (1) के परंतुक या अपवाद के रूप में पढ़ा जाना चाहिए और इसका कार्यान्वयन उन्हीं मामलों तक सीमित रखा जाना चाहिए जिनमें संपत्ति प्रथमतः अनुदान के रूप में बिना किसी अग्रविद्यमान अधिकार के दान, विल या अन्य लिखित अथवा डिक्री, आदेश या पंचाट के अधीन अर्जित की गई हो, जो निबंधन ऐसी संपत्ति में निर्बंधित संपदा विहित करते हों। उच्चतम न्यायालय ने **बद्रीप्रसाद** बनाम **केशवदेवी**[4] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि यह प्रत्येक मामले के तथ्य पर निर्भर होगा कि मामला धारा 14 की उपधारा (1) के अधीन आता है अथवा उपधारा (2) के अधीन। उच्चतम न्यायालय[1] ने इस विचार से सहमति अभिव्यक्त की है कि इस धारा का उद्देश्य एक हिंदू स्त्री पर विधि द्वारा अधिरोपित निर्योग्यता का निवारण करना है न कि संविदा, अनुदान या डिक्री आदि में हस्तक्षेप करना जसिके द्वारा स्त्री का अधिकार निर्बंधित किया जाता है। किंतु हिंदू स्त्री यदि विभाजन में या भरण-पोषण के बदले में संपत्ति अर्जित करे तो यह अर्जन अग्रविद्यमान अधिकार के बदले में होगा और संपत्ति उपधारा (2) के विस्तार और परिधि में नहीं आएगी चाहे लिखित, डिक्री, आदेश या पंचाट, जिसके द्वारा संपत्ति आबंटित की जाती है, ऐसी संपत्ति में निर्बंधित संपदा क्यों न विहित करते हों।[3]

हिंदू नारी की संपत्ति के उत्तराधिकार के साधारण नियम

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 15 के उपबंधों में निर्वसीयत हिंदू स्त्री की संपत्ति के न्यागमन के लिए विशिष्ट उत्तराधिकार क्रम दिया गया है जो पुरुष के उत्तराधिकार क्रम से भिन्न है। धारा 15 की उपधारा (1) के अनुसार निर्वसीयत मरने वाली हिंदू नारी की संपत्ति धारा 16 में दिए गए नियमों के अनुसार निम्नलिखित को

---

1 ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1879.

2 कुत्तुरुस्वामी **बनाम** वीराब्बा, आई० एल० आर० (1959) एस० सी० 577.

3 ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1944.

4 ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1963.

न्यागत होगी—

(क) प्रथमतः, पुत्रों और पुत्रियों को (जिनके अंतर्गत किसी पूर्वमृत पुत्र या पुत्री के अपत्य भी हैं) और पति को;

(ख) द्वितीयतः, पति के वारिसों को;

(ग) तृतीयतः, माता और पिता को;

(घ) चतुर्थतः, पिता के वारिसों को;

(ङ) अंततः, माता के वारिसों को।

इस धारा की उपधारा (2) के अनुसार उपधारा (1) में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी—

(क) कोई संपत्ति जिसकी विरासत हिंदू नारी को अपने पिता या माता से प्राप्त हुई हो, मृतक के पुत्र या पुत्री के (जिसके अंतर्गत किसी पूर्वमृत पुत्र या पुत्री के अपत्य भी आते हैं) अभाव में उपधारा (1) में निर्दिष्ट अन्य वारिसों को उसमें विनिर्दिष्ट क्रम से न्यागत न होकर पिता के वारिसों को न्यागत होगी, तथा

(ख) कोई संपत्ति जो हिंदू नारी को अपने पति या अपने पति के पिता या माता से प्राप्त हुई हो, मृतक के किसी पुत्र या पुत्री के (जिसके अंतर्गत पूर्वमृत पुत्र या पुत्री के अपत्य भी आते हैं) अभाव में उपधारा (1) में निर्दिष्ट अन्य वारिसों को उसमें विनिर्दिष्ट क्रम से न्यागत न होकर पति के वारिसों को न्यागत होगी।

धारा 15 के उपबंधों में किसी हिंदू नारी द्वारा धारित संपत्ति को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथमतः, उपधारा (1) के उपबंधों के अधीन नारी की सामान्य संपत्ति आती है, जो उसे पति के कुटुंब में उत्तराधिकार में भरण-पोषण, के लिए भरण-पोषण के बकाया के बदले में, वसीयत में, विभाजन में अथवा इसी प्रकार के अन्य स्रोतों से प्राप्त हुई हो। द्वितीयतः, जो संपत्ति हिंदू नारी की अपने पिता या माता से विरासत में प्राप्त हुई है। तृतीयतः, जो संपत्ति हिंदू नारी को अपने पति से या श्वशुर (पति के पिता) से या सास (पति की माता) से प्राप्त हुई हो। इन तीनों प्रकार की संपत्तियों के उत्तराधिकार क्रम पृथक्-पृथक् हैं। प्रथम वर्ग की संपत्ति का उत्तराधिकार क्रम उपधारा (1) में दिया गया है। द्वितीय वर्ग की संपत्ति का उत्तराधिकार क्रम सिद्धांत रूप में उपधारा (2) के खंड (क) में अधिकथित है। तृतीय वर्ग की संपत्ति का उत्तराधिकार क्रम भी सिद्धांत रूप में उपधारा (2) के खंड (ख) में अधिकथित है।

उपधारा (2) के खण्ड (क) और (ख) में अंतर्विष्ट वारिसों को जानने के लिए उपधारा (1) में अंतर्विष्ट वारिसों की अनुसूची का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना पड़ेगा। उपधारा (1) (क) में विनिर्दिष्ट वारिस स्पष्ट हैं; जिनमें पुत्र, पुत्री और पति आते हैं और यदि कोई पुत्र या पुत्री पूर्वमृत हो, तो उसके अपत्य उसके द्वारा हकदार होंगे। उपधारा (1) के खंड (ग) में भी विनिर्दिष्ट वारिस स्पष्ट हैं जिनमें केवल माता और पिता आते हैं। किंतु उपधारा (1) के खंड (ख), (घ) और (ङ) में विनिर्दिष्ट वारिस अस्पष्ट हैं जिनमें क्रमशः पति के वारिस, पिता के वारिस और माता के वारिस आते हैं।

इन उपखंडों में पति, पिता और माता के वारिसों को विनिर्दिष्ट नहीं किया गया है। उपधारा (2) के खंड (क) के उपबंधों के अधीन आने वाली संपत्ति के वारिस मृतक के पुत्र या पुत्री या उनमें से किसी के या सभी के अभाव में उनके अपत्य होंगे, किंतु इनके अभाव में नारी के पिता के वारिस उसकी संपदा के उत्तराधिकारी होंगे। इसी प्रकार उपधारा (2) के खंड (ख) के उपबंधों के अधीन आने वाली संपत्ति के वारिस मृतक के पुत्र या पुत्री या उनके अपत्यों के अभाव में नारी के पति के वारिस उत्तराधिकारी होंगे। नारी के 'पिता के वारिस' और 'पति के वारिस' इस धारा में विनिर्दिष्ट न होने से न्यायालय को नारी के पिता या पति के वारिस या वारिसों को अवधारित करने के लिए धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 और 2 पर निर्भर रहना पड़ेगा क्योंकि उसी अनुसूची में किसी हिंदू मृत पुरुष के वारिस और उनके बीच अधिमान सहित उत्तराधिकार क्रम दिए गए हैं। उपधारा (1) खंड (ङ) में माता के वारिसों का अवधारण करने के लिए इसी उपधारा में दी गई हिंदू नारी के उत्तराधिकारियों की अनुसूची का अवलोकन करना पड़ेगा।

किसी हिंदू नारी के वारिसों का अवधारण करने से पूर्व न्यायालय को उसकी संपदा के वर्गों का उसके आगम के स्रोतों के अनुसार अवधारण करना पड़ेगा; तत्पश्चात् स्रोत के अनुसार वारिस अवधारित करना होगा। संपत्ति का वर्गीकरण किए बिना मृत हिंदू नारी का वारिस अवधारित नहीं किया जा सकता।

प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार भी किसी हिंदू नारी के कब्जे में की संपत्ति विभिन्न प्रकार की हो सकती है, यथा—विधवा की संपत्ति, सीमित संपदा, जीवन पर्यन्त संपदा या स्त्रीधन आदि। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के पारित होने से पूर्व किसी हिंदू नारी की संपदा के विरासत का प्रश्न उठने पर न्यायालय को सर्वप्रथम यह अवधारित करना पड़ता था कि उसके द्वारा धारित उसके कब्जे में की संपत्ति की प्रकृति क्या है। संपदा की प्रकृति स्थापित हो जाने के उपरांत ही तदनुरूप उत्तराधिकारी या उत्तराधिकारियों के अवधारण का प्रश्न उठता है। जिस प्रकार की संपदा हो, उसी कोटि के वारिस भी होते हैं। इन विषयों की विस्तृत विवेचना 'विधवा की संपदा' और 'स्त्रीधन' के अध्यायों में की गई है।

धारा 14 के उपबंधों द्वारा यद्यपि 'विधवा की संपदा' या 'सीमित संपदा' कही जाने वाली संपत्तियों का विभेद समाप्त कर दिया गया है और किसी हिंदू नारी द्वारा धारित उसके कब्जे में की संपत्ति उसकी आत्यंतिकत: अपनी संपत्ति हो गई है तथापि उत्तराधिकार के साधारण नियमों के अधीन नारी की संपत्ति की विभेदक धारणा अभी भी यथावत् बनी हुई है।

किंतु न्यायालय के सम्मुख इस अधिनियम की धारा 15 की उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन उत्तराधिकारियों के अवधारण का प्रश्न तब उठता है जब कोई हिंदू नारी अनपत्य निर्वसीयत मरती है। यदि अनपत्य होने की दशा में उसने इस अधिनियम की धारा 30 के उपबंधों के अधीन कोई वसीयत कर दी हो और वह वसीयत विधिमान्य हो तो उसके द्वारा नियुक्त वारिस ही उसकी संपदा को उत्तराधिकार में प्राप्त करेगा। अनपत्य होने की दशा में जब उसने कोई वसीयत या विल न की हो तभी उसकी संपदा के उत्तराधिकारियों के अवधारण का प्रश्न उठता है। निर्वसीयत मरने वाली हिंदू नारी का यदि पुत्र

या पुत्री, या उसके किसी पूर्वमृत पुत्र या पुत्री का अपत्य जीवित हो तो वही या वे ही वारिस होंगे क्योंकि इन्हें उपधारा (2) के खंड (क) और (ख) के उपबंधों में तथा उपधारा (1) में भी अधिमान प्राप्त है।

हिंदू नारी के वारिसों में उत्तराधिकार क्रम और अधिमान के नियम

इस अधिनियम की धारा 16 के उपबंधों के अनुसार धारा 15 में निर्दिष्ट वारिसों में उत्तराधिकार का क्रम और उन वारिसों में निर्वसीयत की संपत्ति का वितरण निम्नलिखित नियमों के अनुसार होगा :—

(1) धारा 15 की उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट वारिसों में से पहली प्रविष्टि में के वारिसों को किसी उत्तरवर्ती प्रविष्टि में के वारिसों की तुलना में अधिमान प्राप्त होगा और जो वारिस एक ही प्रविष्टि के अंतर्गत हों, वे साथ-साथ अंशभागी होंगे।

(2) यदि निर्वसीयत का कोई पुत्र या पुत्री अपना ही कोई अपत्य निर्वसीयत की मृत्यु के समय जीवित छोड़कर, निर्वसीयत से पूर्व मर जाए तो ऐसे पुत्र या पुत्री के अपत्य परस्पर वह अंश लेंगे जिसे वे लेते यदि निर्वसीयत की मृत्यु के समय ऐसे पुत्र या पुत्री जीवित होते।

(3) धारा 15 की उपधारा (1) के खंड (ख), (घ) और (ङ) में और उपधारा (2) में निर्दिष्ट वारिसों को निर्वसीयत की संपत्ति उसी क्रम में और उन्हीं नियमों के अनुसार न्यागत होगी जो लागू होते यदि संपत्ति, यथास्थिति, पिता की या पति की होती और वह व्यक्ति निर्वसीयत की मृत्यु के अव्यवहित पश्चात् उस संपत्ति के बारे में वसीयत किए बिना मर गया होता।

धारा 16 के नियम हिंदू नारी के वारिसों के बीच उत्तराधिकार क्रम और वितरण की रीति अधिकथित करते हैं, जिस प्रकार धारा 10 के उपबंधों के अधीन पुरुषों के अनुसूची के वर्ग 1 के वारिसों में संपत्ति के वितरण के नियम अधिकथित हैं। किंतु इस धारा के नियम 1 में स्पष्ट रूप से यह घोषित किया गया है कि धारा 15 की उपधारा (1) की (क) से (ङ) तक की प्रविष्टियों में जो वारिस निर्दिष्ट हैं, उनमें पूर्विक प्रविष्टि के वारिसों को उत्तरवर्ती प्रविष्टि के वारिसों की अपेक्षा अधिमान दिया जाएगा। प्रत्येक प्रविष्टि के वारिस समानान्तर उत्तराधिकार प्राप्त करेंगे और साथ-साथ अंशभागी होंगे। नियम 2 के उपबंधों के अनुसार यदि किसी पुत्र या पुत्री की मृत्यु मृतस्वामी के पूर्व ही हो गई हो और वह अपने पीछे अपने अपत्य छोड़ गया हो। तो उसके अपत्य वही अंश प्राप्त करेंगे जो उनके पिता या माता को प्राप्त होता यदि वह जीवित रहता या रहती। ऐसे मामले में शाखावार अंश वितरण होगा व्यक्तिवार नहीं। नियम 3 धारा 15 की उपधारा (1) के खंड (ख) (घ) और (ङ) का स्पष्टीकरण है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि मृतनारी की प्रश्नगत संपत्ति पति, पिता या माता के वारिसों को उसी रूप में न्यागत होगी मानो संपत्ति, यथास्थिति, पति, पिता या माता की है। इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संपत्ति उसी क्रम में और उन्हीं नियमों के अनुसार न्यागत होगी जो, यथास्थिति, पिता, पति या माता को लागू होंगे।

गर्भस्थित अपत्य का अधिकार

हिंदुओं में मिताक्षरा विधि के अधीन गर्भस्थित अपत्य के भी सांपत्तिक अधिकार होते हैं जो उसके जीवित जन्म लेने पर प्रभावी होते हैं। इस अधिकार के अंतर्गत उसे विरासत का भी अधिकार प्राप्त है। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 20 के उपबंधों द्वारा गर्भस्थित अपत्य के अधिकारों का संहिताकरण कर दिया गया है। इस धारा के अनुसार जो अपत्य निर्वसीयत की मृत्यु के समय गर्भ में स्थित था और जो तत्पश्चात् जीवित पैदा हुआ उसके निर्वसीयत की विरासत के विषय में वही अधिकार होंगे जो उसके तब होते जब वह निर्वसीयत की मृत्यु के पूर्व पैदा हुआ होता और ऐसी दशा में विरासत निर्वसीयत की मृत्यु की तारीख से उसमें निहित समझी जाएगी।

निर्वसीयत की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न अपत्य के विरासत के अधिकार इस धारा के अधीन दो तथ्यों पर निर्भर करते हैं; प्रथमतः यह कि ऐसा अपत्य उस समय गर्भ में स्थित था जब निर्वसीयत की मृत्यु हुई; द्वितीयतः यह कि ऐसा अपत्य निर्वसीयत की मृत्यु के पश्चात् जीवित जन्मा। यदि गर्भस्थित अपत्य मरा हुआ पैदा हुआ तो उसका पिता या माता की विरासत का कोई अधिकार नहीं होगा और न उसके संबंध के माध्यम से ही कोई दावेदार हो सकेगा क्योंकि वह स्वयं अधिकार-विहीन पैदा हुआ। यदि उपर्युक्त दोनों तथ्य स्थापित हों तो विरासत निर्वसीयत की मृत्यु के दिन से ही उसमें निहित समझी जाएगी। तात्पर्य यह कि यदि मृतक की संपदा उसके किसी वारिस में उसके जन्म के पूर्व निहित हो गई हो तो उसके जीवित पैदा होते ही संपदा अपत्य में निहित समझी जाएगी और अपने इस अधिकार के अधीन वह किसी वादमित्र, संरक्षक या अन्य मित्र के द्वारा संपदा को निर्निहित करने के लिए वाद संस्थित करने का अधिकारी होगा। अपत्य प्राप्तवय होने तक प्रतीक्षा भी कर सकता है और तत्पश्चात् वाद संस्थित कर सकता है। यदि जीवित जन्म लेने के पश्चात् अपत्य की मृत्यु हो जाए तो संपदा उसके वारिसों को न्यागत होगी न कि मृत स्वामी के वारिसों को क्योंकि संपदा विधि की कल्पना द्वारा उसमें निहित हुई मानी जाएगी। अपत्य के जन्म और मृत स्वामी की मृत्यु के बीच मृतक का कोई वारिस यदि उसकी संपदा को यह समझ कर विक्रय कर दे कि वह उसकी अपनी संपत्ति है तो भी क्रेता या अन्यसंक्राती का हित अपत्य के जीवित जन्म लेने से प्रभावित होगा। अपत्य का निर्निहित करने का अधिकार उन सभी संपत्तियों के विषय में होगा जो उसे धारा 6, 8, 15 और 17 के उपबंधों के अधीन विरासत में प्राप्त होती। उसका यह अधिकार किसी संपत्ति से संबद्ध न होकर स्वतंत्र अधिकार है जो किसी भी प्रकार की ऐसी संपत्ति के विषय में प्रभावी होगा जिसका वह उत्तराधिकारी हो। धारा 20 में उस गर्भस्थित अपत्य के अधिकारों की चर्चा की गई है जो मृतक के वंशज के रूप में उसकी मृत्यु के समय गर्भ में था और उसकी मृत्यु के पश्चात् जीवित जन्मा। इस धारा के 'गर्भस्थित अपत्य' पद का विस्तार मृतक के पूर्वमृत पुत्र के गर्भस्थित अपत्य या पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र के गर्भस्थित अपत्य के लिए भी किया जा सकता है क्योंकि मृतक के ये वारिस धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 के उत्तराधिकारी हैं और इस वर्ग के वारिसों के साथ-साथ अंशभागी हैं। उत्तराधिकार खुलने पर यदि गर्भ के लक्षण स्पष्ट हों तो उसके लिए एक अंश पृथक् किया जाना चाहिए। यदि गर्भ के लक्षण स्पष्ट न हों या लक्षण

स्पष्ट होने पर भी अंश वितरण के समय एक अंश उसके लिए निर्धारित न किया गया हो तो वह जीवित जन्म लेने पर, यथास्थिति, अपने पिता, पितामह या प्रपितामह की संपदा के पुर्नवितरण का वाद इस धारा के उपबंधों के अधीन संस्थित कर सकता है।

सम-सामयिक मृत्युओं के विषय में उपधारणा

उत्तराधिकारियों की पूर्विकता के क्रम की अवधारणा में उस समय समस्या उत्पन्न हो जाती है जब दो व्यक्तियों की मृत्यु ऐसी परिस्थिति में होती है कि उनकी मृत्यु के विषय में यह अनिश्चित होता है कि उनमें से कौन दूसरे का उत्तरजीवी रहा। इस जटिल विषय को सुलझाने के लिए इस अधिनियम की धारा 21 में एक सिद्धांत अधिकथित किया गया है। इस धारा के अनुसार जहां दो व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में मरे हों, जिनमें यह अनिश्चित हो कि उनमें से कोई दूसरे का उत्तरजीवी रहा या नहीं और रहा तो कौन-सा, वहां जब तक प्रतिकूल साबित न किया जाए, संपत्ति के उत्तराधिकार संबंधी सब प्रयोजनों के लिए यह उपधारणा की जाएगी कि कनिष्ठ ज्येष्ठ का उत्तरजीवी रहा। यह धारा इस समस्या का नैसर्गिक नियम के आधार पर समाधान करती है। यह स्वाभाविक ही है कि ज्येष्ठ और कनिष्ठ की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में होने पर कि उनमें कौन पहले मरा और उसका उत्तरजीवी कौन रहा यह प्रश्न संदिग्ध हो तो इसके निवारण के लिए यही सिद्धांत युक्तियुक्त होगा कि उनमें से कनिष्ठ को ज्येष्ठ का उत्तरजीवी माना जाए। इस उपधारणा के अनुसार जिस कनिष्ठ को उत्तरजीवी माना जाएगा उसी व्यक्ति का वारिस ज्येष्ठ मृतक की संपदा का उत्तराधिकारी होगा। इस कानूनी उपधारणा को साक्ष्य द्वारा प्रतिकूल साबित किया जा सकता है और साक्ष्य द्वारा यह सिद्ध हो जाने पर कि ज्येष्ठ ही कनिष्ठ के पश्चात् मरा और इस प्रकार वह कनिष्ठ का उत्तरजीवी रहा तो ज्येष्ठ के वारिस कनिष्ठ की संपदा के उत्तराधिकारी होंगे। परिणामत: दोनों की संपदाओं का उत्तराधिकार ज्येष्ठ के वारिसों को प्राप्त होगा। यह कानूनी उपधारणा निर्वसीयती और वसीयती दोनों ही प्रकार के मामलों में लागू होगी।

मैसूर उच्च न्यायालय[1] के सम्मुख एक ऐसा मामला विचार के लिए आया था, जिसमें प्रतिवादी और उसकी पोषिता पुत्री की हत्याएं की गई थीं। प्रतिवादी ने अपनी पोषिता पुत्री के पक्ष में अपनी संपदा का विल किया था। इसमें यह स्थापित नहीं हो सका कि किसकी मृत्यु प्रथम हुई। न्यायालय ने पोषिता पुत्री के वारिसों को प्रतिवादी के वारिसों की अपेक्षा अधिमान प्रदान किया जिन्होंने वसीयती उत्तराधिकार के आधार पर वारिस होने का दावा किया था।

उपर्युक्त न्यायिक निर्णय से यह भी स्पष्ट है कि धारा 21 की कानूनी उपधारणा वसीयती उत्तराधिकार के मामलों में भी लागू होती है। यह उपधारणा साक्ष्य की उपधारणा है जो प्रक्रिया विधि के अंतर्गत आती है और अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

मृतक की संपदा में के अन्य वारिस के हित को अर्जित करने का अधिमानी अधिकार

इस अधिनियम की धारा 22 की उपधारा (1) के उपबंधों के अनुसार 'जहां कि

[1] शेट्टी बनाम ज्ञानचन्द्रप्पा, ए० आई० आर० 1970 मैसूर 87.

इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् निर्वसीयत की किसी स्थावर संपत्ति में या उसके द्वारा चाहे स्वयं या दूसरों के साथ किए जाने वाले किसी कारबार में हित अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट दो या अधिक वारिसों को न्यागत हों और ऐसे वारिसों में से कोई उस संपत्ति या कारबार में अपने हित के अंतरण की प्रस्थापना करे, वहां ऐसे अंतरित किए जाने के लिए प्रस्थापित हित को अर्जित करने का अधिमानी अधिकार दूसरे वारिसों को प्राप्त होगा।'

अग्रक्रयाधिकार का अर्थ— अग्रक्रयाधिकार वह अधिकार है, जो एक सहवारिस को अन्य सहवारिस के सांपत्तिक अंश या हित को क्रय करने का किसी पर-व्यक्ति की तुलना में अधिमानी अधिकार प्रदान करता है।

धारा 22 की उपधारा (1) के उपबंधों में जिस अधिमानी अधिकार की चर्चा की गई है, वह अग्रक्रयाधिकार के ही सदृश है। प्राचीन हिंदू विधि में अग्रक्रयाधिकार जैसा कोई अधिकार नहीं था किंतु इस प्रकार के अधिकार का प्रवेश हिंदू विधि में भारत में ब्रिटिश न्याय प्रणाली के लागू होने के पश्चात् मुस्लिम विधि के 'हक शुफा' के अधिकार के विस्तार से अथवा अंगीकरण से हुआ। विधायिका ने अग्रक्रयाधिकार को हिंदू उत्तराधिकार विधि में इस धारा द्वारा उपबंधित करके संपदा को विछिन्न होने और वारिसों के हितों को क्षति-ग्रस्त होने से बचा लिया। वर्तमान समय में आवासीय भवन, व्यापारिक प्रतिष्ठान, और उद्योग धन्धे ऐसी संपदाएं हैं जिनमें पर-व्यक्तियों का प्रवेश हानिकर हो सकता है। इस उपधारा में स्पष्टतः स्थावर संपत्ति और कारबार निर्दिष्ट हैं। कारबार पद के अंतर्गत व्यापारिक प्रतिष्ठान और उद्योग-धन्धे आदि आते हैं। किंतु इस उपधारा में उपबंधित अधिमानी अधिकार धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट वारिसों तक ही परिसीमित हैं जो साथ-साथ अंशभागी होते हैं और जिन्हें उत्तराधिकार द्वारा संपत्ति न्यागत होती है। मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति, जिसमें उत्तरजीविता द्वारा न्यागमन इस अधिनियम की धारा 6 के अधीन होता है, अधिमानी क्रयाधिकार का सिद्धांत नहीं है[1] किंतु इस धारा का आशय तभी पूर्णतया प्रभावी होगा जब इसका विस्तार सभी प्रकार से न्यागमित होने वाली संपत्तियों के लिए और किसी भी प्रकार के अंतरण के मामले के लिए किया जाए। तात्पर्य यह कि इस धारा को बंधक आदि द्वारा अंतरण के मामले में भी लागू किया जाना चाहिए। इतना ही नहीं अनुसूची के वर्ग 2 के वारिसों पर भी इसका विस्तार होना चाहिए।

प्रतिफल का अवधारण—धारा 22 की उपधारा (2) में प्रतिफल के अवधारण की रीति की चर्चा की गई है जिसके अनुसार मृतक की संपत्ति में कोई हित जिस प्रतिफल के लिए इस धारा के अधीन अंतरित किया जा सकेगा, वह पक्षकारों के बीच किसी करार के अभाव में इस निमित्त किए गए आवेदन पर न्यायालय द्वारा अवधारित किया जाएगा और यदि उस हित को अर्जित करने की प्रस्थापना करने वाला कोई व्यक्ति ऐसे अवधारित प्रतिफल पर उसे अर्जित करने के लिए राजी न हो तो ऐसा व्यक्ति उस आवेदन के, या उसके आनुषंगिक, सब खर्चों को देने का दायी होगा।

इस उपधारा के अनुसार प्रतिफल की मात्रा के अवधारणार्थ पक्षकारों के बीच करार किया जा सकता है और पारस्परिक बातचीत से प्रतिफल की मात्रा अवधारित न हो

---

[1] भोलानाथ बनाम संतोषप्रकाश, ए० आई० आर० 1975 पटना 336.

पाने की दशा में इस निमित्त न्यायालय में आवेदन किया जा सकता है। यदि किसी वारिस के आवेदन पर उसके अधिमानी अधिकार के अंतर्गत न्यायालय अंतरित होने वाले हित का प्रतिफल अवधारित कर दे और यदि उस हित को अर्जित करने की प्रस्थापना करने वाला व्यक्ति ऐसे अवधारित प्रतिफल पर उसे क्रय करने के लिए सहमत न हो तो वह प्रति-पक्ष को आवेदन के खर्चे तथा अन्य आनुषंगिक खर्चे देने का दायी होगा।

अधिकतम प्रतिफल—किंतु अंतरित होने वाले हित का प्रतिफल अवधारित करते समय इस धारा की उपधारा (2) के उपबंधों के अनुसार न्यायालय को यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि यदि इस धारा के अधीन किसी हित को अर्जित करने की प्रस्थापना करने वाले अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट दो या अधिक वारिस हों तो उस वारिस को अधिमान दिया जाएगा जो अंतरण के लिए अधिकतम प्रतिफल देने की पेशकश करे। हित के अंतरण में अन्य बातों के साथ-साथ प्रतिफल की अधिकतम मात्रा को अधिमान देने का सिद्धांत विधि-विहित होने से न्यायालय के लिए बाध्यता हो गई है कि वह उसी वारिस के पक्ष में हित को अर्जित करने के अधिमानी अधिकार का आदेश पारित करे जो अंतरण के लिए अधिकतम प्रतिफल देने के लिए प्रस्ताव रखता हो जिससे कि अंतरक वारिस को आर्थिक हानि न हो।

धारा 22 के स्पष्टीकरण के अनुसार इस धारा में न्यायालय से वह न्यायालय अभिप्रेत है जिसकी अधिकारिता की सीमाओं के अंदर वह स्थावर संपत्ति आस्थित है या कारबार किया जाता है और इसके अंतर्गत ऐसा कोई अन्य न्यायालय भी आता है जिसे राज्य सरकार शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस निमित्त विनिर्दिष्ट करे।

यह उस न्यायालय की परिभाषा है, जिसमें अंतरण के लिए प्रतिफल अवधारित करने का आवेदन दिया जा सकेगा। यदि संपत्तियां या कारबार दो या उससे अधिक न्यायालयों की अधिकारिता की सीमाओं के अंदर आस्थित हों तो उनमें से किसी भी न्यायालय में प्रतिफल अवधारित करने का आवेदन दिया जा सकेगा।

निवास-गृह के बारे में विशेष उपबंध

इस अधिनियम की धारा 23 के अनुसार जहां कि निर्वसीयत हिंदू ने अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट पुरुष और नारी दोनों वारिस अपने पीछे उत्तरजीवी छोड़े हों और उसकी संपत्ति के अंतर्गत उसके अपने कुटुंब के सदस्यों के पूर्णतः अधिभोग में कोई निवास गृह हो, वहां इस अधिनियम में किसी बात के अंतर्विष्ट होते हुए भी, किसी ऐसी नारी वारिस के निवास-गृह का विभाजन कराने के दावे का अधिकार तब तक उद्भूत नहीं होगा जब तक कि पुरुष वारिस उसमें अपने-अपने अंशों का विभाजन करना पसंद न करें; किंतु नारी वारिस उसमें निवास करने की हकदार होगी :

परंतु जहां कि ऐसी नारी वारिस पुत्री हो वहां वह निवास-गृह में निवास करने के अधिकार की हकदार तभी होगी जब अविवाहिता हो या अपने पति द्वारा अभित्यक्ता हो या उससे पृथक् हो गई हो या विधवा हो।

धारा 22 के तीन आवश्यक अंग हैं —

(क) प्रथमतः, निवास-गृह के वारिस अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट पुरुष और नारी दोनों हों;

(ख) द्वितीयतः, निवास-गृह पूर्णतः मृतक हिंदू के अपने कुटुंब के सदस्यों के अधिभोग में हो,

(ग) तृतीयतः, नारी वारिस का निवास-गृह के विभाजन कराने के दावे का अधिकार तभी होगा जब पुरुष वारिस अपने-अपने अंशों का विभाजन कराएं।

इस धारा के लागू होने के लिए तीनों आवश्यक तत्व विद्यमान होने चाहिएं। यदि अनुसूची के वर्ग 1 के उत्तराधिकारियों में सभी नारी सदस्य हैं तो विभाजन का दावा किया जा सकता है। यह धारा उन मामलों में लागू नहीं होती जिनमें निवास-गृह किसी नारी निर्वसीयत स्वामी से उत्तराधिकार में पुरुष और नारी उत्तराधिकारियों द्वारा साथ-साथ धारा 15 के अधीन प्राप्त किया जाता हो और जिनमें केवल पिता और पुत्रियां हों। पिता के साथ वारिस पुत्रियों में यदि एक विवाहित हो और दूसरी अविवाहित तो विवाहिता पुत्री विभाजन का दावा कर सकती है। इस धारा का परंतुक विवाहिता पुत्री को मृतक के निवास-गृह में उसके पुरुष उत्तराधिकारियों के साथ निवास करने का भी अधिकार उसी दशा में देता है, जब वह अपने पति द्वारा अभित्यक्ता हो या उससे पृथक् हो गई हो या विधवा हो। अभित्यक्तता, पृथक्ता, और वैधव्य ऐसी दशाएं हैं जिनमें विवाहिता पुत्री को पिता का या भाई का आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़ता है और उसे अपने भाई के साथ पिता की विरासत में मिले निवास-गृह के अंश में निवास करने का अधिकार होना ही चाहिए। धारा 23 के अंतिम वाक्यांश 'किंतु नारी वारिस उसमें निवास करने के अधिकार की हकदार होगी' का तात्पर्य उन्हीं वारिसों से है जो कुटुंब की सदस्या हैं, यथाः विधवा माता या विधवा पुत्रवधू या अविवाहिता पुत्री आदि। कलकत्ता उच्च न्यायालय[1] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि नारी उत्तराधिकारी का अंतरिती भी निवास-गृह के विभाजन कराने का हकदार नहीं है, क्योंकि इस निर्बंधन का आशय नारी उत्तराधिकारी की व्यक्तिगत निर्योग्यता न होकर निवास-गृह के खंडकरण की रोकथाम है। किंतु यदि अंतरिती कुटुंब का ही कोई पुरुष हो तो वह विभाजन करा सकता है।[2] इस उच्च न्यायालय का विचार यह भी है कि यदि केवल एक पुरुष उत्तराधिकारी हो और शेष नारी उत्तराधिकारिणी हों तो तब भी उन्हें उस निवास-गृह के विभाजन की मांग करने का अधिकार नहीं है[1] किंतु दूसरी ओर उड़ीसा उच्च न्यायालय ने यह विचार अभिव्यक्त किया कि यदि एक ही पुरुष वारिस हो और शेष नारी वारिस हों तो निवास-गृह के विभाजन की मांग नारी वारिस द्वारा की जा सकती है।[3] उच्च न्यायालयों के इन परस्पर विरोधी विचारों को सुस्थिर किया जाना आवश्यक है, जिससे कि इस विषय पर संपूर्ण देश में विधिक एकरूपता हो।

इस धारा के वाक्यांश 'उसके अपने कुटुंब के सदस्यों के पूर्णतः अधिभोग में कोई

---

[1] अरुणकुमार **बनाम** ज्ञानेन्द्र, ए० आई० आर० 1975 कलकत्ता 232.

[2] **एस० के० मण्डल बनाम** ए० के० मंडल, 82 कलकत्ता डब्ल्यू० एन० 161.

[3] हेमलता **बनाम** उमाशंकरी, ए० आई० आर० 1975 उड़ीसा 208.

निवास-गृह हो' का अर्थान्वयन करते हुए गुजरात उच्च न्यायालय[1] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि जहां निवास-गृह में आंशिक रूप से कोई किराएदार रहता हो तो उसे पूर्णतः अधिभोग नहीं माना जा सकता और उस दशा में यह धारा लागू नहीं होगी और नारी उत्तराधिकारिणी द्वारा विभाजन कराया जा सकेगा।

उत्तराधिकार से संबंधित निरर्हताएं

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों में भी प्रचीन हिंदू विधि के सदृश उत्तराधिकार से संबंधित निरर्हताओं की चर्चा हुई है। किंतु जिन निरर्हताओं को इस अधिनियम में उपबंधित किया गया है, वे शारीरिक निर्योग्यताएं न होकर व्यक्ति या उत्तराधिकारियों के कृत्यों से संबंधित निरर्हताएं हैं। शारीरिक निर्योग्यताओं को निरर्हता नही माना गया है। इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार निम्नलिखित निरर्हताएं हैं :—

(क) विधवा द्वारा पुनर्विवाह,

(ख) स्वामी की हत्या का अपराध,

(ग) धर्म-संपरिवर्तन

(क) **विधवा द्वारा पुनर्विवाह**—धारा 24 के उपबंधों के अनुसार कोई वारिस जो पूर्वमृत पुत्र की विधवा, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा, या भाई की विधवा होने के नाते निर्वसीयत से संबंधित हो, यदि उत्तराधिकार खुलने की तारीख पर पुनर्विवाहिता हो, तो वह निर्वसीयत की संपत्ति में ऐसी विधवा होने के नाते उत्तराधिकार पाने की हकदार नहीं होगी। इस धारा में मात्र तीन विधवाओं-पुत्रवधू, पौत्रवधू और भ्रातृवधू का नाम लिया गया है जो उत्तराधिकार खुलने के दिन पुनर्विवाहिता होने पर निर्वसीयत की संपदा की उत्तराधिकारिणी नहीं होगी। यह आवश्यक नहीं है कि ये विधवाएं मृतक स्वामी की मृत्यु से पूर्व पुनर्विवाह कर चुकी हों और उनके नए पति भी जीवित हों। यदि इन विधवाओं में से किसी ने पुनर्विवाह किया हो और उत्तराधिकार खुलने के दिन उसका दूसरा पति भी मर चुका हो तो भी वह प्रश्नगत मृतक की अर्थात् पूर्वपति के पिता की संपदा की उत्तराधिकारिणी नहीं होगी। उसका पुनर्विवाह ही उसे निर्रहित करता है न कि द्वितीय पति की जीवितावस्था। इस धारा का विस्तार उस मामले में नहीं किया जा सकता जिसमें संपदा विरासत में प्राप्त करने के पश्चात् विवाह किया गया हो। इसका कारण यह है कि विधवा या नारी को जो उत्तराधिकार इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन प्राप्त होता है, वह उसे पूर्ण स्वामी के रूप में प्राप्त होता है। एक बार पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हो जाने पर संपदा निर्निहित नहीं होती। निर्वसीयत की विधवा उत्तराधिकार के खुलने के दिन विधवा ही रहती है क्योंकि उत्तराधिकार उसके पति की मृत्यु के क्षण ही खुल जाता है, अतः उस समय उसके पुनर्विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। निर्वसीयत की माता उसके पिता की विधवा के रूप में उत्तराधिकारिणी न होकर निर्वसीयत की माता के रूप में अपने व्यक्तिगत अधिकार के अधीन उत्तराधिकार प्राप्त करती है और उसका यह अधिकार उसके पुनर्विवाह से

[1] वनिताबेन बनाम दिवाबेन, (1979) 20 गुजरात एल० आर० 148.

प्रभावित नहीं होता ।[1]

(ख) स्वामी की हत्या का अपराध—धारा 25 के अनुसार जो व्यक्ति हत्या करता है, या हत्या करने का दुष्प्रेरण करता है । वह हत व्यक्ति की संपत्ति को या ऐसी किसी अन्य संपत्ति को, जिसमें उत्तराधिकार को अग्रसर करने के लिए उसने हत्या की थी या हत्या करने का दुष्प्रेरण किया था, विरासत में पाने से निर्रहित होगा ।

इस धारा में हत्या के दो प्रकार के अपराधी उत्तराधिकार प्राप्त करने से निर्रहित हैं– अर्थात् स्वामी का हत्यारा और स्वामी की हत्या का दुष्प्रेरक ।

हिंदू विधि में यह सिद्धांत प्रिवी कौंसिल द्वारा **केशव बनाम गिरिमालप्पा**[2] के मामले में ही अंगीकृत कर लिया गया था कि मृतक का हत्यारा उसकी संपति को विरासत में प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होगा और हत्यारा अस्तित्व-विहीन समझा जाएगा । इस अधिनियम की धारा 25 और धारा 27 उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों की अभिव्यक्ति हैं । धारा 27 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी संपत्ति को विरासत में पाने से इस अधिनियम के अधीन निर्रहित हो तो वह संपत्ति ऐसे न्यागत होगी मानो ऐसा व्यक्ति निर्वसीयत के पूर्व मर चुका हो । यह लोकनीति के विरुद्ध होगा कि किसी हत्यारे को हत व्यक्ति की संपत्ति को या उस संपत्ति को, जिसे यदि यह जीवित रहता तो विरासत में प्राप्त करता, उत्तराधिकार में प्राप्त करने का हकदार माना जाए । धारा 25 का अभिप्राय इसी प्रकार की संपत्तियों से है, यथा

(क) हत व्यक्ति की संपत्ति, या

(ख) ऐसी कोई अन्य संपत्ति जिसमें उत्तराधिकार को अग्रसर करने के लिए हत्या की गई हो ।

उपर्युक्त (ख) के वाक्यांश 'उत्तराधिकार को अग्रसर करने के लिए' का अर्थान्वयन यह किया जा सकता है कि हत व्यक्ति की हत्या कर देने से हत्यारे के उत्तराधिकार का मार्ग प्रशस्त होता हो और हत्यारा ही हत की मृत्यु के पश्चात् निकट उत्तराधिकारी हो । हत्यारे के साथ-साथ धारा 25 के उपबंधों में स्वामी की हत्या के दुष्प्रेरक को भी निर्रहित कर दिया गया है और उसे भी हत्या का अपराधी ही माना गया है । ऐसे अनेक मामले न्यायालयों के सम्मुख आते हैं, जिनमें हत्या का दुष्प्रेरक वह व्यक्ति होता है, जो हत व्यक्ति के पश्चात् का वारिस होता है । यदि ऐसे व्यक्तियों की कानूनी निरर्हता न रहे तो हत्याओं में वृद्धि होने की भी संभावना है । यह उपबंध लोक नीति के अनुकूल है । इस धारा की निरर्हता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हत्यारा या हत्या का दुष्प्रेरक न्यायालय द्वारा सिद्धदोष हो ही । यदि यह स्थापित है कि निर्रहित होने वाले व्यक्ति ने प्रश्नगत संपत्ति के स्वामी की हत्या की है अथवा हत्या करने के लिए दुष्प्रेरण किया है तो इस धारा के अधीन निरर्हता लागू होगी ।[3]

---

1 **मंथराबाई बनाम** परितनबाई, ए० आई० आर० 1972 मध्य प्रदेश 145.

2 (1924) 51 आई० ए० 368.

3 सीतारामय्या **बनाम** रामकृष्णय्या, ए० आई० आर० 197 आन्ध्र प्रदेश 407.

(ग) **धर्म-संपरिवर्तन**—धारा 26 के अनुसार जब कि कोई हिंदू इस अधिनियम के आरंभ के पूर्व या पश्चात् धर्म-संपरिवर्तन के कारण हिंदू न रह गया हो, या न रहे, वहां ऐसे संपरिवर्तन के पश्चात् पैदा हुए उसके अपत्य और उस अपत्य के वंशज अपने हिंदू संबंधियों में से किसी की संपत्ति को विरासत में प्राप्त करने से निरर्हित होंगे सिवाय जब कि ऐसे अपत्य या उस अपत्य के वंशज उस समय जबकि उत्तराधिकार खुले, हिंदू हों।

इस धारा के 'हिंदू' पद का तात्पर्य इस अधिनियम की धारा 2 के अधीन परिभाषित हिंदू से है, जिसमें बौद्ध, जैन और सिख भी आते हैं। यदि कोई व्यक्ति धर्म-संपरिवर्तन के कारण अब हिंदू न रह गया हो तो उसे धारा 2 के उपबंधों के अधीन यह अधिनियम लागू नहीं होगा। धर्म-संपरिवर्तन के पश्चात् धर्म-संपरिवर्तित व्यक्ति के जो अपत्य उत्पन्न होंगे वे अपने पिता के हिंदू संबंधियों की संपत्ति को विरासत में प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होंगे। किंतु धर्म-संपरिवर्तन से पूर्व के अपत्य को तब तक हिंदू विधि लागू होगी जब तक यह स्थापित न हो जाए कि वे भी हिंदू नहीं रह गए हैं और यदि धर्म-संपरिवर्तित व्यक्ति का अपत्य उत्तराधिकार खुलने के समय हिंदू हो तो वह अपने पिता के हिंदू संबंधियों की संपत्ति विरासत में प्राप्त करने का अधिकारी होगा। इ धारा का भूतलक्षी प्रभाव है और इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व भी यदि कोई व्यक्ति धर्म-संपरिवर्तन कर चुका हो तो तब भी उसे यह धारा लागू होगी। किसी भी हिंदू का उत्तराधिकार इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन शासित होने के कारण यह विधि सुस्थिर होती है कि अब जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम के उपबंध इस विषय पर लागू नहीं होंगे, किंतु कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि धर्म-संपरिवर्तित व्यक्ति भी अपने हिंदू संबंधी का उत्तराधिकारी हो सकता है।[1]

निरर्हित व्यक्ति की मृत्यु की उपधारणा

उत्तराधिकार के मामले में इस अधिनियम की धारा 27 के अनुसार यह उपधारणा की जाएगी कि यदि कोई व्यक्ति किसी संपत्ति को विरासत में पाने से इस अधिनियम के अधीन निरर्हित हो तो वह संपत्ति ऐसे न्यागत होगी मानो ऐसा व्यक्ति निर्वसीयती के पूर्व मर चुका हो।

इस अधिनियम की धारा 24 से धारा 26 तक के उपबंधों के अधीन जो व्यक्ति निरर्हित हैं उनके बारे में उत्तराधिकार खुलने पर यह उपधारणा की जाएगी कि वे निर्वसीयत के पूर्व ही मर चुके हैं, फलस्वरूप निरर्हित व्यक्ति के पश्चात् के वारिस उत्तराधिकारी होंगे। इतना ही नहीं, निरर्हित व्यक्ति के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति भी निर्वसीयत की संपत्ति की विरासत के हकदार नहीं हो सकते।

शारीरिक निर्योग्यताओं का निवारण

इस अधिनियम की धारा 28 में विनिर्दिष्टतः यह उपबंधित कर दिया गया है कि कोई व्यक्ति किसी संपत्ति का उत्तराधिकार पाने से किसी रोग, त्रुटि या अंग विकार के आधार पर या इस अधिनियम में यथा-उपबंधित को छोड़कर किसी भी अन्य आधार पर चाहे वह कोई क्यों न हो, निरर्हित नहीं होगा।

---

[1] अशोक नायडु **बनाम** रेमण्ड एस० मुलु, ए० आई० आर० 1976 कलकत्ता 272.

शास्त्रीय हिंदू विधि में अनेक निर्योग्यताओं का उल्लेख है जिनके कारण व्यक्ति उत्तराधिकार से वंचित रह जाता था।[1] हिंदू विरासत (निर्योग्यता निवारण) अधिनियम, 1928 के उपबंधों द्वारा अनेक निर्योग्यताओं का निवारण कर दिया गया था किंतु उस अधिनियम के अधीन भी जन्म से उन्मत्त या जड़ व्यक्ति उत्तराधिकार के निर्योग्य माने गए थे। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 28 के उपबंधों के अधीन अब सभी प्रकार की निर्योग्यताएं समाप्त कर दी गई हैं। फलस्वरूप जन्म से पागल व्यक्ति भी उत्तराधिकार प्राप्त कर सकता है।

राजगामित्व

हिंदू विधि शास्त्र में उत्तराधिकारियों के अभाव में संपत्ति के राजगामित्व का सिद्धांत प्राचीनतम काल से ही मान्य रहा है। इस सिद्धांत को हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 द्वारा संहिताकृत कर दिया गया है। इस अधिनियम की धारा 29 के अनुसार यदि निर्वसीयत ऐसा कोई वारिस पीछे न छोड़े जो उसकी संपत्ति को इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार उत्तराधिकार में पाने के लिए अर्ह हो तो ऐसी संपत्ति सरकार को न्यागत होगी और सरकार ऐसी संपत्ति को उन सब बाध्यताओं और दायित्वों के अध्यधीन लेगी जिनके अध्यधीन वारिस होता।

राजगामित्व का सिद्धांत उसी दशा में प्रभावी होता है जब विल करने की शक्ति न रहे। प्राचीन काल में धर्मशास्त्रों में इस सिद्धांत का प्रतिपादन उस दशा में हुआ था जब किसी हिंदू को विल करने की शक्ति नहीं थी अब विल करने की शक्ति पुरुष और स्त्री दोनों को धारा 30 के उपबंधों के अधीन प्राप्त है, अतः संपत्ति के राजगामी होने के अवसर क्षीण हैं। यदि किसी व्यक्ति की संपत्ति का सरकार इस धारा के अधीन वारिसों के अभाव में दावा करती है तो उसे यह स्थापित करना पड़ेगा कि संपदा के स्वामी की मृत्यु वारिसों के अभाव में हुई है।[2] उत्तराधिकार में संपत्ति को प्राप्त करने पर सरकार का भी वही दायित्व और वे ही बाध्यताएं होंगी जो एक सामान्य वारिस की होती हैं।[3] इस विषय पर धारा 29 अत्यधिक स्पष्ट है कि सरकार ऐसी संपत्ति को उन सब बाध्यताओं और दायित्वों के अध्यधीन लेगी जिनके अध्यधीन वारिस होता।

वसीयती उत्तराधिकारी

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन वसीयती उत्तराधिकारी वह उत्तराधिकारी है, जिसकी नियुक्ति मृत स्वामी अपने जीवन काल में ही विल द्वारा कर जाता है। इस अधिनियम की धारा 30 के अनुसार कोई हिंदू विल द्वारा या अन्य वसीयती व्ययन द्वारा भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 या हिंदुओं को लागू और किसी अन्य तत्समय-प्रवृत्त विधि के उपबंधों के अनुसार किसी ऐसी संपत्ति को व्ययनित कर सकेगा जिसका ऐसे व्ययनित किया जाना शक्य हो।

---

1 इसका विस्तृत विवेचन अध्याय 3 में किया जा चुका है।

2 मद्रास राज्य **बनाम** रामनाथ राव, ए० आई० आर० 1960 मद्रास 436.

3 कथवाले **बनाम** महाराष्ट्र राज्य, ए० आई० आर० 1970 मुम्बई 205, यह मामला बौम्बे लैंड रेवेन्यू कोड, 1979 की धारा 72 के उपबंधों के अधीन उठा था, किंतु सिद्धांत समान हैं।

इस धारा का प्रभाव हिंदू विधि में पुरुषों के लिए कम किंतु नारियों के लिए अधिक पड़ा है। हिंदू को विल करने की शक्ति इस धारा के माध्यम से प्राप्त हुई है। प्राचीन हिंदू विधि में मिताक्षरा या दायभाग किसी भी शाखा में हिंदू नारी को विल करने की शक्ति नहीं थी क्योंकि उसकी संपत्ति प्राय: सीमित संपदा की प्रकृति की होती थी। इस अधिनियम की धारा 14 के उपबंधों के अधीन सीमित संपदा समाप्त हो गई है और अब कोई हिंदू नारी विल द्वारा वसीयती उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकती है जो उसकी मृत्यु-के उपरांत उसकी संपदा उत्तराधिकार में प्राप्त करे।

धारा 30 के स्पष्टीकरण के अनुसार मिताक्षरा सहदायिक और तरवाड़ तावषि, इल्लम्, कुटुंब या कवरु के सदस्यों को भी अपने हित को इस अधिनियम या किसी अन्य तत्समय-प्रवृत्त विधि में किसी बात के होते हुए भी विल द्वारा व्ययन करने की शक्ति प्राप्त हो गई है।

विल करने के अधिकारी व्यक्ति

कोई स्वस्थ-चित्त और वयस्क व्यक्ति अपनी संपत्ति का व्ययन विल द्वारा कर सकता है।[1] विल में विलकर्त्ता के आशय की अभिव्यक्ति होती है, जिसकी प्रत्याशा ऐसे व्यक्ति से नहीं की जा सकती जिसका चित्त विकृत हो अथवा अपरिपक्व हो अथवा रोग आदि के कारण युक्तियुक्त निर्णय लेने में असमर्थ हो। किसी अवस्यक को विल करने की शक्ति नहीं होती और उसके द्वारा किया गया विल शून्य होता है।[2]

विल व्यक्ति की स्वप्रेरणा का परिणाम होता है, जिसे वह शब्दों में व्यक्त करता है। यह विधि द्वारा प्रदत्त हक या अधिकार या कर्तव्य नहीं है जिसे कोई वाद-मित्र, अन्य मित्र या संरक्षक द्वारा एक असमर्थ व्यक्ति की ओर से संपन्न कराया जा सके। विल न्यायालय की देख-रेख में भी किसी संरक्षक के द्वारा उसकी ओर से नहीं कराया जा सकता। इस-लिए जो व्यक्ति विकृत चित्त का है, उसकी ओर से उसका संरक्षक या अन्य मित्र विल नहीं कर सकता। अवयस्कता की सीमा हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4(क) के उपबंधों के अनुसार 18 वर्ष है, किंतु जिन मामलों में न्यायालय द्वारा संरक्षक नियुक्त होते हैं, उनमें वयस्क होने की न्यूनतम सीमा 21 वर्ष है।[3] प्राप्त-वय होने के पश्चात् स्वस्थचित्त बने रहने की कोई अधिकतम आयु सीमा विधि में निर्धारित नहीं है। उच्चतम न्यायालय[4] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 70 वर्षीय विधवा को, जो शारीरिक अक्षमता के कारण अपने हस्ताक्षर नहीं कर सकती है, किंतु साक्ष्य द्वारा यह सिद्ध है कि वह स्वस्थचित्त है, विल करने की शक्ति है और उसके द्वारा किया गया विल विधिमान्य है। प्राप्तवय होने के उपरांत स्वस्थचित्तता या अन्यथा स्थिति तथ्य के विषय हैं, जिन्हें स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा सिद्ध या स्थापित किया जा सकता है।

---

1 हरद्वारी बनाम गोमी, 9 आई० सी० 1017; गुलाबबाई बनाम ठाकुरलाल, 17 आई० सी० 86.

2 कुण्डपल्ली विजयरत्नम् बनाम मण्डायक सुदर्शन राव, ए० आई० आर० 1925 पी० सी० 126.

3 स्वामिनाथन् बनाम अंगैयारकन्नी अम्माल, ए० आई० आर० 1964 मद्रास 11.

4 ब्रजमोहनलाल बनाम गिरधारीलाल, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1202.

विल के योग्य संपत्ति

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के प्रवर्तन में आने से पूर्व हिंदू विधि का यह नियम सुस्थिर हो चुका था कि जो संपत्ति जीवित व्यक्तियों के बीच दान द्वारा अन्य संक्रान्त नहीं हो सकती थी, उसकी विल द्वारा वसीयत नहीं हो सकती थी। किंतु हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के प्रवर्तन में आ जाने के उपरांत उसकी धारा 30 के अधीन मिताक्षरा सहदाहियकी संपत्ति के अविभक्त हित का भी व्ययन विल द्वारा हो सकता है। फिर भी पत्नी या कुटुंब के अन्य आश्रितों या सदस्यों के भरण-पोषण संबंधी हित या विधिक अधिकार को विफल करने के लिए संपत्ति का विल नहीं किया जा सकता है।

सामान्यतया कोई हिंदू निम्नलिखित संपत्तियों का व्ययन विल द्वारा कर सकता है :—

(क) हिंदू विधि की सभी शाखाओं में पृथक् या स्वार्जित संपत्ति का व्ययन विल द्वारा हो सकता है[1],

(ख) हिंदू विधि की दायभाग शाखा में पिता द्वारा पैतृक संपत्ति[2] का और संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में एक सहदायिक के अविभक्त हित[3] का व्ययन विल द्वारा किया जा सकता है;

(ग) मिताक्षरा शाखा में एकमात्र उत्तरजीवी द्वारा धारित संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति का विल पृथक् संपत्ति के सदृश किया जा सकता है;[4]

(घ) सौदायिक स्त्रीधन का विल स्त्री स्वामी द्वारा किया जा सकता है[5] किंतु असौदायिक स्त्रीधन के मामलों में पति की सम्मति आवश्यक है;[6]

(ङ) अन्यसंक्रामण के प्रतिषेध संबंधी विशिष्ट रूढ़ि के अभाव में अविभाज्य संपदा का विल उसके धारक स्वामी द्वारा किया जा सकता है।[7]

किंतु जो वस्तु मृतक के जीवनकाल में संदेय नहीं होती और जिसका व्ययन करने की कोई शक्ति उसे प्राप्त नहीं होती, वह वसीयतकर्ता की संपदा का भाग नहीं बन सकती। ऐसी वस्तु का जीवन काल के दौरान विल या वसीयत नहीं किया जा सकता।[8]

---

[1] वीरप्रताप **बनाम** राजेन्द्रप्रताप, (1867) 12 एम० आई० ए० 1, 38.

[2] कुंजबिहारी **बनाम** गौरहरि, ए० आई० आर० 1958 कलकत्ता 105; पतरीक **बनाम** झूलन, ए० आई० आर० 1969 मणिपुर 33.

[3] नागलक्ष्मी **बनाम** गप्पू, (1856) 6 एम० आई० ए० 309.

[4] सिरताज **बनाम** देवराज, 15 आई० ए० 51; तोताराम **बनाम** रामबाई, ए० आई० आर० 1976 मुम्बई 315.

[5] वेंकट **बनाम** वेंकट, आई० एल० आर० (1880) 2 मद्रास 333 (पी० सी०); राजम्मा **बनाम** बरदराजुलु, ए० आई० आर० 1957 मद्रास 198.

[6] भाऊ **बनाम** रघुनाथ, आई० एल० आर० (1906) 30 मुम्बई 229.

[7] त्यागसुन्दरदास **बनाम** पाण्ड्य, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1730.

[8] जोध सिंह **बनाम** भारत संघ, [1981] 3 उम० नि० प० 1143.

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'विशेष कुटुंब पेंशन' अधिकारी की मृत्यु पर उसकी विधवा को संदेय होती है।[1] यह उसके जीवन काल में संदेय नहीं होती। उसकी मृत्यु की घटना ही विशेष कुटुंब पेंशन का दावा करने के लिए पात्रता की अर्हता प्रदान करती है। ऐसी अर्हक घटना, जो कि केवल मृतक की मृत्यु पर ही हो सकती है और मृतक से भिन्न किसी व्यक्ति को, चाहे वह उसका संबंधी ही हो, धन का फायदा प्रदान करने के लिए होती है, वह मृतक की ऐसी संपदा का भाग नहीं हो सकती, जिसका वह वसीयती व्ययन द्वारा निपटारा कर सकता है।

हिंदू विल की आवश्यकताएं

शुद्ध हिंदू बिधि के अधीन विल का लिखित रूप में होना आवश्यक नहीं है। विल मौखिक या लिखित हो सकता है।[2] यदि विल लिखित है तो भी उसका हस्ताक्षरित या अनुप्रमाणित होना शुद्ध हिंदू विधि में आवश्यक नहीं है।[3] न्यायालय द्वारा मौखिक या लिखित विल का प्रोबेट प्रदान किया जा सकता है।[4]

किंतु हिंदू विल्स ऐक्ट 1870 के अधिनियमित हो जाने के उपरांत हिंदू विल का लिखित रूप में होना आवश्यक हो गया। इस अधिनियम के उपबंधों में कुछ मामलों में मौखिक विल की छूट थी। भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 1926 द्वारा उन विलों का भी लिखित होना अनिवार्य बना दिया गया, जिनका मौखिक विल हो सकता था। फलतः 1 जनवरी, 1927 के पश्चात् भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 63 के उपबंधों के अधीन प्रत्येक हिंदू विल को लिखित, हस्ताक्षरित और दो साक्षियों द्वारा अनुप्रमाणित होना चाहिए।

विधि में हिंदू विल के लिए कोई प्ररूप विहित नहीं है। यदि विल में संपत्ति के विषय में मृतक की वसीयती इच्छा का उल्लेख है तो वह पर्याप्त है और उसे विल माना जाएगा।

विल की वास्तविकता

उच्चतम न्यायालय[5] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि विल मामूली फूलस्केप कागज पर न कि स्टाम्पित कागज पर, ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया था जो किसी अवशिष्टीय वसीयतदार के रूप में हितधारी था और विल रजिस्ट्रीकृत भी नहीं था, तो ऐसा विल वास्तविक नहीं होगा यदि विल के लेखक के पुत्र को वसीयत संपदा का अधिकांश भाग दिया गया हो और उसका समान भाग दूसरे पुत्र के पुत्रों को और पुत्रियों को अल्प धन देकर उन्हें पूर्णतया संपदा के लाभ से बहिष्कृत कर दिया गया हो तो इससे यही निष्कर्ष

---

[1] जोधसिंह बनाम भारत संघ, [1981] 3 उम० नि० प० 1143.

[2] हरि बनाम मोरो लक्ष्मण, आई० एल० आर० (1887) 11 मुम्बई 89.

[3] जानकी बनाम कल्लूमल्ल, आई० एल० आर० (1909) 31 इलाहाबाद 236.

[4] गोकुलचन्द बनाम मंगलसेन, आई० एल० आर० (1903) 25 इलाहाबाद 313.

[5] मोतीलाल बनाम आनन्दीबाई, (1971) यू० जे० (एस० सी०) 206.

निकलता है कि विल वास्तविक नहीं है।[1] न्यायालय विल की वास्तविकता की परीक्षा उसकी परिस्थितियों के आधार पर कर सकता है और वास्तविक न पाए जाने पर विल को विफल कर सकता है।

विल के वसीयतदार

विल के अधीन संपत्ति ग्रहण करने का हकदार वही व्यक्ति है जो वसीयतकर्त्ता की मृत्यु के दिन तथ्यतः अथवा विधि की दृष्टि में अस्तित्व में था।[2] हिंदू विधि का यह नियम मिताक्षरा और दायभाग दोनों शाखाओं में लागू है।[3] किंतु हिंदू विधि में गर्भस्थित व्यक्ति के अधिकार गर्भ में आते ही प्रारंभ हो जाते हैं और वह विधि की दृष्टि में एक विद्यमान व्यक्ति है जिसके हितार्थ विल द्वारा वसीयत की जा सकती है और वह विल विधिमान्य है। इसी सिद्धांत पर वसीयतकर्त्ता की मृत्युपरांत उसकी विधवा द्वारा दत्तक-ग्रहण किया गया पुत्र भी वसीयतकर्त्ता की मृत्यु के दिन विद्यमान माना जाता है। हिंदू संपत्ति व्ययन अधिनियम, 1916 के उपबंधों के अधीन कोई विल इस कारण अविधिमान्य नहीं हो जाएगा कि जिसके हितार्थ विल किया गया है, उसका वसीयतकर्त्ता की मृत्यु के दिन जन्म ही नहीं हुआ था।

अपवाद—हिंदू विल विधि के उपर्युक्त सामान्य नियम का अपवाद भी है, जिसका विवेचन नीचे किया जा रहा है :—

यदि वसीयतकर्त्ता अपने पुत्र की पत्नी को वसीयत इस शर्त पर करे कि यदि वह वसीयतकर्त्ता की मृत्यु के दस वर्षों के भीतर विवाह कर ले तो वसीयत की हकदार होगी, और यदि पुत्र पिता की मृत्यु के दस वर्षों के भीतर विवाह कर ले तो वह जिस बालिका से विवाह करता है वह यदि वसीयतकर्त्ता की मृत्यु के दिन विद्यमान थी तो विल बिधिमान्य है।[4] यद्यपि ऐसे मामलों में पुत्र-वधू, जिसके पक्ष में वसीयत की गई है, वसीयत के समय कुटुंब में विद्यमान नहीं थी तथापि विल उपर्युक्त कारणों से विधिमान्य है।

विल का प्रतिसंहरण

प्राचीन हिंदू विधि में विल की वर्तमान अवधारणा का सर्वथा अभाव होने के कारण उसके प्रतिसंहरण की कोई निश्चित विधि नहीं है। आधुनिक न्यायालयों ने हिंदू विधि की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए यह सुनिश्चित किया कि न तो विल के लिए किसी लिखत की आवश्यकता है, न ही उसके प्रतिसंहरण के लिए। विल का प्रतिसंहरण मौखिक भी हो सकता है।

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के लागू हो जाने के बाद से हिंदू विल का प्रतिसंहरण उसी अधिनियम की धारा 70 के उपबंधों के अधीन ही हो सकता है। इस

---

1 मोती लाल **बनाम** आनन्दी बाई (1971) यू० जे० (एस० सी०) 206.

2 रामन् नाडार **बनाम** एस० रसालम्मा; ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1759; चण्डीचरण **बनाम** सिद्धेश्वरी, 15 आई० ए० 149.

3 मंगलदास **बनाम** कृष्णबाई आई० एल० आर० (1882) 6 मुम्बई 38.

4 दिनेशचन्द्र **बनाम** ब्रजकामिनी, 11 आई० सी० 671.

प्रकार विल का प्रतिसंहरण अब हिंदू विधि का ही विषय-वस्तु न होकर संसदीय विधि का विषय बन गया है। वसीयतकर्ता यदि अपने विल का प्रतिसंहरण करके अन्य विल का प्रतिसंहरण करके अन्य बिल लिखना चाहे तो उसे भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 70 के उपबंधों के अनुसार ही ऐसा करना पड़ेगा।

किंतु यदि कोई निःसंतान हिंदू अपनी पैतृक संपत्ति की वसीयत एकमात्र सहदायिक के रूप में करे और विल करने के उपरांत उसके औरस पुत्र उत्पन्न हो जाए अथवा वह किसी बालक का दत्तक ग्रहण कर ले तो विल उत्तरजीविता के सिद्धांतों के अधीन स्वयमेव प्रतिसंहृत हो जाएगा। स्वार्जित या पृथक् संपत्ति के बारे में यह सिद्धांत नहीं लागू होता और विल का प्रतिसंहरण विधि के कार्य द्वारा नहीं होता। दूसरे शब्दों में, किसी हिंदू का अपनी स्वार्जित या पृथक् संपत्ति का विल द्वारा व्ययन, पुत्र के पश्चात्वर्ती दत्तक-ग्रहण या जन्म से प्रतिसंहृत नहीं हो जाता।[1] इसका कारण यह है कि स्वार्जित या पृथक् संपत्ति स्वामी का अप्रतिबंध दाय होती है, उसके व्ययन की उसे आत्यंतिक शक्ति होती है। दायभाग विधि में पिता द्वारा किए गए विल के विषय में भी यही सिद्धांत लागू होता है, चाहे वह उसकी पैतृक संपत्ति हो अथवा स्वार्जित[2] और विल विधि के कार्य से स्वयमेव प्रतिसंहृत नहीं हो जाता।

वसीयतकर्त्ता द्वारा विल करने के पश्चात् विवाह कर लेने पर भी भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 57 के उपबंधों के अनुसार विल विधि के कार्य द्वारा स्वयमेव प्रतिसंहृत नहीं हो जाता।

विल का अर्थान्वयन

किसी विल का अर्थ लगाते समय वसीयतकर्त्ता के आशय को ध्यान में रखा जाना चाहिए। विल में वसीयतकर्त्ता का आशय प्रमुख तत्व है और इस विषय पर हिंदू और अंग्रेजी विधियों में पर्याप्त समानता है। आशय वसीयती व्ययन के प्रभाव को निर्धारित करने में मार्गदर्शक है और वसीयतकर्त्ता के आशय को एकत्रित करने संबंधी सामग्री के विषय में दोनों ही विधियों में समानता है। प्रथमतः, विल के शब्द या वाक्य ही विचारणीय होते हैं क्योंकि वही वसीयतकर्त्ता की इच्छाओं की अभिव्यक्ति को प्रकट करते हैं किंतु उन शब्दों के अर्थ उत्पन्न परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं और उन मामलों में जहां परिस्थितियां प्रभावकारी हों वहां उन्हें ध्यान में रखा जाना चाहिए।[3]

उच्चतम न्यायालय ने मोतीलाल बनाम आनन्दीबाई[4] के मामले में परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण ही विल को वास्तविक नहीं माना। इस मामले में प्रतिकूल

---

[1] महादेव बनाम रामेश्वर, ए० आई० आर० 1968 मुम्बई 323; विनायक बनाम गोविन्दराव, (1869) 6 मुम्बई एच० सी० ए० सी० 224.

[2] कुंजबिहारी बनाम गौरहरि, ए० आई० आर० 1958 कलकत्ता 105.

[3] लक्ष्मण नाडार बनाम आर० रामय्यर, (1953) एस० सी० आर० 848; सूरजीमणि दासी बनाम दीनबन्धु मलिक, (1857) 6 एम० आई० ए० 526.

[4] 1971 यू० जे० (एस० सी०) 206.

परिस्थितियां थीं, जैसे पुत्रियों को संपदा के लाभ से पूर्णतया अपवर्जित किया जाना और पुत्रों का लाभान्वित किया जाना।

अर्थान्वयन का यह सुस्थिर नियम है कि किसी विल या विलेख में प्रयुक्त शब्द समान अर्थ के वाचक हों जब तक कि विपरीत आशय स्पष्ट न हो।[1] वसीयतकर्त्ता के आशय को सुनिश्चित करने के लिए संपूर्ण विल को पढ़ा जाना चाहिए।[2]

किसी हिंदू स्त्री के पक्ष में हिंदू पुरुष द्वारा किए गए विल का अर्थ उसी प्रकार लगाया जाएगा जिस प्रकार किसी पुरुष के पक्ष में किए गए विल का अर्थ उसी प्रकार लगाया जाता है। उसमें प्रयुक्त शब्द 'मालिक' में आत्यंतिक स्वामित्व अंतर्निहित होगा जब तक कि इस संदर्भ में कोई विपरीत तथ्य न हो।[3] इस प्रकार 'पुत्र-संतति' के अंतर्गत दत्तक पुत्र भी आता है।[4] विल में प्रयुक्त क्षेत्रीय भाषाओं या बोलियों के शब्दों का उनमें प्रचलित अर्थ ही लिया जाना चाहिए न कि साहित्यिक अर्थ।[5]

□ □ □
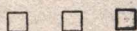
1 त्यागसुन्दरदास **बनाम** पाण्ड्य, ए० आई०, आर 1965 एस० सी० 1730.
2 शिवशक्ति **बनाम** प्यारेलाल, आई० एल० आर० (1947) इलाहाबाद 403.
3 कृष्णबिहारी लाल **बनाम** गुलाबचन्द, ए० आई० आर० 1971 एस०सी० 1041.
4 अप्पास्वामी **बनाम** शार्गंपाणि, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1051.
5 राजेन्द्रप्रसाद **बनाम** गोपालप्रसाद, ए० आई० आर० 1930 पी० सी० 242.

अध्याय 5

स्त्रीधन

स्त्रीधन का अर्थ

'स्त्रीधन' शब्द दो शब्दों के योग से रचित है—'स्त्री' और 'धन'[1]; जिसका अर्थ है, वह संपत्ति जो स्त्री की हो। अर्थात् जिस संपत्ति की स्वामिनी स्त्री होती है, उसे स्त्रीधन कहते हैं।

हिंदू कुटुंब में दो प्रकार की संपत्ति होती है—प्रथम है पुरुषधन, जिसके स्वामी पुरुष होते हैं और जिसकी उत्पत्ति सहदायिकी संपत्ति और पुरुषों की स्वार्जित संपत्ति से होती है; द्वितीय है स्त्रीधन, जिसकी उत्पत्ति स्त्री या पत्नी द्वारा विवाह के समय प्राप्त संपत्ति से होती है। स्त्रीधन पर केवल उसी स्त्री का हक या अधिकार होता है, जिसे वह प्राप्त होता है। किसी स्त्री को विवाह के समय जो उपहार आदि मिलते हैं, वे सभी उसकी निजी संपत्ति होते हैं और उस पर उसी का स्वामित्व होता है। कालान्तर में, स्त्रीधन में अनेक प्रकार के उपहार भी जुड़ गए जिनका विवेचन आगे किया जायगा। वस्तुतः, स्त्रीधन की विशिष्टता उस पर स्त्री के पूर्ण स्वत्व से ही है। आपस्तम्ब ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार अलंकारों और पिता, भाई आदि से मिले धन पर पत्नी का स्वत्व होता है।[2]

वैदिक वाङ्मय में स्त्रीधन के लिए 'वहतु[3] शब्द का प्रयोग हुआ है। 'वहतु' शब्द मूलतः उन वस्तुओं के लिए आया है जो विवाह के समय कन्या को दी जाती हैं।[4] सायण ने 'वहतु' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'कन्या को प्रिय लगने वाले गौ आदि जो पदार्थ, (विवाह में) दिए जाते हैं, वहतु कहलाते हैं।[5] उन्होंने अन्यत्र स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'पुत्री के विवाह के समय प्रीतिवश वस्त्र-अलंकार आदि जो द्रव्य, उसके साथ प्रस्थापित किए जाते हैं, वहतु शब्द से जाने जाते हैं।[6] सायण के अनुसार वहतु में पुत्री के

---

1 'स्त्रीधन' शब्दश्च यौगिको याज्ञ० 2/143 पर मिता० टीका.

2 अलंकारों भार्याया ज्ञातिधनं चेत्येके। आप० ध० सू० 2/6/14/9
भार्यायास्तुघृतोलंकोरांशो ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यश्च यल्लब्धं धनं तच्चेत्येके। उपर्युक्त पर हरदत्त की उज्ज्वला वृत्ति.

3 सूर्यायाः वहतुः प्रागात्सविता यमवाऽसृजत्। ऋ० 10/85/13 अथर्व० 14/1/13.

4 तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह। ऋ० 10/85/38.

5 कन्याप्रियार्थं दातव्यो गवादि पदार्थो वहतुः। ऋ० 10/85/38 पर सा० भा०.

6 दुहित्रा सह प्रीत्या प्रस्थापनीयं वस्त्रालंकारादि द्रव्यं वहतु-शब्देन विवक्षितम्। अथर्व० 3/3/5 पर सा० भा०.

पिता के आदमियों द्वारा पुत्री के लिए जामाता गृह को पहुंचाया गया सारा सामान सम्मिलित है।[1] वस्तुतः इसी प्रकार के उपहार आदि स्त्रीधन में आते हैं। इससे वहतु शब्द स्त्रीधन का पर्याय है।

स्त्रीधन की परिभाषा

स्मृतिकारों तथा निबंधकारों ने स्त्रीधन की निम्नलिखित परिभाषाएं की हैं :—

(1) "विवाह के समय या विवाह के पश्चात् पिता या पतिगृह में जो धन कन्या (स्त्री) को प्राप्त होता है वह सौदायिक नाम से जाना जाता है।"[2]—व्यास
यहां 'सौदायिक' 'शब्द का प्रयोग स्त्रीधन के अर्थ में हुआ है।

(2) "जीविकोपार्जन के साधन और आभूषण आदि स्त्रीधन है।"[3] —कौटिल्य

(3) "हिंदुओं में विवाहित स्त्रियों की वह सुरक्षित संपत्ति, जिसका अन्यसंक्रामण पति नहीं कर सकता, स्त्रीधन के नाम से प्रसिद्ध है।"[4] —हेनरी मेन

(4) "पिता, भ्राता, माता और पति द्वारा दिया और विवाह की अग्नि के समक्ष प्राप्त धन और अधिवेदनिक स्त्रीधन कहलाता है।[5] —याज्ञवल्क्य

स्त्रीधन के प्रकार

स्मृतिकारों ने स्त्रीधन के प्रकारों का उल्लेख स्त्रियों द्वारा उपहार प्राप्ति के साधनों को ध्यान में रखकर किया है। फलस्वरूप निबंधकारों ने स्त्रीधन के प्रकारों को दृष्टांत स्वरूप ही माना। कुछ निबंधकारों का मत है कि स्त्रीधन के प्रकारों में वृद्धि संभव है। विज्ञानेश्वर का स्पष्ट मत है कि छह की संख्या (मनु प्रोक्त) यह व्यक्त करती है कि इससे कम प्रकार का स्त्रीधन नहीं हो सकता किंतु अधिक प्रकार का हो सकता है।[6] हम आगे पढ़ेंगे कि स्मृतिकारों ने स्वयं मनु के स्त्रीधन प्रकारों में वृद्धि की है। अतएव यह आवश्यक है कि विभिन्न स्मृतिकारों द्वारा प्रोक्त स्त्रीधन के प्रकारों का उल्लेख पृथक्-पृथक् किया जाए।

---

[1] पुरुषैरुह्यते जामातृगृहं प्राप्यत इति वहतुः। अथर्व० 3/3/5 पर सा० भा०

[2] यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत्।
पितृभर्तृगृहात्प्राप्तं धनं सौदायिकं स्मृतम्॥ व्यास, स०वि०पृ० 378 में उद्धृत।

[3] वृत्तिराबन्ध्यं वा स्त्रीधनम्। कौटि० अर्थ० 3/2.

[4] हेनरी मेनः अर्ली हिस्ट्री आफ इंस्टिट्यूशंस, पृ० 321.

[5] पितृमातृपतिभ्रातृ दत्त मध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ याज्ञ० 2/143.
विशेष : अधिवेदन का अर्थ है दूसरा विवाह, और दूसरा विवाह करने पर पहली पत्नी कोदिया गया धन आधिवेदनिक कहलाता है। यस्या उपरि विवाहः साधिविन्ना। साचासौस्त्रीय तस्यै अधिविन्नस्त्रियै आधिवेदनिकमधिवेदननिमित्तं धनं। याज्ञ० 2/148 पर मिता०

[6] इति स्त्री धनस्य षड्विधत्वं तन्न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिक-संख्याव्यवच्छेदाय। याज्ञ० 2/143 पर मिता०

मनु—मंनु के अनुसार स्त्रीधन छह प्रकार का होता है[1];

(1) अध्यग्नि—वैवाहिक अग्नि के समक्ष कन्या को प्रदत्त धन;

(2) अध्यावाहनिक—पतिगृह के लिए प्रस्थान करते समय कन्या को प्रदत्त धन;

(3) पितृदत्त—पिता द्वारा प्रदत्त धन;

(4) मातृदत्त—माता द्वारा प्रदत्त धन;

(5) भ्रातृदत्त—भाई द्वारा प्रदत्त धन;

(6) प्रीतिदत्त—प्रीतिपूर्वक (अन्यों द्वारा) प्रदत्त धन।

इन छह स्त्रीधनों के अतिरिक्त मनु[2] ने अन्यत्र दो प्रकार के स्त्रीधन का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित प्रकार के हैं :—

(7) अन्वाधेय—विवाहोपरांत प्राप्त उपहार आदि,

(8) यौतक—एक मत के अनुसार पैर पूजते[3] समय कन्या को दिया गया धन और द्वितीय मत के अनुसार सामान्य[4] स्त्रीधन।

नारद—नारद के अनुसार स्त्रीधन निम्नलिखित प्रकार के हैं[5] :—

(1) अध्यग्नि;

(2) अध्यावाहनिक;

(3) भर्तृदत्त;

(4) पितृदत्त;

(5) मातृदत्त;

(6) भ्रातृदत्त।

नारद और मनु के स्त्रीधन के प्रकारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मनु द्वारा

---

1 अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं य प्रीति कर्मणि। भ्रातृमातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्। मनु० 9/194

2 अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्। मनु० 9/195.
मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारी भाग एव सः। मनु० 9/131 (पूर्वार्ध)

3 "अतो बिवाहकाले लब्धं—यौतकम्" दाय० 4/2/14. 'यौतकं समानास नोपवेशन-प्रत्यासन्नयोर्वधूवरयोर्विवाहादौ येन केन चित्समर्पितम् धनं तद्वधूवश्योर्देयम्।" स्मृ० च०, 2, पृ० 285.

4 यौतकशब्दः पृथग्भावेन च स्त्रीधने। मनु० 9/131 मेधातिथि कृत टीका।

5 अध्यग्न्यध्यावाहनिकं भर्तृदायं तथैव च। भ्रातृदत्तं पितृभ्यां च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्। नारद, व्य० नि० पृ० 464 पर उद्धृत।

कथित 'प्रीतिदत्त' के स्थान पर नारद ने भर्तृदत्त का प्रयोग करके इस स्रोत से प्राप्त होने वाली संपत्ति को पति-प्रदत्त धन तक सीमित कर दिया। फलस्वरूप, यह स्रोत संकुचित हो गया। मनु के 'प्रीतिदत्त' का क्षेत्र व्यापक है, जिसमें नववधू को पति के किसी भी संबंधी द्वारा प्रीतिपूर्वक प्रदत्त उपहार आ सकता है। नारद ने 'प्रीति' शब्द का अर्थ 'पतिप्रीति' लिया और इसे स्पष्ट करने हेतु 'प्रीति' के स्थान पर भर्तृ' रख दिया।

याज्ञवल्क्य—याज्ञवल्क्य के अनुसार स्त्रीधन के प्रकार निम्नलिखित हैं[1] :—

(1) पितृदत्त;
(2) मातृदत्त;
(3) पतिदत्त;
(4) भ्रातृदत्त;
(5) अध्यग्नि —यहां तक देखिए मनु के प्रकारों में;
(6) आधिवेदनिक —दूसरा विवाह करने पर पहली पत्नी को प्रदत्त धन;
(7) बंधुदत्त —कुल संबंधियों द्वारा दिया गया धन;
(8) शुल्क —कन्या-प्राप्ति हेतु दी गई धनराशि;
(9) अन्वाधेयक —विवाहोपरांत पितृ एवं पति कुलों से प्राप्त धन।

याज्ञवल्क्य ने स्त्रीधन के तीन प्रकारों—आधिवेदनिक, बंधुदत्त और शुल्क—की वृद्धि की और मनु के 'अध्यावाहनिक' के स्थान पर 'अन्वाधेयक' रखा। ये दोनों एक दूसरे के पर्याय न होकर एक दूसरे से भिन्न आगम स्रोत हैं और कात्यायन द्वारा पृथक्-पृथक् प्रकार से उल्लिखित है।

कात्यायन—कात्यायन के अनुसार स्त्रीधन के प्रकार निम्नलिखित हैं[2] :—

---

[1] पितृमातृपतिभ्रातृदत्त मध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ याज्ञ० 2/143.
बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्बाधेयकमेव च॥ याज्ञ० 2/144 (पूर्वार्ध)

[2] विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्त्तितम्॥
यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात्।
अध्यावाहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम्॥
प्रीत्यादत्तं तु यत्किंचित् श्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा।
पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते॥
विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तुःकुलात्स्त्रियाः।
अन्वाधेयं तदुक्तं तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा॥
गृहोपस्करवाह्यानां दोह्याभरणकर्मिणाम्।
मूल्यं लब्धं तु यत्किंचिच्छुल्कं तत्परिकीर्तितम्॥
ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगहेऽपि वा।
भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्॥ कात्या० याज्ञ० 2/143-144 की मिता० टीका में उद्धृत। व्य० नि० पृ० 465 भी देखें।

(1) अध्यग्नि
(2) अध्यावाहनिक } मनु द्वारा कथित प्रकार
(3) प्रीतिदत्त

(4) अन्वाधेय —विवाह के पश्चात् पतिकुल एवं पिताकुल से प्राप्त धन।

(5) शुल्क —घर का सामान आदि क्रय करने हेतु वर या उसके पिता से प्राप्त धन अथवा कन्या देने का मूल्य।

(6) सौदायिक —माता, पिता, भाई आदि से मिला धन।

कात्यायन ऐसे शास्त्रकार हैं, जिन्होंने स्त्रीधन विषय पर विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः कात्यायन की व्याख्या से ही स्त्रीधन के वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। स्त्रीधन के छह प्रकारों में कात्यायन के प्रथम तीन प्रकार तो मनु के प्रकारों की पुष्टि स्वरूप हैं किंतु शेष तीन उनके अपने प्रकार हैं। इन तीनों की भी व्याख्या करके कात्यायन ने सुस्पष्ट करने की चेष्टा की है। कात्यायन की वर्णन शैली से पता चलता है कि उन्हें स्त्रीधन के उक्त तीनों प्रकारों का पूर्ण ज्ञान था जिनकी व्याख्या करना उन्होंने आवश्यक समझा। कात्यायन ने मनु के स्त्रीधन प्रकारों की भी विवेचना की है और यही कारण है कि स्त्रीधन विषय पर कात्यायन सर्वमान्य प्रामाणिक शास्त्रकार हैं।

टीकाकारों तथा निबंधकारों के अनुसार स्त्रीधन के प्रकार

दायभाग के लेखक जीमूतवाहन ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा है कि 'स्त्रीधन एक क्लिष्टतम विषय है।'[1] जीमूतवाहन हिंदू विधि के एक लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं जिन्होंने अनेक विधि विषयों पर स्वतंत्र चिंतन करके उनकी व्याख्या की है। ऐसे चिंतनशील व्यक्ति द्वारा स्त्रीधन को हिंदू विधि का क्लिष्टतम विषय माना जाना आधुनिक विधिज्ञों के लिए भी विचारणीय विषय है। उनकी उक्त टिप्पणी इस तथ्य की सूचक है कि टीकाकारों ने स्त्रीधन के अंतर्गत अनेक ऐसी संपत्तियों को भी स्वीकार कर लिया था जिन्हें वस्तुतः स्त्रीधन नहीं माना जा सकता। जब किसी प्रामाणिक टीकाकार द्वारा विषय-वस्तु में ऐसे तत्त्वों का समावेश कर दिया जाता है, जिनका संबंध उससे नहीं होता, तब चिंतकों के सम्मुख समस्या उठनी स्वाभाविक है। हम आगे देखेंगे कि आधुनिक न्यायाधीशों के सम्मुख भी यह समस्या उठी थी और उन्हें विज्ञानेश्वर द्वारा स्वीकृत अनेक प्रकार के स्त्रीधनों को स्त्रीधन मानना अस्वीकार करना पड़ा। जीमूतवाहन ने गहन अध्ययन करके यह विचार व्यक्त किया कि "वही संपत्ति स्त्रीधन है जिस संपत्ति का पत्नी पति से स्वतंत्र रहते हुए दान, विक्रय या उपभोग कर सकती है।"[2] स्त्रीधन की यही परिभाषा विधिसम्मत है और यही आज हिंदू विधि में विधिमान्य है। इसी परिभाषा ने आधुनिक काल में न्यायाधीशों का पथ प्रदर्शन भी किया है। अब विभिन्न टीकाकारों आदि द्वारा स्वीकृत स्त्रीधन प्रकारों का उल्लेख किया जाएगा।

---

[1] इत्यतिगहनमुक्तमप्रजः स्त्रीधनम्। दाय० 4/2/42.

[2] तदेव च स्त्रीधनं यत्रभर्तृतः स्वातन्त्र्येण दान-विक्रय-भोगान् कर्तुमधिकरोति। दाय० 4/1/18.

(1) **मिताक्षरा के अनुसार स्त्रीधन**—मिताक्षरा के टीकाकार विज्ञानेश्वर का यह मत है कि मनु के छह प्रकार के स्त्रीधन में वृद्धि संभव है और उन्होंने इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकारों के स्त्रीधन की कल्पना की है जो इस प्रकार है[1] :—

(1) रिक्थाधिकार में प्राप्त संपत्ति;

(2) क्रीत संपत्ति;

(3) विभाजन में प्राप्त संपत्ति;

(4) परिग्रह की हुई संपत्ति; और

(5) उपलब्धि अर्थात् अन्य साधनों से उपलब्ध संपत्ति।

विज्ञानेश्वर ने इन साधनों से प्राप्त संपत्ति को स्त्रीधन मानने में याज्ञवल्क्य द्वारा प्रयुक्त 'आद्य'[2] शब्द को आधार बनाया है। उनका यह तर्क है कि 'आद्य' शब्द का प्रयोग करके याज्ञवल्क्य ने अन्य साधनों से प्राप्त संपत्ति को भी स्त्रीधन में सम्मिलित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। किंतु उनके इन प्रकारों को प्रिवी कौंसिल[3] ने स्त्रीधन के रूप में मान्यता नहीं दी क्योंकि इस प्रकार की संपत्तियों पर स्त्रियों का पूर्ण स्वतत्व नहीं होता था। अब हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन स्त्रियों के सांपत्तिक अधिकार पूर्ण हो गए हैं। किंतु मात्र इतने से ही स्त्रियों द्वारा धारित कोई भी संपत्ति स्त्रीधन नहीं हो जाती। इसके लिए यह भी ध्यान में रखना होगा कि इसका न्यागमन प्रधानतः पुत्रियों को होता है अथवा पुत्र या पुरुष उत्तराधिकारियों को। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अनुसार प्रथम श्रेणी के उत्तराधिकारियों में पुत्र और पुत्री दोनों ही समान रूप से उत्तराधिकारी हैं साथ ही अन्य स्त्री उत्तराधिकारियों को भी सम्मिलित किया गया है। यह सामान्य प्रकार का उत्तराधिकार होने से इस माध्यम से प्राप्त संपत्ति स्त्रीधन नहीं हो सकती। यही कारण है कि न्यायालयों ने मात्र उन्हीं संपत्तियों को स्त्रीधन माना जो मनु या कात्यायन द्वारा गिनाए गए प्रकारों से प्राप्त होती हैं और जिन्हें मिताक्षरा ने भी मान्यता दी है।

(2) **हिंदू विधि की बम्बई और वाराणसी शाखाओं के अनुसार स्त्रीधन**—बम्बई और वाराणसी शाखाएं मिताक्षरा के स्त्रीधन प्रकारों का समर्थन करती हैं। वाराणसी

[1] पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ याज्ञ० 2/143.
पित्रा मात्रा पत्या भ्रात्रा च यद्दत्तं यच्च विवाहकालेऽग्नावधिकृत्य
मातुलादिभिर्दत्तं आधिवेदनिकं अधिवेदननिमित्तं 'अधिविन्नः स्त्रियै दद्यात्'
इति वक्ष्यमाणं।......इति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं तन्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्या व्यवच्छेदाय।"—वही, मिता० टीका

[2] आद्यशब्देन रिक्थ-क्रय-संविभाग-परिग्रहाधिगमप्राप्तंमेतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्।
याज्ञ० 2/143 की मिता टीका।

[3] ठाकुर देवी **बनाम** बालक राम, 11 एम० आई० ए० 139; शिवशंकर **बनाम** देवी सहाय, 30 आई० ए० 202.

शाखा के प्रामाणिक ग्रंथ वीरमित्रोदय[1] और बम्बई शाखा के प्रामाणिक ग्रंथ व्यवहार-मयूख[2] ने मिताक्षरा के स्त्रीधन प्रकारों को मान्यता दी है। फलस्वरूप इन ग्रंथों ने किसी अन्य प्रकार के स्त्रीधन की कल्पना नहीं की है। किंतु व्यवहारमयूख ने उत्तराधिकार हेतु स्त्रीधन को दो वर्गों में विभक्त किया है—पारिभाषिक, और अपारिभाषिक। पारिभाषिक स्त्रीधन को नीलकंठ ने व्यवहारमयूख में दो वर्गों में पुनः विभक्त किया है—(1) संबंधियों द्वारा विवाह के समय प्रदत्त उपहार की वस्तुएं, (2) अन्य लोगों द्वारा विवाह के समय प्रदत्त उपहार की वस्तुएं। अपारिभाषिक स्त्रीधन के अंतर्गत स्त्री द्वारा धारित अन्य संपत्तियां आती हैं।[3] नीलकंठ के अतिरिक्त अन्य किसी भी निबंधकार ने स्त्रीधन का उत्तराधिकार के आधार पर वर्गीकरण नहीं किया। बम्बई क्षेत्र में, जहां व्यवहारमयूख प्रामाणिक विधि ग्रंथ माना जाता है, वहां भी विवाह के माध्यम से कुटुंब की सदस्यता ग्रहण करने वाली स्त्रियों को उत्तराधिकार में मिली मृत पति आदि की भू-संपत्ति पर पूर्ण स्वत्व हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अधिनियमित होने से पूर्व प्राप्त नहीं था।[4] अन्य भागों में जहां मिताक्षरा को सर्वाधिक प्रमाणिकता थी, वहां तो स्त्रियों को उत्तराधिकार में प्राप्त भू-संपत्ति पर पूर्ण स्वत्व प्राप्त था ही नहीं।[5]

(3) **हिंदू विधि की मद्रास शाखा के अनुसार स्त्रीधन**—हिंदू विधि की मद्रास शाखा के प्रामाणिक ग्रंथों, स्मृतिचन्द्रिका, सरस्वतीविलास, पराशर माधवी और व्यवहार-निर्णय के स्त्रीधन प्रकारों और परिभाषाओं में पर्याप्त मतभेद है। उदाहरण स्वरूप सौदायिक प्रकार का स्त्रीधन लिया जा सकता है। सौदायिक वह स्त्रीधन है जो कन्या को पिता के घर या पतिगृह में प्राप्त होता है।[6] किंतु स्मृतिचन्द्रिका इसे वाग्दान (सगाई या फलदान) से लेकर विवाह के पश्चात् पतिगृह में प्रवेश तक वधू को पितृगृह से ही मिली भेटों या उपहारों तक सीमित करना चाहती है।[7] जबकि मिताक्षरा के अनुसार पतिगृह से भी प्राप्त उपहार सौदायिक में सम्मिलित है। इसी मतभेद के कारण मद्रास उच्च न्यायालय[8] ने

---

1 भ्रातृदत्तं पितृभ्याञ्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतमिति। वी० नि०, व्य० अ०, पृ० 688; डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 117, पृष्ठ 187.

2 षडिति न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थम् व्य० मयू० पृष्ठ 95, यह वाक्य (याज्ञ० 2/143 की) मिता० टीका 'षड्विधत्वं तन्यून संख्याव्यवच्छेदार्थं' की ही अभिव्यक्ति है।

3 तेन पारिभाषिकातिरिक्तंमातृधनं दुहितृसत्वे पुत्रादय एवं लभेरन्। व्य० मयू० पृ० 100.

4 बलवंत राव **बनाम** बालाजीराव, 47 आई० ए० 213.

5 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपाबंध 116, पृष्ठ 187.

6 ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा।
भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्॥ कात्या०, (याज्ञ० 2/143) मिता० द्वारा उद्धृत

यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत्।
पितृभर्तृ गृहात्प्राप्तं धनं सौदायिकं स्मृतं॥ व्यास, स० वि० पृ० 378 में उद्धृत।

7 वाग्दानप्रभृति पतिगृह-प्रवेश-रूपोत्सवं-समाप्ति-पर्यन्तं पितृगृहे पतिगृहे वा पितृपक्षत एव स्त्रिया लब्धं यौतकादिधनं सौदायिक-शब्दाभिधेयमिति। स्मृ० चं० 2, पृ० 282.

8 राजु **बनाम** अम्मणि, आई० एल० आर० (1906) 29 मद्रास 358.

स्मृतिचन्द्रिका की व्याख्या को अस्वीकार कर दिया। किंतु प्रिवी कौंसिल ने **देवी मंगल प्रसाद** बनाम **महादेव प्रसाद**[1] के मामले में मिताक्षरा द्वारा प्रतिपादित स्त्रीधन प्रकारों में 'वृद्धि की संभावना'[2] के सिद्धांत को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप मनु और कात्यायन द्वारा प्रतिपादित या परिभाषित स्त्रीधन के प्रकार ही अब विधिमान्य हैं। जब तक टीकाकार या निबंधकार स्त्रीधन के किसी प्रकार के विरुद्ध एकमत न हों तब तक उसे स्त्रीधन माना जाना चाहिए।[3] इस निर्णय से विभिन्न निबंधों में दी गई स्त्रीधन-संबंधी वे परिभाषाएं महत्त्वहीन हो गईं जिनमें परस्पर विरोध है और जो केवल लेखकों के बुद्धि कौशल की उपज हैं।

(4) **हिंदू विधि की मिथिला शाखा के अनुसार स्त्रीधन**—इस शाखा के निबंधकार वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रंथ विवाद-चिन्तामणि में मनु, याज्ञवल्क्य, देवल और कात्यायन द्वारा समर्थित स्त्रीधनों को स्वीकृति दी है।[4] इनके अतिरिक्त उन्होंने कुछ अन्य प्रकार के स्त्रीधन भी गिनाए हैं। किंतु विवाद-चिन्तामणि में स्त्रीधन की सामान्य परिभाषा नहीं दी गई है।[4] विवाद-चिन्तामणि[5] में जिन ग्यारह प्रकार के स्त्रीधनों का वर्णन हुआ है वे निम्नलिखित हैं :—

(1) अध्यग्नि
(2) अध्यावाहनिक
(3) प्रीतिदत्त
(4) पितृदत्त
(5) मातृदत्त
(6) भ्रातृदत्त
} सभी मनु[6] के अनुसार
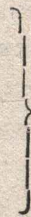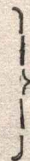
(7) अन्वाधेय
(8) सौदायिक
(9) शुल्क
} कात्यायन[7] द्वारा प्रतिपादित

---

1 (1912) 39 आई० ए० 121.

2 योग-संभवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। याज्ञ० 2/143 पर मिता०

3 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला : उपबंध 118, पृष्ठ-187.

4 पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास : 2, पृष्ठ-941.

5 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 119, पृष्ठ-188 (1982)

6 मनु० 9/194

7 कात्यायन, याज्ञ० 2/143 की मिता० टीका में उद्धृत.

(10) आभूषण	बौधायन[1] और आपस्तम्ब के अनुसार
(11) भरण-पोषण की सामग्री	देवल[2] के अनुसार। संभवतः यह उस संपत्ति की ओर संकेत है जो विभाजन के समय स्त्रियों के भरण-पोषण की व्यवस्था हेतु पृथक् कर दी जाती है।

मिताक्षरा के अनुसार स्त्रीधन के स्रोत—विभिन्न हिंदू विधि-ग्रंथों में उल्लिखित स्त्रीधन के प्रकारों से उसके निम्नलिखित स्रोतों का पता चलता है[3] :—

(1) संबंधियों के उपहार;
(2) अन्य व्यक्तियों से प्राप्त उपहार;
(3) विभाजन में प्राप्त हिस्सा;
(4) भरण-पोषण हेतु प्राप्त संपत्ति;
(5) उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति;
(6) शिल्पकला से प्राप्त धन;
(7) समझौते में प्राप्त संपत्ति;
(8) परिग्रहण द्वारा प्राप्त संपत्ति;
(9) स्त्रीधन की आय से अनुवृद्ध संपत्ति;
(10) अन्य स्रोतों से उपार्जित संपत्ति।

उपरिलिखित स्रोतों में से अनेक स्रोत ऐसे हैं जिनसे प्राप्त संपत्ति स्त्रीधन की परिभाषा में पूरी तरह नहीं आती। शास्त्रकारों ने भी इनमें से अनेक स्रोतों से प्राप्त संपत्तियों को स्त्रीधन नहीं माना है। किंतु कुछ टीकाकारों ने स्त्रियों के प्रति उदार भावना रखने के कारण उन स्रोतों से प्राप्त संपत्ति को स्त्रीधन की संज्ञा दे दी है जिन पर उन्हें केवल जीवन पर्यन्त उपभोग का अधिकार है। अतएव अध्ययन की दृष्टि से इनका पृथक्-पृथक् विवेचन आवश्यक है।

(1) **संबंधियों से प्राप्त उपहार**—स्त्री को पितृकुल या पतिकुल के संबंधी विवाह के समय या विवाहोपरांत या अन्य अवसरों पर प्रीतिवश जो भी उपहार या दान देते हैं उन्हें सभी स्मृतिकारों, टीकाकारों या न्यायालयों ने एकमत से स्त्रीधन माना है।[4]

---

1 मातुरलङ्कारं दुहित रस्सांप्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा। बौधा० ध० सू० 2/2/3/44.
अलंकारो भार्यायाज्ञातिधनं चेत्येके। आप० ध० सू० 2/6/14/9.
भार्यायास्तद्धृतोलंकारांशो ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यश्च यल्लब्धं धनं तच्चेत्येके।
उसी पर हरदत्त की उज्ज्वला वृत्ति।

2 वृत्तिराभरणं शुल्कं लाभं च स्त्रीधनं भवेत्। देवल, व्य० नि०, पृ० 470 में उद्धृत

3 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला : उपबंध 125, पृष्ठ 191.

4 विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ।
यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात्॥
प्रीत्यादत्तम् तु यत्किंचिच्छ्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा। कात्या० (याज्ञ० 2/143) मिता० में उद्धृत
विवाहात्परतो यच्च लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रिया। कात्या० (याज्ञ० 2/144) मिता० में उद्धृत

(2) **अन्य व्यक्तियों से प्राप्त उपहार**—विवाह काल में या विवाहोपरांत किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कन्या को प्रदत्त दान या उपहार स्त्रीधन के रूप में मान्य है ।[1]

(3) **विभाजन में प्राप्त हिस्सा**—विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में कन्या या विधवा को संयुक्त कौटुम्बिक संपत्ति के विभाजन के समय प्राप्त होने वाले हिस्से को भी स्त्रीधन माना है ।[2] किंतु अनेक लेखकों और आधुनिक-न्यायालयों ने इस स्रोत से प्राप्त संपत्ति को इस दृष्टि से स्त्रीधन नहीं माना कि इस प्रकार की संपत्ति का विनियोग नहीं किया जा सकता और ऐसी संपत्ति पर केवल जीवन पर्यन्त हित ही होता है, मृत्युपरांत संपत्ति पति या पिता के उत्तरभोगियों को प्रतिवर्तित हो जाती है ।[3]

(4) **भरण पोषण के लिए प्राप्त संपत्ति**— विज्ञानेश्वर ने भरण-पोषण के लिए स्त्रियों को दी गई संपत्ति को स्त्रीधन माना है ।[4] किंतु उपरिलिखित कारणों से इस प्रकार की संपत्ति को स्त्रीधन नहीं माना जाता ।[5]

(5) **उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति**— कन्या या बहिन द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त मृत पिता या भाई की संपत्ति पर बंबई और केरल प्रदेशों के अतिरिक्त संपूर्ण भारत में केवल सीमित स्वत्व है । केवल व्यवहारमयूख में स्त्रियों को उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली संपत्ति पर पूर्ण स्वत्व प्रदान किया गया है। यह ग्रंथ बंबई और केरल प्रदेशों में पूर्णतया लागू होने के कारण वहां स्त्रियों को पूर्ण स्वत्व प्राप्त है ।[6] किंतु इन क्षेत्रों में भी

---

[1] पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते । विवाहात्परतो पच्च लब्धं भर्तृकुलास्त्रिया । अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पितृकुलान्तथा । इति स्त्रीधनं परिकीर्तितमिति गतेन संबंध: —मिता० याज्ञ० 2/143-44 की मिता० टीका ।

[2] "आद्यशब्देन रिक्थ-क्रय-संविभाग-परिग्राह्यधिगम-प्राप्तं एतत्स्त्रीधनं" याज्ञ० 2/143 की मिता० टीका ।

[3] "भुंजीताऽऽमरणं क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नय:" कात्या०, हि० ध०, पृ० 458-459 पर उद्धृत
ठाकुर देवी बनाम बालक-राम, 11 एम० आई० ए० 139
दद्याद्वा "स्थावरादृते" नारद०, दाय० 4/1/23.

[4] 'आद्य-शब्देन रिक्थ-क्रय-संविभाग-परिग्रहाधिगम-प्राप्तं एतत्स्त्रीधनं' याज्ञ० 2/143 की मिता० टीका
पितृरुर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत् । याज्ञ० 2/123.
अथ 'पत्न्य: कार्या: समांशिका:' इत्यत्र 'माताप्यं समं हरेत्' इत्यत्र जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मतं-'तदसत् । 'अंश' शब्दस्य समशब्दस्य चानर्थक्यप्रसंगात् ।
याज्ञ० (2/135, की मिता० टीका ।

[5] 'भंजीताऽऽमरणंक्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयु:' कात्या० हि० प० मी०, पृ० 458-459 पर उद्धृत । ठाकुर देवी बनाम बालकराम, 11 एम० आई० ए० 139 दद्याद्वा 'स्थाबरादृते' नारद, दाय 4/1/23.

[6] बलवंतराय बनाम बाजीराव, 47 आई० ए० 213.

माता या विधवा द्वारा मृत पुत्र या पति की उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति को स्त्रीधन नहीं माना गया है ।[1] फिर भी याज्ञवल्क्य और विज्ञानेश्वर उसे स्त्रीधन मानते है ।[2]

(6) कला-कौशल से प्राप्त धन—अनेक लेखकों ने कुमारी और विधवा स्त्रियों द्वारा कला-कौशल से अर्जित संपत्ति को स्त्रीधन माना है ।[3] किंतु कात्यायन और जीमूतवाहन ने दायभाग में शिल्पकला के माध्यम से स्त्रियों द्वारा उपार्जित संपत्ति पर पति का स्वामित्व माना है ।[4] इस प्रकार कात्यायन और जीमतूतवाहन के अनुसार स्त्रियों द्वारा कला-कौशल के माध्यम से उपार्जित संपत्ति स्त्रीधन नहीं है ।[5] स्त्रियों की इस प्रकार से उपार्जित सम्पत्ति पर पति का अधिकार होता है । किन्तु कौमार्य या वैधव्यकाल में अपने कला-कौशल से उपार्जित संपत्ति पर स्त्रियों का स्वत्व होता है और वह स्त्रीधन है ।[3] हिंदू विधि की मद्रास, वाराणसी और बंबई शाखाओं में पति के जीवित रहते भी यदि कोई हिंदू स्त्री अपने कला-कौशल से धन उपार्जित करती है तो वह उसका स्त्रीधन होता है ।[6]

(7) समझौते में प्राप्त संपत्ति—स्त्री को किसी समझौते या कौटुंबिक व्यवस्था के अन्तर्गत मिली संपत्ति की बाबत यह उपधारणा नहीं होती है कि वह उस संपत्ति को केवल जीवन पर्यन्त संपदा के रूप में ही प्राप्त करती है। स्त्रीधन के अधिकार के त्याग के प्रतिफलस्वरूप किसी समझौते में मिली संपत्ति को हिंदू विधि की सभी शाखाओं ने स्त्रीधन के रूप में मान्यता दी है ।[7] क्योंकि ऐसे मामले में स्त्री अपने अधिकारों का समर्पण करती है और इससे उसे जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति कुछ अंश में ही हो पाती है । यदि इसे अधिकारों का आदान-प्रदान ही माना जाए तो भी एक अधिकार के त्याग के प्रतिफल-स्वरूप जो अधिकार प्राप्त होता है वह त्यक्त अधिकार से किसी भी अर्थ में कम नहीं होता। इसी सिद्धांत के आधार पर कोई विधवा अपने दत्तक पुत्र के साथ समझौता करने पर जो संपत्ति प्राप्त करती है, वह संपत्ति हिंदू विधि की बंबई शाखा में उसकी आत्यंतिक संपत्ति

---

1 डी० एफ० मुल्ला; प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध-130(3)(अ), पृष्ठ 195.

2 पितृरुर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं, हरेत् । याज्ञ० 2/123
'अथ पन्यः कार्याः समांशिक "इत्यत्रे" माताप्यंशं समं हरेत्' इत्यत्र जीवनोपमुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मतं तदसत् । अंश-शब्दस्य सम-शब्दस्य चानर्थक्यप्रसंगात् ।
2/135 की मिता० टीका ।

3 डी० एफ० मुल्ला, : प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 131 (1), पृ० 196.

4 प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः ।
भर्तुःस्वाम्यं भवेत् तत्र शेषन्तु स्त्रीधनं स्मृतम् । कात्या०, दाय० 4/1/19. में उद्धृत ।

5 अन्यत इति पितृ-मातृ-भर्तृकुल व्यतिरिक्तात् 'यल्लब्धं, शिल्पेन वा यदर्जितम्, तत्र भर्तुः स्वाम्यम् स्वातन्त्र्यम्, अनापद्यपि भर्त्ता ग्रहीतुमर्हति, तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनम् अस्वातन्त्र्यात् दाय० 4/1/20.

6 मुत्तु रामकृष्ण बनाम मरिमुत्तु गौडन्, 24 आई० सी० 363.

7 सौदामिनीदासी बनाम महाप्रशासक, बंगाल, (1893) 20 आई० ए० 12.

होती है।[1] और उस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता है। जीवन-पर्यन्त संपदा धारक स्त्री के उत्तरभोगी समझौते के द्वारा यदि उसकी पुत्री को, जो रूढ़ि के अनुसार उत्तराधिकारिणी नहीं है, कुछ संपत्ति दे दें तो वह संपत्ति उसका स्त्रीधन होती है।[2] इस प्रकार के समझौते में यद्यपि मृत स्त्री की पुत्री अपने अधिकार का त्याग नहीं करती है तथापि उत्तरभोगी से उसे जो संपत्ति मिलती है वह उसके साम्यापूर्ण अधिकार का प्रतिफल होती है जिसे उत्तरभोगी स्वेच्छा से प्रदान करता है। प्रीतिदत्त होने पर तो उक्त प्रकार से प्राप्त संपत्ति स्त्रीधन है ही। किंतु यदि किसी समझौते या कौटुंबिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्री को केवल भरण-पोषण के लिए कुछ संपत्ति प्रदान कर दी जाती है तो ऐसी संपत्ति उसका स्त्रीधन नहीं होगी। यह उसकी जीवनपर्यन्त संपदा होगी।

(8) **परिग्रहण द्वारा प्राप्त संपत्ति** – मिताक्षरा ने परिग्रह[3] को भी स्त्रीधन का एक स्रोत माना है। और अपने मत को मनु के कथन से पुष्ट किया है। परिग्रह का सामान्य अर्थ है, ग्रहण करना। जो संपत्ति किसी स्त्री द्वारा पति की जीवितावस्था में या वैधव्य अवधि में ग्रहण कर ली जाती है, वह प्रतिकूल कब्जे के आधार पर हिंदू विधि की सभी शाखाओं में स्त्रीधन मानी गई है।[4] किंतु प्रतिकूल कब्जे के आधार पर परिगृहीत संपत्ति सभी स्त्रीधन होती है जब उसका प्रतिकूल कब्जे की, परिसीमा विधि में एतदर्थ दी गई अवधि पूरी हो जाती है।[4]

(9) **स्त्रीधन की आय से अनुवृद्ध संपत्ति**—जिस संपत्ति को कोई स्त्री अपने स्त्रीधन का बिक्रय करके अथवा स्त्रीधन की आय से हुई बचत से क्रय करती है, वह हिंदू विधि की सभी शाखाओं द्वारा स्त्रीधन मानी गई है।[5] यदि कोई स्त्री अपने स्त्रीधन की बचत से स्थावर संपत्ति भी क्रय करती है तो भी वह उसका स्त्रीधन है[6] क्योंकि उसकी अनुवृद्धि स्त्रीधन से हुई है।

(10) अन्य स्रोतों से उपार्जित संपत्ति—समय की गति के साथ संपत्ति उपार्जन के स्रोत भी विकसित होते रहे हैं और भविष्य में भी होंगे। अविवाहित नर्तकियों की आय से उपार्जित संपत्ति स्त्रीधन मानी जा सकती है। आधुनिक काल में काम-काजी महिलाओं की आय स्त्रीधन हो सकती है, क्योंकि इसके उपार्जन में उनके स्वयं के श्रम का और बुद्धि का उपयोग हुआ है। उन्हें अपनी आय को इच्छानुसार व्यय करने का हक है। उनकी इस प्रकार की आय हिंदू विद्याधन अधिनियम, 1930 के उपबंधों के अनुसार कौटुंबिक संपत्ति नहीं है।

स्त्रीधन पर स्त्रियों का अधिकार—मिताक्षरा विधि में स्त्रीधन पर स्त्रियों के अधिकार अत्यधिक विस्तृत हैं। किंतु उसके द्वारा प्रतिपादित सभी प्रकार के अधिकार विधि

---

1 पुरुषोत्तम **बनाम** केशवलाल, ए० आई० आर० 1932 मुम्बई 213.

2 राय राजेश्वर **बनाम** हरिकृष्ण, ए० आई० आर० 1938 अवध 170.

3 'परिग्रहाधिगम-प्राप्तं एतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्' याज्ञ० 2/143 पर मिता० टीका।

4 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 133, पृष्ठ 197.

5 लक्ष्मण **बनाम** कालीचरण, 1873, 19 डब्ल्यू० आर० 292 (पी० सी०).

6 श्रीराम **बनाम** जगदम्बा, ए० आई० आर० 1921 इलाहाबाद 11.

जगत् में मान्य नहीं हो सके। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विज्ञानेश्वर ने अनेक ऐसी संपत्तियों को भी स्त्रीधन के रूप में माना है जिन पर उन्हें मात्र जीवनपर्यन्त हित ही प्राप्त है—यथा उत्तराधिकार और विभाजन आदि में प्राप्त संपत्ति। उल्लेखनीय है कि आधुनिक काल में न्यायालयों ने केवल उन्हीं संपत्तियों को स्त्रीधन माना जो कात्यायन की परिभाषानुसार स्त्रीधन मानी गई हैं। शेष संपत्तियों को स्त्रीधन नहीं माना। फलस्वरूप, विज्ञानेश्वर के स्त्रीधन संबंधी अधिकार संकुचित हो गए।

कात्यायन के अनुसार "सौदायिक धन की प्राप्ति पर घोषित किया गया है कि स्त्रियां उस पर स्वतंत्र अधिकार रखती हैं, क्योंकि वह उनके संबंधियों द्वारा इसलिए दिया गया है कि वे दुर्दशा को न प्राप्त हों। ऐसा घोषित है कि विक्रय और दान में सौदायिक संपत्ति पर स्त्रियों का पूर्ण अधिकार होता है। इतना ही नहीं सौदायिक स्थावर संपत्ति पर भी उनका अधिकार होता है। विधवा हो जाने पर वे पति द्वारा प्रदत्त जंगम उपहारों का मनोनुकूल व्यय कर सकती हैं, पर पति के जीवित रहने पर उसकी रक्षा करनी चाहिए या उनका कुटुंब के लिए व्यय किया जाना चाहिए। फिर भी पति या पुत्र और पिता या भाईयों को किसी स्त्री के स्त्रीधन को व्यय करने या विघटित करने का अधिकार नहीं है।"[1]

कात्यायन की स्त्रीधन संबंधी उपर्युक्त व्यवस्था का अध्ययन करने से पता चलता है कि स्त्रीधन पर हिंदू स्त्रियों के अधिकार तीन प्रमुख प्रकारों में विभक्त हैं—यथा कुमारी कन्या के अधिकार, विवाहिता सधवा स्त्री के अधिकार और विधवा के अधिकार। परिस्थितियों के अनुसार स्त्रियों के स्त्रीधन अधिकारों में परिवर्तन होता रहता है। कात्यायन ने पति को महत्व देने के लिए मनु के विचारों का अनुसरण किया है, जिसमें उन्होंने पत्नी द्वारा स्त्रीधन के व्ययनार्थ पति की अनुमति को आवश्यक माना है।[2] यहां कात्यायन इस पक्ष के अवश्य हैं कि पति का नियंत्रण मात्र उसके द्वारा प्रदत्त संपत्ति पर ही होता है न कि अन्यों द्वारा प्रदत्त संपत्ति पर। अध्ययन की दृष्टि से यह सुविधाजनक होगा कि स्त्रियों की तीनों अवस्थाओं को ध्यान में रखकर उनके अधिकारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाए।

1. **कौमार्यावस्था में स्त्रीधन पर अधिकार**—कुमारी कन्याएं स्थावर या जंगम किसी भी प्रकार की संपत्ति का इच्छानुसार दान-विक्रय या उपभोग कर सकती हैं।[3] पाण्डुरंग वामन काणे के अनुसार 'कुमारी हिंदू स्त्री सभी प्रकार के स्त्रीधन का उपभोग मनोनुकूल कर सकती है'।[3] किंतु हिंदू कुमारी जब तक अवयस्क है तब तक अपने स्त्रीधन का

---

1 सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वायन्त्र्यमिष्यते।
यस्मात्त दानृशंस्यार्थं तैर्दत्तंतत्प्रजीवनम् ॥
सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातंत्र्यं परिकीर्त्तितम्।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥ कात्या०, दाय० 4/1/21 में उद्धृत।
न भर्त्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः ॥ कात्यायन, दाय० 4/1/25 में उद्धृत

2 स्वकादपि च वित्तादधि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया। मनु० 9/199.

3 पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहासः 2, पृष्ठ 942.

अन्य संक्रामण नहीं कर सकती, न ही उसे विल करने की शक्ति प्राप्त है । आवश्यकता पड़ने पर अवस्यक कुमारी कन्या अपने संरक्षक के माध्यम से संपत्ति को अन्यसंक्रांत कर सकती है[1] किंतु ऐसा अन्यसंक्रामण तभी वैध होगा जब न्यायालय स्वीकृति प्रदान कर दे । विधि के इस नियम से उनके अधिकारों का हनन नहीं होता है । वस्तुतः इनकी मानसिक अपरिपक्वता के कारण उनके हितों की रक्षार्थ ही ऐसा नियम बना है । यह प्रतिबंध तभी तक है जब तक वह अवयस्क रहती है । वयस्क होते ही प्रतिबंध स्वतः हट जाता है ।

2. **विवाहितावस्था में स्त्रीधन पर अधिकार**—स्त्रीधन संबंधी विवाहित स्त्रियों के अधिकार वस्तुतः उनके स्त्रीधन की प्रकृति पर निर्भर होते हैं । अधिकारों की दृष्टि से स्त्रीधन दो वर्गों में विभक्त है—यथा सौदायिक और असौदायिक । इनका पृथक्-पृथक् विवेचन नीचे किया जाएगा ।

(क) **सौदायिक स्त्रीधन**—सौदायिक संज्ञक स्त्रीधन का उल्लेख कात्यायन ने किया है । विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं इसके अर्थ पर भी विचार किया है । कात्यायन के अनुसार सौदायिक वह स्त्रीधन है जो विवाहित स्त्री अथवा कुमारी कन्या को पति या पितृगृह में भाई, माता-पिता और संबंधियों से उपहार स्वरूप प्राप्त होता है ।[2] स्पष्टतया सौदायिक वह स्त्रीधन है जो हिंदू स्त्री को पितृपक्ष के संबंधियों और पतिपक्ष के संबंधियों द्वारा विवाह से पूर्व, विवाह के समय या विवाहोपरांत उपहार रूप में प्राप्त होता है ।[3] ऐसे उपहार वसीयत द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते हैं ।[4] जीमूतवाहन के अनुसार सौदायिक वह धन है जो 'सुदाय' अर्थात् स्नेह रखने वाले संबंधियों से प्राप्त होता है ।[5] कहने का तात्पर्य यह है कि 'सुता' (पुत्री) का 'दाय' (धन) सुदाय है । पुत्री का विवाह होने पर उसका 'सुदाय' भी उसके साथ ही पतिगृह चला जाता है और वहां उसे सौदायिक (सुदाय संबंधी) धन कहने लगते हैं । पतिगृह में उसे जो उपहार मिलते हैं वे सभी सौदायिक में जुड़ते जाते हैं । यही कारण है कि स्त्री को दोनों कुलों से मिले उपहार सौदायिक कहे जाते हैं । सौदायिक का एक विशिष्ट उद्देश्य है और उस पर स्त्री के अधिकार उसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उदित हुए हैं । कात्यायन के अनुसार वह उद्देश्य है स्त्रियों को जीवन की दुर्दशाओं से बचाना ।[6] वे जीवन में दुर्दशा से तभी बच सकती हैं जब उन्हें सौदायिक स्त्रीधन को विक्रय करने का

---

1 डी० एफ० मुल्ला, : प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 142, पृष्ठ 199. (1982 सं०)

2 ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृ गृहेऽपि वा ।
भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥ कात्या० याज्ञ० 2/143 की मिता० टीका में उद्धृत ।

3 यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत् ।
पितृभर्तृगृहात्प्राप्तं धनं सौदायिकं स्मृतम् ॥ व्यास, स० वि०, पृष्ठ 378 में उद्धृत ।
मुत्तु कारुप्पा **बनाम** शीलता अम्माल, (1916) 26 आई० सी० 785.
राजम्मा **बनाम** वरदराजुलु, ए० आई० आर० 1957 मद्रास 198.

4 डी० एफ० मुल्ला : प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 143, पृ० 200.

5 सुदायः संबंधिभ्यो लब्धं सौदायिकम् । दाय० 4/1/22.

6 सौदायिक धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते ।
यस्मात्तदानृशंस्यार्थंतैर्दत्तं तत्प्रजीवनम् ॥ कात्या०, दाय० 4/1/21 में और स्मृ० 2, पृष्ठ 282 पर उद्धृत ।

पूर्ण अधिकार हो।[1] अतएव स्त्रियों को स्थावर सौदायिक संपत्ति को भी पति की अनुमति के बिना विक्रय करने या दान देने की पूर्ण शक्ति प्राप्त है। मुम्बई उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि विवाहित पुत्री को अपने माता-पिता से विरासत में प्राप्त संपत्ति उसका सौदायिक स्त्रीधन है जिसका व्ययन वह पति संरक्षण में रहते हुए भी बिना उसकी अनुमति के कर सकती है।[2]

(ख) **असौदायिक स्त्रीधन**—कात्यायन ने दो प्रकार के असौदायिक स्त्रीधन का उल्लेख किया है—प्रथम, हिंदू स्त्री का शिल्प-कला से उपार्जित धन तथा द्वितीय, संबंधियों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त धन।[3] उन्हें असौदायिक इसलिए कहते हैं कि इनमें 'सुदाय' का तत्व नहीं होता। यद्यपि विवाह आदि अवसरों पर ही संबंधियों से अतिरिक्त लोग भी कन्या या स्त्री को उपहार प्रदान करते हैं तथापि उनके उपहार में मात्र औपचारिकता होती है, स्नेह नहीं। प्रायः ऐसे उपहार जंगम संपत्ति के रूप में होते हैं और व्यवहार में जंगम संपत्ति के व्ययन पर सामान्यतया पति द्वारा नियंत्रण किया जाना दुष्कर है। स्थावर असौदायिक संपत्ति पर ही पति नियंत्रण रख सकता है। असौदायिक स्त्रीधन के व्ययन पर पति का नियंत्रण पत्नी के अनुशासन से ही स्थापित हो सकता है। फिर भी शास्त्रकारों ने दृढ़तापूर्वक असौदायिक स्त्रीधन के व्ययन के लिए पति की अनुमति लेना अनिवार्य घोषित किया है। इस हिंदू विधि को न्यायालय ने भी मान्यता दे दी है। अब यह सुस्थिर विधि है कि कोई हिंदू स्त्री अपने असौदायिक स्त्रीधन का विक्रय या दान पति की अनुमति के बिना नहीं कर सकती।[4] हिंदू विधि का उक्त नियम शिल्प-कला से उपार्जित संपत्ति की बाबत अवश्य प्रभावी होता है। यदि पत्नी पति के संरक्षण में रहती है तो उसे असौदायिक स्त्रीधन के व्ययन से पूर्व उसकी अनुमति लेना अनिवार्य है भले ही वह एक ही घर के पृथक् खंड में रहती हो।[5] किंतु पति के संरक्षण या नियंत्रण से बाहर रहने की दशा में असौदायिक स्त्रीधन के व्ययन हेतु पति की अनुमति लेना आवश्यक नहीं है[6] क्योंकि ऐसे मामले में अनुमति लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। पति की मृत्यु के पश्चात् असौदायिक स्त्रीधन के व्ययन की उसकी शक्ति आत्यंतिक हो जाती है। नियंत्रण का अर्थ है मात्र पति का नियंत्रण, न कि किसी अन्य व्यक्ति या संबंधी या कुटुंबी-जनों का नियंत्रण। कौटुम्बिक अनुशासन के रूप में 'नियंत्रण' का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(3) **वैधव्यकाल में स्त्रीधन पर अधिकार**—विधवा हिंदू स्त्री को सभी प्रकार के स्त्रीधन में व्ययन की शक्ति है चाहे वह पति की मृत्यु के पूर्व उपार्जित की गई हो या

---

1 सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्त्तितम्।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥ कात्या० दाय० 4/1/21, में उद्धृत।

2 गजानन बनाम पाण्डुरंग, ए० आई० आर० 1950 मुम्बई 178.

3 प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः।
भर्तुःस्वाम्यं भवेत् तत्र शेषं तु स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ कात्या० दाय० 4/1/199 में उद्धृत।

4 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 143, पृष्ठ 200.

5 साराबाई बालकदास बनाम नरायणदास वैरागी, ए० आई० आर० 1943 मुम्बई 224.

6 शान्ताबाई बनाम रामचन्द्र, ए० आई० आर० 1960 मुम्बई 408.

पश्चात् ।[1]

स्त्रीधन की विशेषताएं :

स्त्रीधन पर स्त्री की आत्यंतिक शक्ति के बारे में पहले बताया जा चुका है। यहां स्त्रीधन की अन्य विशेषताओं के बारे में विचार किया जाएगा। स्त्रीधन की अन्य विशेषताएं हैं—

(1) पति द्वारा स्त्रीधन के दुरुपयोग पर विधिक प्रतिबंध; (2) पति द्वारा स्त्रीधन पर अवैध कब्जा करने पर विधिक उपचार; और (3) पति द्वारा पत्नी को स्त्रीधन देने के वचन-मात्र से पत्नी के अधिकार की उत्पत्ति। उक्त तीनों विशेषताएं स्त्रीधन पर स्त्रियों के अधिकार और स्वत्व को विधि में सबल बनाती हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि हिंदू विधि में स्त्रीधन संबंधी स्त्री के अधिकार पति के माध्यम से न प्राप्त होकर, उसके स्वतंत्र अधिकार हैं जो प्राचीनतम काल से ही विधिमान्य हैं। अब उक्त विशिष्टताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाएगा।

पति द्वारा स्त्रीधन के दुरुपयोग पर विधिक प्रतिबंध—मनु का मत है कि यदि स्त्रीधन का उसके बान्धव किसी प्रकार से दुरुपयोग करते हैं तो वे चोर की भांति दंड के भागी हैं।[2] कात्यायन इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि पति, पुत्र, पिता या भाई स्त्रीधन का बलात् दुरुपयोग करें तो वह ब्याज सहित लौटाने का और दंड का भागी है।[3] इतना ही नहीं यदि वह अनुमति लेकर भी उसका उपयोग करे तो भी वह उसे लौटाने या चुकाने का दायी है।[4] इससे स्त्री के अधिकार ऋणदाता के हो जाते हैं और तब तक बने रहते जब तक कि वह उसे वापस नहीं पा जाती। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रीधन का बलपूर्वक दुरुपयोग होने या अनुमति लेकर उपयोग किए जाने पर स्त्री को उसे वापस पाने का न्याय-प्रक्रिया में विधिक उपचार प्राप्त है।

पति द्वारा स्त्रीधन पर अवैध कब्जा करने पर विधिक उपचार—यदि किसी व्यक्ति की दो पत्नियां हैं और वह प्रथम पत्नी से दाम्पत्य संबंध नहीं रखता फिर भी उसके

---

1 वृजेन्द्र **बनाम** जानकी कुंअरि, 5 आई० ए० 1, डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 144, पृष्ठ 201.

2 जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुःस्वबान्धवाः।
तांच्छिष्याच्चौर-दण्डेन धार्मिकः पृथिवी पतिः॥ मनु० 8/29.
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति। याज्ञ० 2/147.

3 न भर्त्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः॥
यदि ह्येकतरस्त्वेषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात्।
स वृद्धिं प्रतिदाप्यः स्याहर्ण्डंचैव समाप्नुयात्॥ —कात्यायन, दाय० 4/1/24 में उद्धृत।

4 तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत्प्रीतिपूर्वकम्। मूलमेव तदादाप्यो यदा सा धनवान्भवेत्॥
कात्या० दाय० 4/1/24 में उद्धृत।

स्त्रीधन को वह अपने कब्जे में रखे हुए है तो परित्यक्त पत्नी उसे अपने कब्जे में लेने की हकदार है; भले ही उस स्त्रीधन को पत्नी ने ही पति को पहले प्रीतिवश स्वयं दिया हो।[1] स्पष्टतया उसमें सौदायिक और असौदायिक दोनों ही प्रकार के स्त्रीधन आते हैं क्योंकि पति के संरक्षण में रहने पर ही असौदायिक स्त्रीधन पर पति का नियंत्रण रहता है। संरक्षण समाप्त होते ही असौदायिक स्त्रीधन पर से पति का नियंत्रण भी समाप्त हो जाता है।

(3) **पति द्वारा पत्नी को स्त्रीधन देने के वचन मात्र से पत्नी के अधिकार की उत्पत्ति**—यदि पति पत्नी को कुछ स्त्रीधन देने का वचन देकर मर जाए तो उसे पुत्रों को ऋण की भांति चुकाना होगा।[2] किंतु शर्त यह है कि विधवा पति कुल में ही रहे। यदि विधवा पितृकुल में चली जाए तो वह उक्त स्त्रीधन को पुत्रों से प्राप्त करने की हकदार नहीं रह जाती।

स्त्रीधन का उत्तराधिकार

हिंन्दू विधि के अधीन अविवाहित कन्याओं का स्त्रीधन के लिए पृथक् उत्तराधिकार क्रम है। किंतु विवाहित स्त्रियों का उत्तराधिकार विवाह के प्रकार पर निर्भर है। ब्राह्मादि चार प्रशस्त विवाह के प्रकारों और आसुरादि चार निन्द्य विवाह के प्रकारों के आधार पर स्त्रीधन के उत्तराधिकार क्रम में विभेद है। निबंधकारों ने उत्तराधिकार क्रम निर्धारित करते समय रूढ़ियों को भी ध्यान में रखा है। यह स्वाभाविक ही है कि जब लेखक अनेक प्रकार से चिंतन करेंगे तो उनमें मत-मतान्तर होंगे ही।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार में पुत्री को प्राथमिकता

हिंदू विधि में स्त्रीधन के उत्तराधिकार में पुत्रों की अपेक्षा पुत्रियों को प्राथमिकता दी जाती है।[3] यदि पुरूषों के उत्तराधिकारियों में पुरूष वंशजों को प्राथमिकता देने की विधि प्रतिपादित हुई है तो प्राकृतिक विधि के अधीन यह स्वाभाविक ही है कि स्त्रियों के उत्तराधिकारियों में स्त्री वंशजों को प्राथमिकता देकर उन्हें समान स्तर पर लाया जाये। पुत्रियों में अविवाहित कन्याओं को वरीयता दी गई है। उनके अभाव में विवाहित पुत्रियों में निर्धन या कम धनी पुत्री उत्तराधिकारिणी होती है।[4] इस व्यवस्था में भी प्राकृतिक न्याय को ही

---

[1] अथ चेत्स द्विभार्यः स्यान्न च तां भजते पुनः।
प्रीत्या विसृष्टमपि चेत्प्रतिदाप्यः स तद्बलात्॥ कात्या०, दाय० 4/1/24 में उद्धृत

[2] भर्त्रा प्रतिश्रुतं देयमृणवत्स्त्रीधनं सुतैः।
तिष्ठेद् भर्तृकुले या तु न सा पितृकुले वसेत्॥
—कात्या० व्य० नि०, पृ० 470, में उद्धृत।

[3] स्त्रीधनं दुहितृणाम् अप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। गौत० ध० सू० 28/25.
मातुरलङ्कारं दुहितरस्साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यन्यद्वा। बौधा० धम० सू० 2/2/3/41.

[4] 'अप्रतिष्ठितानां' गौत० ध० सू० 28/25। अप्रतिष्ठिता का अर्थ निर्धन है, यथा 'अप्रतिष्ठिता निर्धना'। याज्ञ० 2/117 की मिता० टीका।

आधार बनाया गया है। विज्ञानेश्वर ने यह स्पष्टीकरण किया है कि पुत्रियों में माता का अंश अधिक होने से ही उन्हें माता की उत्तराधिकारिणी माना गया है।[1] उनका तर्क जीव-विज्ञान पर आधारित है।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार क्रम में पुत्रों का स्थान

पुत्रियों के अभाव में स्त्रीधन पुत्रों को न्यागमित होता है।[2] किंतु जंगम स्त्रीधन की बाबत ही यह उत्तराधिकार क्रम है। स्थावर स्त्रीधन का न्यागमन पति के उत्तराधिकारियों को होता है। फलस्वरूप इस प्रकार के स्त्रीधन के उत्तराधिकार क्रम में पुत्रों का स्थान प्रथम हो जाता है। कौटिल्य ने बिना किसी विभेद के स्त्रीधन के उत्तराधिकार क्रम में पुत्रों का स्थान माना है।[3] मनु के मतानुसार स्त्रीधन के उत्तराधिकार में पुत्र-पुत्री समान स्तर के हकदार हैं।[4] किंतु याज्ञवल्क्य[5] द्वारा स्त्रीधन के उत्तराधिकार क्रम में पुत्रियों को प्रथम स्थान दिए जाने के परिणामस्वरूप विज्ञानेश्वर को इसका प्रबल समर्थन करने का अवसर मिल गया और मिताक्षरा, प्रभावित क्षेत्र में यही उत्तराधिकार क्रम विधिमान्य हो गया।

मिताक्षरा विधि

स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम

कुमारी कन्याओं के स्त्रीधन के उत्तराधिकार-क्रम में हिंदू विधि की सभी शाखाओं में मतैक्य है[6] और संपत्ति का न्यागमन निम्नलिखित क्रम में होता है :—

(1) सहोदर भाई;

(2) माता;

---

1 'पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः' इति स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि। याज्ञ० 2/117 पर मिता० टीका।

2 याज्ञ० 2/117 के 'ताभ्य ऋतेन्वयः' का अर्थ करते हुए विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में लिखा है 'ताभ्यो दुहितृभ्यो विना दुहितृणामभावे अन्वयः पुत्रादिर्गृह्णीयात्।'

3 तत्र स्त्रीधनं पुत्रा हरेयुः। कौटि० अर्थशास्त्र 3/2.

4 जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥ मनु० 9/192.

5 मातृदुहितरःशेषमृणात् ताभ्य ऋतेन्वयः॥ याज्ञ० 2/117.

6 अन्नागौड़ बनाम प्रतिपाल्य अधिकरण, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 60.

(3) पिता;

(4) पिता के वारिस (दायाद)---सपिण्डज, समानोदक, बंधु रक्त-सन्निकटता के क्रम में[1], उदाहरणार्थ अर्ध रक्त बहिन की अपेक्षा पूर्ण रक्त बहिन को प्राथमिकता दी जाती है।[2]

(5) मृतक कन्या के रक्त-संबंधी, अर्थात् उसकी माता के वारिस (दायाद), रक्त-सन्निकटता के क्रम में।[3]

मिताक्षरा ने ऊपर के केवल तीन ही उत्तराधिकार क्रम दिये हैं[3] किंतु न्यायिक निर्णयों के आधार पर पिता के दायाद (वारिस) और कन्या के रक्त संबंधी दो और जोड़ दिए गए हैं। इन उत्तराधिकारियों को उत्तराधिकार क्रम में व्यवहारतः स्थान मिला है, जो हिंदू विधि में सपिंड संबंध के अनुसार विधिसंगत है। सपिंड संबंध पहले पितृपक्ष में देखा जाता है। उसमें दायादों का अभाव होने पर मातृपक्ष के सपिंड संबंध में दायाद (वारिस) का पता लगाया जाता है जो वस्तुतः रक्त संबंध की सन्निकटता पर आधारित होता है। इसी आधार पर बम्बई क्षेत्र में पिता की बहिन को पिता के गोत्रज पुरूष सपिंडों की अपेक्षा वरीयता दी गई है।[4] किंतु मद्रास क्षेत्र में पिता की बहिन बंधु मानी जाती है और वहां पिता के गोत्रज पुरूष सपिंडों को पिता की बहिन की अपेक्षा वरीयता प्रदान की जाती है।[5] कलकत्ता उच्च न्यायालय ने मिताक्षरा विधि के अधीन कुमारी कन्या की बहिन और उसके पुत्र को निकटतर रक्त संबंधी माना है अपेक्षाकृत पिता के भाई के पुत्र के।[6] कलकत्ता उच्च न्यायालय ने बहिन को पूर्ण रक्त-संबंधी माना क्योंकि वह मृतक के ही माता-पिता की संतान है और इस प्रकार उसका पुत्र निकटतम रक्त संबंधी है।

विवाहित स्त्री के शुल्क का उत्तराधिकार क्रम

मिताक्षरा विधि की सभी शाखाओं के अनुसार विवाहिता स्त्रियों की निःसंतान मृत्यु होने पर शुल्क प्रकार के स्त्रीधन का न्यागमन उसी क्रम में होता है जिस क्रम में

---

[1] यत्तु कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं शिरोभूषणादिकं वा क्रमायातं तत्सहोदरा भ्रातरो गृह्णीयुः। रिक्थं मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तभावे पितुः इति बौधायनस्मरणात्। याज्ञ० 2/146 की मिता० टीका, विज्ञानेश्वर ने अपने मत की पुष्टि में बौधायन का एक वचन उद्धृत किया है।

[2] अन्नागौड़ **बनाम** प्रतिपाल्य अधिकरण, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 60.

[3] शकुन्तला बाई **बनाम** प्रतिपाल्य अधिकरण, ए० आई० आर० 1942 नागपुर 57.

[4] तुकाराम **बनाम** नारायण, (1912) 14 आई० सी० 438.

[5] सुन्दरराम **बनाम** रामसामैया, ए० आई० आर० 1920 मद्रास 728.

[6] द्वारिका नाथ **बनाम** सूरत चन्द्र, 11 आई० सी० 872.

कुमारी कन्या के स्त्रीधन का ।[1]

(1) सहोदर भाई;

(2) माता;

(3) पिता;

(4) पिता के वारिस (दायाद)—सपिंडज, समानोदक और बंधु ।

मिताक्षरा ने केवल माता तक ही उत्तराधिकार-क्रम दिया है किंतु यदि माता की भी मृत्यु हो चुकी हो । तो किसे शुल्क प्रकार का स्त्रीधन न्यागमित होगा इस विषय पर मिताक्षरा चुप है । जब कहीं पर शास्त्र चुप रहते हैं तब रिक्तता की पूर्ति हेतु विकल्प की खोज की जाती है। विकल्प की इस खोज में कुमारी कन्या के स्त्रीधन के उत्तराधिकार-क्रम को उपयोगी मानना विधिसंगत है । मुल्ला[2] ने इसी ओर संकेत किया है । याज्ञवल्क्य[3] स्पष्टत: कहते हैं कि शुल्क प्रकार का स्त्रीधन पितृकुल के संबंधियों को प्रत्यावर्तित हो जाता है । मिताक्षरा इसकी टीका करते हुए कहती है कि 'शुल्क वस्तुतः वर द्वारा कन्या के पिता को दिया जाता है और पिता स्वेच्छया उस शुल्क को कन्या को देता है, अतएव कन्या की निःसंतान मृत्यु पर शुल्क पर पितृकुल का ही अधिकार होता है, पति का नहीं;[4] क्योंकि पति ने तो वह दिया ही है । अपने कथन की पुष्टि में मिताक्षरा ने कात्यायन[5] के वचन से कहा है कि जिस प्रकार विवाहोपरान्त प्राप्त स्त्रीधन पतिकुलगामी है उसी प्रकार ,विवाहपूर्व प्राप्त स्त्रीधन पितृकुलगामी है । मिताक्षरा और कात्यायन की यही व्यवस्था आज विधि-मान्य है ।

विवाहिता के शुल्क से अतिरिक्त स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम—मिताक्षरा हिंदू विधि में शुल्क के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के स्त्रीधनों का न्यागमन निम्नलिखित क्रम में होता है[6] :—

---

1 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 146, पृष्ठ 202.
शुल्कं तु सोदर्याणामेंव । 'भगिनीशुल्क सोदर्याणामूर्ध्वं' मातुः, इति गौतम वचनात् (गौत० ध० सू० 28/26) याज्ञ० 2/145 की मिता० टीका ।

2 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 146, पृष्ठ 202.

3 बंधुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।
अतीतायामप्रजसि बांधवास्तदवाप्नुयुः ॥ याज्ञ० 2/144.

4 किंच बंधुभिः, कन्याया मातृबंधुभिः पितृबंधुभिश्च यद्दत्तं, शुल्कं यद्गृहीत्वा कन्या दीयते । अन्वाधेयकं परिणयनादनु पश्चादाहितं दत्तम् । उक्तं च कात्यायनेन 'विवाहात्परतो यच्च लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रिया । अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पितृ कुलात्तथा ॥
याज्ञ० 2/144 की मिताक्षरा टीका ।

5 वही ।

6 स्त्रीधनप्रजसि अनपत्यायां दुहितृदौहित्रीदौहित्रपुत्रपौत्ररहितायां स्त्रियामतीतायां बांधवा भर्त्रादयो वक्ष्यमाणा गृह्णन्ति । याज्ञ० 2/144 की मिता० टीका ।

(1) अविवाहित पुत्री;

(2) धनहीन विवाहिता पुत्री;

(3) धनी विवाहिता पुत्री;

(4) दौहित्री;

(5) दौहित्र;

(6) पुत्र;

(7) पौत्र।

इन वारिसों के अभाव में ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य और गांधर्व चार स्वीकृत विवाह प्रकारों से विवाहित निःसंतान मृत स्त्रियों का स्त्रीधन निम्नलिखित उत्तराधिकार-क्रम में न्यागमित होता है[1] :—

(8) पति;

(9) पति के वारिस—सपिंडज, समानोदक अथवा बंधु;

(10) राजा।

किंतु असुरादि चार अस्वीकृत विवाह प्रकारों से विवाहित निःसंतान मृत स्त्रियों का स्त्रीधन उपरिलिखित सात वारिसों के अभाव में निम्नलिखित क्रम में न्यागमित होता है[2]:—

(8) माता;

(9) पिता;

(10) पिता के वारिस—सपिंडज, समानोदक अथवा बंधु;

(11) पति के वारिस—सपिंडज, समानोदक अथवा बंधु;

(12) राजा।

मिताक्षरा विधि की विभिन्न शाखाओं के अनुसार स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम

वाराणसी शाखा के अनुसार स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम : हिंदू विधि की वाराणसी शाखा में पूर्णतया वही उत्तराधिकार क्रम स्त्रीधन के न्यागमन में मान्य है, जो मिताक्षरा विधि का

---

[1] अप्रजसःस्त्रियाः पूर्वोक्तायाः ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्येषु चतुषु विवाहेषु भार्यात्वं प्राप्ताया अतीतायाः पूर्वोक्तं धनं प्रथमं भर्तुर्भवति। तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां सपिंडानां भवति। याज्ञ० 2/145 पर मिता० टीका।

[2] 'शेषेष्वासुरगांधर्वराक्षस पैशाचेषु विवाहेषु तदप्रजस्त्रीधनं पितृगामि।
माता च पिता च पितरौ तौ गच्छतीति पितृगामी। एकशेषनिर्दिष्टाया अपि मातुः प्रथम धनग्रहणं पूर्वमेवोक्तम्। तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां धनग्रहणम्। याज्ञ० 2/145 पर मिता० टीका।

है[1] जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

बम्बई शाखा के अनुसार स्त्रीधन का उत्तराधिकार क्रम—बम्बई क्षेत्र में मिताक्षरा के साथ-साथ व्यवहारमयूख भी एक प्रामाणिक ग्रंथ है। अतएव जिन क्षेत्रों में व्यवहार-मयूख का प्रभाव अधिक है, वहां ब्रिटिशकाल में उसे अधिक प्रामाणिकता इस विधिक सिद्धांत के आधार पर मिली कि जहां सामान्य और विशिष्ट दोनों विधियां हों, वहां विशिष्ट विधिमान्य है। बम्बई द्वीप, गुजरात के कुछ क्षेत्र और उत्तरी कोंकण में व्यवहारमयूख के अनुसार स्त्रीधन का न्यागमन होता है। आगे व्यवहारमयूख के अनुसार उत्तराधिकार-क्रम का उल्लेख किया जा रहा है।

व्यवहारमयूख ने उत्तराधिकार हेतु स्त्रीधन को दो वर्गों में विभक्त किया है :—पारिभाषिक और अपारिभाषिक[2]।

(1) पारिभाषिक स्त्रीधन पुनः निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त है। इनके उत्तराधिकार-क्रम भी साथ-साथ दिये जा रहे हैं :—

(1) शुल्क –इसका उत्तराधिकार-क्रम मिताक्षरा के शुल्क उत्तराधिकार-क्रम की ही भांति है।[3]

(2) **यौतक**—यौतक स्त्रीधन के उत्तराधिकार-क्रम में सर्वप्रथम अविवाहिता पुत्री आती है।[4] उसके अभाव में विवाहिता पुत्री और उसके वंशज आते हैं।[5] यहां उल्लेखनीय है कि व्यवहारमयूख केवल अविवाहिता कन्या का उल्लेख करता है। यदि अविवाहिता पुत्री नहीं हो तो यौतक स्त्रीधन का न्यागमन मिताक्षरा के शुल्क के अतिरिक्त विवाहिता स्त्री के स्त्रीधन के उत्तराधिकार-क्रम के अनुसार होना चाहिए क्योंकि विशिष्ट विधि की व्यवस्था जहां समाप्त हो जाती है, वहां से सामान्य विधि की व्यवस्था प्रभावी हो जाती है।

(3) **अन्वाधेय और भर्तृदत्त**—इस प्रकार के स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम निम्नलिखित है :—

(क) पुत्र एवं अविवाहिता पुत्री इन दोनों का अंश समान होता है।[6] अविवाहिता पुत्री के अभाव में,

---

1 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 148, पृष्ठ 205.

2 पूर्वोक्तपारिभाषिकस्त्रीधनं एव।.........तेन पारिभाषिकातिरिक्तं मातृधनं दुहितृसत्वे पुत्रादय एव लभेरन्। व्य० मयू०, पृष्ठ 100.

3 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 151, पृष्ठ 206,

4 वही।

5 वही।

6 दयालदास बनाम सावित्रीबाई, 6 आई० सी० 533.

(ख) पुत्र और विवाहिता पुत्री इन दोनों का अंश समान होता है। इन दोनों के अभाव में,

(ग) दौहित्र एवं दौहित्री, तत्पश्चात्,

(घ) पौत्र इन सभी के अभाव में,

(ङ) निःसंतान स्त्री का स्त्रीधन पति और उसके वारिसों (दायादों) को न्यागमित होता है पर तभी जब विवाह चार स्वीकृत विवाह प्रकारों में से किसी एक से सम्पन्न हुआ हो और यदि किसी अस्वीकृत विवाह-प्रकार से विवाह हुआ हो तो स्त्रीधन पितृपक्षगामी होगा। इन दोनों के उत्तराधिकार-क्रम का पृथक्-पृथक् उल्लेख ऊपर मिताक्षरा के उत्तराधिकार-क्रम में किया जा चुका है।

(4) **अन्य प्रकार के पारिभाषिक स्त्रीधन**—अन्य प्रकार के स्त्रीधन का न्यागमन विवाहिता स्त्री के शुल्क से अतिरिक्त स्त्रीधन के मिताक्षरा विधि के उत्तराधिकार-क्रम के अनुसार होता है।[1]

(2) **अपारिभाषिक स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम**—अपारिभाषिक स्त्रीधन के न्यागमन हेतु व्यवहार-मयूख में निम्नलिखित उत्तराधिकार क्रम दिया है[2] :—

(1) पुत्र;

(2) पौत्र;

(3) प्रपौत्र;

(4) पुत्री;

(5) दौहित्र (पुत्री का पुत्र);

(6) दौहित्री (पुत्री की पुत्री);

स्त्री की निःसंतान मृत्यु होने पर उसके अपारिभाषिक स्त्रीधन का न्यागमन[3] यदि उसका विवाह चार स्वीकृत विवाह प्रकारों में से किसी एक से हुआ है तो पति और उसके वारिसों (दायादों) का होता है, किंतु यदि उसका विवाह किसी अस्वीकृत विवाह विधि से हुआ है तो स्त्रीधन पितृपक्षगामी होता है और न्यागमन पिता और उसके वारिसों को होता है।

मद्रास शाखा के अनुसार स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम—दक्षिण भारत में स्मृति-

---

[1] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 151, पृष्ठ 206.

[2] तेन पारिभाषिकातिरिक्तं मातृधनं दुहितृसत्वे च पुत्रादय एव लभेरन्। व्य०, मयू० पृ० 100;
इसके अनुसार पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र का क्रम पहले आता है; दुहिता, दौहित्र और दौहित्री का उनके बाद।

[3] अप्रजः स्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्म्यादिषु चतुर्ष्वपि। दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामितत्। याज्ञ० 2/145. इसकी टीका में व्य० मयू० में आया है कि 'भर्तुरभावे तत्कुले तस्याः प्रत्यासण्णो लभते पित्रभावे च पितृकुले तस्याः प्रत्यासन्नः। वही पृष्ठ 100.

चंद्रिका द्वारा प्रतिपादित स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम विशिष्ट विधि के रूप में मान्य है। किंतु स्मृतिचंद्रिका में मयूख की भांति स्त्रीधन को पारिभाषिक और अपारिभाषिक प्रकारों में विभक्त नहीं किया गया है। स्मृतिचंद्रिका ने स्त्रीधन को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया हैं।[1] :—

(1) शुल्क;

(2) यौतक;

(3) भर्तृदत्त तथा अन्वाधेयक; और

(4) अन्य प्रकार के स्त्रीधन।

(1) **शुल्क**—शुल्क प्रकार के स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम पिछले पृष्ठों में दिए गए उत्तराधिकार-क्रम के अनुसार ही है। इस विषय पर स्मृतिचंद्रिका ने भी मिताक्षरा का अनुसरण किया है।

(2) **यौतक**—यौतक प्रकार का स्त्रीधन निम्नलिखित उत्तराधिकार-क्रम में न्यागमित होता है :—

(1) अविवाहित पुत्र; उसके अभाव में,

(2) पुत्र।

(3) **भर्तृदत्त और अन्वाधेयक**—इन दोनों प्रकारों के स्त्रीधन निम्नलिखित क्रम में न्यागमित होते हैं :—

(1) पुत्र और पुत्री (अविवाहिता तथा सधवा विवाहिता, न कि विधवा, पुत्री) दोनों का अंश बराबर होता है।

(4) **अन्य प्रकार के स्त्रीधन**—उपरिलिखित तीनों प्रकार के स्त्रीधन-प्रकारों से भिन्न स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम निम्नवत् होता है :—

(1) कुमारी कन्या और विवाहिता धनहीन पुत्री। दोनों का अंश समान होता हैं;

(2) धन-सम्पन्न विवाहिता पुत्री;

(3) दौहित्री;

(4) दौहित्र;

(5) पुत्र;

(6) पौत्र।

---

[1] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू लॉ, उपबंध 152, पृष्ठ 207.
शुल्क, यौतक, भर्तृदत्त और अन्वाधेयक तथा अन्य प्रकार के स्त्रीधनों का उत्तराधिकार-क्रम मुल्ला के आधार पर ही दिया गया है।

किसी हिंदू स्त्री की निःसंतान मृत्यु होने पर मिताक्षरा द्वारा उल्लिखित उत्तराधिकार-क्रम के अनुसार ही स्वीकृत अथवा अस्वीकृत विवाह प्रकारों से सम्पन्न विवाहिता स्त्रियों का स्त्रीधन न्यागमित होता है ।[1]

स्मृतिचंद्रिका ने यौतक, भर्तृदत्त और अन्वाधेयक के विषय में भी निःसंतान मृत्यु होने की दशा में किसी वैकल्पित उत्तराधिकार-क्रम का उल्लेख नहीं किया है । अतएव इन प्रकारों का स्त्रीधन भी मिताक्षरा द्वारा उल्लिखित उत्तराधिकार-क्रम में ही न्यागमित होता है, यदि स्त्री की निःसंतान मृत्यु होती है ।[2]

मद्रास उच्च न्यायालय ने विभिन्न निर्णयों में यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी हिंदू की निःसंतान मृत्यु होने की दशा में स्त्रीधन का न्यागमन मिताक्षरा के उत्तराधिकार क्रम के अनुसार होता है ।[3]

मिथिला शाखा के अनुसार स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम—मिथिला शाखा के प्रमुख ग्रंथ विवादचिंतामणि में मात्र पारिभाषिक स्त्रीधन का उल्लेख है । इस प्रकार मिताक्षरा विधि की यह शाखा भी स्त्रीधन को अग्नि के समक्ष संबंधियों तथा अन्य व्यक्तियों के दिए हुए उपहारों तक ही सीमित रखती है । अपारिभाषिक प्रकार के स्त्रीधन का उल्लेख विवादचिंतामणि में नहीं है । विवादचिंतामणि ने उत्तराधिकार हेतु स्त्रीधन को तीन वर्गों में विभक्त किया है[4] जो निम्नलिखित हैं :—

(1) **शुल्क**—शुल्क प्रकार के स्त्रीधन की परिभाषा और उत्तराधिकार-क्रम विवादचिंतामणि में भी मिताक्षरा की ही भांति हैं ।[5]

(2) **यौतक**—यौतक की परिभाषा मनु के यौतक प्रकार के स्त्रीधन के अनुसार दी हुई है और इसके उत्तराधिकार-क्रम में अविवाहिता पुत्री ही दी गई है । इसके अभाव में ऐसा समझा जाता है कि क्रमशः विवाहिता पुत्री, पुत्री की पुत्री और पुत्री का पुत्र, जैसाकि मिताक्षरा ने दिया है आते हैं ।[6]

---

[1] पांडुरंग वामन काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास 'भाग-2' पृष्ठ 941.
डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 152, पृष्ठ 208.

[2] राजु **बनाम** अम्मणि, आई० एल० आर० (1906) 29 मद्रास 358.

[3] राजु **बनाम** अम्मणि, आई० एल० आर० (1906) 29 मद्रास 358, नन्जा **बनाम** शिवभाग्यतकि, आई० एल० आर० (1913) 36 मद्रास 116.

[4] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 153, पृष्ठ 209.

[5] हरिदत्त, हिंदू परिवारमीमांसा, पृष्ठ 471.

[6] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 153, पृष्ठ 209.
मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारी भाग एव सः । मनु० 9/132 (पूर्वार्ध) प्रत्ताऽप्रत्तासमवायेअप्रतानामेव स्त्रीधनम् ।
प्रत्तासु च प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठिता समवायेऽअतिष्ठितांनामेवेति ।
—याज्ञ० 2/117 की मिता० टीका ।

(3) अन्य प्रकार से प्राप्त पारिभाषिक स्त्रीधन—इस प्रकार के स्त्रीधन का न्यागमन निम्नलिखित क्रम में होता है :—

(क) पुत्र और अविवाहिता पुत्री, दोनों समान हिस्से के हकदार हैं, इनके अभाव में;

(ख) पुत्र और विवाहिता पुत्री संयुक्त रूप से, इनके अभाव में;

(ग) दौहित्री;

(घ) दौहित्र;

स्त्री की निःसंतान मृत्यु होने की दशा में शुल्क प्रकार के स्त्रीधन के अतिरिक्त न्यागमन मिताक्षरा की भांति होगा।[1]

दायभाग विधि के अनुसार स्त्रीधन और उत्तराधिकार

स्त्रीधन की परिभाषा

"वह संपत्ति जिसका पति से अनुमति लिए बिना पत्नी दान, विक्रय या उपभोग कर सकती है, स्त्रीधन है।"[2] —जीमूतवाहन।

जीमूतवाहन शिल्प से प्राप्त धन और संबंधियों से भिन्न व्यक्तियों से प्राप्त धन को स्त्रीधन नही मानते।[3] दायभाग विधि की उपरिलिखित परिभाषा के आधार पर स्त्रियों की निम्नलिखित चार प्रकार की संपत्ति स्त्रीधन के रूप में नहीं आती और यदि ये संपत्तियां उन्हें प्राप्त हों तो उनके व्यय आदि हेतु स्त्री को पति से अनुमति लेनी आवश्यक है।

(1) शिल्प-कला से प्राप्त धन;

(2) संबंधियों से भिन्न व्यक्तियों से प्राप्त उपहार;

(3) उत्तराधिकार में प्राप्त स्थावर संपत्ति; और

(4) विभाजन में प्राप्त स्थावर संपत्ति।

---

[1] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 153, पृष्ठ 209.

[2] तदैव च स्त्रीधनं यत् भर्तृतः स्वातन्त्र्येण दान-विक्रय-भोगान् कर्त्तुमधिकरोति। दाय० 4/1/18.

[3] प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तमित्यादि। कात्या०। इस पर टिप्पणी करते हुए जीमूतवाहन कहते हैं—अन्यत इति पितृमातृ भर्तृकुल व्यतिरिक्तात् यल्लब्धंत, शिल्पेन वा यदर्जितम् तत्र भर्तुः स्वाम्यम् स्वातन्त्र्यम्, अनापद्यपि भर्त्ता ग्रहीतुमर्हति, तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनमुअस्वातन्त्र्यम्॥ एतद्व्यतिरिक्तधनन्तु स्त्रिया एव, दान-विक्रयाधिकारात्। दाय० 4/1/20-21.

कात्यायन का मत था कि स्त्री को अपने सौदायिक के विषय में दान, विक्रय आदि का पूर्ण अधिकार है। यह अधिकार स्थावर संपदा के विषय में भी है ।[1] जीमूतवाहन ने कात्यायन के वचनों का अर्थ संकुचित किया है और कहा है कि स्त्री ने जो स्थावर संपत्ति पति से उपहार में पायी हो, उसका दान या विक्रय करने का उसे अधिकार नहीं है ।[2] इसकी पुष्टि में उसने नारद का वचन उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि पति ने उसे जो प्रेमोपहार दिये हों उनका वह उसके मरने के बाद भी स्वेच्छानुसार उपभोग, दान आदि कर सकती है पर स्थावर संपत्ति का नहीं ।[3] इसे और स्पष्ट करते हुए जीमूतवाहन ने कहा है कि स्त्री के स्थावर संपत्ति के विक्रयाधिकार पर प्रतिबंध केवल पति द्वारा प्रदत्त संपत्ति के विषय में है, सब स्थावर संपत्तियों के विषय में नहीं ।[4] यहां दायभाग का मत मिताक्षरा से मिलता है जिसमें उत्तराधिकार और विभाजन में प्राप्त स्थावर संपत्ति पर स्त्री का सीमित स्वत्व ही होता है । दृष्टव्य है कि मिताक्षरा में उक्त सभी प्रकार की संपत्तियों को स्त्रीधन के अंतर्गत माना है किंतु न्यायालयों ने उत्तराधिकार और विभाजन में प्राप्त पति की स्थावर संपत्तियों पर स्त्रियों का सीमित स्वत्व स्वीकार किया है। जीमूतवाहन की स्त्रीधन की परिभाषा कात्यायन के एतत्संबंधी मत पर आधारित है जिसका विवेचन मिताक्षरा विधि में किया जा चुका है ।

दायभाग के अनुसार स्त्रीधन के प्रकार

दायभाग विधि में स्त्रीधन चार वर्गों में विभाजित है—यथा शुल्क, यौतक, अन्वाधेयक और अयौतक ।[5] उल्लेखनीय है कि जीमूतवाहन ने स्त्रीधन को प्रकारों में विभक्त नहीं किया है. किंतु यह विभाजन हिंदू विधि में मान्य है ।

(1) **शुल्क**—वह धन, जो कन्या को पतिगृह में जाने की प्रेरणा देता है, शुल्क कहलाता है ।[6]

(2) **यौतक**—कन्या को विवाह काल में मिले उपहार को यौतक कहते हैं ।[7] कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यौतक के अंतर्गत मात्र वही उपहार नहीं आते, जो विवाहाग्नि के समक्ष कन्या को प्राप्त होते हैं

---

1 सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातंत्र्यं परिकीर्तितम् । विक्रयेचैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ।।
—कात्या० दाय०4/1/21 में उद्धृत ।

2 स्थावरेऽपि भर्तुर्दत्तमात्रे स्त्रिया दानाद्यनधिकारः । दायः 4/1/23.

3 भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्त स्त्रियं तस्मिन मृतेऽपितत् ।
स यथाकाममश्नीयात् दद्याद्वा स्थावराहृते ।। नारद, उसी में उद्धृत ।

4 भर्तृदत्त विशेषणात् भर्तृदत्त स्थावराहृते अन्यत् स्थावरं देयं भवति ।
अन्यथा 'यथेष्टं स्थावरेष्वपीति' विरुध्येत । अर्थात् 'भर्तृदत्त' विशेषण इसलिए प्रयुक्त हैं कि तद्भिन्न स्थावर संपत्ति का वह दान विक्रयादि कर सकती है अन्यथा कात्यायन का 'स्थावरेष्वपि' द्वारा प्रदत्त अधिकार निरर्थक हो जाएगा । वही ।

5 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 154, पृष्ठ 209.

6 यदानेतुं भर्तृगृहे शुल्कं तत् परिकीर्त्तितम् । व्यास, दाय० 4/3/21 में उद्धृत ।
भर्तृगृहगमनार्थमुत्कोचादि यद्दत्तं, तच्च ब्राह्मादिष्वविशिष्टम्, दाय० 4/3/22.

7 'अतो विवाह काले लब्धं—यौतकम्', दाय० 4/2/14.

अपितु विवाह संस्कार की संपन्नता तक जितने भी उपहार मिलते हैं, वे सभी उस में समाहित हैं ।[1] वस्तुतः विवाह वह संस्कार है जो पितृगृह से प्रारंभ होकर पतिगृह में समाप्त होता है । विवाह यज्ञ की अंतिम क्रिया, जिसे चतुर्थी कहते हैं, पतिगृह में संपन्न होती है और तभी विवाह पूर्ण होता है ।[2] अतएव चतुर्थी क्रिया तक के सभी उपहार, जो कन्या को प्राप्त होते हैं, यौतक स्त्रीधन हैं ।

(3) **अन्वाधेयक**—दायभाग विधि में अन्वाधेयक वह स्त्रीधन है, जो पिता द्वारा कन्या को विवाह के पश्चात् प्रदान किया जाता है ।[3] जीमूतवाहन की अन्वाधेयक की यह परिभाषा कात्यायन की परिभाषा पर आधारित है, जिसमें उन्होंने कहा है कि अन्वाधेयक वह स्त्रीधन है, जो स्त्री की पतिकुल और पितृकुल से विवाहोपरांत प्राप्त होता है ।[4] किंतु इस वर्ग के स्त्रीधन में जीमूतवाहन ने केवल पिता द्वारा प्रदत्त उपहार ही माना है ।

(4) **अयौतक**—संबंधियों द्वारा विवाह-काल या विवाहोपरांत स्त्री को प्रदत्त उपहार अयौतक कहलाते हैं । किंतु पिता द्वारा विवाह-पूर्व दिया हुआ उपहार ही इस वर्ग के स्त्रीधन में सम्मिलित होता है, क्योंकि विवाहोपरांत पिता द्वारा प्रदत्त उपहार अन्वाधेयक स्त्रीधन माना जाता है । यह भी ध्यातव्य है कि पिता द्वारा विवाह-काल में प्रदत्त उपहार यौतक स्त्रीधन है ।[5]

दायभाग विधि के अनुसार स्त्रीधन का उत्तराधिकार

दायभाग विधि में उत्तराधिकार स्त्रीधन के प्रकार के अनुसार होता है, जिनका पृथक्-पृथक् उत्तराधिकार-क्रम नीचे दिया जाएगा :—

(1) **शुल्क**—शुल्क प्रकार के स्त्रीधन का न्यागमन निम्नलिखित क्रम में होता है[6] :—

---

[1] विष्टप्रसाद बनाम राधा सुन्दर, (1871) 16 डब्ल्यू० आर० 115.

[2] योक्त्रपाशं विषायतो संनिपातयेत ।। अर्थात् कन्या के कटि भाग में बंधी मेखला खोल दे (मान० गृ० सू० 1/11/6 के अनुसार यही विवाह की अन्तिम क्रिया है) मा० गृ० सू० 1/15/16.

[3] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 154(3) पृष्ठ 210.

[4] विवाहात्परतो यच्च लब्धं, भर्तृकुलात्स्त्रिया ।
अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पित्रृकुलात्तथा । कात्या० याज्ञ० 2/144 की मिता० टीका में उद्धृत ।

[5] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 154 (4) पृष्ठ 210.

[6] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 146 (2), पृष्ठ 202.
भगिनी शुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातु. । गौ० धम० सू० 28/26 (बहिन का शुल्क सहोदर भाई, उसके अभाव में, माता प्राप्त करती है, अर्थवाद से उसके अभाव में पिता) याज्ञ० 2/145 की मिता० टीका के अनुसार 'शुल्कं तु सौदार्याणामेव' अर्थात् शुल्क सहोदरों को प्राप्त होता है । दूसरे शब्दों में भाई, माता-पिता । याज्ञ० 2/145 में निःसंतान पुत्री का धन 'पितृगामी' कहा है । विष्णु 17/19 में 'तद्भर्तु' के आधार पर भाई, माता, पिता के अभाव में शुल्क स्त्रीधन को पति प्राप्त करता है ।

(1) सहोदर भाई;

(2) माता;

(3) पिता;

(4) पति ।

(2) **यौतक**—यौतक प्रकार का स्त्रीधन निम्नलिखित क्रम में न्यागमित होता है[1] :—

(1) कुमारी तथा अवाग्दत्ता पुत्री (जिसका फलदान या सगाई नहीं हुए हो),

(2) वाग्दत्ता पुत्री (जिसका फलदान या सगाई हो गई हो)

(3) पुत्रवती या संभावित पुत्रवती विवाहिता पुत्री;

(4) विवाहिता बंध्या पुत्री और निःसंतान विधवा पुत्री जिन्हें समान भाग पाने का हक है;

(5) पुत्र;

(6) पुत्री का पुत्र (दौहित्र);

(7) पौत्र;

(8) प्रपौत्र;

(9) सौतेला पुत्र;

(10) सौतेला पौत्र;

(11) सौतेला प्रपौत्र ।

ऊपर लिखे उत्तराधिकारियों के अभाव में मृत स्त्री का विवाह यदि ब्राह्मआदि स्वीकृत प्रकार से हुआ हो तो उसके उत्तराधिकारी निम्नलिखित होते हैं[2] :—

---

1 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू ला, उपबंध 155, पृष्ठ 210.
स्त्रीधनं दुहितृणाम् अप्रत्तानाम प्रतिष्ठानां च० । गौ० ध० सू० 28/25 इस पर मस्करी का भाष्य है यच्चानपत्या कर्मणोपात्ता तत्तस्यां मृतायां तस्या एव दुहितृणांअप्रत्तानामनपत्यानां च भवति । अन्य आहुः—अप्रतिष्ठतानां पुत्राणां अकृत-विवाहानां इति । अपरे निस्स्वानामिति । च शब्दात् भर्तुश्च । अत्र अदत्तानां दुहितृणामभावे पुत्रा निस्स्वाः गृहणीयुः । तदभावे अकृत विवाहाः तदभावे अनपत्याः स्त्रियः । सर्वेषामभावे भर्तेति कर्मो द्रष्टव्यः ।। गो० ध० सू० दुहितृणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद्भवेत । कात्या० व्य० नि० पृ० 63 और या० 2/117 की अप टीका में उद्धृत ।
इसी आधार पर 'पुत्रादि' प्राप्त करते हैं ।

2 अप्रजायां हरेद् भर्त्ता, भ्राता माता पितापि चा ।। देवल, दाय० 4/2/6.
भ्रातृगामी होने से माता से पहले भाई माना गया ।

(1) पति;

(2) भाई;

(3) माता;

(4) पिता ।

यदि मृत स्त्री का विवाह अस्वीकृत प्रकार से हुआ हो तो उत्तराधिकार निम्नलिखित क्रम में होता है :—

(1) माता[1];

(2) पिता;

(3) भाई;

(4) पति;

(5) पति का छोटा भाई;

(6) पति का भतीजा;

(7) बहिन का पुत्र;

(8) पति का भांजा (पति की बहिन का पुत्र);

(9) भाई का पुत्र;

(10) पुत्री का पति;[2]

(11) पति के सपिण्डज, सकुल्य, समानोदक;

(12) पिता के रक्त संबंधी[3] ।

(3) **अन्वाधेयक**—इस प्रकार के स्त्रीधन का न्यागमन यौतक स्त्रीधन के उत्तराधिकार-क्रम में होता है, किंतु अंतर यह है कि पुत्र का क्रम विवाहिता पुत्री के पहले आता हैं ।[4] निःसंतान मृत्यु होने पर उत्तराधिकार-क्रम निम्नलिखित है :—

---

1 असुरादिषु यल्लब्धं स्त्रीधनं पैतृकं स्त्रियाः । अभावे तदपत्यानां मातापित्रोः तदिष्यते । कात्या० (याज्ञ० 2/117) की अप टीका में उद्धृत) इसी को दायभाग 4/3/6, 29-30 में स्वीकार किया गया है ।

2 अयं पिण्डदानविशेषादधिकारक्रमः प्रथमं देवरः,······तद्भावे भ्रातृश्वशुर-देवरस्यसुतः तद्भावे त्वसपिण्डोऽपि भगिनी पुत्र : ····· । तदभावे स्वभर्तृभागिनेयः पुत्रात्······, तद्भावे भ्रातृसुतः·········। तस्याप्यभावे श्वशुरयोः पिण्डदानात् जामाता श्वश्रूधनेऽधिकारीति । अयं क्रमो ग्राह्यः । दाय० 4/3/37-38.

3 तेषामभावे श्वशुर-भ्रातृश्वशुरादेः सपिंडानन्तर्यक्रुतो धनाधिकारो बोद्धव्यः । दाय० 4/3-39.

4 किंतूक्तादेवहेतोः पुत्रकुमारीदुहित्रोस्तुल्यवदधिकारः,······द्वयोरप्येतयोरभावे तु ऊढायाः दुहितुः पुत्रवत्या : । दाय० 4/2/9.

(1) भाई (भाई का स्थान-क्रम में पति से पहले आता है)[1];

(2) माता (भ्रातृगामी होने से भाई के अभाव में माता को पिता की अपेक्षा वरीयता मिलती है);

(3) पिता;

(4) पति[2]।

(4) **अयौतक**—अयौतक स्त्रीधन का उत्तराधिकार-क्रम निम्नलिखित है[3] :—

(1) पुत्र और कुमारी कन्या दोनों साथ-साथ बराबर अंश पाते हैं;

(2) विवाहिता पुत्रवती पुत्री या संभावित पुत्रवती पुत्री;

(3) पौत्र;

(4) दौहित्र (दौहित्र के अर्थ में सौतेली पुत्री का पुत्र नहीं है);

(5) वंध्या विवाहिता पुत्री और निःसंतान विधवा पुत्री।

ऊपरिलिखित उत्तराधिकारियों (दायादों) के अभाव में अयौतक स्त्रीधन निम्नलिखित उत्तराधिकार-क्रम में बिना स्वीकृत-अस्वीकृत विवाहों का विचार किये न्यागमित होता है :—

(1) भाई;

(2) माता;

(3) पिता;

(4) पति;

(5) देवर (पति का छोटा) भाई;

(6) पति के छोटे भाई का पुत्र;

(7) बहिन का पुत्र;

(8) पति की बहिन का पुत्र;

(9) भाई का पुत्र;

(10) पुत्री का पति;

(11) पति के सपिण्डज, सकुल्य और समानोदक;

(12) पिता के रक्त-संबंधी।[4]

---

[1] अन्वाधेयं तदुक्तंतु लब्धं बंधुकुलात्तथा। कात्या० दे, दाय० 4/3/16. बंधुकुलात् पितृ-मातृकुलात्। दाय० 4/3/17, अप्रजस्त्वमात्रनिमित्तत्वेन भ्रातुरधिकाशवगतेः,। वही 4/3/12.

[2] भर्तुः सकाशात् पित्रोर्वा अन्याधेयस्तु यद् भृगुः। वही 4/3/18.

[3] दाय० 4/2/9/11 के अनुसार।

[4] दाय० 4/3/37 के अनुसार।

अयौतक स्त्रीधन के उत्तराधिकारियों में सौतेले पुत्र का कोई स्थान दायभाग विधि में नहीं है। दायभाग विधि में स्त्री के सौतेले पुत्र की अपेक्षा भाई को वरीयता दी जाती है।[1] यही कारण है कि ऊपर की दायभाग विधि द्वारा अनुमोदित उत्तराधिकारियों के अभाव में स्त्री के भाई को सर्वप्रथम वारिस माना गया है जिससे स्त्रीधन भाई, माता और पिता के लिए पितृगामी हो जाता है। किंतु इन तीनों वारिसों के अभाव में स्त्रीधन पुनः पतिगामी हो जाता हैं और पति तथा उसके वारिसों को न्यागमित होता है। पति कुल के वारिसों के अभाव में फिर से पितृकुलगामी होता है और वारिसों की खोज उसके रक्त संबंधियों में पिंडदान के अधिकार की निकटता के आधार पर की जाती है। यहां उल्लेखनीय है कि स्त्री का सौतेला भाई पिण्डदान का अधिकारी न होने के कारण वारिसों के वर्ग में नहीं आता[2] और उसकी अपेक्षा पति के अनुज (देवर) को वरीयता दी जाती है।[3] इसी आधार पर भाई के पुत्र को सौतेली पुत्री के पुत्र की अपेक्षा वरीयता दी जाती है।[4] सौतेला पुत्र या पुत्री पूर्ण रक्त वंशज न होने से पिण्डदान के सन्निकट अधिकारी नहीं हैं। वे तभी अधिकारी हैं जब कोई पूर्ण रक्त वंशज या संबंधी न विद्यमान हो और तब ऊपर की दूसरे उत्तराधिकारियों की सूची में ग्यारहवें (11वें) क्रम में आते हैं क्योंकि वे पति के सपिंडज हैं।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 का स्त्रीधन के उत्तराधिकार पर प्रभाव

स्त्रीधन के उत्तराधिकार पर भी हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों का प्रभाव पड़ा है।[5] इस अधिनियम के अधिनियमित हो जाने से स्त्रीधन और उसके उत्तराधिकार में निम्नलिखित परिवर्तन हो गये हैं :—

(1) स्त्रीधन के विविध प्रकार समाप्त हो गये हैं और अब एक ही प्रकार का स्त्रीधन होता है। विवाहपूर्व, विवाहकालिक या विवाहोपरान्त आदि के आधार पर अब स्त्रीधन का वर्गीकरण नहीं होता।

---

1 किञ्च केवलभ्रात्रधिकारपक्षेऽपि पितृधन इव मातृधनेऽपि। दाय० 4/2/8.

2 भ्रातृभगिन्योरप्यधिकारे समं स्यादिति न्यायात्' से सहोदर भाई समं सर्वे सहोदराः मनु० 9/129) का तात्पर्य है न कि सौतेले भाई का।

3 देवीप्रसन्न बनाम हरेन्द्र, 6 आई० सी० 534.

4 कृष्णविहारी बनाम सरोजिनी, ए० आई०आर० 1933 कलकत्ता 858.

5 हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 14(1) की व्याख्या के अनुसार हिंदू स्त्री द्वारा जो स्थावर-जंगम संपत्ति स्त्रीधन के रूप में इस अधिनियम के लागू होने की तिथि को धारण की जाती थी, उस पर उसका स्वत्व पूर्ण हो गया। हरख सिंह बनाम कैलाश सिंह, ए० आई० आर० 1958 पटना 581 (पूर्ण पीठ) वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय का यह संकेत ठीक ही है कि इस अधिनियम का हिंदू स्त्रियों उद्देश्य की विधिक स्थिति में सुधार लाना था।

मंगल सिंह बनाम रत्ना, ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1786 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि धारा 14(1) के अंतर्गत किसी हिंदू स्त्री द्वारा स्वामी के रूप में धारण की जा रही सभी संपत्तियां आती हैं।

(2) स्त्रीधन की विरासत के विभिन्न उत्तराधिकार क्रम समाप्त हो गये हैं और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 में एक ही उत्तराधिकार क्रम की व्यवस्था है।

(3) हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन पुत्र को भी स्त्रीधन के उत्तराधिकार का हक प्राप्त हो गया है।

(4) हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के लागू हो जाने के पश्चात् उसी में दिये क्रम में या उसी के अनुसार उतराधिकारी ढूंढा जाता है न कि हिंदू शास्त्रों के अनुसार।

मिताक्षरा और दायभाग स्त्रीधन में अंतर

मिताक्षरा और दायभाग विधियों में जिस प्रकार के अंतर का सूत्रपात सहदायिकी विधि में हुआ वह कुछ अर्थों में स्त्रीधन में भी देखने को मिलता है। इन दोनों विधियों में एतद्विषयक अंतर निम्नलिखित है :—

(1) दायभाग पति द्वारा पत्नी को प्रीतिवश प्रदान की गई स्थावर संपत्ति को स्त्रीधन नहीं मानता और न ही इस पर स्त्री को आत्यंतिक स्वत्व प्रदान करता है। मिताक्षरा ने स्त्रियों की स्थावर संपत्ति को भी स्त्रीधन माना है चाहे उस पर उनका जीवन पर्यन्त अधिकार ही हो और उनकी मृत्यु के पश्चात् वह संपत्ति पति के उत्तरभोगियों को प्रत्यावर्तित हो जाती हो। किंतु न्यायालयों ने मिताक्षरा द्वारा परिभाषित अनेक प्रकार की स्थावर स्त्रीधन संपत्तियों को स्त्रीधन नहीं माना फिर भी मिताक्षरा का यह मूलभूत सिद्धांत कि स्थावर संपत्ति भी स्त्रीधन होती है, आज भी विधिमान्य है भले ही हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अन्तर्गत उसके उत्तराधिकार-क्रम में मौलिक परिवर्तन हो गया हो।

(2) हिंदू स्त्री को संबंधियों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा दिए गए उपहार दायभाग विधि में स्त्रीधन नहीं हैं, जबकि उन्हें मिताक्षरा विधि में मिथिला शाखा के अतिरिक्त स्त्रीधन माना जाता है। वस्तुतः दायभाग विधि की विशेषता यह है कि वह किसी द्वारा प्राप्त संपत्ति या उपहार की 'पति से स्वतंत्र उसके दान-विक्रय आदि के अधिकार' की कसौटी पर परख करती है। संबंधियों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा स्त्री को प्रदत्त उपहार पर दायभाग विधि पति का नियंत्रण मानती है और इस कारण वे स्त्रीधन की संकुचित परिभाषा में पति के जीवन काल में नहीं आते; किंतु पति की मृत्यु के उपरान्त इस प्रकार के धन भी स्त्रीधन हो जाते हैं क्योंकि पति का नियंत्रण समाप्त हो जाता है।

(3) दायभाग विधि स्त्रीधन शब्द को पारिभाषिक अर्थ में लेती है। फलस्वरूप इस विधि में स्त्रीधन संबंधी अधिकार इसी अर्थ में विकसित हुए हैं और परिभाषा की परिधि तक परिसीमित हैं। मिताक्षरा विधि स्त्रीधन शब्द को यौगिक (संयुक्त) मानती है और इसका प्रयोग इसी अर्थ में करती है। फलस्वरूप, इस विधि में स्त्रियों को संपत्ति संबंधी असीमित अधिकार प्राप्त हैं किंतु स्थावर संपत्ति संबंधी स्त्रियों के अधिकार निर्णयज विधि द्वारा आज परिसीमित हो गये है। फिर भी स्त्रीधन शब्द का यौगिक अर्थ लेने के कारण जंगम संपत्तियों पर स्त्रियों के अधिकार मिताक्षरा विधि में अधिक हैं।

□□□

अध्याय 6
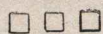
विधवा की संपदा

विधवा की संपदा का अर्थ

विधवा की संपदा या सीमित संपदा का अर्थ है वह संपत्ति जो किसी विधवा को मृत पति के वारिस के रूप में उत्तराधिकार में प्राप्त होती है। सामान्यतया, उत्तराधिकार संपत्ति के आगम के स्रोतों में से एक स्रोत है और इस स्रोत से प्राप्त संपत्ति किसी विशिष्ट प्रकार की संपदा नहीं मानी जाती। किंतु जब कोई विधवा इस स्रोत से संपत्ति प्राप्त करती है तब स्थिति बदल जाती है और संपत्ति एक विशिष्ट प्रकार की संपदा हो जाती है। इसका कारण यह है कि विधवा को मृत पति की संपत्ति पर केवल सीमित स्वत्व ही प्राप्त होता है। हिंदू विधि में विधवा की संपदा का पृथक् वर्गीकरण इसी विशेषता के कारण हुआ है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि विधवा को पति की संपत्ति पर केवल प्रबंध या संरक्षण का ही हक प्राप्त है।

हिंदू विधवा को संपदा के पूर्ण लाभकारी उपभोग का हक प्राप्त है और जब तक वह जान-बूझकर उसका दुर्व्यय नहीं करती तब तक किसी को उत्तरदायी नहीं है[1]। दूसरे शब्दों में, विधवा को अपनी संपत्ति पर यथेच्छ उपभोग का हक प्राप्त है। उसके अधिकार केवल अन्तरण के मामले में सीमित होते हैं। अन्तरण पर नियंत्रण होने के नाते ही विधि की दृष्टि में विधवा का स्वामित्व सीमित होता है। फलस्वरूप, उसकी संपत्ति एक विशेष प्रकार की संपदा होती है जिसे 'विधवा की संपदा' कहते हैं। किंतु यह एक प्रकार का स्वामित्व संबंधी सिद्धांत भी है अतः जब विधवा पत्नी के अतिरिक्त कोई अन्य स्त्री भी सीमित स्वामित्व के साथ संपत्ति धारण करती है तब उस संपत्ति को भी सीमित 'संपदा' कहते हैं।

विधवा की संपदा की प्रकृति

'विधवा की संपदा' सीमित होने पर भी अंग्रेजी विधि की 'जीवन-पर्यन्त संपदा से भिन्न है फिर भी दोनों प्रकार की संपदाओं में कुछ बातों में सादृश्य है और यही कारण है कि विधायिका ने जीवन-पर्यन्त संपदा और विधवा की संपदा में परिसीमन के प्रयोजन के लिए एकरूपता ला दी है।[2] हिंदू विधवा अपने पति से जो संपत्ति विरासत में प्राप्त करती है। उसकी वह संपदा न तो जीवन-पर्यन्त संपदा होती है न ही भरण-पोषण के लिए मिली संपद्रा। वारिस होने के नाते वह अपने पति की संपत्ति की स्वामिनी है[3]। उसके

---

1 गोकुल गुरूमूर्ति **बनाम** कुरमेती अय्यप्पा, ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1702.

2 घीसासिह **बनाम** गजराजसिंह, 18 ओ० सी० 289.

3 कालीशंकर दास **बनाम** धीरेन्द्रनाथ, (1955) । एस० सी० आर० 467; जानकीअम्माल **बनाम** नारायणस्वामी, ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 117.

अधिकार संपत्ति संबंधी अधिकारों की प्रकृति के हैं[1]। उसके इस अधिकार पर निबंधन केवल यह है कि अन्यसंक्रामण की बाबत वह स्वतंत्र नहीं है और संपदा उसकी मृत्यु के उपरांत उसके पति के वारिसों (दायादों) को न्यागमित होती है। किंतु आवश्यकता या औचित्य के अधीन रहते हुए विधवा उस संपदा को अन्यसंक्रांत भी कर सकती है। विधवा द्वारा शक्ति से अधिक किया गया अन्यसंक्रामण शून्य नहीं होता अपितु उत्तरभोगी वारिसों की इच्छानुसार शून्यकरणीय होता है।[1] इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि विधवा की संपदा की प्रकृति जीवन पर्यन्त संपदा से अन्यसंक्रामण की बाबत भिन्न है। वैध आवश्यकता पड़ने पर विधवा की संपदा का अन्यसंक्रामण किया जा सकता है और यह अन्यसंक्रामण न तो शून्य होगा और न ही शून्यकरणीय। अनौचित्यपूर्ण अन्यसंक्रामण भी शून्य नहीं होता और विधि की दृष्टि में तब तक वैध होता है जब तक उत्तरभोगी वारिसों द्वारा न्यायालय में चुनौती देकर उसे शून्यकरणीय घोषित नहीं कराया जाता। किंतु जब तक वह जीवित है तब तक उसकी संपदा पर किसी व्यक्ति का कोई हित उत्तराधिकार के मामले में निहित नहीं है।[2] संपूर्ण संपदा विधवा में निहित रहती है और वह उसका प्रतिनिधित्व करती है।

विधवा की संपदा की प्रकृति आजीवन अभिधारी की भी नहीं है। आजीवन अभिधारी जिस संपत्ति को धारण करता है उसका स्वामित्व किसी अन्य व्यक्ति में निहित होता है और अभिधारी मात्र आभोगी होता है। किंतु सीमित संपदा का स्वत्व विधवा में निहित होने के कारण जब तक वह जीवित रहती है तब तक उस संपदा की स्वामिनी रहती है। उत्तरभोगी विधवा के इस अधिकार को चुनौती भी नहीं दे सकते क्योंकि उसके जीवित रहते उनका कोई अधिकार उसकी संपदा पर होता ही नहीं। उत्तरभोगी का अधिकार संभाव्य उत्तराधिकार[3] मात्र ही होता है और मात्र इतने अधिकार से ही उत्तरभोगी विधवा के अन्यसंक्रामण को चुनौती देने का अधिकारी नहीं हो जाता। जब वह जानबूझकर दुर्व्यय करती है तब उत्तरभोगियों को उत्तरदायी होता है। न्यायालय के माध्यम से संपदा का दुर्व्ययन रोका जा सकता है[2] यह स्वाभाविक ही है। सीमित संपदा की प्रकृति शून्य में नहीं हो सकती और दुर्व्यय का निबंधन ही 'विधवा की संपदा' को सीमित संपदा में परिवर्तित करता है। उत्तरभोगी को यह अधिकार प्राप्त है कि वह दुर्व्यय को रोकने हेतु कार्रवाई कर सके।

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि विधवा सीमित संपदा को उत्तरभोगियों के न्यासी के रूप में धारण नहीं करती[2] और न ही उसकी शक्ति पर निर्बन्धन उत्तरभोगियों के लाभ के लिए अधिरोपित हुआ है किंतु हिंदू विधि की अवधारणा में ही

---

1 मिर्जा सादिकहुसेन **बनाम** मुहम्मदकरीम आई० एल०आर० (1922) अवध 289.

2 जयश्री साहू **बनाम** राजदेवण्ण दुबे, ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83.

3 गोकुल गुरुमूर्ति **बनाम** कुरमेती अय्यप्पा, ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1702.

संपदा की एक प्रसंगति है।[1] विधवा की शक्ति पर निर्बन्धन या विधवा की संपदा की प्रसंगति का आशय संपत्ति को सुरक्षित रखना है। जब विधवा के संपदा संबंधी कृत्य संपत्ति के विनाश के कारण बनते है तब उत्तरभोगी संपदा के हित की दृष्टि से ऐसे अधिकार से युक्त हो जाता है कि उसमें हस्तक्षेप कर सके।

विधवा की संपदा की वर्तमान प्रकृति

विधवा की संपदा की जिस प्रकृति की विवेचना ऊपर दी गई है वह प्रकृति हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अधिनियमित होने के पूर्व हिंदू विधि में मान्य थी। किंतु हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 14(1) के उपबंधों के अनुसार जो भी संपत्ति किसी स्त्री के कब्जे में है, चाहे वह विधवा ही क्यों न हो, और वह संपत्ति इस अधिनियम के अधिनियमित होने के पूर्व उपार्जित की गई हो चाहे पश्चात्, उस पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व हो गया है। अतएव अब हिंदू विधि में विधवा की संपदा या सीमित संपदा का सिद्धांत समाप्त हो गया है।

विधवा की संपदा के सीमित स्वामित्व के सिद्धांत की समीक्षा करते हुए उच्चतम न्यायालय ने एरम्मा **बनाम** वीरप्पा[2] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 14(1) का उद्देश्य हिंदू विधि में 'सीमित संपदा' या 'विधवा की संपदा' कही जाने वाली संपदा का निर्वचन करना है और किसी हिंदू स्त्री को, जो प्राचीन विधि में केवल सीमित स्वामी रही है, संपत्ति की पूर्ण स्वामी बनाना है जिसे संपत्ति के व्ययन की पूर्ण शक्ति हो, और संपदा को उत्तराधिकार के योग्य बनाना है जिससे कि उसके अपने वारिस उसे प्राप्त कर सकें न कि संपदा अंतिम पुरुष स्वामी के वारिसों को प्रत्यावर्तित हो।

फिर भी हिंदू विधि का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत होने के नाते इस विषय की जानकारी अध्येताओं को होनी आवश्यक है। व्यवहार में भले ही यह सिद्धांत समाप्त हो गया हो किंतु हिंदू विधि में इसका सैद्धांतिक महत्व बना हुआ है। इस दृष्टि से 'विधवा की संपदा' या 'सीमित संपदा' का अध्ययन किया ही जाना चाहिए। अतएव इस विषय की विवेचना इस अध्याय में की जाएगी।

विधवा की संपदा की प्रसंगतियां

विधवा की संपदा की प्रसंगतियां निम्नलिखित हैं :—

1. विधवा अपने पति की संपत्ति में से विरासत में प्राप्त संपदा की स्वामिनी तो होती है किंतु समग्र संपत्ति को न तो वह विक्रय कर सकती है न बंधक रख सकती है, न दान कर सकती है न लंबे काल के लिए पट्टे पर दे सकती है और न ही किसी अन्य प्रकार से अन्यसंक्रामित कर सकती[3] है। वह विधिक आवश्यकता अथवा संपदा के फायदे के लिए

---

[1] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83.

[2] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1879.

[3] जानकी अम्माल **बनाम** नारायणस्वामी, ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 117; कालीशंकरदास **बनाम** धीरेन्द्रनाथ, (1955) 1 एस० सी० आर० 467.

अथवा निकटतम उत्तरभोगियों की अनुमति से ही अन्यसंक्रामण कर सकती है। विधिक आवश्यकता के लिए या निकटतम उत्तरभोगियों की अनुमति से किए गए अन्यसंक्रामण में संपत्ति अन्य संक्रांती को आत्यंतिक संपदा के रूप में उसी सीमा तक संक्रांत होती है जिस सीमा तक किसी पूर्ण स्वामी के अन्यसंक्रामण में होती है[1]। विधवा अपने पति की संपति को उसके विधिक प्रतिनिधि के रूप में धारण करती है, फलस्वरूप उसे उस संपत्ति के किराए आदि को भी प्राप्त करने का हक होता है और वह पति के ऋणों आदि की दायी होती है तथा उसके पति के विरुद्ध हुई साधारण धन डिक्री के निष्पादन में उसकी संपदा को कुर्क भी किया जा सकता है।[2]

2. विधिक प्रतिनिधि के रूप में विधवा संपत्ति की बाबत वाद संस्थित कर सकती है और उसके विरुद्ध वाद संस्थित किया जा सकता है। उसके विरुद्ध संपदा के प्रतिनिधि के नाते हुई ऋण आदि की डिक्री से जो संपदा पर आबद्धकर हो, न केवल वही आबद्ध होती है अपितु उत्तरभोगी भी आबद्ध होते हैं।[3]

3. यदि विधवा संपत्ति के किसी हिस्से के कब्जे से किसी व्यक्ति द्वारा वंचित कर दी जाती है तो वह उसके प्रत्युद्धरण के लिए वाद संस्थित कर सकती है, और यदि वह वाद संस्थित नहीं करती है और अपने विरुद्ध उस व्यक्ति के कब्जे को बने रहने देत है तो इससे उत्तरभोगियों के प्रत्युद्धरण का अधिकार प्रभावित नहीं होता। उत्तरभोगी उसके पति के वारिस के रूप में विधवा की मृत्यु के उपरांत परिसीमा काल के अन्दर कब्जे के लिए वाद ला सकते हैं।[4]

4. वह अपने जीवनपर्यन्त हित का विक्रय कर सकती है या उसे बंधक रख सकती है या किसी को दान कर सकती है। वह संपत्ति की संपूर्ण आय की स्वामिनी है और उसे अपनी इच्छानुसार व्यय कर सकती है। पति की संपत्ति की आय में से वह पति के ऋण के भुगतान के लिए आबद्ध नहीं है, न ही वह पति के कुटुंब के अन्य सदस्यों के भरण-पोषण के लिए आबद्ध है, न ही उस आय से किसी सदस्य का विवाह करने के लिए आबद्ध है। वह इन सब कार्यों की बाध्यता के लिए समग्र संपत्ति पर भार कर सकती है और इनमें होने वाले व्यय के लिए संपत्ति को विक्रय कर सकती है या बंधक रख सकती है। इस प्रकार के व्यय विधि की दृष्टि में विधिक आवश्यकताएं माने जाते हैं।[5]

5. संपूर्ण संपदा विधवा में निहित होने के कारण वह उसके उचित प्रबंध की

---

[1] हनुमानप्रसाद **बनाम** श्रीमती बबुई मुनराजकुंअरि (1856) 6 एम० आई० ए० 393; जयश्रीसाहू **बनाम** राजदेवण दुबे, ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83.

[2] फूलकुमार **बनाम** रिखिराम, ए० आई० आर० 1935 इलाहाबाद 261.

[3] भतिवलप्पा इरप्पा **बनाम** सुब्बप्पा शंकरप्पा, ए० आई० आर० 1937 मुम्बई 458; युगुलकिशोर **बनाम** जितेन्द्रमोहन, ।। आई० ए० 66.

[4] रामकृष्ण **बनाम** धनकृष्ण, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 204; कालिपद चक्रवर्ती **बनाम** पालिनी बालादेवी (1953) एस० सी० आर० 503.

[5] देवीदयाल **बनाम** भानुप्रताप आई० एल० आर० (1904) 31 कलकत्ता 433.

हकदार है किंतु इससे उसे दुर्व्ययन और उत्तरभोगियों के हित के विरुद्ध कार्य करने की शक्ति नहीं मिलती। उसे एक प्रज्ञावान् स्वामी के रूप में संपत्ति का प्रबंध करना होगा।[1]

6. उसकी संपदा पर अधिक्षेपित परिसीमाएं उसके ऊपर उत्तरभोगियों का हित करने के लिए नहीं होतीं। इन परिसीमाओं को संपदा से पृथक् नहीं किया जा सकता और वह किसी उत्तरभोगी के न होने पर भी समग्र संपत्ति का अन्यसंक्रामण मात्र विधिक आवश्यकता पड़ने पर ही कर सकती है। उत्तरभोगियों के अभाव में संपत्ति राज्यगामी होने पर शासन अन्यसंक्रामण को अपास्त करा सकता है।[2]।

7. विधवा घोषणा या अन्य कृत्य द्वारा अपने पति की संपत्ति को अपने कब्जे में रखने के समय किसी अन्य के कब्जे में नहीं दे सकती या कोई ऐसा कृत्य नहीं कर सकती जिससे संपदा की प्रकृति विधवा की संपदा की न रह जाय[3]।

विधवा की संपदा के स्रोत

विधवा की संपदा के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(1) पुत्रहीन पति की मृत्यु के उपरांत विरासत में प्राप्त उसकी संपत्ति;

(2) सीमित संपदा की आय से अनुवृद्ध संपत्ति;

(3) पुत्रहीन पुत्र की मृत्यु के उपरांत विरासत में प्राप्त उसकी संपत्ति; और

(4) किसी स्त्री की मृत्यु के उपरांत विरासत में प्राप्त उसकी सीमित संपदा।

विरासत में प्राप्त मृत पति की संपत्ति

हिंदू विधि की वाराणसी, मिथिला, बम्बई, मद्रास तथा बंगाल शाखाओं में पति की पुत्रहीन मृत्यु होने पर उसकी विधवा को उसकी संपत्ति की विरासत का हक होता है[4]। किंतु विधवा की मृत्यु के उपरांत संपदा उसके पति के उत्तरभोगियों को प्रत्यावर्तित हो जाती है जिसके उत्तराधिकारी के रूप में वह संपत्ति धारण किए रहती है[5]। मिताक्षरा ने स्पष्ट रूप से पतिव्रता विधवा को विभक्त अथवा असंसृष्ट (अपुनरेकीकृत) पुत्रहीन पति

---

1 हनुमानप्रसाद **बनाम** श्रीमती बुबई मुनराजकुंअरि (1856) 6 एम० आई० ए० 393 वंकाजी **बनाम** विष्णु, आई० एल० आर० (1894) 18 मुम्बई 534.

2 जिलाधिकारी, मछलीपट्टम् **बनाम** कवावेली वेंकट, (1860) 8 एम० आई० ए० 520.

3 काशीप्रसाद **बनाम** इन्दुकुंअरि आई० एल० आर० (1908) 30 इलाहाबाद 490.

4 जगन्नाथ **बनाम** चम्पा, आई० एल० आर 28 इलाहाबाद 307; श्रीमती कृष्णा **बनाम** भैयाराजेन्द्र, ए० आई० आर० 1927 अवध 240; लालुभाई **बनाम** काशीबाई, 7 आई० ए० 212.

5 गोकुल गुरुमूर्त्ति **बनाम** कुरमेती अय्यप्पा, ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1702.

की मृत्यु होने पर उसका वारिस माना है[1]। विज्ञानेश्वर ने अपने मत के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि 'विवाह से संस्कृत पत्नी यज्ञ में पति के साथ बैठती है'[2] जिससे वह पति के धर्मकार्य में सहायक होती है और इस आधार पर उसे पति की संपत्ति में भी अधिकार प्राप्त है।

याज्ञवल्क्य ने भी पत्नी को पति की उत्तराधिकारिणी माना है[3]। शास्त्रों में पत्नी को पति की अर्धांगिनी कहा गया है[4]। पुरुष अर्धांग होता है और विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करके पूर्णांग बनता है। पूर्णांग हो जाने पर ही पुरुष यज्ञ का अधिकारी होता है। एक शास्त्रीय मान्यता यह भी है कि पत्नी जो भी धर्मकार्य करती है उसका भागीदार पति भी होता है[5]। इस विषय पर बृहस्पति ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्याख्या की है जो इस प्रकार है—" वेदादि, शास्त्रों और विद्वानों द्वारा पत्नी पति की अर्धांगिनी मानी गई है; वह पति के साथ पाप-पुण्य समान रूप से ग्रहण करती है। जिस पुरुष की पत्नी मृत नहीं है, उसका देहार्ध जीवित है उसके जीवित रहने पर अन्य व्यक्ति उसका धन नहीं प्राप्त कर सकता। पति से पहले मरने पर वह पति का अग्निहोत्र लेती है और पति के बाद मरने पर वह उसकी संपत्ति ग्रहण करती है। सकुल्य, पिता, माता, सहोदर, भाई आदि के रहते हुए भी मृत पति की वह वारिस है"[6]। इन शास्त्रीय और

---

1 पत्नी दुहितरश्चैवपितरौभ्रातरस्तथा। याज्ञ० 2/135
"तत्र प्रथमं पत्नी धनभाक्। "और" तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातिस्य विभक्तस्या-संसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम्।" उसी पर मिता० टीका।

2 "पत्नी विवाहसंस्कृता 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति स्मरणात्।" याज्ञ० 2/135 की मिता० टीका।

3 पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। याज्ञ० 2/135.

4 अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी। तैति० ब्रा० 3/3/3/5, तैत्ति० सं० 6/1/8/5.

5 अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।

6 पत्न्ये दद्यात्ततस्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च। इति संयताया एव धनग्रहणमुक्तम्॥ याज्ञ० 2/135 की मिता० टीका।

आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः।
शरीरार्धंस्मृता जाया पुण्यापुण्य फले समा॥
यस्यनोपरता भार्या, देहार्धं तस्य जीवति।
जीवत्यर्ध शरीरेऽर्थं कथमन्यः समापुन्यात्॥ व्य० नि०, पृ० 449 में, प्रजापति के नाम से उद्धृत
कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु।
असतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥ वही पितामह के नाम से उद्धृत
पूर्वं प्रमीताग्निहोत्रं मृते भर्त्तरितद्धनम्।
विन्देत्पतिव्रता नारी धर्म एव सनातनः॥
तत्सपिण्डा बान्धवा वा ये तस्याः परिपन्थिनः। स्मृ० च० 2, पृ० 190 पर उद्धृत।
बृह० स्मृ० 25/46, से 50 तक।

वैदिक[1] वचनों के आधार पर विधवा को पुत्रहीन पति का वारिस माना गया। किंतु इस प्रकार के उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति पर हिंदू विधवा स्त्री की शक्ति संपत्ति के व्यवहार की बाबत सीमित होती है। वह मात्र विधिक आवश्यकता या संपदा के लाभ के लिए ही संपत्ति को अन्यसंक्रांत कर सकती है। उसके इस उत्तराधिकार से वारिसों की नई शक्ति का सृजन भी नहीं होता। इन्ही दो अर्थों में पति से उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति पर विधवा की शक्ति सीमित होती है।

विधवा द्वारा पति की संपदा से अनुवृद्ध संपत्ति

विधवा अपने पति की जो संपदा धारण करती है, उसकी आय को वह अपने भरण-पोषण या पति के श्राद्ध आदि में व्यय कर सकती है। उस आय को इच्छानुसार व्यय करने की पूर्ण शक्ति प्राप्त है। वह बचत करने और उसे उत्तरभोगियों के लाभार्थ संचय करने के लिए आबद्ध नहीं है। किंतु जब वह आय की बचत करती है और उस बचत से संपत्ति क्रय करती है तब यह प्रश्न उठता है कि विधवा द्वारा पति की संपदा की आय से अनुवृद्ध संपत्ति विधवा की निजी संपत्ति है अथवा वह उसकी सीमित संपदा का एक अंश है। प्रिवी कौंसिल[2] ने यह अभिनिर्धारित किया था कि 'हिंदू विधवा अपने पति की संपदा की आय का व्ययन इस रूप में कर सकती है कि उससे समग्र संपत्ति में अनुवृद्धि हो सके। संपत्ति संबंधी उसके व्यवहार से इस संबंध में कोई न कोई उपधारणा हो सकती है। यदि इस संबंध में कोई विवाद उठता है तो यह तथ्य का प्रश्न हो जाता है कि उसने उसे अपनी संपत्ति के रूप में व्यवहार किया है अथवा नहीं। विधवा ने यदि अनुवृद्ध संपत्ति के साथ अपनी संपत्ति जैसा व्यवहार किया है तो उसके पति के उत्तरभोगी विधवा के विधिक प्रतिनिधि होते हैं'। एक अन्य मामले में भी प्रिवी कौंसिल[3] ने यह अभिनिर्धारित किया था कि 'जब विधवा अपने पति की संपत्ति की आय की बचत से कोई संपत्ति उपार्जित करती है तो जब तक यह नहीं सिद्ध हो कि उसने उस संपत्ति के साथ इस ढंग से व्यवहार नहीं किया जो यह संकेत दे सके कि वह उसकी आत्यंतिक संपत्ति है, वह संपत्ति यही समझी जाएगी कि उसके पति की संपत्ति का एक अंश हो गई हैं।' इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि सीमित संपदा की आय से अनुवृद्ध संपत्ति पर विधवा का स्वामित्व होता है और यह विवाद कि यह संपत्ति विधवा की आत्यंतिक संपत्ति है अथवा सीमित संपदा का अंश, विधवा की मृत्यु के उपरांत ही उठता है; उसके जीवन काल में नहीं। यदि यह सिद्ध होता है कि अनुवृद्ध संपत्ति की बाबत विधवा ने आत्यांतिक संपत्ति के रूप में व्यवहार किया है तो उसकी

---

1 इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्यं प्रेतम्।
धर्मंपुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेति देहि।। अथर्व॰ 18/3/1.
इस मंत्र के उत्तरार्ध में विधवा द्वारा धर्म पालन करने और पति के वंशजों तथा धन को प्राप्त करने की स्पष्ट व्यवस्था है।

2 राजा राजेश्वरीधर **बनाम** सुन्दरपाण्ड्यस्वामी तेवाड़, (1919) 49 आई॰ सी॰ 104 (पी॰ सी॰).

3 नवकिशोर मण्डल **बनाम** उपेन्द्रकिशोर मण्डल, आई॰ एल॰ आर॰ (1922) पी॰ सी॰ 39.

मृत्यु के उपरांत उसके उत्तराधिकारी उसके वारिस होंगे और यदि यह सिद्ध होता है कि विधवा से उस संपत्ति की बाबत सीमित संपदा के अंश के रूप में व्यवहार किया है तो उसकी मृत्युके उपरांत संपदा उसके पति के उत्तरभोगियों को प्राप्त होगी।

विरासत में प्राप्त पुत्रहीन पुत्र या पौत्र की संपत्ति

मनु ने पुत्रहीन पुत्र की मृत्यु हो जाने पर उसके दाय अर्थात् संपत्ति के माता द्वारा प्राप्त करने की व्यवस्था दी है[1] । मिताक्षरा ने भी माता को उत्तराधिकारी माना है[2] । विष्णु भी इस मत के हैं कि पुत्रहीन (अपुत्र) पुत्र की संपत्ति माता को मिलनी चाहिए[3] । कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदू शास्त्रों के अनुसार पुत्रहीन पुत्र की मृत्यु होने पर और अन्य निकटतम वारिसों के अभाव में माता को विरासत का हक प्राप्त होती है[4] । पुत्रहीन पुत्र की माता को जो संपत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त होती है वह संपदा भी सीमित संपदा होता है और उसकी भी प्रसंगति वही होती है जो 'विधवा की संपदा' की होती है ।

पिता की माता[5] और पितामह की माता[6] को भी पुत्रहीन पौत्र या प्रपौत्र की मृत्यु के उपरांत विरासत का हक प्राप्त है और उसे भी उत्तराधिकार में जो संपदा प्राप्त होती है वह सीमित संपदा होती है पर सीमित संपदा की प्रसंगतियों से मुक्त होती है । माता, पिता की माता या पितामह की माता की मृत्यु के उपरांत उसकी सीमित संपदा उसके वारिसों को उत्तराधिकार में प्राप्त न होकर पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र के उत्तरभोगियों को प्राप्त होती है ।

सीमित संपदा की धारक स्त्री से प्रत्यागम में प्राप्त संपत्ति

हिंदू विधि में यह आवश्यक नहीं है कि विधवा की मृत्यु के पश्चात् उसके पति की संपत्ति प्रत्यागम में किसी पुरुष उत्तरभोगी को ही प्राप्त हो जिसका स्वामित्व आत्यंतिक हो जाए । जब तक कोई स्त्री उत्तरभोगी अंतिम पुरुष स्वामी की संपदा को प्रत्यागम में प्राप्त करती रहेगी तब तक उसका स्वामित्व सीमित ही रहेगा और संबंधित संपदा की प्रकृति 'विधवा की संपदा' या 'सीमित संपदा' की बनी रहेगी । कोई विधवा जब उत्तरभोगी के रूप में प्रत्यागम में संपत्ति प्राप्त करती है तब उस संपदा पर उसकी शक्ति सीमित रहती है और वह सीमित संपदा होती है ।

---

1 अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मनु० 9/217.

2 इति मातुः पितामह्यश्च धनसम्बन्धो दर्शितः । याज्ञ० 2/135 पर मिता० टीका । यह वस्तुतः मनु के उपर्युक्त वचन की समीक्षा है ।

3 अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि । तदभावे दुहितृगामि । तदभावेपितृगामि तदभावे मातृगामि । विष्णु 17/7, याज्ञ० 2/135 की मिता० टीका में भी उद्धृत ।

4 सुब्बय्या चेट्टि बनाम वीरजिनु अम्माल, ए० आई० आर० 1978 मद्रास 85.

5 मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ मनु० 9/217
पुकार सिंह बनाम रणजीत सिंह, (1978) । इलाहाबाद 6611.

6 डी० एफ० मुल्ला; प्रिंसिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ, उपबंध-168(4) और 170 (1), पृष्ठ 216-217.

पति की संपत्ति के विक्रय आगम से नई संपत्ति का उपार्जन

पति की संपत्ति का विक्रय करके जब कोई विधवा नई संपत्ति का क्रय उसके विक्रय आगम से करती है तब वह संपत्ति उसके पति की संपत्ति का रूपांतर होने से विधवा की संपदा होती है[1]। यह सिद्धांत उन मामलों में भी लागू होता है जिन मामलों में पति की कुछ संपत्ति अथवा संपूर्ण संपत्ति के स्थान पर दूसरी संपत्ति विधवा को किसी विधि के अधीन प्राप्त होती है; उदाहरणार्थ, चकबंदी या बन्दोबस्त आदि में।

संमिश्रण का सिद्धांत

संमिश्रण का सिद्धांत सहदायिकी संपत्ति या कौटुंबिक संपत्ति के मामले में ही लागू होता है। विधवा की संपदा के मामले में यह सिद्धांत लागू नहीं होता[2]। इसका कारण यह है कि विधवा की संपदा की प्रकृति सहदायिकी संपत्ति से सर्वथा भिन्न है। सहदायिकी संपत्ति में संयुक्त स्वामित्व की प्रधानता है जब कि विधवा की संपदा उसके पति की संपत्ति होती है उस पर उसका स्वामित्व सीमित होता है। सीमित स्वामित्व की संपत्ति में पूर्ण स्वामित्व की संपत्ति संमिश्रित नहीं हो सकती और न ही कोई अन्य सीमित संपदा, क्योंकि प्रत्येक सीमित संपदा के अन्य वारिस या उत्तरभोगी और अन्तिम पुरुष स्वामी पृथक्-पृथक् होते हैं और सीमित स्वामी की मृत्यु के उपरांत प्रत्येक सीमित संपदा यदि वह अनेक सीमित संपदा की धारक है, संबंधित अंतिम पुरुष स्वामी के उत्तरभोगियों को प्रत्यावर्तित होगी। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि संमिश्रण का सिद्धांत सीमित संपदा या विधवा की संपदा की बाबत लागू नहीं हो सकता।

विधवा की शक्तियां

स्थावर संपत्ति के व्ययन की सीमित शक्ति—विधवा अथवा अन्य सीमित वारिस द्वारा किए गए स्थावर संपत्ति के समग्र अन्यसंक्रामण को पुष्ट करने के लिए निम्नलिखित तथ्यसिद्ध होने चाहिए:[3]

(1) यह कि विधिक आवश्यकता थी;[4]

(2) यह कि अन्यसंक्रांती ने आवश्यकता की उचित जांच के उपरांत सच्चाई से आवश्यकता की विद्यमानता पर विश्वास करके क्रय किया;[4]

(3) यह कि अन्य उत्तरभोगियों ने इस रूप में अनुमति प्रदान की जिससे यह

---

[1] टोडासिंह बनाम वेगमबाई, ए० आई० आर० 1960 मध्य प्रदेश 60; अय्यन गौड़ बनाम गाडिजप्पा गौड़, ए० आई० आर० 1940 मुम्बई 200.

[2] मालसप्पा बन्दप्पा देसाई बनाम माल्लप्पा, (1962) 2 एस० सी० जे० 589.

[3] देवीप्रसाद बनाम गुलाबभक्त, आई० एल० आर० (1913) 40 कलकत्ता 721 रंगस्वामी बनाम नाचियप्पा, ए० आई० आर० 1919 पी० सी० 196.

[4] जिलाधिकारी मछलीपट्टम् बनाम कावेली वेंकट, (1861) 8 एम० आई० ए० 529

उपधारणा बनी कि संव्यवहार उचित था[1],

(4) यह कि विधवा ने अन्यसंक्रामण के समय निकटतम उत्तरभोगी या उत्तरभोगियों के पक्ष में संपूर्ण संपदा में अपने संपूर्ण हित का समर्पण कर दिया[2]।

सामान्यत: विधवा या अन्य सीमित वारिस को विरासत में प्राप्त समग्र स्थावर संपत्ति के व्ययन की शक्ति नहीं होती। किंतु अपवाद रूप में उपरिलिखित चार मामलों में विरासत में प्राप्त समग्र सीमित संपदा का व्ययन हो सकता है।

जंगम संपत्ति के व्ययन की सीमित शक्ति

हिंदू विधि में विधवा अथवा अन्य सीमित वारिसों को जंगम संपत्ति के व्ययन की शक्ति स्थावार संपत्ति के व्ययन से अधिक नहीं होती, न ही वह किसी विलेख या विल द्वारा उसका व्ययन कर सकती है[3]। मिताक्षरा शासित मुम्बई राज्य में भी यही विधि लागू है[4]। किंतु जिन क्षेत्रों में व्यवहार मयूर की प्रामाणिकता है वहां विधवा या सीमित संपदा के धारकों को जीवित व्यक्तियों के बीच किए गए कार्य द्वारा विरासत में प्राप्त जंगम संपत्ति के व्ययन की शक्ति होती है जिसका प्रयोग वह विक्रय, दान या अन्य ढंग से कर सकती है[5]। फिर भी वह विल नहीं कर सकती क्योंकि विल जीवित व्यक्तियों के बीच संव्यवहार नहीं होता। जो जंगम संपत्ति विधवा की मृत्यु के समय इस प्रकार के व्ययन के पश्चात् शेष रह जाती है वही अंतिम पूर्ण स्वामी के अन्य वारिस उत्तरभोगी के रूप में प्राप्त करते है[6]। हिंदू विधवा और उसके पुत्रों के बीच हुए विभाजन में जो जंगम सपत्ति उसे प्राप्त होती हैं उसके भी व्ययन की शक्ति उसे विरासत में प्राप्त जंगम संपत्ति की भांति होती है।[7]

विधवा के सीमित संपदा का विल करने की शक्ति

किसी हिंदू विधवा अथवा अन्य सीमित वारिस को विरासत में प्राप्त संपत्ति

---

[1] रामदुलारे बनाम बटुलबीबी, ए० आई० आर० 1976 इलाहाबाद 135; हरेन्द्रनाथ मुखर्जी बनाम हरिपद मुखर्जी, (1938) 2 कलकत्ता 492.

[2] मलुकुमल्लि रामय्या बनाम उप्पलपति लक्ष्मय्या, ए०आई०आर० 1942 पी० सी० 54; नल्लया बनाम अंगय्यम्माल्, ए० आई० आर० 1964 मद्रास 260.

[3] भगवानदीन बनाम मैनाबाई, (1867) एम० आई० आर० 478 (वाराणसी का मामला); दुर्गानाथ बनाम चिन्तामणि, आई० एल० आर० (1904) कलकत्ता 214, (बंगाल का मामला); बच्ची बनाम जगपति; आई० एल० आर० (1885) 8 मद्रास 304 (मद्रास का मामला).

[4] पन्डरीनाथ बनाम गोविन्द, आई० एल० आर० (1908) 32 मुम्बई 59.

[5] बेकर बनाम लक्ष्मीबाई, आई० एल० आर० (1887) 11 मुम्बई 285; भागीरथीबाई बनाम खांजीराव, आई० एल० आर० (1887) 11 मुम्बई 285,

[6] चम्मनलाल बनाम गणेश दोषी, आई० एल० आर० (1904) 28 मुम्बई 453.

[7] चम्मनलाल बनाम पार्वतीबाई, ए० आई० आर० 1934 मुम्बई 151.

का विल करने की शक्ति नहीं है[1]। इसका कारण यह है कि विल स्वामी की मृत्यु के उपरांत प्रभावी होता है और सीमित वारिसों की मृत्यु होते ही संपत्ति अन्य उत्तर-भोगियों में निहित हो जाती है। इस प्रकार विल प्रभावी होने के पूर्व ही विफल हो जाता है। इसके अतिरिक्त विधवा या अन्य सीमित वारिस का स्वामित्व सीमित और नियंत्रित होने और मात्र जीवन पर्यन्त तक ही चलने वाला होने के कारण उसे मृत्यूपरांत सीमित संपदा का वारिस नियुक्त करने की शक्ति होती ही नहीं क्योंकि मृत्यु होते ही उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है।

विधवा द्वारा अन्यसंक्रामण

विधवा तथा अन्य सीमित उत्तराधिकारियों को निम्नलिखित प्रयोजन के लिए ही अन्यसंक्रामण की शक्ति है :—

1. धार्मिक या पूर्त प्रयोजन, या
2. विधिक आवश्यकता, या
3. संपदा का फायदा।

धार्मिक या पूर्त प्रयोजन

विधवा या अन्य सीमित वारिसों को धार्मिक या पूर्त प्रयोजन के लिए अन्यसंक्रामण करने की अधिक शक्ति होती है। इस विषय की विवेचना से पूर्व यह जानकारी कर लेना आवश्यक है कि वे कौन से प्रयोजन हैं जिन्हें धार्मिक अथवा पूर्त विषयों के अधीन माना जाता है। दाह-संस्कार[2] श्राद्ध या पिंडदान[3] और ऋण[4] आदि का भुगतान धार्मिक कृत्य माने जाते हैं। धर्मशाला बनवाना, मंदिर बनवाना, कुंआ और तालाब खुदवाना आदि पूर्त कृत्य है[5]। किंतु धार्मिक और पूर्त कार्यों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है जो निम्नलिखित हैं:—

(क) अंतिम मृत स्वामी का दाह-संस्कार, श्राद्ध और पिंडदान आदि ;

(ख) उन पित्तरों और पूर्वजों के दाह-संस्कार या श्राद्ध आदि जिन्हें करने के लिए अंतिम मृत स्वामी आबद्ध था ;

(ग) मृत स्वामी के ऋण का भुगतान।

(क) अंतिम मृत स्वामी के लिए धार्मिक या पूर्त कृत्य—यह विधि अब सुस्थिर हो चुकी है कि विधवा या अन्य सीमित वारिस अंतिम स्वामी का जिसकी संपत्ति वह विरासत में प्राप्त करे दाह संस्कार या श्राद्ध आदि करने के लिए आबद्ध है[6]। यह

---

1 शम्भुदयाल **बनाम** बासुदेव, ए० आई० आर० 1970 इलाहाबाद 525.
2 रत्नचन्द्र **बनाम** जहेर चन्द्र, आई० एल० आर० (1898) 22 मुंबई 818.
3 श्रीमोहन **बनाम** ब्रजबिहारी, आई० एल० आर० (1909) 31 कलकत्ता 753.
4 आशुतोष **बनाम** चिदम, ए० आई० आर० 1930 कलकत्ता 351.
5 पूर्तसुरालयाऽऽरामकूपाजीव्यादि लक्षणम्। भाग० पु० 7/15/49 (उत्तरार्ध).
6 महालक्ष्मम्मा **बनाम** माचम्मा, ए० आई० आर० 1961 आन्ध्र प्रदेश 263.

बाध्यता मृतक की संपत्ति के साथ संलग्न होती है। और संपत्ति के साथ गमन करती रहती है।

उच्चतम न्यायालय ने **शिवकुंअरि बनाम नथुनी प्रसाद सिंह**[1] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि विधवा अपने पति की विरासत में प्राप्त संपत्ति का अन्य संक्रामण पति के दाह संस्कार और श्राद्ध में होने वाले व्यय के लिए कर सकती है। इसी प्रकार पुत्री अपने पिता के दाह संस्कार आदि के लिए अन्यसंक्रामण कर सकती है, यदि वह संपत्ति विरासत में प्राप्त करती है[2]।

यदि विधवा अपने पति के गया-श्राद्ध, अपने भरण-पोषण और पति के अन्य भवनों की मरम्मत के लिए संपत्ति का विक्रय करती है जिससे कि उसकी स्मृति बनी रहे और उसके द्वारा छोड़ी हुई संपत्ति का अनुरक्षण भी होता रहे तो अंतिम दोनों प्रयोजन भी न्यायोचित हैं जिन्हें कोई प्रबुद्ध स्वामी अवश्य करता है[3]। विधवा यदि दुबारा भी गया-श्राद्ध करने और पति की स्मृति में उसके आध्यात्मिक लाभ हेतु शिव-मंदिर आदि बनवाने के लिए संपत्ति का विक्रय करे तो इन प्रयोजनों को एक दूसरे से संबद्ध होने के कारण पति के पारलौकिक हित लाभ का प्रयोजन माना जाएगा[3]। यद्यपि इससे पूर्व एक अन्य मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने ही दुबारा गया-तीर्थ यात्रा को विधिक आवश्यकता अर्थात् धार्मिक या पूर्त प्रयोजन नहीं माना था[4]। मृत पति की इच्छानुसार तालाब खुदवाने के लिए दिया गया दान भी धार्मिक प्रयोजन है[5]।

किंतु धार्मिक और पूर्त प्रयोजन के लिए यह आवश्यक है कि ये कार्य पति या अंतिम पुरुष स्वामी की मृत्यु के कुछ ही समयोपरांत या युक्तियुक्त समय के अंदर ही किए जाएं। अधिक समय व्यतीत हो जाने पर अनेक धार्मिक कृत्य विधिक आवश्यकता नहीं माने गए, यथापति की मृत्यु के सोलह वर्षोंपरांत बनवाई गई धर्मशाला जिसमें यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इससे पति को कोई परलौकिक हित-लाभ होगा[6]। प्रत्येक मामले में पति के परलौकिक हित-लाभ की सिद्धि आवश्यक है।

(ख) **अंतिम पुरुष स्वामी के पूर्वजों आदि के लिए धार्मिक या पूर्त कृत्य**—अंतिम पुरुष स्वामी के वे दायित्व, जिनके लिए वह आबद्ध था, धार्मिक कृत्य की परिधि में आते हैं यथा पति की माता का श्राद्ध[7] और यदि वह सीमित संपदा की वारिस पुत्री है तो उसकी माता का श्राद्ध[8]। ये धार्मिक कर्म आवश्यक या बाध्यकर नहीं हैं। फिर भी इन्हें

---

1 ए० आई० आर० 1976 एम० सी० 709.
2 राजचन्द्र बनाम शिशु, (1865) 7 डब्ल्यू० आर० 146.
3 रामदुलारे बनाम बटुल, ए० आई० आर० 1976 इलाहाबाद 135.
4 गुरूप्रसाद बनाम रामसुख, ए० आई० आर० 1952 इलाहाबाद 938.
5 रामसूरत बनाम हितनन्दन, ए० आई० आर० 1931 पटना 330.
6 श्यामदेवी बनाम वीरभद्र, ए० आई० आर० 1921 इलाहाबाद 178.
7 चौधरी जनमेजय बनाम रसमयी, (1868) 11 बंगाल एल० आर० 418; राम कुमार बनाम रुकमयी, आई० एल० आर० (1881) 6 कलकत्ता 36.
8 श्रीमोहन बनाम ब्रजबिहारी, आई० एल० आर० (1908) 36 कलकत्ता 753.

पवित्र प्रयोजन माना जाता है और यह समझा जाता है कि इनसे मृतात्मा को पारलौकिक हित-लाभ मिलने में सहायता मिलती है। इस प्रकार के कर्मों के लिए विधवा या सीमित वारिस की शक्ति अपेक्षाकृत कम है और वह मात्र थोड़ा अंश ही अन्यसंक्रान्त कर सकती है[1]। इस वर्ग के कर्मों के लिए सीमित मात्रा में व्यय करने की अनुमति हिंदू विधि में दी जा सकती है और वह भी संपदा के परिमाण को ध्यान में रखकर। यदि कुटुंब की परिस्थिति अनुकूल नहीं हो। तो इन कर्मों को अस्वीकृत भी किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय ने **कमला देवी** बनाम **बच्चू लाल गुप्त**[2] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि हिंदू विधवा, जिसका अपने पति की संपदा पर कब्जा है, ऐसे धार्मिक कर्मों के लिए भी अन्यसंक्रामण कर सकती है जो आवश्यक या बाध्यकर न होते हुए भी पवित्र कर्म हों और जो मृत पति की आत्मा को शांति प्रदान करने में सहायक हों। इसके लिए वह संपत्ति का युक्तियुक्त अंश ही अन्यसंक्रांत कर सकती है।

(ग) **मृत स्वामी या पति के ऋण का भुगतान**—हिंदू शास्त्रों की यह मान्यता है कि ऋण ग्रस्त व्यक्ति को मरने पर तब तक मुक्ति नहीं मिलती जब तक उसके पुत्र या अन्य रक्त संबंधी उसके ऋणों का उन्मोचन नहीं कर देते। जो व्यक्ति मृतक की संपत्ति को विरासत या उत्तराधिकार में प्राप्त करता है वह उसके ऋणों के उन्मोचन का दायित्व भी ग्रहण करता है। अतएव मृत पति के ऋणों का उन्मोचन धार्मिक कर्म है और विधवा इस प्रयोजन के लिए अन्यसंक्रामण कर सकती है। यदि ऋण का उन्मोचन संपूर्ण संपत्ति के विक्रय या बंधक से ही संभव हो तो वह ऐसा भी कर सकती है[3]। उसकी उस शक्ति पर कोई नियंत्रण नहीं है[3]। विधवा को कालबाधित ऋण के उन्मोचन हेतु अन्य संक्रामण की शक्ति है किंतु वह ऐसा कालबाधितऋण नहीं होना चाहिए जो पति द्वारा निराकृत कर दिया गया हो[4]। किंतु विधवा या सीमित वारिस ऋण के मूलधन का अपनी आय से उन्मोचन करने हेतु बाध्य नहीं है[4] क्योंकि सीमित संपदा की आय पर उसका पूर्ण स्वामित्व होता है। किंतु आय से ब्याज के भुगतान हेतु आबद्ध है[5]। पुत्रवधू भी, यदि वह अपने श्वसुर की संपत्ति को विरासत में प्राप्त करे तो उसके ऋण के उन्मोचन का नैतिक या पुण्य दायित्व ग्रहण करती है और वह श्वसुर को संपदा का अन्य संक्रामण करके ऋण का भुगतान कर सकती है।[6]

---

1 सरदारसिंह **बनाम** कुंजबिहारीलाल, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 261; काशीराव **बनाम** मोतीराम, (1951) नागपुर 284.

2 ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 434.

3 आशुतोष **बनाम** चिदम्, ए० आई० आर० 1930 कलकत्ता 351.

4 भागवत **बनाम** निवृत्ति, ए० आई० आर० 1914 मुंबई 245.

5 देवीदयाल **बनाम** भानुप्रताप, आई० एल० आर० (1904) 31 कलकत्ता 433.

6 चन्द्रिका प्रसाद **बनाम** भगवानदास, आई० एल० आर०, (1940) 15 लखनऊ 167 राजाराव **बनाम** चिरंजीवुलु, ए० आई० आर० 1955 उड़ीसा 17.

2. विधिक आवश्यकता हेतु अन्य संक्रामण

विधिक आवश्यकता के दो प्रमुख तत्व हैं; अन्यसंक्रामण की शक्ति का परिमाण और विधिक आवश्यकता के प्रयोजन । इनका पृथक-पृथक विवेचन नीचे किया जा रहा है :—

(क) **अन्य संक्रामण की शक्ति का परिमाण** —विधवा या अन्य सीमित वारिस की अन्य संक्रामण की शक्ति विधि की आवश्यकता के प्रयोजनार्थ शिशु की संपदा के प्रबंधक के सदृश है । प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति ने **श्रीमती बबुई मुनराजकुंअरि**[1] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी सीमित या सापेक्ष धारक की शक्ति का उचित प्रयोग आवश्यकता के मामले में और संपदा के फायदे के लिए ही किया जा सकता है । इस परिभाषा की उच्चतम न्यायालय ने **जय श्री** साहू बनाम **राजदेवण दुबे**[2] के मामले में पुष्टि कर दी है और यह अभिनिर्धारित किया है कि "जब अंतरण की आवश्यकता उत्पन्न होती है तो विधवा की अन्यसंक्रामण की शक्ति पर हिंदू विधि द्वारा लगाए गए नियंत्रण की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है और उसे स्वामी की हैसियत से पूर्णतम विवेकाधिकार यह निर्णय करने के लिए प्राप्त हो जाता है कि अन्यसंक्रामण का स्वरूप क्या हो ।" कहने का तात्पर्य यह है कि अन्यसंक्रामण विक्रय के रूप में हो अथवा बंधक के रूप में, यह पूर्णतया विधवा के विवेक पर निर्भर है । उसके इस विवेक पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया जा सकता; यदि उसने एक प्रज्ञावान व्यक्ति की भांति निर्णय लिया हो ।

इस संबंध में "आवश्यकता" शब्द का प्रयोग विशिष्ट या पूर्णतः पारिभाषिक अर्थों में हुआ है । इसका अर्थ वास्तविक विवशता नहीं है अपितु वह दबाव है जिसे विधि गंभीर और पर्याप्त मानती है ।[3] कोई विधवा उस समय संपत्ति को अन्य संक्रांत कर सकती है जब ऐसे बाध्यकर धार्मिक कर्मों को करने के लिए, जिससे उसके पति की आत्मा को शान्ति मिल सके, कोई अन्य साधन उपलब्ध न हो[3] । इससे यह स्पष्ट है कि अन्यसंक्रामण की शक्ति का परिमाण वह आवश्यकता है जो उसे प्राधिकृत करती है[4] ।

(ख) **विधिक आवश्यकता के प्रयोजन** :—न्यायिक निर्णयों द्वारा निम्नलिखित प्रयोजनों को अन्य संक्रामण के लिए विधिक आवश्यकता माना गया है :—

(i) मृत स्वामी की संपदा की बाबत प्रोबेट लेने का मूल्य, प्रशासन-पत्र अथवा उत्तराधिकार प्रमाण-पत्र आदि लेने का व्यय[5] ।

(ii) राजकीय राजस्व आदि के बकाया के भुगतान हेतु अथवा लगान या किराए के लिए हुई डिक्री की धनराशि के भुगतान हेतु, जो स्वामी की मृत्यु के

---

1 (1856) 6 एम० आई० ए० 393,
2 ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83.
3 रामसुमिरन प्रसाद बनाम श्यामकुमारी, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 356.
4 श्यामसुन्दर बनाम अक्षणकुंअरि, (1898) 25 आई० ए० 183.
5 श्रीमोहन बनाम ब्रजबिहारी, आई० एल० आर० (1909) 36 कलकत्ता 753.

उपरांत प्रोद्भूत हुई हो यदि विधवा के पास कोई निधि उस समय नहीं थी, जिस समय उसने बंधक रखा था या विक्रय किया था और यदि वह ऐसा न करती तो संपत्ति उसके उन्मोचन हेतु बल पूर्वक विक्रय कर दी जाती[1] ।

(ग) **भरण-पोषण**—अपने भरण-पोषण[2] और उन व्यक्तियों के भरण-पोषण, जिनके लिए विधवा का पति बाध्य था; यथा, उसकी माता, उसके पिता की माता, अविवाहित पुत्रियां आदि[3] या कौटुंबिक व्यय के लिए उपगत ऋण का भुगतान[4] आदि ऐसे मद हैं जो विधिक आवश्यकता माने गए हैं। इन मदों के वित्तीय पोषण के लिए किया गया अन्यसंक्रामण वैध होता है ।

(घ) **विवाह व्यय**—पति की पुत्री, पुत्र की पुत्री या पौत्र की पुत्री[5] आदि के विवाह पति की संपदा के भार हैं जिन्हें विधवा पति की संपदा से करने के लिए आबद्ध है ।

3. संपदा का फायदा

हिंदू विधवा या अन्य सीमित वारिस संपदा के फायदे के लिए अन्यसंक्रामण कर सकते हैं। 'संपदा का फायदा' अभिव्यक्ति का विवेचन सहदायिकी संपत्ति के अध्याय में किया जा चुका है। संपदा के फायदे के लिए अन्यसंक्रामण के मामले में वही सिद्धांत यहां भी युक्तियुक्त माना गया है। जिस विवाद में संपदा के अस्तित्व को ही भय उत्पन्न हो गया हो उसमें होने वाले व्यय के लिए किया गया अन्यसंक्रामण 'संपदा के फायदे' के लिए अन्यसंक्रामण है[6]। संपदा के फायदे का सिद्धांत इस तर्क पर आधृत है कि समग्र संपत्ति की सुरक्षा हेतु उसका थोड़ा अंश अंतरित किया जा सकता है और ऐसा अंतरण वैध है ।

बंधक या विक्रय के रूप में अन्यसंक्रामण

यदि अन्यसंक्रामण अपेक्षित हो तो यह आवश्यक नहीं है कि विधवा पहले ऋण उपगत करे और उससे अपेक्षा की पूर्ति करे और तत्पश्चात् उस ऋण के उन्मोचन में असमर्थ होने पर अन्यसंक्रामण करे। वह संपदा का उचित अंश जब आवश्यक हो बंधक रख सकती है अथवा विक्रय कर सकती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि विक्रय के पूर्व संपत्ति को बंधक रखकर धन प्राप्त किया जाए। कभी-कभी विक्रय बंधक से लाभकारी सिद्ध होता है[7] क्योंकि बंधक में ऋण धनराशि पर ब्याज भी लग सकता है और ब्याज तथा मूलधन

---

[1] जगन्नाथ **बनाम** गुरुचरण, ए० आई० आर 1929 अवध 422; गणेशलाल **बनाम** क्षेत्रमोहन, ए० आई० आर० 1926 पी० सी० 56.

[2] रामसुमिरन प्रसाद **बनाम** श्यामकुमारी, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 356; उमाकान्त **बनाम** सत्यचरण, ए० आई० आर० 1965 कलकत्ता 189.

[3] दरबारीलाल **बनाम** गोविंद, ए० आई० आर० 1924 इलाहाबाद 902.

[4] वेंकटसुब्बाराव **बनाम** आनंदराव, ए० आई० आर० 1934 मद्रास 432.

[5] नीलामबाला **बनाम** राजरत्नम्, ए० आई आर० 1956 मद्रास 336.

[6] बेनीमाधव **बनाम** रामकुंअरि, ए० आई० आर० 1954 पटना 451.

[7] बालकृष्ण **बनाम** हीरालाल, ए० आई० आर० 1919 इलाहाबाद 406.

मिला कर अधिक धनराशि देय हो सकती है जबकि विक्रय कर देने से ब्याज के भुगतान से बचा जा सकता है और संपत्ति का थोड़ा सा अंश विक्रय करके आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है। इस सिद्धांत की विवेचना करते हुए उच्चतम न्यायालय ने **जयश्री बनाम राजदेवन**[1] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि भोग बंधक की संपत्ति का विक्रय विधवा की शक्ति से परे नहीं कहा जा सकता चाहे बंधकदार देय धनराशि की वसूली के लिए वाद न चला रहा हो।

इससे यह विधि सुस्थिर हो चुकी है कि विधवा को कुटुंब के कर्त्ता जैसी युक्तियुक्त छूट अपनी शक्ति के प्रयोग में मिलनी ही चाहिए, यदि वह भावी वारिसों के प्रति उचित और न्यायसंगत व्यवहार कर रही हो।[2] किंतु युक्तियुक्त छूट का अर्थ यह नहीं है कि अन्यसंक्रमण की व्यापक शक्ति मिल जाती है। यह प्रत्येक मामले में उत्पन्न परिस्थितियों पर निर्भर है। यदि परिस्थितियां बंधक के अनुकूल हैं तो विक्रय को युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

आवश्यकता के सबूत का भार

यह स्वाभाविक ही है कि जो व्यक्ति किसी की संपत्ति विक्रय करता है या बंधक लेता है तो उसे चाहिए कि उसके स्वत्व या हक तथा उसके इस प्रकार के व्ययन की शक्ति की जानकारी संव्यवहार से पूर्व कर ले। यदि क्रेता या बंधकदार संबंधित संपत्ति के स्वामित्व या व्ययन की शक्ति की जांच नहीं करे और अपने को जोखिम में डाले तो अपनी भूल-चूक का उत्तरदायित्व उसी को वहन करना होगा। क्रेता या बंधकदार की बाध्यता में उस समय वृद्धि हो जाती है जब वह किसी स्त्री स्वामी या विधवा स्वामी में संपत्ति का व्ययन संबंधी संव्यवहार कर रहा हो और वह भी तब जब उस संव्यवहार में संपदा का अधिकांश भाग अंतर्ग्रस्त हो अथवा समग्र संपत्ति अन्यसंक्रामण के लिए प्रस्तावित हो। ऐसे मामले में विक्रय या बंधक की आवश्यकता की जांच करने के लिए अन्यसंक्रांती बाध्य है। यदि विक्रय या बंधक का अधिक्षेप किया जा जाए तो उसे यह सिद्ध करना होगा कि—

(क) विक्रय करने या बंधक रखने की तथ्यत: विधिक आवश्यकता थी,[3] अथवा

(ख) उसने आवश्यकता की विद्यमानता की बाबत उचित और वास्तविक जांच की थी और आवश्यकता की विद्यमानता के विषय में अपने को आश्वस्त करने के लिए सभी युक्तियुक्त उपाय किये थे।[4]

यदि कोई व्यक्ति किसी स्त्री स्वामी से संपत्ति के अंतरण के अधीन अपने हक या स्वत्व का दावा करे और उस स्वत्व या हक को उत्तरभोगियों के विरुद्ध प्रवर्तित कराना चाहे तो उस पर सदैव मात्र अंतरण की वास्तविकता या औचित्य को ही सिद्ध करने का

---

1 ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83.

2 बंकाजी **बनाम** विष्णु, आई० एल० आर० (1894) 18 मुंबई 534; नियामतराय **बनाम** दीनदयाल, ए० आई० आर० 1927 पी० सी० 121.

3 बजरंगसिंह **बनाम** गोविंदप्रसाद, ए० आई० आर० 1935 अवध 373.

4 रामानंदलाल **बनाम** दामोदरदास, ए० आई० आर० 1942 इलाहाबाद 110.

भार नहीं होगा अपितु उसे स्त्री या विधवा द्वारा किए जा रहे अन्यसंक्रामण की प्रकृति की पूर्ण व्यापकता को भी सिद्ध करना होगा और यह भी दर्शाना होगा कि अन्यसंक्रामण आवश्यकता के आधार पर न्यायोचित था। यदि अन्यसंक्राती यह नहीं सिद्ध कर पाता तो उसे कम से कम यह सिद्ध करना तो होगा ही कि उसने उस आवश्यकता की विद्यमानता के विषय में युक्तियुक्त उपायों द्वारा अपने को आश्वस्त कर लिया था[1]।

उच्चतम न्यायालय ने **कालीशंकरदास बनाम धीरेन्द्रनाथ**[2] के मामले में यह अभि-निर्धारित किया है कि किसी हिंदू विधवा द्वारा पति की समग्र संपदा के अन्यसंक्रामण को पुष्ट करने के लिए यह दर्शाना आवश्यक है कि या तो अन्यसंक्रामण हेतु विधिक आवश्यकता थी अथवा कम से कम विधिक आवश्यकता के विषय में युक्तियुक्त आधार प्रस्तुत करके इसकी प्रतिभूति दी गई थी ।

एक अन्य निर्णय में उच्चतम न्यायालय[3] ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बंधक पत्र में विधिक आवश्यकता के उल्लेख मांत्र से ही आवश्यकता की विद्यमानता की सिद्धि नहीं हो जाती। विलेख में इस प्रकार का उल्लेख अन्य प्रमाणों की पुष्टि हेतु उपयोग में लाया जा सकता है और इसकी गुरुता प्रत्येक मामले की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित रहती है।

उत्तरभोगियों की अनुमति से अन्संक्रामण

उत्तरभोगियों की अनुमति से विधवा आंशिक अथवा संपूर्ण संपदा का अन्यसंक्रामण कर सकती है। यदि विधिक आवश्यकता सिद्ध नहीं है और अन्यसंक्रांती विधिक आवश्यकता कीविद्यमानता की जांच भी सिद्ध नहीं कर पाता है किंतु यह प्रमाणित है कि उन उत्तर-भोगियों ने अन्यसंक्रामण के लिए अनुमति दी है जो वस्तुत: अन्यसंक्रमाण को चुनौती दे सकते हैं, तो ऐसा अन्यसंक्रामण विधिक आवश्यकता के प्रमाण की उपधारणा है और अंतरण की वैधता के लिए पर्याप्त है। किंतु इस उपधारणा को प्रतिकूल सबूत से खंडित किया जा सकता है[4]।

उपधारणाएं कभी प्रमाण या सबूत की श्रेणी में नहीं आ सकतीं। उत्तरभोगियों की अनुमति को प्रमाण या सबूत की कोटि में न मानकर उपधारणा की कोटि में माना गया है। फलस्वरूप, इसके प्रतिकूल साक्ष्य की गुंजाइश बनी हुई है। किंतु इसका साक्ष्यिक मूल्य इतना तो है ही कि जिन उत्तरभोगियों ने अनुमति दी है वे सामान्यतया प्रतिकूल सबूत देकर उक्त उपधारणा को तब तक खंडित नहीं कर सकते जब-तक वे यह न दर्शाएं कि उनकी अनुमति तथ्यों के दुर्व्यपदेशन पर आधृत है[5]।

---

[1] भागवतदयाल बनाम देवीदयाल, आई० एल० आर० (1908) 35 कलकत्ता 420.

[2] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 505.

[3] रानी **बनाम** शांतिबाला, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1928.

[4] रंगास्वामी **बनाम** नचियप्पा, ए० आई० आर० 1918 पी० सी० 196. अल्लाहदिया **बनाम** सोनादेवी, ए० आई० आर० 1942 इलाहाबाद 331.

[5] हरेन्द्रनाथ मुखर्जी **बनाम** हरिपद मुखर्जी, आई० एल० आर० (1938) 2 कलकत्ता 492.

विधवा के अन्यसंक्रामण में किन उत्तरभोगियों की अनुमति आवश्यक है यह प्रत्येक मामले के तथ्य पर निर्भर होगा। सामान्यतः उन सभी निकट उत्तरभोगियों की अनुमति होनी चाहिए जो विधवा की मृत्यु के उपरांत उसके वारिस हो सकते हैं। किंतु यदि वह निकटतम उत्तरभोगी, जो वस्तुतः वारिस हो सकता है और विधवा की मृत्यु के उपरांत संपदा की विरासत हेतु दावा ला सकता है, अन्यसंक्रामण की अनुमति देता है तो यह उपधारणा बन सकती है कि संव्यवहार उचित है[1]। यदि अनेक निकटतम उत्तरभोगी हों तो उनमें से एक की ही अनुमति संव्यवहार के औचित्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं मानी जा सकती और न ही उससे विधिक आवश्यकता की विद्यमानता की उपधारणा बनती है[2]। पुत्री या कोई स्त्री निकटतम उत्तरभोगी होने की दशा में, मात्र उसी की अनुमति अन्यसंक्रामण को वैधता प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं है[3]। किंतु बम्बई में पुत्री की अनुमति को पर्याप्त माना गया है[4]।

उत्तरभोगी

यह जान लेना आवश्यक है कि उत्तरभोगी कौन लोग होते हैं और वे किस श्रेणी के वारिस होते हैं। इससे उत्तरभोगी से संबंधित विधि समझने में सहायता मिलेगी।

'उत्तरभोगी' शब्द का अर्थ है, 'मृत पुरुष स्वामी या पति के वे रक्त संबंधी जो सीमित संपदा के धारक या विधवा की मृत्यु के उपरांत भोग करने वाले वारिस होंगे। 'उत्तरभोगी' शब्द दो शब्दों के योग से बना है—'उत्तर' तथा 'भोगी'। 'उत्तर' का अर्थ है, 'उपरांत' और 'भोगी' का अर्थ है, 'भोग करने वाला'। वह व्यक्ति जो किसी के उपरांत भोग करे 'उत्तरभोगी' कहलाता है। प्रायः उत्तरभोगी के साथ' निकटतम' शब्द का प्रयोग किया जाता है जो इस बात का सूचक है कि उत्तरभोगी द्वितीय श्रेणी के वारिस हैं और इनका हक किसी के उपरांत उदित होता है। वह निकटतम संबंधी, जो सीमित संपदा या विधवा की संपदा का 'भोग' या 'उपभोग' विधवा की मृत्यु के उपरांत करता है या करने वाला है,' निकटतम उत्तरभोगी' कहलाता है।

हिंदू विधि में, उत्तरभोगी की अवधारणा सपिंड पुरुष उत्तराधिकारियों के लिए विकसित हुई है जो संपदा के पूर्ण स्वामी के रूप में अंतिम पुरुष स्वामी की संपत्ति ग्रहण करते हैं। मिताक्षरा विधि में सहदायिक के अभाव में सपिंडों को संपत्ति न्यागमित होती है। किंतु सपिंडों को संपत्ति न्यागमित होने से पूर्व कुछ स्त्री वारिस भी मान ली गई हैं जिन्हें अस्थायी रूप से संपत्ति प्राप्त हो जाती है यथा, विधवा पत्नी, पुत्री या माता आदि। दाय-भाग विधि में भी नामतः निर्दिष्ट स्त्री वारिस हैं; पत्नी और माता आदि। ये स्त्री वारिस 'जीवन पर्यन्त स्वामी' ही होती हैं। हिंदू विधि में स्त्रियों को पूर्ण स्वामित्व स्त्रीधन के

---

[1] राजलक्ष्मीदेवी **बनाम** गोकुलचंद्र, (1869) 13 एम० आई०ए० 209; विजय गोपाल **बनाम** गिरीन्द्रनाथ, ए० आई० आर० 1914 पी० 128.

[2] चंद्रजीत दास **बनाम** देवीदास, ए० आई० आर० 1950 इलाहाबाद 522.

[3] विपिनबिहारी **बनाम** दुर्गाचरण, आई० एल० आर० (1908) 35 कलकत्ता 1086.

[4] मलिकसाहब **बनाम** मल्लिकाजुनप्पा, ए० आई० आर० 1914 मुंबई 187.

अतिरिक्त किसी भी संपत्ति पर नहीं मिला है। मध्यकाल में व्यवहारमयूख ने पुत्रियों आदि स्त्री वंशजों को अवश्य पूर्ण स्वामी के रूप में स्वीकार किया जो बंबई राज्य के कुछ क्षेत्रों में ब्रिटिश काल में प्रभावी हो गया। वस्तुतः इन क्षेत्रों में पुत्रियों आदि को जो संपदा विरासत में प्राप्त होती है उसे 'स्त्रीधन' माना जाता है। स्त्रीधन मानने से ही उनकी विरासत पूर्ण स्वामित्व प्रदान कर सकी अन्यथा सामान्य संपत्ति मामने से वे भी सीमित स्वामी ही हुई होतीं। यहीं पर व्यवहारमयूख के लेखक नीलकंठ भट्ट ने अपनी बुद्धि कौशल का परिचय दिया है। यद्यपि उनकी व्याख्या सामान्य हिंदू विधि और रूढ़ियों के विपरीत रही तथापि समाज और न्याय जगत् ने उसे स्वीकार कर लिया और बंबई राज्य के व्यवहारमयूख प्रभावी क्षेत्र में उक्त स्त्री वारिसों का कोई उत्तरभोगी वारिस नहीं होता। इन क्षेत्रों में निकटतम उत्तरभोगी मात्र उन्हीं स्त्री वारिसों के होते हैं जो विवाह द्वारा कुटुंब की सदस्यता ग्रहण किए रहती है; 'यथा : पत्नी, माता या पिता की माता आदि और जिन्हें सहदायिकों या पुरुष वंशजों के अभाव में मृत पुरुष स्वामी की संपदा विरासत में प्राप्त होती है। अन्ततोगत्वा संपदा का स्वामित्व उत्तरभोगियों को प्राप्त होने के कारण उनके अधिकार विधवा या सीमित स्वामी के जीवन काल में ही उत्पन्न हो जाते हैं। जो व्यवहारतः उसकी मृत्यु तक निलंबित रहते हैं। उत्तरभोगियों के अधिकारों आदि का विवेचन आगे किया जाएगा।

उत्तरभोगी भी विभिन्न श्रेणी के होते हैं; यथाः निकटतम, पश्चात्वर्ती (पाश्चिक) या समाश्रित और दूरस्थ। इनमें निकटतम उत्तरभोगी तुरंत का वारिस होता है जो विधवा या सीमित स्वामी की मृत्यु के पश्चात् संपत्ति ग्रहण करता है और पश्चात्वर्ती, समाश्रित या दूरस्थ उत्तरभोगी आदि शब्द एतद्विषयक निर्णयों में विभेद हेतु उन के लिए प्रयोग किए जाते हैं, जिन्हें विरासत निकटतम उत्तरभोगियों के अभाव में मिल सकती है।

विधवा के अन्यसंक्रामण का प्रभाव

विधवा द्वारा विधिक आवश्यकता के लिए या निकटतम उत्तरभोगियों की अनुमति से किए गए अन्यसंक्रामण में अन्यसंक्रांती को संपत्ति की आत्यंतिक संपदा संक्रांत होती है। इस अन्यसंक्रामण की बाध्यता न केवल विधवा या सीमित वारिस की होती है अपितु निकटतम उत्तरभोगियों की भी होती है और उन उत्तरभोगियों की भी होती है जो इस अन्यसंक्रामण के पश्चात् उत्पन्न होते हैं[1] या दत्तक लिए जाते हैं[2]। उत्तरभोगियों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे उस समय अस्तित्व में हों ही जब विधवा को अंतिम पुरुष या पति की संपदा विरासत में प्राप्त हो रही है वे इसके पश्चात् भी उत्पन्न हो सकते हैं या उनका दत्तक ग्रहण किया जा सकता है। जो उत्तरभोगी वस्तुतः अन्यसंक्रामण के समय विद्यमान हैं उन्हीं से अनुमति ली जा सकती है जो अस्तित्व में है ही नहीं उनसे अनुमति लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

किंतु यदि विधवा या सीमित वारिस बिना किसी विधिक आवश्यकता या निकटतम उत्तरभोगियों की अनुमति के अन्यसंक्रामण करे तो उसकी बाध्यता उत्तरभोगियों पर नहीं

---

1 विनायक **बनाम** गोविंद, आई० एल० आर० (1901) 25 मुंबई 129.

2 रामकृष्ण **बनाम** त्रिपुराबाई, (1911) 13 मुंबई एल० आर० 940.

है किंतु अन्यसंक्रामणकर्ता पर इसकी बाध्यता है[1]। तात्पर्य यह है कि विधवा या सीमित वारिस स्वयं अपने कर्म की वैधता को चुनौती नहीं दे सकते है जब तक कि प्रपीड़न या कपट सिद्ध नहीं हो।

प्रबंध का अधिकार

किसी संपदा का प्रबंध एक प्रमुख विषय है। जो व्यक्ति संपदा को धारण करता है, उसमें उसके प्रबंध और अनुरक्षण का अधिकार निहित हो जाता है। चाहे सीमित समय या थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो। इस सार्वभौम सिद्धांत के आधार पर विधवा या सीमित वारिसों को भी पति या अंतिम पुरुष स्वामी की विरासत में प्राप्त संपदा के प्रबंध का अधिकार प्राप्त होता है। उसके इस अधिकार पर उसका सीमित स्वामित्व बाधक नहीं होता। किंतु उसे एक प्राज्ञावान् स्वामी के रूप में प्रबंध करना होता है और वह कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो उत्तरभोगियों के हितों के प्रतिकूल हो। जैसा कि प्रिवी कौंसिल ने **हनुमान प्रसाद** बनाम **श्रीमती बबुई मनुराजकुंअरि**[2] के मामले में अभिनिर्धारित किया है संपदा के प्रबंध की बाबत किसी विधवा की शक्ति कुटुंब के कर्त्ता के सदृश है। जहां तक उसके स्वत्व का प्रश्न है, वह संबंधित संपदा की स्वामिनी है। स्वामिनी के रूप में वह उन सभी कर्मों को करने की शक्ति रखती है जिनसे संपदा का हित संभव है। इसी सिद्धांत के आधार पर उसे संपदा के हित या विधिक आवश्यकता के लिए अन्यसंक्रामण का अधिकार मिला है, जिसका विवेचन किया जा चुका है।

प्रतिकूल कब्जा

वह व्यक्ति जो विधवा की संपदा पर उसके प्रतिकूल कब्जा रखता हो, वह विधवा की मृत्यु के उपरांत उसके कार्य या लोप के आधार पर निकटतम उत्तरभोगियों के प्रतिकूल कब्जा बनाए रखने का हकदार या अधिकारी नहीं है। दूसरे शब्दों में, विधवा के आचार[3] या कार्य या लोप से निकटतम उत्तरभोगियों का हित प्रभावित नहीं होता और वे परिसीमा अधिनियम, 1963 के उपबंधों के अधीन कालावधि में प्रतिकूल कब्जे को प्रत्युद्धरित कर सकते हैं। निकटतम उत्तरभोगियों के लिए कालावधि की गणना विधवा की मृत्यु के दिन से होगी[4]। उच्चतम न्यायालय[5] ने उत्तरभोगियों के इस अधिकार या शक्ति को स्पष्ट करते हुए अधिकथित किया है कि यह नियम परिसीमा अधिनियम 1908

---

1 रणछोड़ बनाम मनुभाई, ए० आई० आर० 1954 मुंबई 153, बब्बासुरंमा बनाम चंद्रमा, ए० आई० आर० 1959 आंध्र प्रदेश 568.

2 (1856) 6 एम० आई० ए० 393.

3 चतुर्भुज बनाम सर्वेश्वर, ए० आई० आर० 1967 पटना 138.

4 गोविंद बालकृष्ण बनाम रामचंद्र, ए० आई० आर० 1952 मुंबई 395; जग्गूबाई बनाम उत्सवलालबाई, ए० आई० आर० 1929 पी० सी० 166.

5 कालपद चक्रवर्ती बनाम पात्तनी बालादेवी, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 125; रामकृष्ण बनाम धनकृष्ण, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 204.

के अनुच्छेद 141 के विशिष्ट उपबंधों पर पूर्णतया आश्रित नहीं है अपितु हिंदू विधि के सिद्धांतों के अनुसार है।

यह सामान्य सिद्धांत है कि उत्तरभोगी के अधिकार की प्रकृति संभाव्य उत्तराधिकार के अवसर की है और वह इस अधिकार को विधवा से या उसके माध्यम से नहीं प्राप्त करता है, अतः यह पूर्णतया अन्याय होगा यदि वह विधवा की उपेक्षा या भूल के कारण अपने अधिकार को खो दे। किंतु यदि इस प्रकार के प्रतिकूल कब्जे के आधार पर विधवा के विरुद्ध उसके जीवन काल में ही डिक्री प्राप्त कर ली गई हो तो वह डिक्री निकटतम उत्तरभोगी को भी आबद्धकर होगी[1]।

समझौता या कौटुंबिक व्यवस्था

किसी हिंदू विधवा को यह शक्ति प्राप्त है कि मृत पति की विरासत में प्राप्त समग्र स्थावर संपत्ति या उसके अंश का समझौते या कौटुंबिक व्यवस्था के द्वारा व्ययन कर सके। यह कौटुंबिक व्यवस्था या समझौता विधवा और निकटतम उत्तरभोगियों के बीच या कुटुंब के अन्य सदस्यों के बीच निकटतम उत्तरभोगी की अनुमति से हो सकता है। जो निकटतम उत्तरभोगी ऐसी कौटुंबिक व्यवस्था[2] या ऐसे समझौते[3] का पक्षकार होता है और उससे लाभान्वित होता है वह या उसके वंशज अन्यसंक्रामण को चुनौती नहीं दे सकते[4]।

यह विधि अब सुस्थिर हो चुकी है कि समझौता या कौटुंबिक व्यवस्था इस अनुमान पर आधृत है कि इसके पक्षकारों को कोई न कोई पूर्वगामी हक प्राप्त है और करार यह अभिस्वीकार करता है और परिनिश्चित करता है कि वह हक कैसा है; साथ ही प्रत्येक पक्षकार सभी दावों का त्यजन करके मात्र अपने हिस्से में प्राप्त होने वाली संपत्ति पर अपना हक स्वीकार करते हुए अन्य पक्षकारों के अधिकारों को भी मान्यता देता है जो इन्हें अपने-अपने हिस्से की संपत्ति पर प्राप्त होते हैं[5] जिस करार में इस प्रकार से पक्षकारों के बीच अधिकारों का आदान-प्रदान हो उसे विधि में मान्यता दिया जाना स्वाभाविक है। समझौते या कौटुंबिक व्यवस्था में संपत्ति का वास्तविक अन्तरण हक संक्रांत होने के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि प्रत्येक पक्षकार को सांपत्तिक स्वत्व या हक उस अंश पर भी पहले से ही प्राप्त रहता है जो उसे करार के अधीन प्राप्त होता है[5]

जब कोई कौटुंबिक व्यवस्था या समझौता विधवा और निकटतम उत्तरभोगियों के बीच होता है तब उसमें भी उक्त सिद्धांत लागू होता है[6]। जो समझौता संपदा के फायदे के लिए सद्भावना से किया जाता है वह उत्तरभोगियों को भी आबद्धकर होता है। चाहे वे

---

1 वैद्यालिंग बनाम श्रीरंगत, ए० आई० आर० 1925 पी० सी० 249.

2 श्रीमती हरदेई बनाम भगवानसिंह, ए० आई० आर० 1919 पी० सी० 27; राम गौड़ बनाम भाऊसिंह, ए० आई० आर० 1927 पी० सी० 227.

3 कन्हईया लाल बनाम ब्रजलाल, ए० आई० आर० 1918 पी० सी० 70.

4 ए० आई० आर० 1927 पी० सी० 227.

5 शाहू माधवदास बनाम पंडित मुकुन्द राम, ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 481.

6 कृष्णबिहारीलाल बनाम गुलाबचंद्र, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1041.

उसके पक्षकार रहे हों अथवा नहीं। जिस समझौते में उत्तरभोगी और विधवा पक्षकार हों उसमें हुए संव्यवहार को चुनौती देने के अधिकार से उत्तरभोगी इसी आधार पर निर्बंधित हो जाते हैं और उसे कौटुंबिक व्यवस्था माना जाता है। किंतु यदि विधवा या सीमित संपदा की धारक ऐसी कौटुंबिक व्यवस्था करे जिसमें उत्तरभोगी पक्षकार नहीं हो तो उसे उस कौटुंबिक व्यवस्था के स्तर पर नहीं लाया जा सकता जिसमें उत्तरभोगी पक्षकार होता है या उसने किसी ढंग से अपनी अभिस्वीकृति प्रदान की होती है। जिस कौटुंबिक व्यवस्था में उत्तरभोगी पक्षकार नहीं है उसमें प्रज्ञा और युक्तियुक्तता के साथ ही सद्भाविक व्यवस्था का होना आवश्यक है। यदि व्यवस्था पक्षकारों के बीच ही आबद्धकर हो तो प्रज्ञा और युक्तियुक्तता पर विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता[1]।

विधवा द्वारा संपदा का समर्पण

विधवा या सीमित वारिस को निकटतम उत्तरभोगी[2] अथवा उत्तरभोगियों के संपूर्ण समूह के पक्ष में संपदा के संपर्णण की शक्ति प्राप्त है। किंतु समर्पण संपूर्ण संपदा का होना चाहिए[3]। समर्पण की वैधता के लिए विधिक आवश्यकता पर विचार नहीं किया जाता।[4] किंतु समर्पण सद्भाविक होना चाहिए न कि उसके माध्यम से संपदा का विभाजन[5] समर्पण में संपदा विधि के प्रवर्तन द्वारा उत्तरभोगियों में निहित होती है[6]। यदि अनेक विधवाएं एक संपदा की वारिस हों तो सभी के द्वारा समर्पण होना चाहिए[7]। वैध समर्पण के लिए यह आवश्यक है कि उसे निकटतम उत्तरभोगी के पक्ष में ही किया जाए[8]।

विधवा के विरुद्ध हुई डिक्री का उत्तरभोगियों पर प्रभाव

पिछले पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि विधवा या अन्य सीमित वारिस पति या अंतिम पुरुष स्वामी की संपदा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका यह प्रतिनिधित्व विधिक कार्यवाही में भी मान्य है। इस हैसियत में सीमित संपदा से संबंधित मामले में उसके विरुद्ध हुई डिक्री न केवल उसे आबद्धकर होती है अपितु उत्तरभोगी भी आबद्ध होते हैं, भले ही वे उस मामले में पक्षकार न रहे हों। किंतु उत्तरभोगियों की बाध्यता सभी मामलों

---

[1] अर्जुनसिंह बनाम वीरेन्द्र, ए० आई० आर० 1971 इलाहाबाद 29; श्रीमती फूल कुंअरि बनाम श्रीमती प्रेमकुंअरि, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 207.

[2] मानजय बनाम शेषगिरि, ए० आई० आर० 1925 मुम्बई 129.

[3] मतुकुमल्लि स्वय्या बनाम उप्पलपति लक्ष्मप्पा, ए० आई० आर० 1942 पी० सी० 54.

[4] बिहारीलाल बनाम माधवलाल, 19 आई० ए० 30; रंगास्वामी बनाम नचियप्पा, ए० आई० आर० 1918 पी० सी० 196.

[5] आशालता बनाम अमियकुमार, ए० आई० आर० 1958 कलकत्ता 71.

[6] नटवरलाल बनाम दादूभाई, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 61.

[7] दुलहिन पार्वतीकुंअरि बनाम बैजनाथप्रसाद, आई० एल० आर० (1935) 14 पटना 518.

[8] फूलकुंअरि, बनाम प्रेमकुंअरि (1952) एस० सी० आर० 793.

में नहीं होती क्योंकि कुछ मामलों में उन्हें संव्यवहार को चुनौती देने का भी अधिकार होता है जिसका विवेचन आगे किया जाएगा। उनकी बाध्यता केवल निम्नलिखित डिक्रियों में होती है; अर्थात्—

1. यदि वाद संपदा पर आबद्धकर ऋण या अन्य संव्यवहार की बाबत था,[1] और

2. यदि डिक्री विधवा या सीमित वारिस के विरुद्ध प्रतिनिधि की हैसियत में हुई थी न कि व्यक्तिगत हैसियत में[2]।

विधवा के विरुद्ध पति के संव्यवहार की बाबत हुई डिक्री उसको और उत्तर-भोगियों-दोनों को-आबद्धकर होती है[3]। यह विधि सुस्थिर हो चुकी है कि विधवा के विरुद्ध हुई डिक्री तभी उत्तरभोगियों को आबद्धकर होगी जब वह संपदा का प्रतिनिधित्व करती है और यदि वह यह स्वीकार कर लेती है कि संपत्ति संयुक्त है तो पति की संपदा पर से उसका प्रतिनिधित्व समाप्त हो जाता है[4]। संयुक्त होने पर संपत्ति का प्रतिनिधित्व वही नहीं करती अपितु उसमें अन्य व्यक्तियों का भी स्वामित्व अंतर्ग्रस्त होता है और ऐसे मामले में उसके विरुद्ध हुई डिक्री से उत्तर भोगी आबद्ध नहीं होते।

विधवा के अप्राधिकृत कर्मों के विरुद्ध उत्तरभोगियों के उपचार

विधवा की संपदा अथवा सीमित संपदा की बाबत उत्तरभोगियों का अधिकार संभाव्य उत्तराधिकार मात्र होता है फिर भी उन्हें यह अधिकार प्राप्त है कि वे यह कर मांग सकें कि विधवा या अन्य सीमित वारिसों के उपभोग के दौरान संपदा को विनष्ट होने से बचाया जाये। उत्तर भोगियों का यही अधिकार 'संभाव्य उत्तराधिकार' मात्र के अधिकार से विभिन्नता ला देता है।

ऐसे व्यक्तियों को जिन्हें किसी संपत्ति की बाबत 'संभाव्य उत्तराधिकार' मात्र का अधिकार है संपत्ति के स्वामी के कर्मों को नियंत्रित करने का अधिकार नहीं होता। वस्तुतः उत्तरभोगियों का उक्त अधिकार ही विधवा अथवा अन्य सीमित वारिसों की शक्तियों को 'सीमित स्वामित्व' का स्वरूप प्रदान करता है क्योंकि ज्योंही विधवा कोई ऐसा संव्यवहार करती है जिससे कि संपदा के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जाए त्योंही उत्तरभोगी को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह संबंधित संव्यवहार के विरुद्ध व्यादेश प्राप्त कर सके। ऐसे वाद की अनुमित देने का कारण यह है कि उत्तरभोगी उस वाद को प्रतिनिधि की हैसियत से और सभी प्रत्याशित उत्तरभोगियों की ओर से चलता है जिससे कि समग्र संपदा अविकल रूप से उन व्यक्तियों को संक्रांत हो सके जो उसके प्रत्यागम के

---

1 युगलकिशोर **बनाम** जितेन्द्र मोहन, 11 आई० ए० 66; झरी **बनाम** विजयी, ए० आई० आर० 1924 इलाहाबाद 109.

2 नगेन्द्र **बनाम** कामिनी, (1867) 11 एम० आई० ए० 241; विष्णुदयाल **बनाम** लक्ष्मीनारायण, ए० आई० आर० 1967 इलाहाबाद 370.

3 मादिवालप्पा ईरप्पा **बनाम** सुब्बप्पा शंकरप्पा, ए० आई० आर० 1937 मुम्बई 458.

4 निर्मलबहादुर **बनाम** फतेहबहादुर, ए० आई० आर० 1929 इलाहाबाद 963.

हकदार है[1] । इस लिए वह यह वाद ला सकता है कि अन्य संक्रामण प्रत्यागम पर उसे आबद्ध नहीं होगा[2] इस प्रकार उत्तरभोगियों को उस मामले में दो अधिकार प्राप्त हैं प्रथम यह कि व्यादेश द्वारा अन्य संक्रामण या संव्यवहार को अवरुद्ध कर सकते हैं और द्वितीय यह कि वे यह घोषित करा सकते हैं कि वे अन्य संक्रामण या संव्यवहार से संपदा के प्रत्यागम होने पर आबद्ध नहीं होंगे । उनके दोनों ही प्रकार के वादाधिकार समान रूप से उपधारित और समाश्रित, सभी उत्तरभोगियों के विरासत के खतरे पर आधृत होते हैं जिसका उद्देश्य किसी ऐसी क्षति को पूर्वबंधित करना है जो सभी उत्तरभोगियों के समान हित के प्रति आशंका उत्पंन करती है[2] ।

विधवा के अप्राधिकृत कर्मों के विरुद्ध उत्तरभोगियों को निम्नलिखित उपचार उपबंध हैं :—

(1) **विधवा के विरुद्ध व्यादेश हेतु वाद**—निकटतम उत्तरभोगी संपदा को क्षति से बचाने के लिए विधवा के विरुद्ध व्यादेश प्राप्त कर सकते हैं यदि विधवा या अन्य सीमित वारिस दुर्व्ययन या कोई ऐसा कृत्य करती है जिससे प्रत्यागम को क्षति होती है तो निकटतम उत्तरभोगी विधवा को ऐसा करने से अवरुद्ध करने के लिए व्यादेश वाद संस्थित कर सकता है । किन्तु न्यायालय विधवा के विरुद्ध व्यादेश तभी प्रदान करेगा जब उसके कर्म से संपत्ति को खतरा उत्पन्न होता है[3] । अप्राधिकृत अन्य संक्रामण को अवरुद्ध करने के लिए भी व्यादेश मंजूर नहीं किया जा सकता क्योंकि मात्र अन्य संक्रामण दुर्व्यय नहीं है ।

(2) **विधवा के विरुद्ध घोषणात्मक वाद**—वह निकटतम उत्तरभोगी जो संभाव्य उत्तराधिकारी है एक प्रतिनिधि-वाद सभी उत्तरभोगियों की ओर से विधवा और अन्य-संक्रांती के विरुद्ध इस घोषणा के लिए ला सकता है कि उसके द्वारा किया गया अवैध अन्य संक्रामण प्रत्यागम पर बाध्यकर नहीं है । यदि यह तथ्य सिद्ध हो जाता है तो न्यायालय एतदर्थ डिक्री यह घोषित करते हुए देगा कि अन्यसंक्रामण विधवा के जीवन काल के उपरांत वैध और आबद्धकर नहीं होगा[4] । उत्तरभोगी का घोषणात्मक वाद लाने का अधिकार हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 14 से प्रभावित नहीं होगा यदि अन्यसंक्रामण इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के पूर्व हुआ था[5] ।

इस प्रकार का वाद वस्तुत: अन्यसंक्रांती के विरुद्ध इस घोषणा के लिए संस्थित किया जाता है कि बिना किसी विधिक आवश्यकता के किया गया अन्यसंक्रामण विधवा की मृत्यु के उपरांत शून्य होगा और विधवा सामान्यतया प्रतिवादी के रूप में एक पक्षकार बनायी जाती । यदि विधवा वाद के लंबित रहते मर जाए तो उत्तरभोगी वादी वाद में संशोधन कराकर संपत्ति के कब्जे की प्रार्थना जोड़ सकता है अथवा वह मात्र उक्त घोषणात्मक

---

[1] जानकी अम्माल **बनाम** नारायण स्वामी, ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 117.

[2] वेंकटनारायण **बनाम** सुब्बम्मल, ए० आई० आर० 1915 पी० सी० 124.

[3] जानकीअम्माल **बनाम** नारायणस्वामी, ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 117.

[4] सौदागरसिंह **बनाम** प्रदीपसिंह, ए० आई० आर० 1917 पी० सी० 196.

[5] राधारानी **बनाम** हनुमान प्रसाद, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 216; राधेकृष्ण सिंह **बनाम** शिवशंकरसिंह, ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2405.

वाद चालू रख सकता है और वास्तविक लाभ हेतु संपत्ति के कब्जे के लिए परिसीमा अवधि के अन्दर पृथक् वाद संस्थित कर सकता है[1]।

मुख्यत व्यादेश हेतु वाद और घोषणात्मक वाद निकटतम उत्तरभोगी ही ला सकता है किंतु निम्नलिखित परिस्थितियों में निकटतम उत्तरभोगी के ठीक पश्चात्वर्ती उत्तरभोगी भी उक्त दोनों वादों में से कोई भी वाद ला सकता है[2] :—

(क) यदि निकटतम उत्तरभोगी बिना किसी पर्याप्त कारण के वाद संस्थित करने से अस्वीकार, करे, या

(ख) यदि वह विधवा के तथाकथित सदोष कर्म के लिए अपनी सहमति देदे[3], या

(ग) यदि वह विधवा या अन्य सीमित वारिस से दुरभिसंधि कर ले, या

(घ) यदि वह अपने ही कर्म या आचरण से वाद लाने से रोक दिया गया हो, या

(ङ) यदि वह दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण वाद लाने की स्थिति में नहीं हो[4], या

(च) यदि निकटतम उत्तरभोगी स्त्री हो जो स्वयं जीवन-पर्यन्त संपदा की ही हकदार हो[5]।

(3) **अन्यसंक्रांती के विरुद्ध कब्जे के लिए वाद**--उत्तरभोगी विधवा के अवैध अन्य संक्रामण की बाबत उसके जीवनान्त तक प्रतीक्षा कर सकता है और उसकी मृत्यु के उपरांत संपदा के निहित हो जाने पर निकटतम उत्तरभोगी अन्यसंक्रांती के विरुद्ध संपत्ति के कब्जे की वापसी के लिए वाद कर सकता है। यह वाद परिसीमा अधिनियम, 1963 के उपबंधों के अधीन स्थावर संपत्ति की बाबत 12 वर्षों के अन्दर और जंगम संपत्ति की बाबत 6 वर्षों के अन्दर संस्थित किया जा सकता है[6]।

---

1 राधारानी **बनाम** हनुमान प्रसाद, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 216; राधेकृष्ण सिंह **बनाम** शिवशंकरसिंह, ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2405.

2 कुंअर गुलाबसिंह **बनाम** राव कर्णसिंह (1871) 14 एम० आई० ए० 176.

3 घिसिवावन **बनाम** श्रीमती राजकुमारी, ए० आई० आर० 1921 इलाहाबाद 33.

4 माताप्रसाद **बनाम** नागेश्वर सहाय, ए० आई० आर० 1925 पी० सी० 272.

5 अविनाश **बनाम** हरिनाथ, आई० एल० आर० (1905) 32 कलकत्ता 62; चिदम्बर **बनाम** नीलाम्माल आई० एल० आर० (1910) 33 मद्रास 410; नथुनी मिश्र **बनाम** रत्नाकुंअरि, ए० आई० आर० 1963 पटना 337.

6 विजयगोपाल **बनाम** कृष्ण, 34 आई० ए० 87, मम्मा रेड्डि **बनाम** पिट्टी दुरैराज, (1951) एस० सी० आर० 655.

(4) **उत्तरभोगी द्वारा निर्वाचन** :—विधवा के जीवन काल में किसी उत्तरभोगी का अधिकार अंतिम स्वामी की संपदा पर मात्र 'संभाव्य उत्तराधिकार' है। फलस्वरूप वह तब-तक उस संपदा के प्रति उदासीन रह सकता है जब तक कि संपदा उसमें निहित नहीं हो जाती। उत्तराधिकार खुलने पर ही उसका अधिकार परिपक्व होता है। किंतु उत्तरभोगी विधवा के जीवनकाल में या उसकी मृत्यु के उपरांत उत्तराधिकार खुलने पर विधवा द्वारा किए गए संव्यवहार की बाबत अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकता है और तब वह संव्यवहार को चुनौती नहीं दे सकेगा।[1]

□□□
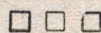
1 सीतारामय्या **बनाम** सर्वचंद्रय्या, ए० आई० आर० 1955 आंध्र प्रदेश 68.

अध्याय 7

विभाजन और पुनरेकीकरण

विभाजन का अर्थ

विभाजन शब्द का अर्थ है विशिष्ट प्रकार का पृथक्करण। हिंदू विधि के अधीन विभाजन की विशेषता यह है कि इसमें सहदायिकों के अधिकारों का विभाग होता है। विभाजन वह प्रक्रिया है जिससे हिंदू कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति समाप्त हो जाती है।

विभाजन में दो धारणाएं अन्तर्ग्रस्त हैं—प्रथम, प्रास्थिति में परिवर्तन और द्वितीय, संपत्ति की विभक्ति।[1]

प्रिवी कौंसिल के विभाजन के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

(1) "हिंदू विधि के अधीन विभाजन के व्यापक अर्थ में स्वत्व और संपत्ति की विभक्ति (पृथक्ता) समाहित है"[1]

(2) "हिंदू विधि में विभाजन का अर्थ विशिष्ट अंशों की विभक्ति मात्र ही नहीं अपितु इसमें स्वत्व और संपत्ति दोनों ही का विभाग समाहित है।[2]

विभाजन संपत्ति का होता है। स्वत्व और अंश संपत्ति से संबद्ध होते हैं। संपत्ति-विहीन कुटुंब में उक्त दोनों तत्वों का अभाव होता है, जिससे ऐसे कुटुंब का विभाजन सामान्य अर्थ में मूल्यहीन है। किंतु हिंदू विधि में संपत्तिविहीन कुटुंब के विभाजन की भी व्यवस्था है और ऐसा कुटुंब पृथक्करण के द्वारा विभक्त होता है। पृथक्करण की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की गई है —

"संयुक्त प्रास्थिति की पृथक्ता के भाव में पृथक्करण संकल्प का विषय है।[2]

पृथक्करण कौटुबिक प्रास्थिति का होता है। इससे कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति विच्छिन्न होती है। पृथक्करण से सहदायिकी संबंध समाप्त हो जाता है, किंतु संपत्ति अविभक्त बनी रहती है। संपत्ति विच्छिन्न नहीं होती। वस्तुतः, पहले कुटुम्ब का पृथक्करण होता है, तत्पश्चात् कौटुंबिक संपत्ति का विभाग।

विभाजन सहभागीदारों से विनिमय में प्राप्त होने वाले अधिकार हेतु संयुक्त अधिकार के एक अंश के समर्पण को संज्ञापित करता है। विभाजन का अभिप्राय यह है कि संपत्ति पृथक्-पृथक् संपदाओं में अंतरित की जाती है और उन संपदाओं में से प्रत्येक पूर्व

---

1 अप्पुवीयर बनाम रामसुब्बन् अय्यर, (1866) 11, एम० आई० ए० 75.

2 गिरिजाबाई बनाम सदाशिव धुंटिराज, 43 आई० ए० 151 (सी० पी०).

अधिभोगी को उसके अकेले उपभोग हेतु और एक मात्र उसी की संपत्ति के रूप में एक-एक संपदा समनुदेशित की जाती है।[1]

मिताक्षरा विधि

विभाजन की परिभाषा

शास्त्रकारों और न्यायाधीशों ने विभाजन की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की है—"पुत्रगण पिता की संपत्ति का जो विभाग करते हैं, उसे बुद्धिमानो ने दायभाग (विभाजन) कहा है।"[2] नारद।

'जिस द्रव्य समुदाय पर अनेक व्यक्तियों (सहदायिकों) का स्वामित्व हो उसमें प्रत्येक के लिए अंश को निश्चित रूप से व्यवस्थापित करना विभाग है।"[3]
—विज्ञानेश्वर

"द्रव्य सामान्य के अभाव में, जब एक सहदायिक दूसरे सहदायिक से यह कहता है कि वह उससे पृथक् हो रहा है, तब इस व्यवस्था मात्र से विभाग हो जाता है। विभाजन का आशय (बुद्धिविशेष) मात्र ही विभाग है।"[4]
—नीलकंठ भट्ट

'मिताक्षरा हिंदू विधि के अनुसार विभाजन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा संयुक्त संपत्ति में सहदायिकों का अंश परिनिश्चित किया जाता है किंतु माप और सीमांकन करके संपत्ति का विभाग किया जाना आवश्यक नहीं है।"[5]
— न्यायमूर्ति वेस्टबरी

एक बार करार से या किसी अन्य प्रकार से सहदायिकों का अंश परिनिश्चित हो हो जाने पर विभाजन पूर्ण हो जाता है। उसके पश्चात् सभी सहदायिक संपत्ति का भौतिक विभाग कर सकते हैं, अथवा साथ-साथ रहकर संपत्ति का उपभोग पहले की भांति सम्मिलित रूप से कर सकते हैं। संपत्ति का संयुक्त अस्तित्व अंश परिनिश्चित होते ही समाप्त हो

---

1 अतरबन्निसा बीबी **बनाम** तफतउल्लाह, 31 आई० सी० 181.

2 विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य तनयैर्यत्प्रकुल्प्यते।
दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदबुधैः॥ नारद, 16/1, याज्ञ, **दायविभाग प्रकरण** की भूमिका में मिता० द्वारा उद्धृत।

3 विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्। याज्ञ० दाय विभाग प्रकरण की मिता० गत भूमिका।

4 द्रव्य-सामान्यभावेऽपि त्वत्तोऽहं विभक्त इति व्यवस्थामात्रेणापि भवत्येव विभागः। विभाजनबुद्धिविशेषमात्रमेव हि विभागः। तस्यैवाभिव्यंजिकेयं व्यवस्था। व्य० मयूख, पृष्ठ 58.

5 अप्पुवीयर् **बनाम** रामसुब्बन अय्यर, (1866) 11 एम० आई० ए० 75.

जाता है तत्पश्चात् सहदायिक उसे सामान्य अभिधारी के रूप में धारण करते हैं ।[1]

कौटुम्बिक प्रास्थिति का पृथक्करण

मिताक्षरा विधि में सभी सहदायिक कौटुम्बिक संपत्ति पर संयुक्त स्वत्व रखते हैं[2] । कौटुम्बिक संपत्ति के किसी अंश पर किसी सहदायिक का वैयक्तिक स्वामित्व नहीं होता । विभाजन द्वारा उनका अंश परिनिश्चित होता है और कौटुम्बिक एकता समाप्त हो जाती है[3] । सहदायिकों का अंश परिनिश्चित करके पृथक्करण प्रभावी बनाया जा सकता है । संयुक्त हिंदू कुटुंब का विभाग होते ही उसकी प्रास्थिति का पृथक्करण हो जाता है और कुटुंब के सदस्य न तो संयुक्त अभागी रह जाते हैं, न ही सहदायिक अपितु वे सामान्य अभिधारी हो जाते हैं ।

कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति की समाप्ति हेतु सभी सहदायिकों के बीच कोई करार आवश्यक नहीं है किंतु संपत्ति के विभाग और कौटुंबिक एकता को खंडित करने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है ।[4]

विभाजन के आवश्यक तत्व

कौटुंबिक प्रास्थिति के पृथक्करण हेतु निम्नलिखित तत्व आवश्यक माने जाते हैं—

(1) आशय की असंदिग्ध अभिव्यक्ति, और

(2) अंश का परिनिश्चय ।

(1) **आशय**—कुटुंब से पृथक् होने के लिए आशय की असंदिग्ध अभिव्यक्ति की आवश्यकता तो प्राचीन शास्त्रकारों ने ही स्वीकार कर ली थी । अति प्राचीन स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने विभाजन को प्रभावी बनाने के लिए आशय (भावना) का उल्लेख किया है ।[5] विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा[6] में और नीलकंठ भट्ट ने व्यवहारमयूख[7] में कुटुंब के पृथक्करण हेतु आशय की अभिव्यक्ति को प्रभावी तत्व के रूप में उल्लिखित किया है । व्यावहारिक दृष्टि से असंदिग्ध आशय से संपत्तियुक्त और संपत्तिविहीन दोनों ही प्रकार के कुटुंबों की प्रास्थिति में परिवर्तन संभव है ।

मिताक्षरा हिंदू विधि के अधीन स्वत्व की उत्पत्ति जन्म से होने के कारण किसी भी

---

1 बालकृष्ण **बनाम** रामनारायण, 30 आई० ए० 139.

2 भगवतीप्रसाद **बनाम** रामेश्वरीकुंअरि, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 72.

3 गिरजाबाई० **बनाम** सदाशिव ढुंढिराज, 43 आई० ए० 151 (पी० सी०).

4 मुद्दीगौड **बनाम** रामचंद्र, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 1076.

5 "विभागभावना ज्ञेया" याज्ञ०2/149.

6 विभागभावना विभागनिर्णयो ज्ञातव्यः, उसी पर मिता० टीका ।

7 द्रव्य सामान्यभावेऽपि त्वत्तोऽहं विभक्त इति व्यवस्थामात्रेणापि भवत्येव विभागः विभाजन बुद्धि विशेषमात्रमेव हि विभागः । तस्यैकाभिव्यंजिकेयं व्यवस्था । व्य० मयूख, पृष्ठ 58.

सहदायिक में पृथक होने का अधिकार अन्तर्निहित है ।[1] अपने इस अधिकार का वह प्रयोग अपने को पृथक करने की एकपक्षीय असंदिग्ध घोषणा द्वारा कर सकता है । अन्य सहदायिकों को विभक्त होने के आशय की प्रत्यक्ष जानकारी दिलाना आवश्यक नहीं है । फिर भी किसी न किसी प्रकार से उन्हें पृथक् होने के आशय की जानकारी दिलायी जानी चाहिए क्योंकि आशय की अभिव्यक्ति शून्य में नहीं हो सकती ।[2]

पृथक् होने का आशय किसी भी प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है;[3] यथा—स्पष्ट घोषणा, व्यवहार अथवा लिखित सूचना द्वारा आशय की घोषणा के दिन से ही पृथक्करण प्रभावी हो जाता है । लिखित सूचना के मामले में भी यही मान्य है । किन्तु व्यवहार एक ऐसा विषय है जो स्वतः कुटुंब की प्रास्थिति में परिवर्तन लाने में समर्थ नहीं है । किसी सहदायिक का ऐसा व्यवहार जिससे पृथक्करण का अनुमान लगता हो, तभी कुटुंब की प्रास्थिति में परिवर्तन ला सकता है जब उसके साथ पृथक् होने का आशय योजित हो । यदि कोई सहदायिक अपनी सुविधा हेतु भोजन या आवास की पृथक् व्यवस्था कर ले, तो इसे पृथक्करण का आशय नहीं माना जा सकता ।[4]

अवयस्क सहदायिक भी संरक्षक द्वारा आशय की असंदिग्ध सूचना अन्य सहदायिकों को देकर पृथक् हो सकता है और तब कुटुंब की प्रास्थिति का पृथक्करण हो जाता है ।[5] हिंदू विधि में वयस्क और अवयस्क सहदायिक में कोई अंतर न होने से अवयस्क को भी विभाजन का अधिकार है किंतु उसका यह अधिकार उसकी स्थिति के देखते हुए उसकी ओर से उसके संरक्षक द्वारा प्रयोग में लाया जाना चाहिए जिससे कि उसका अहित न हो सके ।[6]

(2) **अंश-परिनिश्चय और अधिकार का विभाग**—अंश परिनिश्चय का तात्पर्य है अधिकारों की विभक्ति । कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति में परिवर्तन होने से ही सहदायिकों का अंश परिनिश्चत हो जाता है । एक सहदायिक का जो संयुक्त प्रास्थिति में संपूर्ण संपत्ति का स्वामी होने का दावा कर सकता था, यह अधिकार विभक्त होकर मात्र उतने अंश तक सीमित हो जाता है, जितना कि कौटुंबिक संपत्ति में उसका अंश है ।[7] पृथक्करण से सहदायिकों के स्वामित्व संबंधी अधिकार में ह्रास होता है । अंश-परिनिश्चय और अधिकार विभाग का एक परिणाम यह होता है कि सहदायिकों की शाखा का अंश जन्म और मृत्यु से घटता बढ़ता नहीं है । संयुक्त हिंदू कुटुंब के सहदायिकों का अंश एक

---

1 "पैतृके पैतामहे च धनेजन्मनैव स्वत्वेऽपि "याज्ञ० दायविभाग प्रकरण की मिता० गत भूमिका ।
"पैतृके पैतामहे च स्वाम्यं यद्यपि जन्मनैव, मिता० याज्ञ० 2/121 की टीका ।

2 गिरजाबाई बनाम सदाशिव ढुंढिराज, (1916) 43 आई० ए० 151. (पी० सी०); ए० राघवम्मा बनाम ए० चिन्नचम्मा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 136.

3 सुषमाबाई बनाम लाला लक्ष्मीनारायण, ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 335.

4 सूरजनारायण बनाम इक़बालनारायण, 35 इलाहाबाद 80 (पी० सी०).

5 वेंकट रेड्डि बनाम पेट्टि रेड्डि, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1958.

6 काकुमनु पेड्डुसुब्बय्या बनाम काकुमनु आखम्मा, ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 1042.

7 अप्पुवीयर् बनाम रामसुब्बन् अय्यर् (1866) 11 एम० आई० ए० 75.

सहदायिक के जन्म से घट जाता है और मृत्यु से बढ़ जाता है। पृथक्करण द्वारा एक बार अंश परिनिश्चित हो जाने से जन्म मृत्यु का प्रभाव सहदायिकों के हिस्से पर नहीं पड़ता भले ही सहदायिक सद्भावनावश कौटुंबिक अखंडता बनाये रखें।

विभाजन के गौण तत्व

विभाजन के कुछ ऐसे तत्व हैं, जिनका प्रयोग या जिनकी विद्यमानता विभाजन को प्रभावी बनाने हेतु उपयोगी है, किंतु उनका अभाव पृथक्करण को प्रभावित नहीं करता। उन तत्वों के अभाव से विभाजन की प्रक्रिया या पृथक्करण निष्फल नहीं होते। उनके अभाव के आधार पर विभाजन की पूर्णता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। किंतु ऐसे तत्व विभाजन को प्रमाणित करने में उपयोगी हैं। वे तत्व निम्नलिखित हैं :—

(1) माप और सीमांकन ;

(2) कौटुंबिक संपत्ति ;

(3) पृथक्करण का कारण; और

(4) विभाजन आलेख।

(1) **माप और सीमांकन**—यह आवश्यक नहीं है कि हिंदू कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति को विच्छिन्न करने के लिए माप और सीमांकन द्वारा कौटुंबिक संपत्ति का भौतिक विभाजन किया जाय। हिंदू विधि यह अपेक्षा नहीं करती कि संपत्ति प्रत्येक मामले में माप और सीमांकन द्वारा निर्धारित की जाय यदि सदस्यों के हिस्सों के अनुसार पृथक्-पृथक् उपभोग अन्यथा किया जा सकता है।[1] यदि संपत्ति के अनुरक्षण हेतु सहदायिक यह आवश्यक समझे कि अंश परिनिश्चित होने के पश्चात् उसकी पूर्ववत् प्रास्थिति बनी रहे तो वे ऐसा कर सकते हैं।[2] संयुक्त हिंदू कुटुंब के व्यापारिक प्रतिष्ठानों के विषय में भी यही विधिमान्य है। फर्म या इकाइयों की आस्तियों का भी भौतिक विभाजन आवश्यक नहीं है। ऐसे मामलों में भी अंश परिनिश्चित हो जाने से कुटुंब विभक्त माना जाता है, भले ही इकाइयों की प्रास्थिति पूर्ववत् बनी रहे।[3]

(2) **कौटुंबिक संपत्ति**—मिताक्षरा हिंदू विधि के अधीन संयुक्त कुटुंब के विभाजन के लिए कौटुंबिक संपत्ति का होना आवश्यक नहीं है।[4] संपति के अभाव में भी कुटुंब का विभाजन संभव है और ऐसी स्थिति में संयुक्त प्रास्थिति का ही पृथक्करण होता है न कि संपत्ति का विभाजन। संपत्तिविहीन कुटुंब के विषय में यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती

---

1 अपूर्व शान्तिलाल शाह **बनाम** आयकर आयुक्त, अहमदाबाद, (1983) 3 उम० नि० प० 108; चरणदास हरिदास बनाम आयकर आयुक्त, मुम्बई, (1960) 39 आई० टी० आर० 202.

2 काशीनाथसा यामसा कबाड़ी **बनाम** नरसिंह भास्कर कबाड़ी, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1077.

3 [1983] 3 उम० नि० प० 108.

4 ए० राघवम्मा **बनाम** ए० चिन्नचम्मा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 136.

कि उसके विभाजन में सहदायिकों के अंश परिनिश्चित होंगे अपितु इससे मात्र संयुक्त प्रास्थिति ही विच्छिन्न होती है।

(3) **पृथक्करण का कारण**—कुटुम्ब की संयुक्त प्रास्थिति के पृथक्करण के लिए कारण का होना आवश्यक नहीं है। किसी कारण के बिना भी पृथक्करण हो सकता है। कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति के बनाये रखना अथवा पृथक् होकर उसे विच्छिन्न कर देना सहदायिकों की इच्छा पर पूर्णतया निर्भर है। विभक्त होकर पृथक् रहना एक हिंदू सहदायिक का जन्म सिद्ध अधिकार है।[1] सहदायिक का यह अधिकार किसी कारण पर निर्भर नहीं है। पृथक् होने के अधिकार को सहदायिक पिता के माध्यम से नहीं प्राप्त करता, अपितु यह उसका पिता से स्वतंत्र अधिकार है। यह अधिकार अवयस्क सहदायिक को भी प्राप्त है किंतु उसके विभक्त होने के अधिकार का प्रयोग संरक्षक अथवा अन्य मित्र के माध्यम से बिना न्यायालय की अनुमति के किया जा सकता है, क्योंकि अवयस्क से अधिकार के प्रयोग की प्रत्याशा नहीं की जा सकती।[2] एक जन्मसिद्ध अधिकार के प्रयोग के लिए कारण की खोज से उस पर अप्रत्यक्ष प्रतिबंध लग सकता है जो विधि की दृष्ट में अवधिमान्य है। किंतु यदि किसी मामले में विभाजन का कोई स्पष्ट कारण उपस्थित हो, तो न्यायालय उसकी अनदेखी भी नहीं कर सकता। वस्तु स्थिति मात्र इतनी ही है कि न्यायालय विभाजन वाद के निपटारे में अपनी ओर से कारण के अभाव का प्रश्न नहीं उठा सकता।[3]

(4) **अवयस्क की सहदायिक उपस्थिति**—हिंदू विधि के अधीर संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति के अधिकारों के मामले में, जैसा कि गत पृष्ठों में कहा जा चुका है, वयस्क सहदायिक और अवस्क सहदायिक में कोई अंतर नहीं है। अन्य सहदायिकों की भांति अवयस्क सहदायिक भी एकपक्षीय घोषणा द्वारा वास्तविक या भौतिक विभाजन किये बिना प्रास्थिति का पृथक्करण करने का अधिकारी है। अवयस्क सहदायिक के उक्त अधिकार के फलस्वरूप पृथक् होने के आशय की घोषणा उस संयुक्त कुटुंब के विरुद्ध भी की जा सकती है, जिसमें कुछ सदस्य अवयस्क हैं और उनकी उपस्थिति कुटुंब के विभाजन में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं करती।[4]

यदि अवयस्क सहदायिक की ओर से वादमित्र द्वारा उसके पृथक् होने की घोषणा या वाद की संस्थिति की जाती है, तो उसके मामले में मात्र इसी से प्रास्थिति का पृथक्करण नहीं हो जाता, क्योंकि विभाजन अवयस्क सहदायिक के हित में होने से ही न्यायालय के विवेकाधिकार से स्वीकृत किया जाता है।[5] जब न्यायालय विभाजन को अवयस्क के हित में

---

[1] **गिरिजाबाई बनाम** सदाशिव ढुंढिराज, ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 104.

[2] **वेंकट रेड्डि बनाम** पेट्टी रेड्डि, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 992.

[3] ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 104-43 आई० ए० 151 (पी० सी०).

[4] काकुमनूपेड्डु सुब्बय्या **बनाम** काकुमनु आपम्मा, ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 1043.

[5] बालकृष्णदास **बनाम** रामनारायण, 30 आई० ए० 139.

समझता है तब इससे प्रास्थिति का विभाग हो जाता है।[1]

(5) विभाजन आलेख—विभाजन के लिए किसी आलेख की आवश्यकता नहीं है। संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब के सदस्यों के बीच मौखिक बिभाजन भी संभव है।[2] सहदायिक या पक्षकार पारस्परिक करार द्वारा बिना किसी आलेख के विभाजन को प्रभावी बना सकते हैं[3]। सदस्यों के कार्य एवं व्यवहार से भी विभाजन का विनिश्चय किया जा सकता है।[4] इससे यह सुस्थिर है कि आलेख को अभाव में विभाजन को अमान्य या अपास्त नहीं किया जा सकता।

पृथक्करण और बिभाजन में अंतर

हिन्दू विधि में विभाजन और पृथक्करण विभिन्न आर्थों के वाचक हैं। विभाजन विधि को समझने के लिए इन दोनों प्रक्रियाओं के अन्तर को जानना आवश्यक है जिनका विवेचन नीचे किया जा रहा है—

(1) पृथक्करण कुटुम्ब की प्रास्थिति का होता है, जब कि विभाजन कौटुम्बिक संपत्ति का।

(2) पृथक्करण से कुटुम्ब की संयुक्त प्रास्थिति विच्छिन्न होती है, किन्तु संपत्ति का स्वरूप अविच्छिन्न बना रहता है और भौतिक विभाजन स्थगित रहता है।

(3) पृथक्करण के द्वारा के संपत्तिविहीन कुटुम्ब भी विभक्त हो सकता है। विभाजन के लिए संपत्ति का होना आवश्यक है।

(4) पृथक्करण मात्र संकल्प का विषय है, जिसमें आशय प्रमुख तत्व है। विभाजन सांपत्तिक स्वत्व, स्वमित्व और अधिकार का विषय है। विभाजन से सदस्यों के स्वामित्व और अधिकार उनके पक्ष में आबंटित संपत्ति या संपदाओं तक सीमित हो जाते हैं।

(5) मिताक्षरा विधि के अधीन पृथक्करण से कौटुम्बिक सम्पत्ति में सहदायिकों के अंश परिनिश्चित हो जाते हैं और उनमें न्यागमन उत्तरजीविता के आधार पर नहीं होता चाहे सम्पत्ति का विभाजन न हो और वह अभिभक्त बनी रहे।

विभाज्य सम्पत्ति

हिन्दू विधि की मिताक्षरा शाखा अनुसार सामान्यतया पैतृक या सहदायिकी संपत्ति

---

1 काकुमनु पेड्डु सुब्बय्या **बनाम** काकुमनु आसम्म, ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 1042.

2 पेड्डु रेड्डियार **बनाम** को दण्ड रेड्डि, ए० आई० आर० 1966 मद्रास 419.

3 कल्लूमल तपेश्वरीप्रसाद **बनाम** आयकर आयुक्त, कानपुर, (1982) 133 आई० टी० आर० 690.

4 गुरु नारायणदास **बनाम** गुरुटहलदास, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 225.

विभाज्य है ।[1] याज्ञवल्क्य के अनुसार सहदायिकी संपत्ति तीन प्रकार की होती है—

(क) पितामह से प्राप्त भू-गृहादि स्थावर संपत्ति (ख) द्रव्य (सोना, चाँदी) आदि जंगम संपत्ति, और (ग) निबंध अर्थात् नियत काल पर मिलने वाली निश्चित (बंधी हुई) धनराशि ।[2] संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति सहदायिकी से अधिक व्यापक होती है जिसमें न केवल पैतृक संपत्ति का समावेश होता है, अपितु कृषि व्यापार आदि से सभी सदस्यों द्वारा मिलकर बढ़ाई गई संपत्ति भी उसका अंग मानी जाती है ।[3] इस प्रकार मिताक्षरा शाखा में दो प्रकार की संपत्ति मुख्यतः विभाज्य है—(क) जन्म के कारण पिता, पितामह और प्रपितामह से प्राप्त संपत्ति जिसे अप्रतिबंध दाय कहते हैं और (ख) सभी सदस्यों के सम्मिलित प्रयास से या पैतृक संपत्ति की आय से उपार्जित संपत्ति । इनके अतिरिक्त किसी सहदायिक या सहदायिकों की स्वार्जित संपत्ति, जो इस आशय से कौटुंबिक संपत्ति में संमिश्रित कर दी गई हो कि संयुक्त संपत्ति के सामान्य भंडार में उसका विलय हो गया, विभाज्य है ।[4] पैतृक संपत्ति में निम्नलिखित प्रकार की संपत्ति भी आती है—

(क) विभाजन में प्राप्त पैतृक संपत्ति, और

(ख) चकबंदी या निजी तौर पर पैतृक सपत्ति के विनिमय में प्राप्त संपत्ति[5] । इन संपत्तियों का विभाजन पैतृक संपत्ति के रूप में होता है ।

किसी सहदायिक की स्वार्जित संपत्ति विभाज्य नहीं है। ऐसी पैतृक संपत्ति, जिसका न्यागमन परंपरा से मात्र एक ही वंशज को होता है, अविभाज्य है ; यथा : राजा ।[6] ऐसी पैतृक संपत्ति में उत्तराधिकारी के अतिरिक्त अन्य वंशज अपवर्जित हो जाते हैं । यद्यपि इस प्रकार की रुढ़ियां हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अनुसार प्रभावित हुई हैं तथापि प्राचीन अविभाज्य राज्य की संपत्तियां अभी भी अविभाज्य हैं ।[7]

अविभाज्य संपत्ति

कुछ संपत्तियां स्वरूपतः ऐसी होती हैं, जिनका भौतिक या वस्तुगत विभाजन संभव नहीं है—पशु, कुंआ, मार्ग और कुर्सी मेज आदि । किंतु यदि एक ही जाति के अनेक पशु हैं

---

[1] निवृत्तरजस्कायां पितुरनिच्छायामपि पुत्रेच्छयैव विभागो भवति । याज्ञ० 2/114 की मिता० टीका ।
मुहम्मद हुसेन **बनाम** केशवनन्दन, (1937) आई० ए० 250.

[2] भूर्या पितामहोपात्ता निबंधो द्रव्यमेव वा । याज्ञ० 2/121.

[3] साम्मान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः । याज्ञ० 2/120.

[4] लक्की रेड्डि चिन्नवेंकट रेड्डि **बनाम** लक्की रेड्डि लक्ष्मण, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 160.

[5] गुरुवचनसिंह **बनाम** पूर्णसिंह, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1263.

[6] दयाराम **बनाम** दौलतशाह, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 681; सर्वजीत प्रताप बहादुर शाही, **बनाम** इन्द्रजीत प्रतापबहादुर शाही आई० एल० आर० 27 इलाहाबाद 203.

[7] नगेश विष्ट **बनाम** खांडो त्रिमल, ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 887; हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 की धारा 5(ii) और (iii)

तो आंकिक विभाजन किया जा सकता है। विभाजन का यही ढंग कुर्सी मेज आदि वस्तुओं के विषय में भी लागू होता है। यदि आंकिक विभाजन संभव नहीं हो तो उन वस्तुओं और पशुओं का विक्रय करके उनका मूल्य सहदायिकों में विभक्त किया जा सकता है। जो वस्तुएं स्वरूपतः विभाजन योग्य नहीं है, उनका खंडशः विभाग करने से निरुपयोगी हो जाती है। गौतम आदि प्राचीन शास्त्रकारों ने अविभाज्य वस्तुओं की लंबी सूची दी है। मध्यकालीन टीक्काकार विज्ञानेश्वर ने भी मिताक्षरा में अनेक अविभाज्य वस्तुओं का उल्लेख किया है। इन विद्वानों का अविभाज्य वस्तुओं से तात्पर्य वस्तुतः उपभोगकर्त्ताओं का हित था। यह तथ्य बृहस्पति के मत से स्पष्ट है। बृहस्पति का कथन है कि "वस्त्रादि को अविभाज्य कहने वालों ने उचित विचार नहीं किया है, क्योंकि धनवानों की संपत्ति बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों के रूप में होती है। यदि इनको संयुक्त संपत्ति बनाया जाय तो जीवन चल ही नहीं सकता किंतु इन्हें एक ही व्यक्ति को भी नहीं दिया जा सकता। अतः इनका युक्तिपूर्वक विभाजन किया जाना चाहिए अन्यथा ये निरर्थक हो जायेंगी।"[1]

अविभाज्य कही जाने वाली वस्तुओं के विभाजन हेतु जिन युक्तियों का उल्लेख बृहस्पति ने किया है वे इस प्रकार हैं—"वस्त्र-अलंकार का विक्रय करके, ऋण की वसूली करके और पकाये हुए अन्न का कच्चे अन्न से विभाजन करना चाहिए। कुंआ, बावली, पानी की नाली, क्षेत्र (खेत) आदि का अपने अंश के अनुसार उपयोग करना ही विभाजन है। एक ही स्त्री दासी या नौकर है तो उससे बारी-बारी से कार्य लिया जाना चाहिए। अनेक होने पर बराबर संख्या में विभाजन हो सकता है। योग क्षेत्र से होने वाले लाभ का विभाजन उचित है और गोचर भूमि का सदस्यों के अंश के अनुसार विभाजन हो सकता है[2]।" बृहस्पति द्वारा सुझाये गये विभाजन के ढंग अत्यधिक व्यावहारिक और विधिमान्य हैं। प्रायः आंकिक विभाजन हेतु न्यायालयों द्वारा इन्हीं उपायों में से किसी एक उपाय का आश्रय लिया जाता है, जिसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

मूर्ति और पूजा स्थल— हिंदू विधि के अधीन कुटुंब के निजी मंदिर या पूजा स्थल का विभाजन माप और सीमांकन द्वारा नहीं हो सकता। कुटुंब मंदिर का स्वामी हिंदू विधि में आनुवंशिक पद के धारक के रूप में होता है और इस प्रकार की संपत्ति के विभाजन

---

[1] वस्त्रादयो विभाज्या यैरुक्तं तैर्न विचारितम्।
धनं भवेत्समृद्धानां वस्त्रालंकारसंश्रितम्॥
मध्यस्थितमनाजीव्यं दातुं नैकस्य शक्यते।
युक्त्या विभजनीयं तदन्यथानर्थकं भवेत्॥ देखिए व्य० मयू० पृष्ठ 80.

[2] विक्रीय वस्त्राभरणमृणमुद्ग्राह्य लेखितम्।
कृतान्नं वाक्कृतान्नेन परिवर्त्य विभज्यते॥
उद्धृत्य कूपवाप्यम्भत्वनुसारेण गृह्यते।
तथा चेवाणनुसारेण सेतुक्षेत्रं विभज्यते॥
एकां स्त्री कारयेत्कर्म यथांशेन गृहे-गृहे।
बह्व्यः सकांशतो देया दासानामप्ययं विधिः॥
योगेक्षेमवते लाभः समत्वेन विभज्यते।
प्रचारश्च यथांशेन कर्त्तव्यः रिक्थिभिः सदा॥ बृह० देखि० व्य० मयू० पृष्ठ 80.

का यही ढंग है कि उसके प्रबंध का अधिकार सभी को चक्रानुक्रम से दिया जाय। पूजा स्थल का विभाजन भी इसी प्रकार से किया जा सकता है। कुटुम्ब के सभी सदस्य मंदिर में किसी भी समय सामान्य पूजा करने के हकदार हैं भले ही उस समय उनकी बारी न हो।[1]

यदि पूजा-भवन कौटुंबिक मूर्ति के पक्ष में प्रदत्त नहीं है, तो वह अविभाज्य नहीं है और ऐसे पूजा-भवन को कोई भी सहदायिक जो इसे अनुरक्षित रखने का इच्छुक हो, मूल्य देकर क्रय कर सकता है।[1]

मार्ग, कुंआं या पानी के स्रोत का अधिकार—मिताक्षरा और व्यवहारमयूख दोनों के अनुसार मार्ग, कुंआँ और जल स्रोत, जो संयुक्त कुटुंब की संपत्ति है, अविभाज्य हैं।[2]

हिंदू विधि का यह अनिराकृत नियम है कि सम्मिलित मार्ग या अंदर आने और बाहर जाने का मार्ग जिसे विविध भागीदारों के बीच सम्मिलित संपत्ति के रूप में आरक्षित कर दिया जाता है, विभाजन का विषय नहीं बनाया जा सकता। मिताक्षरा विधि के अधीन सम्मिलित मार्ग' विभाजन पूर्व के मार्ग तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह सदस्यों के बीच करार द्वारा विभाजन के समय सर्वप्रथम सृष्ट होने वाले मामले में भी लागू होता है।[3]

विभाजन में प्राप्त अंश—यदि कोई सहदायिक अपने पिता, भ्राता या अन्य सहदायिकों से पृथक् हो जाए, तो जहां तक विभाजित सहदायिकों का संबंध है, विभाजन में प्राप्त संपत्ति उसकी पृथक् संपत्ति होगी किन्तु जहां तक उसके पुरुष-वंशजों का संबंध है, उक्त संपत्ति पैतृक होगी। विभाजन में प्राप्त पैतृक संपत्ति पिता और पुत्रों के बीच विभाज्य है, किंतु इस प्रकार की संपत्ति के विभाजन के समय पहले से पृथक् हुए सदस्य अंश पाने के हकदार नहीं हैं।[4]

विभाजन योग्य संपत्ति

अविभक्त कुटुम्ब की पैतृक या संयुक्त संपत्ति के विभाजन के पूर्व कौटुंबिक दायित्वों से संबंधित मदों के व्यय हेतु व्यवस्था की जानी आवश्यक है, जिससे कि विभाजन के पश्चात् संबंधित व्यक्तियों के हितों का अहित न हो। विधिसम्मत व्यवस्था करने के पश्चात् जो संपत्ति शेष रहती है, उसी का विभाजन सहदायिकों में किया जाता है।

व्यवस्था—मिताक्षरा हिंदू विधि के अधीन निम्नलिखित व्यवस्थाओं को आवश्यक और वैध माना गया है :—

कौटुंबिक ऋण—मनु और याज्ञवल्क्य आदि के मतानुसार विभाजन से पूर्व कौटुंबिक ऋण के भुगतान हेतु संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति से व्यवस्था की जानी

---

1 शेखावतराय **बनाम** प्रतापराय, 34 आई० सी० 909.

2 नाथूबाई **बनाम** बाई० हंसागौरी, 15 आई० सी० 818.

3 संतराम बालकृष्ण **बनाम** वामन गोपाल बाडेकर, आई० एल० आर० 47 मुम्बई 389.

4 काटस्मानच्चियार **बनाम** राजा शिवगंगा, (1863) एम० आई० ए० 543.

चाहिए।[1] कुटुंब को आबद्ध करने वाले ऋण के भुगतान हेतु व्यवस्था सहदायिकों द्वारा संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति को विभक्त करने से पूर्व कर ली जाय। उच्चतम न्यायालय[2] द्वारा यह अभिनिर्धारित है कि यदि पिता ने विभाजन के पूर्व संपत्ति को बंधक रखा है, जो पुत्रों पर भी आबद्धकर है, तो इसके विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता।

(2) **पिता का व्यक्तिगत ऋण**—यदि पिता ने विभाजन से पूर्व कोई व्यक्तिगत ऋण लिया हो, तो विभाजन के समय उसके भुगतान की व्यवस्था करके ही पिता और पुत्रों के बीच पैतृक संपत्ति का विभाग किया जाना चाहिए।[3] पिता के नैतिक और वैध ऋण के भुगतान की व्यवस्था करने के पश्चात् ही पिता और पुत्रों के बीच विभाजन में वास्तविक विभाग का प्रश्न उठता है।[4]

(3) **निर्हित पुरुष और आश्रित स्त्री सदस्यों के भरण-पोषण की व्यवस्था**—जिन पुरुष सदस्यों को संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति के विभाजन के समय अंश प्राप्त करने की अर्हता नहीं है, उनके तथा आश्रित स्त्री सदस्यों के भरण-पोषण की व्यवस्था भौतिक विभाजन के पूर्व कर दी जानी चाहिए।[5]

(4) **वैवाहिक व्यय की व्यवस्था**—किसी हिंदू की पुत्री वैवाहिक व्यय के भुगतान की हकदार उसी प्रकार है, जिस प्रकार भरण-पोषण के भुगतान की। उसका वह अधिकार कौटुंबिक संपत्ति में उसके अधिकार या हित पर आधारित है न कि पिता की प्राकृतिक आबद्धता पर और कौटुंबिक संपत्ति की यह आबद्धता पिता-पुत्रों के बीच विभाजन से अप्रभावित रहती है।[6] विभाजन के समय वैवाहिक व्यय की व्यवस्था का हिंदू विधि का नियम मात्र उन्हीं भाइयों या बहिनों के वैवाहिक व्यय की व्यवस्था को विभाजन के समय प्राधिकृत करता है जो विभाजन के पक्षकार हैं अथवा जिनका विवाह कौटुंबिक आय से किया जा सकता है किंतु इस व्यवस्था का विस्तार उन व्यक्तियों के पक्ष में नहीं किया जा सकता जो इन संबंधों की पीढ़ी में नहीं आते।[7] यदि कोई सहदायिक अपनी आय से स्वर्गीय स्वामी की पुत्री का विवाह कर देता है तो विभाजन के समय कौटुंबिक संपत्ति से उस

---

1 ग्रहीता यदि नष्ट:स्यात् कुटुम्बार्थे कृतो व्यय:। दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यातप्रविभक्तैऽपि स्वत:॥ मनु० 8/166 अविभक्तै: कुटुम्बार्थे यद्ऋणं तु कृतं भवेत्। याज्ञ० 2/45 पर मिताक्षरा— 'अविभक्तै र्बहुभि: कुटुंबार्थमेकैकेन वा यद्ऋणं कृतं तद्ऋणं कुटुंबी दद्यात्।"

2 वृद्धाचलम् पिल्लै बनाम चाइलदीयन सीरियन बैंक लिमिटेड, त्रिचुर, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1425.

3 वेल्कु रेड्डि बनाम चिल्कु रेड्डि 100 आई० सी० 1018.

4 एस० एम० जगति बनाम एस० एम० बोर्कर, ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 282.

5 कमलाअम्माल बनाम वेंकटलक्ष्मीअम्माल, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1349. कुटुम्बार्थे कृतो व्यय:। अनु० 8/166.

6 जयराम बनाम नत्थू, आई० एल० आर० 31 मुम्बई 54.

7 ईरुकोल बनाम ईरुकोल : आई० एल० आर० 1922 मद्रास 150.

धनराशि का भुगतान पाने का हकदार है ।[1]

(5) **उपनयन संस्कार हेतु**—बालकों का उपनयन संस्कार हिंदू विधि में एक महत्वपूर्ण संस्कार है, जो किसी भी अर्थ में विवाह से कम नहीं है। बृहस्पति के अनुसार जिन भाइयों के संस्कार नहीं हुए, उनके संस्कार पैतृक संपत्ति से कराये जाने चाहिए।[2] विश्वेश्वर भट्ट के अनुसार भाई और बहिन के विवाह पर्यन्त सभी संस्कार करने के पश्चात् ही विवाह करना उचित है[3]। 'संस्कार' या 'विवाह पर्यन्त संस्कार' में उपनयन और विवाह दोनों ही समाहित हैं। न्यायालयों ने इन प्राचीन शास्त्रकारों के मतों को स्वीकार करते हुए विभाजन के समय उपनयन संस्कार हेतु भी व्यवस्था आवश्यक मानी है।[4]

(6) **विधवा और अंतिम पुरुष स्वामी की माता के दाह-संस्कार की व्यवस्था**—यदि विभाजन पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्रों में हो रहा हो तो विभाग के समय विधवा और पुरुष स्वामी की माता के दाह-संस्कार हेतु कौटुंबिक संपति में से व्यवस्था कर दी जानी चाहिए।[5] यदि इस प्रकार के संस्कारों में होने वाले व्यय हेतु पुत्रों में पैतृक संपत्ति का विभाजन होते समय कोई व्यवस्था नहीं की गई है और उनमें से कोई पुत्र उन्हें अपने खर्चे से करता है, तो वह अपने भाइयों से उनके अंश के अनुसार भुगतान पाने का हकदार है।[6]

विभाजन के ढंग

यद्यपि हिंदू शास्त्रों में विभाजन के ढंग प्रत्यक्ष रूप से उल्लिखित नहीं है तथापि विभाजन को प्रमाणित करने वाले जिन साक्ष्यों का उल्लेख शास्त्रकारों ने किया है, उनसे विभाग के ढंग पर प्रकाश पड़ता है। किंतु पिता द्वारा स्वेच्छा से अथवा पुत्रों की सम्मति से विभाजन का उल्लेख शास्त्रों में है। पुत्रों द्वारा पिता की इच्छा के विपरीत भी विभाजन करने का उल्लेख शास्त्रों में है। विभाजन का प्रारंभ संभवत: पिता के द्वारा अपनी अंतर्निहित शक्ति के अधीन किया गया। किंतु हिंदू विधि के लंबे काल में विभाजन के अनेक ढंग विकसित हो गये जिनका विवेचन नीचे किया जाएगा।

(1) **पिता द्वारा विभाजन**—अविभक्त हिंदू कुटुंब में पिता को अपने जीवन काल में किसी भी समय कौटुंबिक संपत्ति का विभाजन, अपने और अपने पुत्रों में हिस्सा बांट कर, करने की शक्ति है। इस शक्ति के प्रयोग के लिए उसे पुत्रों की सम्मति लेनी आवश्यक

---

1 कस्तूरी गोपालन् **बनाम** कस्तूरी वेंकटराघवल्लु, 31 आई० सी० 574.

2 असंस्कृता भ्रातरस्तु येस्यु'तत्र यवीयसः।
संस्कार्या पूर्व्वजैस्तैवै पैतृकान्मध्यमाद्धनात् ॥ बह, वीमि० व्य० अ० पृ० 584 में उद्धृत।

3 विवाहान्त संस्कारे कृत्वा पश्चाद्विभागः कर्त्तव्य ॥ मदनपारिजात पृ० 648.
अत्र च संस्कार साह चर्म्मादनूढ़ानां दुहितृणाम् । वीमि० व्य० अ० पृ० 585.

4 जयराम **बनाम** नत्थू, आई० एल० आर० 31 मुम्बई 540.

5 नन्दराम **बनाम** कृष्णसहाय, ए० आई० आर० 1935 इलाहाबाद 698.

6 वैद्यनाथ **बनाम** अहिल्यास्वामी, आई० एल० आर० (1909) 32 मद्रास 191.

नहीं है। पुत्रों को परस्पर पृथक् करने का पिता का अधिकार 'पितृ-शक्ति' का अंग है, जिसे हिंदू विधि में आज भी मान्यता प्राप्त है।[1] अपने इस उच्चाधिकार के प्रयोग में अथवा पितृत्व के अपने अधिकार के प्रयोग में पिता को संयुक्त कुटुंब को पूर्णतः छिन्न-भिन्न करने और स्वयं तथा अपने वयस्क-अवयस्क पुत्रों से मिलकर बने हिंदू अविभक्त कुटुंब की संपत्तियों का पूर्ण विभाजन उन पुत्रों की इच्छा के विपरीत भी करने का हक है यदि संपत्ति की कसौटी को लागू करें तो भी अवयस्क पुत्रों के नैसर्गिक संरक्षक के नाते पिता सामान्यतः ऐसी सम्मति देने की स्थिति में होता है, और सार्वजनीन सिद्धांत के रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि आंशिक या पूर्ण विभाजन के ऐसे सभी मामलों में पिता और पुत्रों में हित संघर्ष अनिवार्य है।"[2] स्पष्टतया उच्चतम न्यायालय ने पिता द्वारा अपने और पुत्रों के बीच विभाजन के सभी पहलुओं पर विचार करके इस हिंदू विधि को अपनी स्वीकृति दी है।

(2) **करार द्वारा विभाजन**—संयुक्त बने रहना अथवा विभक्त होकर अपनी व्यवस्था पृथक् कर लेना सहदायिकों की स्वेच्छा पर निर्भर होता है। सुविधानुसार वे पारस्परिक सहमति या करार द्वारा कौटुंबिक संपत्ति का विभाजन कर सकते हैं। ऐसी आशा की जाती है कि स्वेच्छा का प्रयोग करते समय व्यक्ति अपने हितों का ध्यान रखता है। यही कारण है कि करार द्वारा अथवा पारस्परिक सहमति से किया गया विभाजन विधिमान्य है। न्यायालय तब तक ऐसे विभाजन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, जब तक कि करार कपटपूर्ण या अनुचित ढंग से नहीं किया गया हो।

करार मौखिक या लिखित किसी भी प्रकार का हो सकता है।[3] कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति को पृथक् करने की बाबत किया गया करार संपत्तियों के माप और सीमांकन द्वारा भौतिक या वास्तविक विभाजन किये बिना भी पृथक्करण करार की तारीख से ही हो जाता है। यद्यपि इससे कौटुंबिक संपत्ति का प्रबंध संयुक्त बना रहता है तथापि सदस्यगण संपत्ति में परिनिश्चित अंश धारण करते हैं। फलस्वरूप, करार के दिन से कुटुंब के सदस्यों की संयुक्त-अभिधारी की प्रास्थिति समाप्त हो जाती है और वे सह-आभोगी हो जाते हैं।[4]

उदाहरणार्थ, यदि संयुक्त कुटुंब के सभी सहदायिक लिखित करार से कौटुंबिक संपत्ति में विशिष्ट और परिनिश्चित अंश रखने हेतु सहमत हो जाएं और उस करार को क्रियान्वित कर दिया जाए तो माप और सीमांकन द्वारा विभाजन न होने पर भी करार के दिन से ही कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति समाप्त हो जाती है[5]।

---

[1] कल्लूमल तपेश्वरीप्रसाद **बनाम** आयकर आयुक्त, कानपुर, (1942) 133 आई० टी० आर० 690.

[2] अपूर्व शांतिलाल शाह **बनाम** आयकर आयुक्त, अहमदाबाद, [1983] 3 उम० नि० प० 108.

[3] पार्वती **बनाम** नौनिहालसिंह, (1909) आई० एल० आर० 412 (पी० सी०).

[4] अप्पुवीयर् **बनाम** रामसुब्बन् अय्यर, 11 एम० आई० ए० 75.

[5] रघुबीरसिंह **बनाम** मोतीकुंवर, (1913) 17 आई० सी० 766(पी० सी०).

करार द्वारा विभाजन ऐसे कुटुंब में भी हो सकता है, कोई सहदायिक अवयस्क हो। किसी सहदायिक की अवयस्क दशा में करार द्वारा विभाजन से वह तब तक आबद्ध है, जब तक कि विभाजन उसके हितों के प्रतिकूल नहीं हो। यदि विभाजन अवयस्क के हितों के प्रतिकूल हो तो अवयस्क वयप्राप्त कर लेने पर उस विभाजन को अपने अंश के विषय में उचित प्रक्रिया (वाद) द्वारा चुनौती दे सकता है।[1]

(3) **माध्यस्थम् द्वारा विभाजन**—संयुक्त हिंदू कुटुंब के सदस्य पारस्परिक सहमति से या करार से माध्यस्थम् (पंच) नियुक्त करके कौटुंबिक संपत्ति का विभाजन करा सकते हैं। माध्यस्थम् नियुक्त करने का करार मौखिक या लिखित किसी भी प्रकार का हो सकता है।

एकबार माध्यस्थम् के लिए निर्देशित कर देने से संयुक्त कुटुंब की प्रास्थिति का पृथक्करण हो जाता है और इसे माप तथा सीमांकन द्वारा संपत्ति की विभक्ति तक स्थगित नहीं किया जाता, क्योंकि करार के दिन से ही पृथक् होने का आशय प्रकट हो जाता है। यदि पक्षकारों की सम्मति कपट और दुर्व्यपदेशन द्वारा या किसी अन्य ऐसे आधार पर नहीं प्राप्त की गई हो कि सामान्य विधि के अंतर्गत विभाजन को निष्फल किया जा सके तो माध्यस्थम् द्वारा किया गया और पक्षकारों द्वारा स्वीकृत विभाजन उन पर आबद्धकर है।[2]

(4) **आशय द्वारा विभाजन**—संयुक्त हिंदू कुटुंब का कोई सदस्य कुटुंब से अपने को पृथक् करने के लिए और अपने अंश को पृथक् रूप से उपभोग करने हेतु अपने आशय की निश्चित और असंदिग्ध अभिव्यक्ति द्वारा प्रास्थिति में पृथक्करण कर सकता है[3]। हिंदू विधिशास्त्र भी विवेकाधिकार के एकपक्षीय प्रयोग द्वारा प्रास्थिति में पृथक्करण की प्रतिपादना का समर्थन करते हैं।[3]

हिंदू अविभक्त कुटुंब का जो सदस्य अपने को दूसरों से पृथक् करना चाहता है, उसे अपना आशय कुटुंब के उन सदस्यों पर प्रकट करना चाहिए, जिनसे कि वह पृथक् होना चाहता है। दूसरे शब्दों में, 'आशय की घोषणा' आवश्यक है और 'घोषणा' शब्द से यह प्रकट है कि उसकी जानकारी उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों को होनी चाहिए। असंसूचित घोषणा पृथक् होने के आशय के विचार मात्र से अधिक कुछ नहीं है। घोषणा के रूप में आशय तभी प्रभावी होता है, जब इसकी संसूचना इससे प्रभावित होने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों को प्राप्त हो जाती है।[4]

---

1 विशुनदेवनारायण **बनाम** शिवगनीराम, ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 280.

2 काशीनाथ सा यामसा कबाड़ी **बनाम** नरसिंह्सा भास्करसा कबाड़ी, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1077.

3 गिरजाबाई **बनाम** सदाशिव ढुंढ़िराज, ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 104.

4 ए० राघवम्मा **बनाम** ए० चिन्नचम्मा, ए० आई० आर० 1964, एस० पी० 136; बालकृष्ण **बनाम** रामकृष्ण, ए० आई० आर० 1931 पी० सी० 154.

(5) **लिखित संसूचना द्वारा विभाजन**—कोई सहदायिक पृथक्करण के आशय की लिखित संसूचना अन्य सहदायिकों अथवा कर्त्ता को देकर विभाजन को प्रभावी बना सकता है। लिखित संसूचना द्वारा पृथक्करण के मामले में संयुक्त प्रास्थिति का विभाजन संसूचना भेजने के दिन से ही प्रभावी हो जाता है न कि उस दिन से जिस दिन संसूचना अन्य सहदायिकों को प्राप्त हुई हो।[1] अवयस्क सहदायिक भी संरक्षक के माध्यम से लिखित संसूचना भेजकर अपने को कुटुंब से पृथक् कर सकता है, बशर्ते न्यायालय द्वारा इसकी स्वीकृति उसके हितों के संरक्षण हेतु प्राप्त हो जाय क्योंकि अवयस्क से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह अपनी संकल्पना की घोषणा कर सकेगा[2]।

(6) **भोजन और आवास की पृथक् व्यवस्था द्वारा विभाजन**—सामान्यतया किसी सहदायिक की पृथक् भोजन और आवास की व्यवस्था से हिंदू कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि संयुक्त हिंदू कुटुंब का कोई सदस्य अपनी सुविधानुसार पृथक् भोजन आदि की व्यवस्था कर सकता है।[3] किंतु जब यह व्यवस्था पृथक् होने के आशय से की जाती है तब इससे कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति विच्छिन्न हो जाती है।

प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया है कि "कुछ सदस्यों का कौन-सा आचरण अविभक्त कुटुंब को छिन्न-भिन्न करने की ओर अग्रसर होगा और संयुक्त अभिभाधारी से सम्मिलित अभिधारी में परिवर्तित करेगा, यह प्रत्येक मामले के तथ्य पर निर्भर है। यद्यपि भोजन, आवास और पूजा की पृथक् व्यवस्था इस तथ्य के दृढ़ संकेत हैं कि कुटुंब की प्रत्येक शाखाएं विभक्त हैं, तथापि मात्र इन्हीं तथ्यों से प्रास्थिति में पृथक्करण नहीं हो जाता।"[4]

यदि पर्याप्त लंबे काल से किसी कुटुंब की शाखाएं पृथक्-पृथक् भोजन, आवास और पूजा की व्यवस्थाएं करती चली आ रही हो तो इससे कुटुंब के पृथक्करण की उपधारणा हो सकती है क्योंकि निरंतर लंबे समय तक भोजन आदि की व्यवस्थाएं संपत्ति और आय के पृथक्करण के बिना नहीं निभाई जा सकती। अतः बिना किसी औपचारिक विभाजन के पर्याप्त लंबे काल तक भोजन और आवास आदि की पृथक् व्यवस्थाएं करते रहने से कुटुंब का विभाजन संभव है।[5] हिंदू शास्त्र भी इसका समर्थन करते हैं[6]।

---

1 रामलिंग अन्नवी **बनाम** नारायण अन्नवी, 1922 पी० सी० 201.

2 काकुमनु पेड्डसुब्बय्या **बनाम** काकुमनु आशम्मा, ए० आई० आर० 1958, एस० सी० 1042.

3 सूरजनारायण **बनाम** इकबालनारायण, (1913) 40 आई० ए० 40 (पी० सी०); रेवनप्रसाद **बनाम** राधाबीबी, (1846) 4 एम० आई० ए० 137.

4 वेंकटपट्टि राजु **बनाम** वेंकट नरसिंह राजु, ए० आई० आर० 1936 पी० सी० 264.

5 गुरु नारायणदास **बनाम** गुरु टहलदास, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 225.

6 "पृथक्कृतेगृहक्षेत्रैश्च । पृथक्कृष्यादिकार्यप्रवर्तनं पृथक्पंचमहायज्ञादिधर्मानुष्ठानं च ।" याज्ञ० 2/149 की मिता०टीका।
पृथक्कार्यप्रवर्तदात्।। नारद, उसीमें उद्धृत।
विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक्-पृथक्।। नारद : उसीमें उद्धृत।

(7) **वाद संस्थिति द्वारा विभाजन**—किसी सहदायिक द्वारा विभाजन हेतु वाद संस्थित किया जाना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि उसका आशय संयुक्त कुटुंब से पृथक् होने का है। वाद संस्थिति के दिन से ही संबंधित सहदायिक कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति से पृथक् हो जाता है। प्रिवी कौंसिल द्वारा यह अभिनिर्धारित है कि 'मिताक्षरा हिंदू कुटुंब के एक सदस्य द्वारा विभाजन हेतु वाद संस्थित किया जाना पृथक् होने के उसके आशय की असंदिग्ध संसूचना है और वाद संस्थिति के दिन से ही संयुक्त प्रास्थिति का पृथक्करण हो जाता है। यह तथ्य कि न्यायालय ने वाद को इस आधार पर खारिज कर दिया कि उसका कोई औचित्य नहीं था, कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति को छिन्न-भिन्न होने से नहीं रोक सकता। न्यायालय की डिक्री पृथक्करण के फल को क्रियान्वित करने और निश्चित अंशों को आबंटित करने के लिए ही आवश्यक है।"[1]

वस्तुतः विभाजन का वाद सहदायिक के आशय की एक प्रकार की अभिव्यक्ति है, जिसे वह न्यायालय के समक्ष वादपत्र द्वारा प्रकट करता है।[2] इस विषय पर विशद विवेचन आगे किया जाएगा।

(8) **व्यापारिक प्रतिष्ठान में अंश-विनिर्देशन द्वारा विभाजन**—आधुनिक काल में व्यापार की वृद्धि के फलस्वरूप विभाजन मात्र स्थावर-जंगम संपत्तियों तक ही सीमित नहीं रह गया है। अविभक्त हिंदू कुटुंब द्वारा चलाए जाने वाले व्यापारिक प्रतिष्ठानों में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। अतएव इसके विभाजन का ढंग विधि की दृष्टि में अधिक महत्त्वपूर्ण है।

किसी अविभक्त हिंदू कुटुंब के व्यापारिक प्रतिष्ठान का विभाजन उसमें सहदायिकों के अंश का विनिर्देशन करके किया जा सकता है अथवा प्रत्येक सहदायिक का पृथक्-पृथक् खाता खोलकर उनमें प्रविष्टियां अंकित करके किया जा सकता है, जिससे कि यह स्पष्ट हो जाय कि प्रतिष्ठान पृथक्तः धारित है। स्थावर-जंगम संपत्तियों की भांति व्यापारिक प्रतिष्ठान की आस्तियों के विभाजन में भी भौतिक विभाजन आवश्यक नहीं है[3]।

(9) **विधि की प्रक्रिया द्वारा विभाजन**— विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 19 के उपबंधों के अनुसार यदि एक हिंदू अविभक्त कुटुंब के सदस्य का, जो बौद्ध, जैन या सिक्ख धर्म का अनुयायी है, विबाह इस अधिनियम के अंतर्गत संपन्न होता है, तो वह संयुक्त से विभक्त समझा जाएगा।

(10) **धर्मान्तरण द्वारा विभाजन**—यदि कोई सहदायिक अन्य धर्म में धर्मान्तरित हो जाए तो अपने कुटुंब से उसका संबंध विच्छिन्न हो जाता है। किंतु जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम, 1850 के अधिनियमित हो जाने से धर्मान्तरित सदस्य कौटुंबिक संपत्ति

---

1 कंवलनयन **बनाम** बुधसिंह, 40 आई० ए० 159 (पी० सी०).

2 गिरजाबाई **बनाम** सदाशिव ढूंढिराज, 43 आई० ए० 151 (पी० सी०); ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 104.

3 भीमराज वंशीधर **बनाम** आयकर आयुक्त, पटना, ए० आई० आर० 1955 पटना 172.

में हकदार बना रहता है। उल्लेखनीय है कि केवल धर्मान्तरित सदस्य का ही कुटुंब से पृथक्करण होता है न कि अन्य सदस्यों का भी पारस्परिक पृथक्करण । सदस्य के धर्मान्तरण के दिन जो कौटुंबिक संपत्ति थी उसी में से वह अंश प्राप्त करने का हकदार रहता है ।[1] उसके धर्मान्तरण के बाद बढ़ाई गई संपत्ति में वह इसलिए हकदार नहीं रह जाता कि उसके पश्चात् कुटुंब से उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है।

विभाजन-वाद

विभाजन-वाद के दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं—प्रथम है वाद के पक्षकार, और द्वितीय है वादांतर्गत आने वाली संपत्ति ।

(1) **विभाजन-वाद की संस्थिति के अधिकारी**—हिंदू अविभक्त कुटुंब का प्रत्येक सहदायिक और किसी सहदायिक के हिस्से को क्रय करने वाला क्रेता विभाजन हेतु वाद संस्थित कर सकता है । सहदायिक को पिता की इच्छा के विरुद्ध भी विभाजन कराने का अधिकार मिताक्षरा विधि के अंतर्गत मिला है । विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "यद्यपि माता ने संतानोत्पत्ति की अवस्था न लांघी हो, तो पिता में संपत्ति की अभिलाषा हो तथा पिता की इच्छा विभाग न करने की हो भी पुत्र की इच्छा से पैतृक संपत्ति का विभाजन हो सकता है ।"[2] उन्होंने मनु के उस कथन की जिसमें कहा गया है कि "अप्राप्त पैतृक संपत्ति को यदि पिता किसी प्रकार प्राप्त कर ले तो उस स्वार्जित संपत्ति को पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध विभाजित नहीं कर सकते[3] ।" व्याख्या करते हुए कहा है कि इससे स्पष्ट है कि सामान्यतः पितामहार्जित संपत्तियां विभाजन पिता की इच्छा के विपरीत भी हो सकता है ।[4] किंतु बंबई राज्य में सहदायिकों के इस अधिकार पर अपवाद स्वरूप एक प्रतिबंध है । वह यह है कि यदि पिता का पिता (पितामह) जीवित है, और वह उसके तथा भाइयों एवं अन्य सहदायिकों के साथ संयुक्त है तो पुत्र विभाजन का वाद नहीं संस्थित कर सकता ।[5] पुत्र उसी दशा में पिता से वाद संस्थिति द्वारा विभाजन की मांग कर सकता है, जब कि पिता पृथक् हो । तात्पर्य यह है कि जो सहदायिकी पिता-पुत्र द्वारा संघटित है, उसी में पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध विभाजन का वाद संस्थित करने का अधिकारी है । पुत्र पर यह प्रतिबंध मिताक्षरा प्रभावित अन्य क्षेत्रों में लागू नहीं है ।

अवयस्क सहदायिक में स्वमेव या व्यक्तिगत रूप से विभाजन-वाद संस्थित करने की शक्ति नहीं होती उसकी ओर से संरक्षक या अन्य मित्र ही वाद संस्थित कर सकता है उसके दावे पर डिक्री (जयपत्र) तभी दी जा सकती है जब न्यायालय यह समझता हो कि

---

1 कुलजा **बनाम** हरिपद, आई० एल० आर० 40 कलकत्ता 407.

2 सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छा पैतामहद्रव्ये विभागो भवति । याज्ञ० 2/121 पर मिता० टीका ।

3 पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ।। मनु० 9/209.

4 पितामहार्जितमकामोऽपि पुत्रेच्छया पुत्रैः सह विभजेदिति दर्शयति ।। याज्ञ० 2/121 की मिता० टीका ।

5 आप्पाजी नरहर **बनाम** रामचंद्र, आई० एल० आर० 16 मुंबई 29.

विभाजन अवयस्क के हित में है। यदि वाद के विचाराधीन रहते समय अवयस्क की मृत्यु हो जाए तो भी उसके विधिक प्रतिनिधि उस वाद को जारी रख सकते हैं और न्यायालय यदि अवयस्क के दावे को उसके हित में समझता है तो डिक्री द्वारा उसका भाग पृथक् कर सकता है।[1]

विभाजन-वाद के आवश्यक पक्षकार—वादी को विभाजन-वाद में निम्नलिखित हितबद्ध व्यक्तियों को प्रतिवादी के रूप में पक्षकार बनाना आवश्यक है—

(1) संयुक्त कुटुंब की सभी शाखाओं के प्रधान ;

(2) सभी सहदायिक;

(3) विभाजन में भाग पाने की हकदार स्त्रियां ;

(4) वादी के किसी अंश के क्रेता, यदि वादी स्वयं एक सहदायिक है;

(5) यदि वादी स्वयं क्रेता है तो अन्य संक्रान्तकर्ता सहदायिक; और

(6) कोई भी अन्य व्यक्ति जिसका हित कौटुंबिक संपत्ति में अंतर्ग्रस्त हो

यदि वादी उपर्युक्त में से किसी को पक्षकार नहीं बनाए तो पक्षकारों के असंयोजन के आधार पर उसका वाद खारिज होने योग्य है। इसका कारण यह है कि जिन व्यक्तियों का हित कौटुंबिक संपत्ति में अन्तर्गस्त है, उन्हें अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर अवश्य मिलना चाहिए, जिससे उनका अहित न हो ।

विभाजन वाद के उचित पक्षकार—वादी को विभाजन वाद में निम्नलिखित को उचित पक्षकार के रूप में प्रतिवादी बनाना वांछनीय है—

(1) कौटुंबिक अथवा अविभक्त संपत्ति का सकब्जा बंधकदार;

(2) कौटुंबिक संपत्ति के किसी भाग या किसी विशिष्ट संपत्ति का सामान्य बंधकदार ;

(3) किसी सहदायिक के अविभक्त हित का क्रेता ;

(4) विवाह और भरण-पोषण के व्यय के हकदार व्यक्ति और अन्य ऐसे व्यक्ति जो कौटुंबिक संपत्ति से भरण-पोषण के हकदार हैं। यथा ; विधवाएं, पुत्रियाँ, बहिनें तथा अनर्हित वारिस। किंतु इनमें से अनेक हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन वर्ग के उत्तराधिकारी हो चुके हैं, फलस्वरूप आवश्यक पक्षकार हैं, और

(5) कोई अन्य सहदायिक या संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में हितबद्ध व्यक्ति। यदि उपर्युक्त व्यक्तियों को विभाजन वाद में प्रतिवादी के रूप में पक्षकार नहीं बनाया

---

1 लक्की रेड्डि चिन्नवेंकट रेड्डि **बनाम** लक्की रेड्डी लक्ष्मा, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 160.

2 साधु **बनाम** राम, आई० एल० आर० (1892) 16 मुंबई 608; दूरी **बनाम** तेडपत्री आई० एल० आर० (1910) 33 मद्रास 246 : 4 आई० सी० 342.

जाए तो वह व्यक्ति, जिसका हित कौटुंबिक संपत्ति में अंतर्ग्रस्त है, स्वयं आवेदन करके पक्षकार बन सकता है। पौत्र या प्रपौत्र आवश्यक पक्षकार नहीं हैं, किंतु उचित पक्षकार माने जा सकते हैं।[1]

(2) **विभाजन वाद की संपत्ति**—विभाजन वाद में संपूर्ण कौटुंबिक संपत्ति या उसका कुछ अंश समाविष्ट किया जा सकता है। इस अर्थ में विभाजन कुछ संपत्ति का या संपूर्ण कौटुंबिक संपत्ति का हो सकता है। प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया है कि "संयुक्त हिंदू कुटुंब के सदस्य संपदा के एक अंश से संबंधित हित के बारे में विभाग या पृथक्करण कर सकते हैं जबकि अपनी संयुक्त प्रास्थिति को बनाए रखते हुए शेष संपत्तियों को संयुक्त अविभक्त कुटुंब की हैसियत से धारण कर सकते हैं।"[2] इस संबंध में निम्नलिखित नियम हैं—

(1) जब एक सहदायिक दूसरे सहदायिकों के विरुद्ध वाद संस्थित कर रहा हो तो वाद में सभी संयुक्त कौटुंबिक संपत्तियों को समाविष्ट किया जाना चाहिए।[3] किंतु ऐसी संपत्ति के विभाजन हेतु अलग से वाद संस्थित किया जा सकता है, जिनका वास्तविक विभाजन नहीं हो सकता।[4] उन संयुक्त कुटुंब के संपत्तियों के विभाजन हेतु भी पृथक् वाद संस्थित किया जा सकता है जो उस न्यायालय के न्यायक्षेत्र के बाहर हो जिसमें वाद प्रस्तुत किया जा रहा है। ऐसी संपत्ति के विभाजन का वाद उस न्यायालय में संस्थित किया जा सकता है, जिसके न्यायक्षेत्र में संपत्ति स्थित है[5]।

(2) यदि विभाजन वाद अनेक कौटुंबिक संपत्तियों में से किसी एक अविभक्त हित के क्रेता द्वारा अपने विक्रेता और अन्य सहदायिकों के विरुद्ध संस्थित किया जाता है तो ऐसे मामले में इलाहाबाद[6] और कलकत्ता[7] उच्च न्यायालयों ने अभिनिर्धारित किया है कि वादी क्रेता जिस क्रीत संपत्ति में हितबद्ध है उसी के विभाजन हेतु वाद संस्थित कर सकता है, जबकि बंबई[8] और मद्रास[9] उच्च न्यायालयों ने अभिनिर्धारित किया है कि क्रेता को सभी कौटुंबिक संपत्तियों के सामान्य विभाजन हेतु वाद संस्थित करना चाहिए।

(3) अन्य संक्रामण न करने वाले सहदायिक क्रेता के विरुद्ध अन्यसंक्रांत संपत्ति के विभाजन हेतु बिना सामान्य विभाजन के वाद संस्थित कर सकते हैं। किंतु वे ऐसे मामले में सामान्य विभाजन-वाद भी संस्थित करने के अधिकारी हैं।[10]

---

[1] दिगम्बर **बनाम** धनराज, ए० आई० आर० 1922 पटना 96.

[2] रामलिंग अन्नावी **बनाम** नारायण अन्नावी, आई० एल० आर० (1922) पी० सी० 20.

[3] गणपत **बनाम** अन्नाजी, आई० एल० आर० (1899) 23 मुंबई 144.

[4] पट्टारावी **बनाम** औदीमुला (1870) 5 मद्रास हाई कोर्ट 419.

[5] जगन्नाथ **बनाम** डिसेशन निगम आई० एल० आर० (1950) 20 पटना 1065.

[6] राममोहन **बनाम** मूलचंद, आई० एल० आर० (1906) 28 इलाहाबाद 38.

[7] तारिणीचरण चक्रवर्ती **बनाम** देवेन्द्रवाला दे, आई० एल० आर० (1935) 62 कलकत्ता 655.

[8] ईश्वरप्पा **बनाम** कृष्ण, ए० आई० आर० 1922 मुंबई 413.

[9] मंजय्या **बनाम** षण्मुगम आई० एल० आर० (1915) 28 मद्रास 684.

[10] कंदस्वामी **बनाम** बेला मुत्तु, ए० आई० आर० 1925 मद्रास 774.

(4) ऐसी कौटुंबिक संपत्ति के विषय में जो कभी संपूर्ण संयुक्त कुटुंब की संपत्ति थी, किंतु विभाजन-वाद की संस्थिति के दिन केवल पक्षकारों के बीच संयुक्त संपत्ति के रूप में है, उनमें से कोई भी वाद संस्थित कर सकता है। ऐसी संपत्ति के विभाजन के विषय में न तो असम्बद्ध सहदायिकों को पक्षकार बनाने की, न ही असंबद्ध संपत्तियों को वाद संपत्ति में सम्मिलित करने की आवश्यकता है।[1]

विभाजन में अंश प्राप्ति के हकदार व्यक्ति

हिंदू विधि में विभाजन की प्रमुख विशेषता यह है कि पक्षकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सदस्य भी हिस्सा पाने के हकदार हो जाते हैं जिन्हें विभाजन की मांग करने का अधिकार नहीं है। विभाजन के समय निम्नलिखित सदस्य अंश पाने के हकदार हैं —

(1) **प्रत्येक सहदायिक**—विभाजन के समय प्रत्येक सहदायिक कौटुंबिक संपत्ति में हिस्सा पाने का हकदार होता है।[2] पुत्र, **पौत्र** और **प्रपौत्र** अपने पिता, पितामह और प्रपितामह के विरुद्ध विभाजन वाद संस्थित करने के अधिकारी होने के कारण विभाग के समय यदि हिस्से की मांग करें तो हिस्सा प्राप्त करने के हकदार हैं अनेक शाखाओं से मिलकर बने संयुक्त हिंदू कुटुंब में शाखाओं में विभाजन होने पर उनके तीन पीढ़ी तक के पुरुष वंशज भी हिस्सेदार होते हैं। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि उनमें भी विभाजन हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि पिता पुत्र या पुत्रों में विभाजन होते समय पुत्रों के पुत्र भी विभक्त हो जायें और उन्हें भी हिस्सा बांटा जाए। यदि वंशज सहदायिकों में विभाजन होता है तो चौथी पीढ़ी का वंशज हिस्सा पाने का हकदार नहीं है। इसे नीचे की तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है —
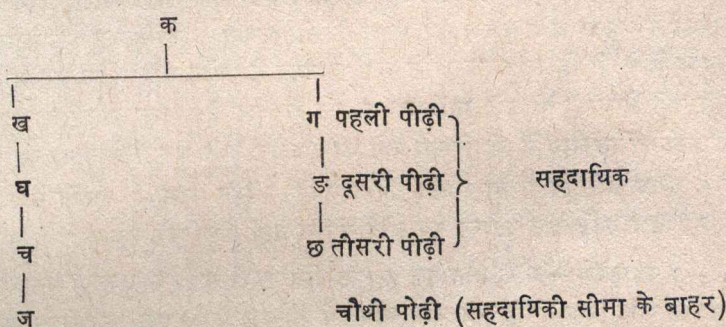
इस तालिका में दिखाये गये सभी सदस्य जीवित हैं। क के जीवन काल में यदि विभाजन हो और उसके पुत्र ख-ग के वंशज भी हिस्से का दावा करें, तो विभाजन पिता-पुत्रों के बीच ही न होकर सभी सहदायिकों में भी होगा। उस स्थिति में च-छ तक के वंशज हिस्सा पाने के हकदार हैं, क्योंकि उन तक के सहदायिकी संबंध हैं। ज चौथी पीढ़ी का वंशज होने से सहदायिकी सीमा के बाहर हो जाता है, अतः उसे हिस्सा तब तक नहीं

---

[1] **लक्ष्मण बनाम** मु० बायाबाई, ए० आई० आर० 1955 नागपुर 241.

[2] सिरताजकुंअरि, **बनाम** देवराजकुंअरि (1888) 15 आई० ए० 51.

मिलेगा जब तक क जीवित है। क की मृत्यु के उपरांत ही ज तीसरी पीढ़ी में आयेगा और विभाजन में हिस्सा पाने का हकदार होगा।

अवयस्क सहदायिक—यदि ऊपर की तालिका में छ अवयस्क हो तो भी उसे विभाजन में हिस्सा मिलेगा और उसके हितों की रक्षा का ध्यान न्यायालय को रखना होगा। और संरक्षक अथवा वाद मित्र के माध्यम से ही उसके अंश का परिनिश्चय और आबंटन होगा।[1]

विभाजन के समय गर्भस्थित पुत्र (सहदायिक)—विभाजन के समय गर्भ का लक्षण स्पष्ट होने पर एक पुत्र के अंश के बराबर भाग आरक्षित रखा जाना चाहिए और यदि पुत्र उत्पन्न हो तो वह अंश उसे मिल जाएगा। यदि उसके लिए कोई अंश आरक्षित नहीं रखा गया हो, तो उसे पुर्नविभाजन कराने का अधिकार है।[2]

उदाहरण—क और उसका पुत्र ख एक संयुक्त हिंदू कुटुंब के सदस्य हैं। पिता-पुत्र के बीच संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति का विभाजन होता है और दोनों आधा-आधा हिस्सा बाँट लेते हैं। चार मास पश्चात् क को दूसरा पुत्र ग उत्पन्न होता है। विभाजन के समय वह गर्भ में रहने के कारण उसके लिए एक अंश आरक्षित किया जाना चाहिए था किंतु ऐसा नहीं किया गया। अतएव ग को पुर्नविभाजन का हक है। पुर्नविभाजन में तीन बराबर हिस्से बनेंगे और एक-एक भाग तीनों को आबंटित किया जायेगा। यदि ग पुत्री है, तो वह पुर्नविभाजन नहीं करा सकती, किंतु पिता क की मृत्यु के पश्चात् उसकी संपत्ति में अंश पाने की हकदार है।

विभाजनोपरांत पुत्र का गर्भ में आना और जन्म लेना—विभाजनोपरांत पुत्र का गर्भ में आना और जन्म लेना दोनों ही तथ्य पश्चात्वर्ती होने के कारण उसके लिए अंश आरक्षित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हिंदू विभाजन की यह विधि सुस्थिर हो चुकी है कि यदि पिता ने अपना अंश पृथक् कर लिया है तो पश्चात् गर्भाहित होकर उत्पन्न पुत्र पिता के अंश में से ही हिस्सा प्राप्त करने का हकदार है और यदि विभाजन में पिता ने कोई हिस्सा नहीं लिया है तो उसे पुर्नविभाजन का ही हक है। वह संबंधित संपत्ति से विभाजनोपरांत अर्जित आय में भी हिस्सा पाने का हकदार उसी रूप में है मानो वह पूर्ववर्ती विभाजन के समय अस्तित्व में था। यदि पिता अपने जीवन काल में संपत्ति नष्ट करके मर जाए, तो विभाजनोपरांत उत्पन्न पुत्र कोई संपत्ति नहीं प्राप्त कर सकेगा।

उदाहरण—क के तीन पुत्र हैं। क तीनों पुत्रों से पृथक् हो जाता है और संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति को चार भागों में विभक्त करके एक-एक भाग तीनों पुत्रों को दे देता है तथा शेष चौथा भाग अपने लिए आरक्षित कर लेता है। विभाजन के दो वर्षोंपरांत क को चौथा पुत्र च उत्पन्न होता है। च के विषय में यह अनुमान संभव नहीं है कि वह विभाजन के समय गर्भ में रहा होगा। अतएव उसके

---

[1] हनुमंत बनाम भीमाचार्य, आई० एल० आर० (1888) 12 मुंबई 102.

[2] अथ भ्रातृणां दायविभागो याचानपत्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभात् इति। वाशिष्ठ याज्ञ० 2/122 पर मिता० टीका में उद्धृत.
दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्। याज्ञ० 2/122.

लिए संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में से एक अंश आरक्षित रखना संभव नहीं था। क की मृत्यु के पश्चात् च अपने पिता का वह अंश जो उसे विभाजन में आबंटित हुआ था (अर्थात् संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति का चौथा भाग), तथा पिता की संपूर्ण पृथक् संपत्ति विरासत में प्राप्त करेगा[1]। क के तीनों पृथक् हुए पुत्र उसकी मृत्यु के उपरांत कोई हिस्सा प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यदि क ने अपने जीवन काल में अपना अंश अन्तरित कर दिया हो और कोई संपत्ति नहीं छोड़ गया हो तो गर्भाहित होकर उत्पन्न पुत्र पिता से पृथक् हुए तीनों भाईयों से किसी अंश का दावा नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि क (पिता) और उसके पुत्र च के बीच सहदायिकी की रचना विभाजनोपरांत हुई है।

विभाजन में अंश प्राप्त करने का अवैध पुत्रों का दावा—प्राचीन हिंदू विधि में तीन द्विजातियों में अवैध पुत्रों का उत्तराकिधार में कोई हक नहीं होता। फलस्वरूप उन्हें विभाजन में भी अंश पाने का हक नहीं होता। द्विजातियों के अवैध पुत्रों को मात्र भरण-पोषण का हक प्राप्त है, जो उनके जनक (पिता) का व्यक्तिगत दायित्व है। द्विजों से भिन्न जातियों में यदि पिता सहदायिकों से पृथक् है तो अवैध पुत्र पिता की मृत्यु के पश्चात् वैध पुत्रों के विरुद्ध विभाजन की मांग कर सकते हैं किंतु पिता के जीवन काल में उसके विरुद्ध नहीं क्योंकि शूद्र वर्ण में जन्म से पैतृक संपत्ति में पुत्र कोई अधिकार प्राप्त नहीं करते।[2] यदि पिता मृत्यु के समय अपने बंधुओं के साथ संयुक्त था तो अवैध पुत्र विभाजन का दावा नहीं कर सकता किंतु विभाजन होने पर कुटुंब के सदस्य के रूप में भरण-पोषण का हकदार होगा। पृथक् कुटुंबी के रूप में पिता की मृत्यु होने पर अवैध पुत्र एक औरस पुत्र के अंश के आगे का हकदार है।[3]

दत्तक पुत्र का दावा—विभाजन के मामले में भी दत्तक पुत्र को सामान्यतः वही अधिकार प्राप्त हैं, जो औरस पुत्र के हैं। उसके अधिकार उस समय परिवर्तित हो जाते हैं, जब दत्तक-ग्रहण के उपरांत दत्तक पिता को औरस पुत्र उत्पन्न हो जाता है।[4] दत्तक पुत्र और पश्चात् उत्पन्न औरस पुत्र के बीच विभाजन होने पर वाराणसी शाखा के अधीन उसे औरस पुत्र के अंश का एक चौथाई भाग, बम्बई तथा मद्रास शाखा में पांचवां भाग और बंगाल शाखा में एक तिहाई भाग मिलेगा।[5]

---

[1] पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्यमर्जितम्।
विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः।। बृह.—याज्ञ 2/122 की मिता० टीका में उद्धृत।
विभागोत्तरकाल पित्रा यत्किंचिदर्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव—मिता० वही।
नवलसिंह **बनाम** भगवान, आई० एल० आर० (1883) 4 इलाहाबाद 427.

[2] गुरु नारायणदास **बनाम** गुरु टहलदाल, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 225.

[3] कमलाअम्माल **बनाम** विश्वनाथम्, ए० आई० आर० 1923 पी० सी० 8.

[4] नगानदास **बनाम** बच्चू हरकृष्णदास, (1916) 43 आई० ए० 56 (पी० सी०).

[5] गुरुम्मा **बनाम** मुल्लप्पा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 510.

शूद्र का दत्तक पुत्र पश्चात् उत्पन्न औरस पुत्र के अंश के बराबर भाग पाने का हकदार बंगाल[1] और मद्रास[2] शाखाओं में है किंतु बम्बई[3] और वाराणसी शाखाओं में उसे औरस पुत्र का केवल एक-चौथाई (1/4) भाग पाने का ही हक है, क्योंकि इन दोनों क्षेत्रों में दत्तकमीमांसा लागू है, जिसमें दत्तक पुत्र को औरस पुत्र का केवल एक-चौथाई भाग पाने का ही अधिकार उपबंधित है ।

(2) **क्रेता**—डिक्री के निष्पादन में यदि किसी सहदायिक के अविभक्त अंश का विक्रय हुआ हो तो उस अंश का क्रेता हिंदू विधि की प्रत्येक शाखा में विभाजन की मांग करने और क्रीत अंश प्राप्त करने का अधिकारी होगा ।[4] मद्रास और बम्बई में निजी रूप से संयुक्त हिंदू कुटुंब की संपत्ति में अपने अंश को बेचने वाले सहदायिक से क्रय करने वाले क्रेता को भी विभाजन की मांग करने का हक है । क्रेता का यह अधिकार इस सिद्धांत पर आधृत है कि किसी भी सहदायिक को संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में अपने अंश का मूल्य हेतु विक्रय, बंधक या अन्यसंक्रामण का अधिकार है । किंतु कोई अपरिचित अन्यसंक्रांती, यदि उसने कब्जा नहीं प्राप्त कर लिया हो, तो, शेष सहदायिकों के साथ कब्जा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है ।[5] उसे विभाजन कराने और अंश प्राप्त करने का ही अधिकार है । उसे सामान्य विभाजन वाद द्वारा अपने अंश की मांग करनी चाहिए ।[6] उत्तरप्रदेश और बंगाल में निजी संविदा द्वारा सहदायिक को अपना अंश विक्रय करने का अधिकार नहीं है । अतएव इन क्षेत्रों में निजी विक्रय के मामले में क्रेता को संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति का विभाजन कराने का हक नहीं है । किंतु यदि एक सहदायिक ने अपने अंश का अन्य सहदायिकों की सम्मति से विक्रय किया हो तो क्रेता को विभाजन की मांग करने का हक है ।

(3) **अनुपस्थित सहदायिक**—अनुपस्थित सहदायिक को अवयस्क सहदायिक की श्रेणी में माना जाता है । अतः विभाजन में उसके वंशज उसका अंश प्राप्त करने के हकदार हैं ।[7]

(4) **पत्नी**—पत्नी को अपने पति से विभाजन की मांग करने का अधिकार नहीं है ।[8] फिर भी यदि उसके पति और पुत्रों के बीच विभाजन हो, तो उसे भी एक पुत्र के बराबर हिस्सा पाने का हक है, जिसे वह पति और पुत्रों से पृथक् अपने कब्जे में रख सकती है ।[9] 'पत्नी' शब्द में पुत्रों की सौतेली मां समाविष्ट है ।[10] फलस्वरूप उसे एक सौतेले पुत्र के बराबर हिस्सा पाने का हक है । किंतु यदि उसे पति या श्वशुर से पत्नी या पुत्र-वधू

---

1 असितमोहन घोष **बनाम** नरवेदमोहन घोष, 20 सी० डब्ल्यू० एन० 90.

2 पराजु **बनाम** सुब्बारायडु, 48 आई० ए० 280 (पी० सी०).

3 ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 510.

4 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रतापनारायणसिंह, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487.

5 आत्माराम **बनाम** आनंदराव, ए० आई० आर० 1953 नागपुर 241.

6 तानी चेट्टियार **बनाम** दक्षिणमूर्ति मुदलियार, ए० आई० आर० 1955, मद्रास 288.

7 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 313, पृष्ठ 485.

8 पन्नाबीबी **बनाम** राधाकृष्ण, आई० एल० आर० (1904) 31 कलकत्ता 476.

9 दुलारकुंअरि **बनाम** द्वारिकानाथ, आई० एल० आर० (1905) 32 कलकत्ता 234.

10 जयराम **बनाम** नत्थू, आई० एल० आर० (1907) 31 मुम्बई 54.

के रूप में कोई स्त्रीधन मिला हो तो उसके हिस्से में से स्त्रीधन के बराबर मूल्य की संपत्ति घटा ली जाएगी।[1] पिता द्वारा स्वेच्छा से पुत्रों में पैतृक संपत्ति का विभाजन करते समय भी उक्त नियम लागू होता है। विभाजन में प्राप्त अंश पत्नी का स्त्रीधन नही होता।[2]

(5) **विधवाएं**—विधवा या विधवा माता हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 की अनुसूची 1 के अनुसार प्रथम श्रेणी की उत्तराधिकारिणी हो गई है। ये विधवाएं पुत्र या पौत्र के साथ ही पति या पुत्र की संपत्ति प्राप्त करती हैं, जिससे इन्हें भी विभाजन कराने का अधिकार संहिताकृत हिंदू विधि के अधीन प्राप्त हो गया है। संहिताकरण से पूर्व विधवा, विधवा माता या विधवा मातामही (पिता की माता) को विभाजन की मांग करने का अधिकार नहीं था। किंतु पिता-पुत्रों अथवा पुत्रों में विभाजन होने पर पिता की विधवा माता को भी एक पुत्र के बराबर हिस्सा पाने का हक था। इस हिस्से पर विधवा का अधिकार सीमित था और मात्र उसके जीवन काल तक चलता था। उसकी मृत्यु के उपरांत संपत्ति उसके उत्तरभोगियों को प्राप्त होती थी।

(6) **अविवाहित पुत्री**—पिता की मृत्यु के उपरांत पुत्रों में विभाजन होते समय मिताक्षरा ने अविवाहित पुत्री को एक पुत्र के अंश के एक चौथाई भाग के बराबर का हकदार माना है।[3] पिता की संपत्ति से उसके भरण-पोषण का संबंध होने के कारण वह अपना अंश पिता की मृत्यु के उपरांत पुत्रों के बीच विभाजन के समय प्राप्त करती है।[4] अविवाहिता पुत्री को यह अधिकार तभी तक प्राप्त है, जब-तक वह हिंदू बनी रहती है।[4]

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 के उपबंधों के अधीन विवाहिता और अविवाहिता पुत्री में कोई अंतर नहीं रह गया। पिता की मृत्यु के उपरांत पुत्रों में विभाजन होने पर पुत्री एक पुत्र के बराबर अंश प्राप्त करेगी। वह अपने भाइयों के विरुद्ध विभाजन की मांग करने की भी हकदार है।

निर्योग्य सदस्य

प्राचीन हिंदू विधि में विकलांग, उन्मत्त और नपुंसक को विरासत का अधिकार नहीं है।[5] मिताक्षरा विधि भी विकलांगों आदि को विरासत के योग्य नहीं मानती।[6] किंतु

1 जयराम **बनाम** नत्थू, आई० एल० आर० (1907) 31 मुम्बई 54.

2 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 315, उदाहरण 3, पृष्ठ 486.

3 किंतु यज्जातीया कन्या तज्जातीयपुत्रभागाचतुर्थांशभागिनी सा कर्तव्या। याज्ञ० 2/124 मिता० टीका.

4 सुन्दरम्बाल **बनाम** सुप्पया पिल्लै, ए० आई० आर० 1963 मद्रास 260.

5 अनंशो क्लीबपतितौ जात्यंधबधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिंद्रिया :।। मनु० 9/20.
क्लीबोऽथ पतितस्तज्ज: पङ्गुरुन्मत्तको जड:।
अन्धोऽचिकित्स्यरोगद्या भर्तव्या : स्युर्निरंशका:।।
—याज्ञ० 2/140.
रामसहाय **बनाम** लाला लालजी (1882) 8 कलकत्ता 149.

6 एते क्लीबादयोऽनंशा : रिक्थभाजो न भवन्ति।
—याज्ञ० 2/140 की मिता० टीका।

सहदायिकों के बीच विभाजन होने पर उन्मत्त सहदायिक अपने हिस्से का पृथक् स्वामी हो सकता है ।[1] हिंदू विरासत (निर्योग्यता निवारण) अधिनियम, 1928 के उपबंधों के अधीन जो व्यक्ति जन्म से उन्मत्त नहीं है, वह विभाजन में हिस्सा पाने का हकदार है ।

भारतीय फेडरल कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'यद्यपि उन्मत्त व्यक्ति अपने हिस्से की मांग विभाजन के माध्यम से करने में अक्षम है, तथापि इससे अन्य सहदायिकों के विभाजन संबंधी अधिकारों पर प्रभाव नहीं पड़ता' ।[1] यदि कोई सहदायिक विभाजन में निर्योग्यता के आधार पर हिस्सा पाने से वंचित रह जाता है, तो उसकी निर्योग्यता का निवारण हो जाने के बाद उसे वही अधिकार प्राप्त है, जो विभाजन के उपरांत उत्पन्न पुत्र को ।[2] निर्योग्य व्यक्ति का यदि विवाह हो जाए और उससे पुत्र उत्पन्न हो, तो उसके पुत्र को उसकी निर्योग्यता के आधार पर विभाजन में अंश पाने के निर्योग्य नहीं माना जा सकता ।[3]

विभाजन वाद के लंबित रहते जन्म और मृत्यु

विभाजन हेतु वाद की संस्थिति मात्र से कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति में पृथक्करण हो जाने के कारण वादी का अंश न तो किसी सहदायिक के जन्म से घटता है, न ही मृत्यु से बढ़ता है । किसी सहदायिक की मृत्यु हो जाने पर उसका उत्तराधिकारी वाद को अग्रसर रखने का अधिकारी है।

अवयस्क सहदायिक द्वारा वाद संस्थित करने पर स्थिति भिन्न होती है । जब उसके हित को दृष्टिगत रखते हुए विभाजन-वाद की डिक्री उसके पक्ष में जाती है, तब प्रास्थिति विच्छिन्न हो जाती है ।[4] तत्पश्चात् किसी सहदायिक के जन्म-मृत्यु का प्रभाव सहदायिकों के अंश पर नहीं पड़ता । किंतु जब विभाजन-वाद को अवयस्क के हित में खारिज कर दिया जाता है अथवा विभाजन को अपास्त कर दिया जाता है, तब प्रास्थिति अपरिवर्तित रहती है और अवयस्क के अंश पर किसी सहदायिक के जन्म या मृत्यु का प्रभाव पड़ता है ।

विभाजन के समय सहदायिक का कर्ता से लेखा मांगने का अधिकार

हिंदू विधि की मिताक्षरा शाखा के अधीन किसी सहदायिक को कर्ता से संयुक्त संपत्ति की आय का लेखा मांगने का अधिकार विभाजन की मांग का एक अनुषंग (इंसीडेंट)मात्र है। यदि विभाजन-वाद कर्ता के विरुद्ध कपटपूर्ण संपरिवर्तन और दुर्विनियोग के अभाव में संस्थित किया जाता है तो सहदायिक संयुक्त कुटुंब के साथ कर्ता के पिछले संव्यवहारों का लेखा मांगने का अधिकारी नहीं है । विभाजन की मांग और पृथक् कब्जे के बिना कर्ता के विरुद्ध लेखा देने मात्र का वाद चलाने योग्य नहीं होता ।[5] तात्पर्य

---

1 रत्नस्वामी बनाम भगवती, ए० आई० आर० 1950 एफ० सी० 142.

2 विभागोत्तरकालमप्यौषधादिना दोषनिर्हरणे भागप्राप्तिरस्त्येव । याज्ञ० 2/140 की मिता० टीका.

3 अमृताम्माल बनाम बल्लतीमायिल अम्माल, ए० आई० आर० 1942 मद्रास 613.

4 चिल्लंमी चेट्टि बनाम सुब्बन्न, (1917) 42 आई० सी० 860.

5 पि० पिराजु बनाम सुब्बारायडु, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 71.

यह है कि कर्ता के विरुद्ध लेखा-जोखा मात्र की मांग से संबंधित वाद संस्थित नही किया जा सकता ।

विभाजन की मांग करने वाले सदस्य यह मांग करने के अधिकारी हैं कि विभाजन के दिन कुटुंब की क्या-क्या संपत्ति थी । किंतु उन्हें कर्ता के विगत संव्यवहारों से संबंधित किसी असमान उपभोग के अनुतोष का दावा करने का अधिकार नहीं होता [1]।

विभाजन-वाद में कर्ता का लेखा देने का दायित्व

संयुक्त हिंदू कुटुंब का कर्ता कपट या अन्य अनुचित आचरण के अभाव में विभाज्य संपत्ति की वर्तमान स्थिति के विषय में ही लेखा देने का दायी है ।[2] इसका यह अर्थ नहीं है कि सहदायिक या पक्षकार संपत्ति-संबंधी कर्ता द्वारा प्रस्तुत विवरण को स्वीकार करने के लिए आबद्ध है । न्यायालय इस विषय में जांच करने का निदेश दे सकता है कि तथ्यतः विभाजन के दिन कुटुंब के पास कौन-कौन सी संपत्ति थी ।[3]

किसी सामान्य विभाजन-वाद में संयुक्त हिंदू कुटुंब के कर्ता का लेखा देने का दायित्व निम्नलिखित है [4]—

(1) दुर्विनियोग या कपटपूर्ण या अनुचित संपरिवर्तन के अभाव में कर्ता संयुक्त कुटुंब की संपदा के विषय में विभाजन के समय आस्तियों मात्र का लेखा देने का दायी है न कि इस बात का कि यदि कौटुंबिक संपत्ति या धन को लाभप्रद ढंग से संव्यवहृत करता तो वह कितना और प्राप्त करता ।

(2) विभाजन-वाद की संस्थिति के दिन और उसके पश्चात् के सभी आय और व्यय का लेखा रखने के लिए कर्ता आबद्ध है । वह ऋण केवल उन्हीं खर्चों के लिए ले सकता है, जो संयुक्त संपदा के हित में आवश्यक हों ।

(3) इन विषयों के प्रबंध काल में वयस्क और अवयस्क सहदायिक में कोई अंतर नहीं स्थापित किया जा सकता क्योंकि कर्ता का दायित्व मात्र कुटुंब की प्रास्थिति के पृथक्करण के पश्चात् ही उत्पन्न होता है ।

(4) कर्ता मितव्यय और बचत करने के लिए आबद्ध नहीं है । वह जब तक राशि का प्रयोग कौटुंबिक उपयोग में करता है, तब तक उससे विगत संव्यवहारों को सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती ।

---

1 निवारण **बनाम** निरुपमा, 69 आई० सी० 476.

2 रामनाथ **बनाम** गोटूराम, 54 आई० सी० 115.

3 नारायणस्वामी अय्यर **बनाम** रामकृष्ण अय्यर ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 289, टाडाबल्लीटम्मी रेड्डि **बनाम** टाडाबल्लीगंगी रेड्डि, आई० एल० आर० (1922) मद्रास 236.

4 मानिकराव जैरामजी **बनाम** देवराव बालीराम, ए० आई० आर० 1955 नागपुर 290.

विभाजन के भेद

हिंदू विधि के अनुसार विभाजन दो प्रकार का होता है—संपूर्ण और आंशिक[1]।

संपूर्ण विभाजन—संपूर्ण विभाजन में कुटुंब सभी कौटुंबिक संपत्तियों और सभी पक्षकारों की बाबत विभक्त हो जाता है। सभी पक्ष कार अपने हिस्से की आस्तियों पर कब्जा प्राप्त कर लेते हैं, किंतु यदि कौटुंबिक संपत्तियों का माप और सीमांकन द्वारा विभाजन नहीं हुआ हो तो उनसे होने वाली आय अविभक्त संपत्ति की आय के रूप में सामान्य पेटी में नहीं आती बल्कि आगमों का उपभोग कुटुंब के उन सदस्यों द्वारा अपने हिस्से के अनुरूप किया जाता है, जो विभाजन के दिन के निश्चित हिस्सों के लिए हकदार हो जाते हैं।[2] जहां विभाजन हुआ है, वहां यह माना जाता है कि वह पक्षकारों और संपत्ति दोनों की बाबत संपूर्ण है।[3]

आंशिक विभाजन—आंशिक विभाजन का अर्थ है कौटुंबिक संपत्ति के एक या कुछ अंशों का विभाजन। संपूर्ण विभाजन सामान्य विधि है, जब कि आंशिक विभाजन एक अपवाद है। जब हिंदू कुटुंब में विभाजन कुटुंब के एक अंश का या संपत्ति के एक अंश का होता है, तब उसे आंशिक विभाजन कहते हैं। आंशिक विभाजन उन्हीं व्यक्तियों की बाबत हो सकता है, जो कुटुंब के हों।[3]

कोई हिंदू कुटुंब कुछ संपत्तियों के बारे में अथवा कुटुंब के कुछ सदस्यों के बारे में आंशिक विभाजन करा सकता है और शेष संपत्तियों या सदस्यों के बारे में संयुक्त बना रह सकता है। किसी अविभक्त हिंदू कुटुंब का इस प्रकार का आंशिक विभाजन अनुज्ञेय है और विधि की दृष्टि में मान्य है।[4]

हेनरी मेन के अनुसार 'विभाजन विधि की दृष्टि से या विभाजित संपत्ति की दृष्टि से आंशिक हो सकता है। संयुक्त कुटुंब के सदस्य संयुक्त संपदा के एक भाग की बाबत हित में पृथक् हो सकते हैं जब कि संयुक्त कुटुंब में अपनी प्रास्थिति बनाये रख सकते हैं और शेष को अविभक्त कुटुंब की संपत्ति के रूप में धारण कर सकते हैं।[5]

(1) **संपत्ति की बाबत आंशिक विभाजन**—संपत्ति की बाबत आंशिक विभाजन होने पर विभाजन वाली संपत्तियों की बाबत तो कुटुंब अविभक्त नहीं रहता, किंतु शेष

---

1 रामलिंग अन्नावी बनाम नारायण अन्नावी, आई० एल० आर० 1922 पी० सी० 201, कल्लूमल तपेश्वरीप्रसाद बनाम आयकर आयुक्त, कानपुर, (1982) 33 आई० टी० आर० 690.

मेन, हिंदू लॉ एंड यूसेज (ग्यारहवां संस्कण) पृ० 559.

2 अप्पुवीयर बनाम रामा सुब्बन् अय्यर, (1866) ।। एम० आई० ए० 75 (पी० सी०)

3 (1982) 33 आई० टी० आर० 690.

4 अपूर्व शांतिलाल शाह बनाम आयकर आयुक्त अहमदाबाद, (1983) 3 उम० नि० प० 108.

5 मेन, हिंदू लॉ एंड यूसेज, ग्यारहवां संस्करण, पृष्ठ 559.

संपत्तियों की बाबत अविभक्त बना रहता है। ऐसे आंशिक विभाजन के बाद विरासत और अन्य संक्रामण का अधिकार तदनुसार भिन्न-भिन्न हो जाता है क्योंकि प्रश्नगत संपत्ति उनकी विभक्त या अविभक्त हैसियत में सदस्यों की होती है।[1]

सामान्यतया आंशिक विभाजन का वाद चलाने योग्य नहीं होता। यदि इस प्रकार की आपत्ति विरोधी पक्ष द्वारा उठायी जाती है तो वह वैध है।[2] किंतु एक सहदायिक के अन्यसंक्रांती के विरुद्ध अन्य सहदायिकों द्वारा आंशिक विभाजन का वाद चलाने योग्य है।[3] किसी सहदायिक के क्रेता को आंशिक विभाजन द्वारा अपना अंश पृथक् कराने का अधिकार नहीं है।[4]

(2) **व्यक्ति की बाबत आंशिक विभाजन**—जब एक सहदायिक अन्य सहदायिकों से पृथक् होता है, और शेष सहदायिक परस्पर संयुक्त बने रहते हैं तब इसे व्यक्ति की बाबत आंशिक विभाजन कहते हैं। इससे उसी व्यक्ति की बाबत आंशिक विभाजन होता है, जो अपने को संयुक्त कुटुंब से पृथक् करता है।[5] जब एक ही सदस्य पृथक् होता है, तब यह तथ्य का प्रश्न हो जाता है, जो प्रत्येक मामले में पक्षकारों के आशय से संबंधित साक्ष्य से निर्धारित होता है। यह तथ्यों से ही पता चलता है कि अन्य सदस्यों का भी पारस्परिक पृथक्करण हुआ अथवा वे संयुक्त ही बने रहे। इसको सिद्ध करने का भार उस पक्ष पर होता है जो किसी स्थिति विशेष के अस्तित्व का दावा करता है।[6]

आंशिक विभाजन का कुटुम्ब की प्रास्थिति पर प्रभाव

आंशिक विभाजन के फलस्वरूप कुटुंब की प्रास्थिति तथ्यों के उन साक्ष्यों पर पूर्णतया आधृत है, जिन पर न्यायालय में विचार किया जाता है। इसकी विवेचना नीचे की जा रही है—

(1) यह उपधारणा नहीं हो सकती कि जब कुटुंब का एक सदस्य पृथक् हुआ है, तब अन्य सहदायिक संयुक्त बने रहें किंतु दूसरी ओर यह भी उपधारणा नहीं हो सकती कि एक सदस्य के पृथक् होने से सभी सदस्य पृथक् या विभक्त हो गये। इन दोनों में से किसी भी उपधारणा हेतु तथ्य संबंधी साक्ष्य की नितांत आवश्यकता होगी।[7]

(2) यदि कुछ संपत्तियों की बाबत आंशिक विभाजन हो जाए, तो यह उपधारणा होती है कि विभाजन संपूर्ण है कि और यह पक्षकारों का दायित्व होगा कि वे यह सिद्ध

---

1 (1982) 133 आई० टी० आर० 690.

2 रंकू **बनाम** श्रीमती हुकमी, 33 आई० सी० 545.

3 हनुमानदास रामदयाल **बनाम** बल्लभदास शंकरदास, 46 आई० सी० 133.

4 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रतापनारायणसिंह, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487; ईश्वरप्पा **बनाम** कृष्ण, आई० एल० आर० (1922) मुम्बई 413.

5 पल्लूनिअम्माल **बनाम** मुत्तुवेंकटाचल, ए० आई० आर० 1925 पी० सी० 49.

6 भगवतीप्रसाद **बनाम** रामेश्वरीकुंअरि, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 72; ए० राघवम्मा **बनाम** ए० चिन्नचम्मा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 136.

7 ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 72.

करें कि विभाजन संपूर्ण न होकर कुछ संपत्तियों की ही बाबत हुआ था और अन्य संपत्तियां संयुक्त बनी हुई हैं ।[1]

(3) यदि भाइयों या सहदायिकों की विभिन्न शाखाओं के बीच विभाजन हो तो यह उपधारणा नहीं होती कि सहदायिकों के वंशजों में भी विभाजन हो गया ।[2]

(4) आंशिक विभाजन करार द्वारा भी हो सकता है और इसके लिए विभाजन वाद संस्थित करना आवश्यक नहीं है ।[3] जिस संपत्ति का विभाजन करार द्वारा हुआ मात्र उसी को विभक्त माना जाता है । शेष संपत्तियां और कुटुंब अविभक्त बने रहते हैं ।

(5) यदि पिता अपनी पितृशक्ति के प्रयोग से अपने पुत्रों को पृथक् कर दे, तो यह तथ्य कि पुत्रगण पिता द्वारा पृथक् कर दिये जाने के पश्चात् संयुक्त बने रहें तथ्यों के साक्ष्य का विषय होगा ।[4] यदि यह सिद्ध हो जाए कि पुत्रगण संयुक्त बने रहे तो इससे कुटुंब का आंशिक विभाजन मानना होगा और पिता का ही पृथक् होना माना जाएगा ।

साम्पत्तिक हितों का कुटुंब के पक्ष में त्यजन

यदि कोई सदस्य कौटुंबिक संपत्ति में अपने हितों का त्याग कर दे तो इससे कौटुंबिक प्रास्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और सहदायिक पूर्ववत् संयुक्त बने रहते हैं । असंदिग्ध घोषणा द्वारा अपने साम्पत्तिक हितों का त्याग करने से स्थिति स्पष्ट रहती है किंतु उस समय स्थिति भिन्न हो जाती है जब कोई सहदायिक या सदस्य गृहस्थ जीवन का त्याग करके सन्यास ग्रहण कर लेता है । हिंदू विधि का यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि ग्रहस्थ जीवन का त्याग कर देने से कौटुंबिक संपत्ति में उसके हितों का भी स्वतः त्याग हो जाता है अथवा उसमें संन्यास ग्रहण करने वाले सदस्य का साम्पत्तिक स्वत्व बना रहता है । इस विषय पर उच्चतम न्यायालय और प्रिवी कौंसिल ने विस्तारपूर्वक विचार करके इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है—

"हिंदू विधि में संन्यास ग्रहण दूसरा जन्म माना जाता है जिसे गृहस्थ-जीवन की मृत्यु कहते हैं । जो व्यक्ति संन्यास ग्रहण करता है उसका जन्म के कुटुंब से संबंध-विच्छेद हो जाता है । वह अपने पिता का पुत्र भी नहीं रह जाता । उसका गुरू उसे आध्यात्मिक पुत्र के रूप में ग्रहण करता है । गुरु के अन्य शिष्य उसके गुरू भाई होते हैं, जब कि गुरू के गुरू भाई उसके चाचा के रूप में माने जाते हैं और इस प्रकार से जन्म के कुटुंब के स्थान पर एक आध्यात्मिक कुटुंब की स्थापना होती है ।"[5]

---

[1] काशीनाथसा यामसा कबाड़ी बनाम नरसिंह भास्कर कबाडी, ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 1077.

[2] हरिवंश बनाम बाबूलाल, ए० आई० आर० 1924 पी० सी० 126.

[3] कालूराम तपेश्वरीप्रसाद बनाम आयकर आयुक्त, कानपुर, (1982) 133 आई० टी० आर० 690.

[4] महाबीरसिंह बनाम संतबक्श : 55 आई० सी० 495.

[5] महंत शीतलदास बनाम संतराम, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 606.

अत. जिस प्रकार किसी सहदायिकी की मृत्यु होने या दत्तक-ग्रहण में किसी पुत्र का दान दे दिये जाने पर कुटुंब की प्रास्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार किसी सहदायिक द्वारा संन्यास ग्रहण कर लेने पर भी कौटुंबिक संपत्ति यथावत् बनी रहती[1] है।

विभाजन पर प्रभाव डालने वाले तत्व

निम्नलिखित परिस्थितियों में संयुक्त कुटुंब के विभाजन का निश्चय नहीं किया जा सकता —

(1) यदि कुटुंब द्वारा विभाजन के समय देय ऋण के भुगतान की व्यवस्था नहीं की गयी हो। ऐसे मामले में संपत्ति की आबद्धता ऋण के भुगतान के लिए बनी रहती है चाहे उसका खंडश विभाग ही क्यों न हो चुका हो। ऋणदाता के लिए संपत्ति अविभक्त बनी रहती है।

(2) यदि विभाजन-आलेख में सारी संपत्ति सम्मिलित नहीं हो। क्योंकि जो संपत्ति विभाजन-आलेख में सम्मिलित नहीं है, उसके विषय में विभाजन की आवश्यकता बनी रहने से विभाजन संपूर्ण नहीं होता।

(3) यदि विभाजन में पिता या कोई सहदायिक या हकदार सदस्य हिस्सा न पाए। विभाजन का यह मूल सिद्धांत है कि सभी हकदारों को हिस्सा मिलना चाहिए। यदि कोई सहदायिक हिस्सा प्राप्त करने से वंचित रह जाए तो वह विभाजन को चुनौती देने का अधिकारी है और उसके लिए कौटुंबिक संपत्ति अविभक्त बनी रहती है।

(4) यदि विभाजन क्रियान्वित नहीं किया गया हो और सदस्य पूर्ववत् संयुक्त बने हुए हों।

विभाजन में हिस्से का आबंटन

विभाजन में संयुक्त कुटुंब के सदस्यों के हिस्सों का आबंटन निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है :—

(1) पिता-पुत्रों के बीच विभाजन होने पर प्रत्येक पुत्र और पिता बराबर हिस्सा प्राप्त करते हैं। यदि कोई स्त्री सदस्य हकदार है तो उसे भी एक पुत्र के बराबर हिस्सा मिलेगा।

किंतु यदि पिता 'पतृशक्ति के जो उसे एक 'विशिष्ट शक्ति' के रूप में हिंदू विधि के अधीन प्राप्त है, प्रयोग से अपने जीवन काल में अपने और अपने पुत्रों को बराबर-बराबर हिस्सा देकर विभाजन करे तो वह ऐसा कर सकता है। उसे पुत्रों की सम्मति लेना आवश्यक नहीं है, भले ही उनमें कोई पुत्र अवयस्यक ही क्यों न हो।[2]

---

[1] अल्लुरि वेंकटपट्टी **बनाम** वेंकटनरसिंह राजु, ए० आई० आर० 1936 पी० सी० 264.

[2] डी० एफ० मुल्ला०, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ : उपबंध, 323, पृष्ठ 443-44.

अपूर्व शांतिलालशाह **बनाम** आयकर आयुक्त, (1983) 3 उम० नि० प० 108.

(2) अविभक्त कुटुंब में यदि सभी-भाई हों, तो उन्हें बराबर-बराबर हिस्सा मिलेगा। हां, प्राचीन हिंदू विधि के अधीन बड़े भाई को ज्येष्ठांश देने की विधि थी जो व्यवहार में बहुत पहले ही समाप्त हो गई।[1] वस्तुतः यह विधि कुलाचार की अंग थी जो व्यवहृत न होने से समाप्त हो गई। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 के उपबंधों के अनुसार ज्येष्ठांश देने की विधि का अन्त हो गया।

(3) यदि अविभक्त कुटुंब में भाइयों के साथ विधवा माता और पुत्रियों आदि स्त्री उत्तराधिकारी हों तो वे भी उन्हीं के साथ, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 3 की अनुसूची 1 के अनुसार प्रथम श्रेणी की उत्तराधिकारिणी हो जाने से, बराबर-बराबर हिस्सा प्राप्त करेंगी।

(4) यदि किसी हिंदू अविभक्त कुटुंब में अनेक शाखाएं हों तो विभाग शाखाओं के अनुसार होता है। यदि मूल पूर्वज के अनेक पुत्र रहे हों और उनके पुत्र और पौत्र हो गये हों तो सर्वप्रथम कौटुंबिक संपत्ति को मूल पूर्वज के पुत्रों की संख्या के अनुसार विभाजित किया जाएगा; तत्पश्चात् प्रत्येक पुत्र के हिस्से को उनके पुत्रों की संख्या के अनुसार। इस प्रकार विभाजन के समय विद्यमान सहदायिकों का अंश विनिश्चित होगा। इसे नीचे एक कल्पित वंशावली द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है:—
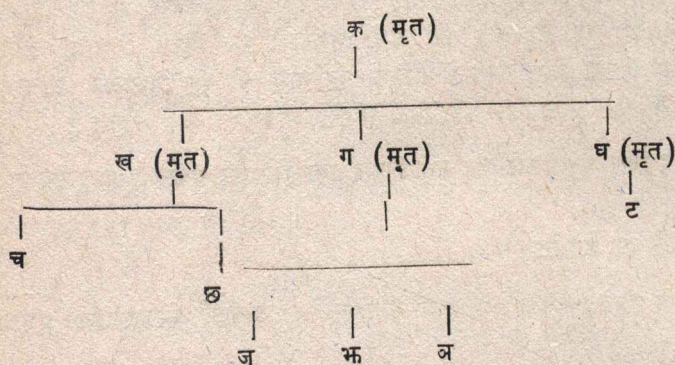
ऊपर के वंशवृक्ष में क के तीन पुत्र ख, ग, घ थे। क और उसके तीनों पुत्र ख, ग, घ की मृत्यु हो गई है। वर्तमान अविभक्त कुटुंब के सदस्य च, छ, ज, झ, ञ, और ट हैं, जिनका पारस्परिक संबंध भाइयों का है। किंतु इनमें से च तथा छ ख के पुत्र हैं, ज, झ और ञ ग के पुत्र हैं और ट घ का पुत्र है। इस कुटुंब के विभाजन में कौटुंबिक संपत्ति को सर्वप्रथम तीन भागों में विभक्त किया जाएगा, तत्पश्चात् उसके एक भाग को दो भागों में विभक्त किया जाएगा जिसका एक-एक भाग च और छ को, दूसरा भाग तीन बराबर भागों में विभक्त होगा और उनमें से एक-एक भाग ज, झ और ञ को, और तीसरा भाग अविभक्त छोड़ दिया जाएगा जिसे ट को दिया जाएगा। किंतु यदि तीनों शाखाओं में से किसी शाखा या प्रत्येक शाखा के साथ स्त्री उत्तराधिकारी हों तो वे भी अपनी शाखा के सहदायिकों के साथ बराबर हिस्सा पायेंगी।

---

[1] वेंकट रेड्डि बनाम कुप्प रेड्डि, 47 आई० सी० 716.

(5) किसी सहदायिक की मृत्यु हो जाने पर यदि वह अपने पीछे मात्र पुत्री ही छोड़ जाए तो हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा ४ के उपबंधों के अनुसार वही उसका प्रतिनिधित्व करेगी और विभाजन के समय उसका अंश उसकी पुत्री को न्यागमित होने से उसे ही मिलेगा ।

(6) यदि विभाजन पिता, पुत्र और पौत्र में हो, और सभी जीवित हों, तो विभाजन में हिस्सा निम्नलिखित चित्र के अनुसार आबंटित होगा —
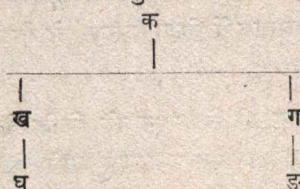
ऊपर के वंशवृक्ष में क के ख और ग दो पुत्र हैं । ख का एक पुत्र घ है और ग का एक पुत्र ङ है । कौटुंबिक संपत्ति को सर्वप्रथम तीन भागों में विभाजित किया जाएगा तत्पश्चात् उनमें से दो भागों को फिर दो-दो भागों में बांटा जायगा । तीसरा भाग अविभक्त रहेगा जिसे क के पक्ष में आबंटित किया जाएगा । जिन दो भागों को फिर दो-दो भागों में विभक्त किया गया है, उनमें से एक-एक हिस्सा ख, तथा घ को और ग तथा ङ को आबंटित किया जाएगा । इस प्रकार पिता क को अपने पुत्रों ख तथा ग के बराबर भाग मिला । किंतु ख और ग के हिस्सों का विभाजन उनके पुत्रों क्रमशः घ तथा ङ में होने से ख एवं ग के अंश पिता के अंश के आधे हो गये अर्थात् कम हो गये ।

विभाजन के साक्ष्य और प्रमाण का भार

संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति के विभाजन को निम्नलिखित साक्ष्य द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है :—

(1) विभाजन का सबसे ठोस प्रमाण यह है कि पक्षकारों ने कौटुंबिक संपत्ति को माप और सीमांकन द्वारा विभक्त कर लिया हो और सभी पक्षकार अपने अपने हिस्से की संपत्ति पर कब्जा प्राप्त कर चुके हों ।[1]

(2) विभाजन का यदि कोई लिखित करार हो तो वह एक प्रमाण है । सहदायिकों ने यदि पारस्परिक सहमति से लिखित करार द्वारा कौटुंबिक संपत्ति में अपने-अपने हिस्से की परिनिश्चित कर लिया हो किंतु संपत्ति का भौतिक विभाजन नहीं किया गया हो तो इससे विभाजन प्रमाणित होता है । लिखित करार के दिन से ही कुटुंब विभक्त माना जाता है ।[2]

(3) सहदायिकों का आचरण भी विभाजन का एक प्रमाण है । बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि जहां लेखपत्र या साक्षी न हो वहां विभाजन का विनिश्चय अनुमान द्वारा किया

1 दुर्गा प्रसाद बनाम कुंदन : 1 आई० ए० 55 (पी० सी०)

2 अप्पुवीयर बनाम रामा सुब्बन् अय्यर, (1866) ।। एम० आई० ए० 75.

जाना चाहिए ।[1] इस विषय पर प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया है कि संयुक्त संपत्ति का सहदायिकों द्वारा स्वामी के रूप में पृथक्-पृथक् उपभोग किया जाना विभाजन को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है ।[2] यह भी अभिनिर्धारित हुआ है कि एक कुटुंब के सदस्य कौटुंबिक मर्यादा को बनाये रखते हुए किस प्रकार के व्यवहार द्वारा अपने को पृथक् कर लेंगे, इसे विधि से निर्धारित नहीं किया जा सकता है ।[3]

(4) यदि किसी करार की भाषा से सदस्यों के पृथक् होने के आशय का पता नहीं लग पाता हो तो उनके पश्चात्वर्ती क्रिया-कलापों से विभाजन का निष्कर्ष निकाला जा सकता है ।[4]

(5) कौटुंबिक व्यवस्था भी विभाजन की सिद्धि के लिए पर्याप्त है । कुटुंब में शांति बनाये रखने के लिए और मेल-मिलाप कायम रखने के लिए अविभक्त कुटुंब के सदस्य ऐसी कौटुंबिक व्यवस्था कर सकते हैं ।[5] सभी सहदायिक मिल-जुल कर कौटुंबिक व्यवस्था द्वारा कुटुंब की संपत्ति का विभाजन कर सकते हैं ।[6]

विभाजन का कौटुंबिक प्रास्थिति पर प्रभाव

विभाजन से कौटुंबिक एकता विच्छिन्न हो जाती है और सहदायिकी समाप्त हो जाती है । सभी विभक्त सदस्य अपने-अपने हिस्से को पृथक् संपत्ति के रूप में धारण करते हैं । विभक्त सदस्यों के बीच संपत्ति के न्यागमन हेतु उत्तरजीविता का अधिकार भी समाप्त हो जाता है और प्रत्येक सदस्य के हिस्से की संपत्ति उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों को न्यागमित होती है । विभाजन से विभक्त सदस्यों के पारस्परिक अधिकार समाप्त हो जाते हैं ।

किंतु उपर्युक्त सामान्य नियमों के कुछ अपवाद भी हैं, जो निम्नलिखित हैं :---

(1) प्रत्येक विभक्त सदस्य अपने पुत्र-पौत्र के साथ संयुक्त बने रहने पर उनमें सहदायिकी संबंध यथावत् बना रहता है और उनके बीच उत्तरजीविता का सिद्धांत भी लागू रहता है ।

(2) विभाजन से उत्तराधिकार के अधिकार समाप्त नहीं होते ।[7] मृत्यु के उपरांत उत्पन्न होने वाले अधिकारों को विभाजन उसी सीमा तक प्रभावित करता है, जो पृथक्

---

1 साहसं स्थावरं न्यास प्राग्विभागश्च रिक्थिनाम् ।
अनुमानेन विज्ञेयं न स्वाती यत्र साक्षिणौ ॥ बृह०, वी मि व्यं० अ० पृ० 717 में उद्धृत
ज्ञातिभिर्भागलेख्येन पृथक्कार्यप्रर्वतनात् । । नारद, याज्ञ० 2/149 की मिता० टीका में उद्धृत ।

2 दुर्गा प्रसाद **बनाम** कुंदन : 1 आई० ए० 55 (पी० सी०).

3 **गणेशदत्त बनाम** जीवक, 30 आई० ए० 10 (पी० सी०).

4 1 आई० ए० 55 (पी० सी०) 324.

5 एस० **षण्मुखम्** पिल्लै **बनाम** के० षण्मुखम् पिल्लै, [1972] 3 उम० नि० प० 553.

6 यीचुरी राममूर्ति **बनाम** यीचुरी शम्माम, 33 आई० ए० 961.

7 एकराजेश्वरसिंह **बनाम** जनेश्वरी बहुआसिन, 41 आई० ए० 275(पी० सी०).

और अविभक्त प्रास्थिति से संबंधित होते हैं। विभक्त हो जाने से कुछ अधिकार निलंबित हो जाते हैं : जो विशिष्ट परिस्थितियों में पुनरुत्पन्न होते हैं। यथा : पिता के साथ कोई अविभक्त पुत्र न रहने की दशा में पुत्रों का उसकी संपत्ति का मृत्युपरांत उत्तराधिकारी होना। विभक्त पुत्रों का यह अधिकार पिता की मृत्यु के उपरांत उत्पन्न होता है।

(3) पिता-पुत्रों के बीच विभाजन हो जाने के उपरांत जो पुत्र उत्पन्न होता है उसके साथ पिता का सहदायिकी संबंध स्थापित होता है, जिससे एक नई सहदायिकी की रचना होती है। इस सहदायिकी पर पिता-पुत्रों के बीच हुए पूर्व विभाजन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(4) विभाजन से रक्त-संबंध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विभक्त पुत्रों या सहदायिकों के सपिंड और प्रवर संबंध पूर्ववत् बने रहते हैं।

(5) हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंध विभक्त और अविभक्त दोनों ही प्रकार के कुटुंबों पर समान रूप से लागू होते हैं।

6. पिता-पुत्रों में विभाजन के उपरांत जो पुत्र पिता के साथ संयुक्त बना रहता है, वही पिता की मृत्यु होने पर उसकी पृथक् और स्वार्जित संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है, विभक्त पुत्र नहीं।

पुर्नविभाजन

विभाजन का यह सामान्य सिद्धांत है कि संपत्ति का विभाजन एक ही बार होता है। उसका पुर्नविभाजन नहीं होता। मनु का यह स्पष्ट मत है कि विभाजन एक ही बार होता है।[1] न्याय-जगत में मनु द्वारा प्रतिपादित विभाजन के सिद्धांत को मूलत: स्वीकार किया गया है। यदि एक बार हुए विभाजन को अंतिम न माना जाए तो उसे कोई संबंधित व्यक्ति किसी भी समय चुनौती दे सकता है और पुर्नविभाजन की मांग कर सकता है और इस प्रक्रिया का कभी अन्त हो ही नहीं सकता। फिर भी विभाजन की इस सामान्य विधि के कुछ अपवाद भी हैं। न्यायालय द्वारा निम्नलिखित मामलों में पुर्नविभाजन की अनुमति दी जाती है :—

(1) वसिष्ट के अनुसार यदि गर्भ के लक्षण स्पष्ट हों तो विभाजन प्रसव तक स्थगित किया जाना चाहिए। इसे मिताक्षरा ने स्वीकार किया है[2] यदि किन्हीं कारणों से विभाजन को स्थगित करना संभव नहीं हो, तो गर्भस्थित शिशु के लिए एक अंश आरक्षित कर दिया जाना चाहिए।[3] विभाजन के जिन मामलों में गर्भस्थित शिशु के लिए कोई अंश

---

[1] सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्।। मनु० 9/47.

[2] स्पष्टव्यगर्भायां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्तव्यः। यथाह वसिष्ठ :— 'अथ भ्रातृणां दायविभागो याश्चानपन्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभात्।।
याज्ञ० 2/122 मिता० में उद्धृत।

[3] कालिदास बनाम कृष्ण (1869) 2 बंगाल लॉ रिपोर्ट (पूर्ण पीठ).

आरक्षित नहीं है, उन मामलों में उसके जीवित जन्म लेने और पुत्र होने पर उसे पुन-विभाजन कराने का हक है।[1]

(2) विभाजन के पश्चात् गर्भ में आने और उत्पन्न होने वाले पुत्र को भी पुन-विभाजन की मांग करने का अधिकार है, यदि पिता ने अपने लिए कोई अंश आबंटित नहीं किया हो।[2] किंतु विभाजनोपरांत गर्भ में आने और उत्पन्न होने वाले पुत्र को यह अधिकार तभी प्राप्त होता है जब कि विभाजन पिता-पुत्र के बीच होता है। यह सामान्य विधि उस मामले में लागू नहीं होती जिसमें कि सामान्य विभाजन कुटुंब की शाखाओं में होता है अथवा पिता, पुत्र और पितामह में होता है।[3]

(3) किसी सहदायिक की विधवा ने यदि किसी पुत्र का दत्तक-ग्रहण किया हो और उसका दत्तक-ग्रहण वैध हो तो उस दत्तक पुत्र के द्वारा भी पुनर्विभाजन कराया जा सकता है क्योंकि यदि मृत सहदायिक जीवित रहता तो वह विभाजन के समय हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी होता। दत्तक पुत्र पिता का प्रतिनिधि होने के कारण उसके सभी अधिकारों को प्राप्त करता है जिनमें पैतृक संपत्ति में अंश प्राप्त करने का अधिकार भी समाहित है।[4]

(4) यदि विभाजन में किसी सहदायिक को किसी प्रकार की हानि हुई हो अथवा विभाजन कपटपूर्ण होने से उसे कम अंश मिला हो तो वह पुनर्विभाजन कराने का अधिकारी होता है।[5] पुनर्विभाजन की मांग उस दशा में भी हो सकती है, जब किसी सहदायिक को भूलवश कुछ हानि हुई हो।[6]

(5) यदि विभाजन के समय कोई सहदायिक अवयस्क रहा हो और विभाजन से उसका किसी प्रकार का अहित हुआ हो, तो वयस्क होने पर वह विभाजन को चुनौती दे सकता है तथा उचित समनुतोष की मांग कर सकता है।[7]

(6) यदि किसी शारीरिक अथवा अन्य निर्योग्यता के कारण कोई सहदायिक विभाजन में अंश प्राप्त करने से वंचित रह गया हो तो निर्योग्यता के निवारण के पश्चात् पुनर्विभाजन का वाद संस्थित करके अपना हिस्सा प्राप्त कर सकता है।[8]

---

1 वही। विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां भार्यायामुत्पन्नो विभागभाक्।
याज्ञ० 2/122 की मिता० टीका।

2 चिंगम्मा बनाम मणिस्वामी, आई० एल० आर० 2 मद्रास 75.

3 मेन, हिंदू लॉ एंड यूसेज, ग्यारहवां संस्करण, पृष्ठ 522.
कट्टरगड्डुचिन्न आजनेयुलु बनाम कट्टरगड्डुचिन्नसामय्या, ए० आई० आर० 1965, आंध्र प्रदेश 177.

4 शंकरलिंगम् पिल्लै बनाम वेलुचमी पिल्लै, ए० आई० आर० 1943 मद्रास 43.

5 मोरो विश्वनाथ बनाम गणेश, (1873) 10 बोम्बे हाई कोर्ट 444.

6 मारुति बनाम राम, आई० एल० आर० 21 मुम्बई 333; गणेशलाल बनाम बाबूलाल, आई० एल० आर० 40 इलाहाबाद 374.

7 अपूर्वशांतिलाल शाह बनाम आयकर आयुक्त, [1983] 3 उम० नि० प० 108.

8 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ उपबंध 108, पृष्ठ 182.

पुनरेकीकरण

पुनरेकीकरण का अर्थ है, कुटुंब के पृथक् हुए सदस्यों का संपत्ति और हितों में पुनः संयुक्त होना। यों पुनः संयुक्त हुई संपत्ति संसृष्ट कहलाती है और वे सदस्य संसृष्टी।[1]

जब पृथक् हुए सदस्य या पक्षकार पारस्परिक सहमति द्वारा इस आशय से संयुक्त हो जाएँ कि वे संपत्ति और हितों में विभाजन-पूर्व कौटुंबिक प्रास्थिति में आ जाएंगे तो उसे पुनरेकीकरण संसृष्टि कहते हैं।[2]

पुनरेकीकरण के आवश्यक तत्व

पुनरेकीकरण के आवश्यक तत्व हैं—संयुक्त हिंदू कुटुंब, सदस्यों में पूर्व विभाजन और पारस्परिक सहमति तथा पुनरेकीकरण हेतु आशय। इन तत्वों का पृथक्-पृथक् विवेचन इस प्रकार है :—

(1) **संयुक्त हिंदू कुटुंब**—पुनरेकीकरण उन्हीं पक्षकारों का हो सकता है जो पुनरेकीकरण से पूर्व एक संयुक्त हिंदू कुटुंब के सदस्य थे। यदि पुनरेकीकृत पक्षकार किसी संयुक्त हिंदू कुटुंब के सदस्य नहीं रहे हों, तो उनका पारस्परिक पुनरेकीकरण वैध नहीं है।[3]

(2) **संयुक्त हिंदू कुटुंब के सदस्यों में पूर्व-विभाजन** : पुनरेकीकृत सदस्यों के बीच संयुक्त कुटुंब के सदस्य के रूप में पुनरेकीकरण तभी होगा जब पहले विभाजन हो चुका हो। जो सदस्य विभाजन के पक्षकार थे, उन्हीं का पुनरेकीकरण हिंदू विधि के अधीन विधिमान्य है। ऐसे व्यक्तियों का पुनरेकीकरण विधिमान्य नहीं है जो विभाजन के पक्षकार नहीं थे।[3] प्रिवी कौंसिल ने बृहस्पति के मत को स्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि पुनरेकीकरण पिता, भ्राता और चाचा के बीच ही हो सकता है क्योंकि मिताक्षरा का भी यही मत है।[3]

(3) **विभाजित सदस्यों की पारस्परिक सहमति और पुनरेकीकरण हेतु आशय की अभिव्यक्ति**—जो व्यक्ति विभाजन के पक्षकार थे और सुविधा की दृष्टि से पुनः एकीकृत होना चाहते हैं तो आवश्यक है कि वे पुनरेकीकरण हेतु परस्पर सहमत हों और उनमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में करार हो जिसके द्वारा संपदा और हित दोनों पुनरेकीकृत हों।[4]

---

1 विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति संसृष्टी । याज्ञ० 2/138 की मिता० टीका।

2 विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्राता वैकत्र संस्थितः ।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते ।। वृहस्पति, उसी में उद्धृत ।
बालावश बनाम मुखमाबाई, 30 आई० ए० 130.

3 रामनारायण चौधरी बनाम श्रीमती पानकुंअरि, ए० आई० आर० 1935 पी० सी० 9.

4 नन्दलाल बनाम भागवतकुंअरि, 46 आई० सी० 529.

पुनरेकीकरण का प्रभाव

पुनरेकीकरण के उपरांत पुनरेकीकृत सदस्यों का हित अविभक्त की स्थिति में नहीं आ जाता, अपितु यह सामान्य पेटी में सम्मिलित की गयी संपत्तियों तक ही सीमित रहता है।[1] यदि सभी पृथक् हुए सहदायिकों द्वारा अपने-अपने अंश की संपत्ति पुनरेकीकरण के आशय से कौटुंबिक संपत्ति के रूप में सम्मिलित कर दी जाए तो उस पर पुनरेकीकृत सहदायिकों का समान अधिकार हो जाता है और संपत्ति के न्यागमन में उत्तरजीविता का सिद्धांत लागू हो जाता है।

दायभाग विधि

अविभक्त कुटुंब की उपधारणा

दायभाग हिंदू विधि के अधीन भी संयुक्त कुटुंब पद्धति विद्यमान है। इसमें किसी अविभक्त हिंदू कुटुंब के सदस्यों में कब्जे की एकता रहती है। यही वह संयुक्त प्रास्थिति है, जिससे सदस्यों का सहदायिकी संबंध बनता है। जब तक कब्जे की एकता बनी रहती है कोई भी सहदायिक दायभाग विधि के अधीन यह नहीं कह सकता कि कौटुंबिक सपत्ति का भाग विशेष उसके हिस्से की संपत्ति है। किंतु सहदायिकों का अंश पहले से कौटुंबिक संपत्ति में परिनिश्चित रहने के कारण विभाजन द्वारा संपत्ति का विभाग उनके अंश के आधार पर किया जाता है और गोटी डालकर उनके भाग का आबंटन किया जाता है।

विभाजन का अर्थ

जीमूतवाहन के अनुसार विभाजन का अर्थ कुटुंब के सदस्यों के सांपत्तिक स्वत्व का विशेष रूप से ज्ञापन अर्थात् स्पष्टीकरण है।[2]

विभाजन की परिभाषा

जीमूतवाहन की निम्नलिखित परिभाषा की है :—

"जहां दाय में विशेष रूप से स्वामित्व की व्यवस्था न हो, वहां गोटी डालकर स्वामित्व की अभिव्यक्ति विभाजन है।"[3]

विभाजन में आशय की अभिव्यक्ति

कुटुंब की संयुक्त प्रास्थिति की विच्छिन्नता हेतु आशय की अभिव्यक्ति दायभाग विधि में भी आवश्यक हैं। किंतु दायभाग विधि में आशय की अभिव्यक्ति से अधिकारों की विभक्ति और अंश का परिनिश्चय न होकर मात्र संयुक्त प्रास्थिति का ही पथक्करण होता

---

1 अलमेलु मंगलय्यर अम्माल बनाम तुम्बेरुमल चेट्टि, 23 आई० सी० 824.

2 विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः। दाय० 1/9.

3 वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यंजनं विभागः। दाय० 1/8

है। आशय की अभिव्यक्ति के दिनांक से ही कुटुंब विभक्त मान लिया जाता है। उस दिन से कौटुंबिक संपत्ति की आय सामान्य पेटी में न जाकर सदस्यों के हिस्से के अनुसार उनमें विभक्त कर दी जाती है। प्रत्येक सदस्य अपने हिस्से की आय का इच्छानुसार उपभोग करने में स्वतंत्र हो जाता है। अतएव दायभाग विधि में आशय की अभिव्यक्ति मात्र से ही विभाजन नहीं होता, इसके लिए हिस्से का आबंटन आवश्यक है चाहे वह आय के हिस्से का आबंटन ही क्यों न हो।

विभाजन के अधिकारी

सहदायिक—दायभाग विधि के अनुसार प्रत्येक वयस्क सदस्य संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति के विभाजन की मांग कर सकता है। पिता के जीवन काल में पुत्र या पौत्र विभाजन की मांग नहीं कर सकता।[1] जीमूतवाहन का यह मत है कि कौटुंबिक संपत्ति पर पिता का पूर्ण स्वत्व होता है और पुत्र के स्वत्व की उत्पत्ति पिता की मृत्यु के पश्चात् ही होती है। दायभाग विधि में सहदायिकों की स्थापना भाइयों अथवा कुटुंब की शाखाओं में होने से विभाजन की मांग भी वही लोग कर सकते हैं।

विधवा—दायभाग विधि के अधीन विधवा पति की संपत्ति में पुत्रों के साथ हकदार होती है, अतः उसे भी विभाजन कराने का अधिकार है।[2] किंतु पिता की अनेक विधवाएं होने की स्थिति में पुत्रहीन विधवा को विभाजन कराने का अधिकार नहीं है और न ही उसे विभाजन में कोई अंश प्राप्त करने का अधिकार है।[3]

क्रेता — यदि कोई सहदायिक अपना अंश किसी को बेच देता है, तो क्रेता बिना सामान्य विभाजन कराये उसके अंश को पृथक् कराने के लिए विभाजन वाद संस्थित कर सकता है।[4]

विभाजन में अंश प्राप्त करने के अधिकारी

दायभाग विधि के अधीन अविभक्त कुटुंब के सहदायिकों का अंश पहले ही परिनिश्चित रहने से जन्म के कारण किसी नये अंशाधिकारी की उत्पत्ति नहीं होती। अंशाधिकारी भी पहले से ही निश्चित रहते हैं। स्त्री अंशाधिकारी भी पूर्व निश्चित रहती है। विधावाएं सपिंड संबंधी मानी जाने से पुत्रों के साथ ही उत्तराधिकारिणी हो जाती हैं।

पत्नी — दायभाग विधि में पत्नी को हिस्सा मिलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि पिता-पुत्र में विभाजन पुत्र की इच्छा से नहीं होता। पिता यदि अपनी इच्छा से अपने और अपने पुत्रों के बीच विभाजन करे, तो पत्नी पति से हिस्सा नहीं मांग सकती।

---

1 अतोजीवतोः पित्रोर्धनं पुत्राणांस्वाम्यं नास्ति किंतूपरतयोरिति ज्ञापनार्थं मंवादि वचनं। दाय० पृ०1/30.

2 अतो विशेषेणैव विभक्तत्वाद्यनपेक्षयैवअपुत्रस्य भर्त्तुः कृत्स्नधने पत्न्यधिकारो जितेन्द्रियोक्त आदरणीयः। दाय० पृ० 1/46.

3 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ : उपबंध 353(4), पृष्ठ 471.

4 बरही बनाम देवकामिनी, आई० एल० आर० (1893) 20 कलकत्ता 682.

माता—हिंदू विधि की दायभाग शाखा में विभाजन के समय माता के अंश की प्राप्ति की तीन अवस्थाएं हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1 माता विभाजन की मांग नहीं कर सकती, किंतु पुत्रों में विभाजन होने पर एक पुत्र के बराबर अंश प्राप्त करने की हकदार है। यदि उसे पति या श्वशुर से स्त्रीधन मिला है तो उतना अंश उसके हिस्से में से घटा दिया जाएगा।[1]

(2) यदि विभाजन से पूर्व पुत्र की मृत्यु हो जाए, और माता ही उसकी उत्तराधिकारिणी रहे, तो हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 8 (क) के उपबंधों के अनुसार उसे पुत्र के हिस्से का पूर्ण उत्तराधिकार प्राप्त होगा और विभाजन में उसे अपने पुत्र का वह हिस्सा प्राप्त होगा, जिसे यदि उसका पुत्र जीवित रहता तो प्राप्त करता।

(3) प्राचीन दायभाग विधि में पुत्रहीन सौतेली माता को विभाजन के समय कोई अंश प्राप्त करने का अधिकार नहीं है।[2] किंतु हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 8 (क) के उपबंधों के अनुसार विधवा को पति की संपत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त है, फलस्वरूप पुत्रहीन विधवा को भी अब विभाजन के समय हिस्सा मिलेगा।

पिता की माता—हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 (क) के उपबंधों के अनुसार पिता की माता भी पुत्र आदि के साथ समान्तर उत्तराधिकारिणी है, और विभाजन के समय उसे इसी अधिनियम की धारा 10(2) के अधीन हिस्सा मिलेगा।

विभाजन के समय अंश का आबंटन

अब हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अनुसार ही विभाजन में सहदायिकों तथा उत्तराधिकारियों में अंश का आबंटन होता है। किंतु प्राचीन दायभाग विधि के अनुसार विभाजन में अंश का आबंटन निम्नलिखित प्रकार से होता था :—

(1) भाइयों में विभाजन होने पर सभी भाई बराबर-बराबर हिस्से के हकदार हैं;

(2) मृतभाई का हिस्सा उसके उत्तराधिकारी को मिलता है;

(3) शाखाओं में विभाजन होने पर प्रत्येक शाखा को एक-एक हिस्सा मिलता है, किंतु शाखाओं के सदस्यों में व्यक्तिशः विभाजन होता है। इसे निम्नलिखित उदाहरण से समझा जा सकता है :—

---

[1] किशोरी बनाम मणिमोहन, आई० एल० आर० (1886) 12 कलकत्ता 165. जगबंधु बनाम राजेन्द्रनाथ, 66 आई० सी० 121.

[2] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ : उपबंध 355 (4), पृष्ठ 471; श्रीमती मेमांगिनी बनाम केदारनाथ, आई० एल० आर० (1889) 16 कलकत्ता 758.
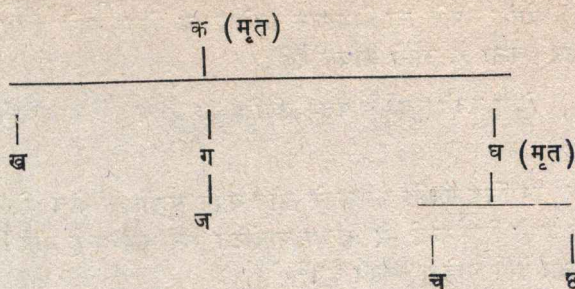
क अपनी मृत्यु के पश्चात् दो पुत्र ख और ग तथा तीन पौत्र छोड़ जाता है। जिनमें ज ग का पुत्र है, तथा च और छ घ के पुत्र हैं, घ की मृत्यु पहले ही हो चुकी है। कौटुंबिक संपत्ति का विभाजन होते समय उसे तीन बराबर-बराबर हिस्सों में विभक्त किया जायेगा, जिनमें से एक-एक भाग ख और ग को मिलेगा। शेष तीसरा भाग, जो घ को मिलता, सम्मिलित रूप से च तथा छ का हिस्सा होगा। पुनः उस तीसरे हिस्से को दो बराबर भागों में विभक्त किया जायेगा, जिनमें से एक-एक भाग च तथा छ को आबंटित किया जायगा। इस प्रकार च और छ का हिस्सा संपूर्ण कौटुंबिक संपत्ति का षष्ठांश होगा। किंतु ज को विभाजन में कोई अंश नहीं मिलेगा क्योंकि उसके पिता ग के जीवित रहते उसे कौटुंबिक संपत्ति में कोई अधिकार नहीं है।

पिता की इच्छा से विभाजन

मिताक्षरा विधि की भांति दायभाग विधि में भी पिता को अपनी पितृशक्ति के अधीन स्वेच्छा से अपने पुत्रों में विभाजन करने की शक्ति निहित है। इतना ही नहीं पिता को विषम विभाग करने की भी शक्ति है, जो आज भी विधिमान्य है।[1] अपनी इच्छा से विभाजन करते समय पिता अपने लिए एक पुत्र के बराबर हिस्सा अथवा अधिक हिस्सा ले सकता है।

जीमूतवाहन ने दायभाग ग्रंथ में विभाजनसंबंधी पितृ-शक्ति, का जो विवेचन किया है, उसका सारांश निम्नलिखित है :—

(1) पिता यदि स्वेच्छा से विभाजन करे तो स्नोपार्जित संपत्ति का स्वेच्छानुसार विभाजन कर सकता है।[2]

(2) पिता को पैतृक संपत्ति और स्वार्जित संपत्ति का विभाजन अपने और अपने पुत्रों के बीच करने का पूर्ण अधिकार है ;[3]

---

[1] अपूर्व शांतिलाल शाह बनाम आयकर आयुक्त, [1983] 3 उम० नि० प० 108.

[2] पिता चेत् विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे। विष्णु 17/1.
इच्छातश्च भागद्वयत्रयन्यूनाधिकानामपि प्राप्तेर्विफलो विधि : —दाय० 2/55.
इदं सुव्यक्तं यदि पिता पुत्रान्विभजति तदा स्वोपार्जेऽर्थे न्यूनाधिक विभागं स्वेच्छया पुत्रेभ्यो दद्यात् ।—दाय० 2/17.

[3] पितुरिच्छात एव विभागो, न पुत्रेच्छयेति सिद्धम्—दाय० 2/20.

(3) पैतृक संपत्ति का विभाजन करते समय पिता अपने लिए दूना अंश आबंटित कर सकता है, उससे अधिक नहीं;

(4) पिता अपने पुत्रों में पैतृक संपत्ति का विषम विभाग नहीं कर सकता है;[1]

(5) स्वार्जित संपत्ति का अपने और अपने पुत्रों के बीच विभाजन करते समय पिता अपने लिए कोई भी हिस्सा आबंटित कर सकता है और जिस पुत्र को जितना हिस्सा देना चाहे दे सकता है।[2]

□ □ □

---
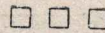
1 अतः पैतामहादिधने पितुर्भागद्वयं—दाय० 2/20.

2 पैतामहे तु नैतत् यस्मात्तत्र तुल्यं स्वामित्वं न पुनः पितुः स्वच्छन्दवृत्तिता। दाय० 2/17.

अध्याय 8

अविभाज्य संपदा

अविभाज्य संपदा का अर्थ

वह संपदा, जो विभाज्य न हो और परम्परा से मात्र एक ही वंशज को, सामान्यतया ज्येष्ठ पुत्र को, न्यागमित होती हो, अविभाज्य संपदा कहलाती है।

यद्यपि अविभाज्य संपदा भी पैतृक होती है, तथापि उसका न्यागमन एक ही उत्तराधिकारी तक प्रतिबंधित होता है और मृत स्वामी के अन्य पुत्र या वंशज उत्तराधिकार से वंचित रहते हैं। फलस्वरूप, उन्हें इस संपदा या संपत्ति में विभाजन की मांग करने का कोई हक या अधिकार नहीं रह जाता। यही कारण है कि ऐसी संपदा को अविभाज्य संपदा कहते हैं।

सामान्यतया, राज के रूप में प्राचीन जमींदारियां, जागीरें, और स्वतंत्र भारतीय राजाओं-महाराजाओं के राज्य अविभाज्य थे। वह हिंदू संयुक्त कुटुंब जिसमें न्यागमन उत्तरजीविता के सिद्धांत के अनुसार केवल वरिष्ठतम शाखा के ज्येष्ठ सदस्य को ही होता है, अविभाज्य संपदा रख सकता है।[1] किंतु किसी विधि या परम्परा के अभाव में निजी संपत्तियां अविभाज्य नहीं होतीं और न ही उन पर अग्रजाधिकार (प्रीमोजेनिचर) का नियम लागू होता है।[2] अविभाज्य पैतृक संपदा, इन तथ्यों के होते हुए भी कि उसमें न तो विभाजन का अधिकार होता है और न ही अन्य-संक्रामण को रोकने का अधिकार होता है, संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति होती है।[1] अवभिाज्य संपदा का यह भी अर्थ नहीं है कि वह धारक की पृथक् और अनन्य संपत्ति होती है यदि वह संपत्ति पैतृक हो और धारक ने उसे उत्तराधिकार में प्राप्त किया हो तो वह अविभक्त कुटुंब की संयुक्त संपदा का अंश होती है।[3]

अविभाज्य संपदा के आवश्यक तत्व

अविभाज्य संपदा के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं :—

(1) अविभाज्य संपदा की उत्पत्ति कुटुंब के कुलाचार से होती है;[4]

(2) अविभाज्य संपदा में सहदायिकी संबंध नहीं होता;[4]

---

[1] नगेश बिष्ट बनाम खाण्डो त्रिमल, ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 887.

[2] राजेन्द्रबहादुरसिंह, बनाम रानी रघुवंशकुंअरि, आई० एल० आर० (1918) 40 इलाहाबाद 470

[3] बैजनाथप्रसादसिंह बनाम तेजबहादुरसिंह, ए० आई० आर० 1921 पी० सी० 62.

[4] रामराव बनाम राजा पिट्टपुर, ए० आई० आर० 1918; पी० सी० 81; विष्णु प्रकाश नारायणसिंह बनाम जानकीकुंअरि, 62 आई० सी० 289 : (पी० सी०); भैया रामानुज बनाम लालू महेशस्वामी, ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1937.

(3) अविभाज्य संपदा का न्यागमन परम्परानुसार एक ही उत्तराधिकारी को होता है;[1]

(4) अविभाज्य संपदा में कनिष्ठ सदस्यों को भरण-पोषण का अधिकार नहीं होता; यह अधिकार उन्हें कुलाचार द्वारा ही प्राप्त होता है, विधि द्वारा नहीं;[2]

(5) कनिष्ट सदस्यों को विभाजन की मांग करने का कोई अधिकार नहीं होता।[3]

अविभाज्य सम्पदा की अनुवृद्धि

किसी विशिष्ट कौटुंबिक परम्परा या कुलाचार या प्रत्यक्ष आशय के साक्ष्य के अभाव में अविभाज्य संपदा के धारक द्वारा मूल संपदा की सहायता से अनुवृद्ध संपत्ति का न्यागमन हिंदू विधि के सामान्य विरासत नियमों के अनुसार होता है।[4] यदि अविभाज्य संपदा का स्वामी उसकी आय की बचत से कोई संपत्ति क्रय करता है तो इस साक्ष्य के अभाव में कि उसने इसे पैतृक अविभाज्य संपदा में सम्मिलित कर दिया है, न्यागमन के लिए इस प्रकार से अनुवृद्ध संपत्ति मिताक्षरा विधि के अनुसार उसकी स्वार्जित संपत्ति होती है।[5] अविभाज्य संपदा की आय उसके स्वामी की पूर्ण आत्यंतिक संपत्ति होती है।

अविभाज्य संपदा से भरण-पोषण का अधिकार

अविभाज्य संपदा में सहदायिकों को कोई सहदायिकी अधिकार न होने[6] से कुटुम्ब के कनिष्ठ सदस्यों को उक्त संपदा से रक्त संबंध और कुलाचार के आधार पर भरण-पोषण के अतिरिक्त कोई अन्य अधिकार नहीं होता।[7] अतः जो सदस्य अविभाज्य संपदा से संबंधित सामान्य विधि के अधीन भरण-पोषण का अधिकारी नहीं है, उसे उस कुलाचार को सिद्ध करना आवश्यक है, जो उसे इस प्रकार का हक प्रदान करे।[7]

मिताक्षरा विधि के अधीन सहदायिकी संपत्ति से कुटुंब के वे सदस्य भी भरण-पोषण पाने के अधिकारी हैं, जो सहदायिकी संबंध में नहीं आते या जिन्हें कौटुंबिक संपत्ति में विभाजन के समय कोई अंश पाने का हक नहीं होता और ऐसे सदस्य अपने भरण-पोषण के

---

1 एकराजेश्वरसिंह बनाम जनेश्वरी बबुआइन, (1914) 41 आई० ए० 275 (पी० सी०).

2 महाराजा जयपुर बनाम विक्रमदेव गुरु, 17 ए० एल० जे० 1011 (पी० सी०); ए० आई० आर० 1918 पी० सी० 81.

3 ताराकुंअरि बनाम चतुर्भुजनारायणसिंह, (1915) 42 आई० ए० 192 (पी० सी०).

4 जानकीप्रसादसिंह बनाम द्वारिकाप्रसादसिंह, 40 आई० ए० 170 (पी० सी०).

5 रानी जगदम्बाकुमारी बनाम ठा० वजीर नारायणसिंह, आई० एल० आर० (1923) पी० सी० 59.

6 विष्णुप्रकाशनारायणसिंह बनाम जानकीकुंअरि, 62 आई० सी० 289 (पी० सी०).

7 भैया रामानुज बनाम लालू महेशानुज, ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1937; रामराव बनाम राजा पिट्टपुर, ए० आई० आर० 1918 पी० सी० 81.

हक की मांग कर्त्ता से कर सकते हैं ।[1] इस सिद्धांत के आधार पर अविभाज्य संपदा से भी कुटुंब के कनिष्ठ या कोई भी सदस्य भरण-पोषण के हकदार होते हैं और वे अपने इस हक की मांग अविभाज्य संपदा के धारक से कर सकते हैं । शास्त्रों में अविभाज्य संपदा का सिद्धांत संपत्ति को नष्ट होने से बचाने के लिए प्रतिपादित हुआ है[2], न कि कुटुंब के सदस्यों को निर्धन बनाने हेतु । जब अविभाज्य संपदा को संयुक्त कौटुंबिक या पैतृक संपत्ति माना जाता है[3] तब उससे कुटुंब के सदस्यों को भरण-पोषण पाने का हक होता है, चाहे उन्हें विभाजन कराने या अन्य संक्रामण को रोकने का हक न हो । किंतु निर्णयज विधि के द्वारा यह सुस्थिर हो चुका है कि कुटुंब के कनिष्ठ सदस्य भरण-पोषण की मांग अविभाज्य संपदा के धारक से अधिकार के रूप में नहीं कर सकते ।

यदि अविभाज्य संपदा का स्वामी संपत्ति को पैतृक या संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति के रूप में धारण करता है, तो धारक के पुत्रों को उस संपदा से भरण-पोषण का हक कुलाचार द्वारा प्राप्त होता है ।[4] यह कुलाचार विधिमान्य होता है और इसे प्रत्येक मामले में साक्ष्य द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती ।[4] यदि अविभाज्य संपदा स्वामी की स्वार्जित संपत्ति है तो उसके पुत्र उस संपदा से भरण-भोषण की मांग करने के अधिकारी नहीं हैं ।[5]

अविभाज्य संपदा का अन्यसंक्रामण

अविभाज्य संपदा के स्वामी अथवा धारक को दान या विल द्वारा अन्यसंक्रामण की शक्ति प्राप्त होती है ।[6] वह अपनी उस शक्ति का प्रयोग करके अविभाज्य संपदा का अन्य संक्रामण कर सकता है । किंतु अविभाज्य संपदा के धारक की यह शक्ति विशिष्ट कुलाचार या परम्परा द्वारा समाप्त की जा सकती है ।[7] यदि कुलाचार के अनुसार अविभाज्य संपदा का अन्यसंक्रामण नहीं हो सकता हो, तो उसका धारक उसे विधिक आवश्यकता पड़ने पर ही अन्यसंक्रांत कर सकता है ।[8]

अविभाज्य संपदा का न्यागमन

अविभाज्य संपदा के न्यागमन संबंधी सिद्धांत निम्नलिखित हैं :—

(1) कुछ परिवर्तनों के साथ अविभाज्य संपदा के न्यागमन के भी वे ही नियम हैं, जो विभाज्य संपत्तियों की बाबत लागू होते हैं ।[9] रक्त-संबंध और रक्त के सामीप्य का सिद्धांत इस मामले में भी विधिमान्य है ।[9]

---

[1] पितेव् पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातृनस्यवीयस: । मनु० 9/108.
यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्ति: स्यान्मातेव स पितेव स: । वही, 9/110.

[2] ज्येष्ठ: कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुन: । वही, 9/109.

[3] नगेश विष्ट **बनाम** खांडों त्रिमल, ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 887.

[4] रामराव **बनाम** राजा पिट्टपुर, (1921) 45 आई० ए० 148.

[5] हरगोविंदसिंह **बनाम** जिलाधिकारी, एटा, ए० आई० आर० 1937 इलाहाबाद 377.

[6] ताराकुमारी **बनाम** चतुर्भुजनारायणसिंह, 42 आई० ए० 192(पी० सी०).

[7] प्रतापचन्द्र **बनाम** जगदीशचन्द्र, ए० आई० आर० 1927 पी० सी० 159.

[8] गोपाल **बनाम** रघुनाथ, आई० एल० आर० (1905) 32 कलकत्ता 158.

[9] बैजनाथप्रसादसिंह **बनाम** तेजबलीसिंह, 60 आई० सी० 536 (पी० सी०).

(2) एक ही उत्तराधिकारी का चयन करते समय विशिष्ट नियम का अनुसरण किया जाता है। पहले उस वर्ग के उत्तराधिकारियों का निर्धारण किया जाता है जो उस संपत्ति के विभाज्य होने की दशा में उसे प्राप्त करने के हकदार होते ।[1] तत्पश्चात् विशिष्ट नियम के आधार पर एक उत्तराधिकारी का चयन किया जाता है। यह विशिष्ट नियम तीन प्रकार का हो सकता है :—

(क) ज्येष्ठ पुत्र, यदि मृत स्वामी के अनेक पुत्र हों और उसके एक ही पत्नी हो तथा सभी पुत्र उसी पत्नी से हों ।

(ख) यदि मृत स्वामी की अनेक पत्नियां हों और ज्येष्ठ पुत्र वरिष्ठ पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य पत्नी से हो, तो उसमें कुलाचार या कौटुंबिक परंपरा को ध्यान में रखा जायगा कि संबंधित कुटुंब में वरिष्ठ पत्नी का ही ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता आया है[2] अथवा पुत्रों में ज्येष्ठ, चाहे वह कनिष्ठ पत्नी से ही क्यों न हों ।[3]

(ग) यदि मृत स्वामी निःसंतान हो तो उत्तरजीवियों में किस वर्ग के उत्तरजीवी को कुटुंब में पूर्विकता प्रदान की जाती रही है, इसे ध्यान में रखा जायगा ।

(3) संबंधित कुटुंब में किसी कुलाचार के अभाव में अग्रजाधिकार का नियम मान्य है ।[4] इसका विवेचन आगे किया जाएगा ।

(4) सामान्यतया अविभाज्य संपदा के न्यागमन के निम्नलिखित नियम हैं :—

(क) अविभाज्य पैतृक संपदा के अंतिम स्वामी की मृत्यु के उपरांत संपति का न्यागमन उत्तरजीविता के नियम के अनुसार होता है। संपदा उत्तरजीविता के नियम द्वारा अग्रजाधिकार के अनुसार एक पीढ़ी से उसी शाखा की दूसरी पीढ़ी के ज्येष्ठ सदस्य को न्यागमित होती है, न कि निकटतम रक्त संबंधी सदस्य को ।[4]

(ख) योग्यता प्राप्त पुरुष सदस्यों के रहते संयुक्त कुटुंब की अविभाज्य पैतृक संपदा की उत्तराधिकारिणी कोई स्त्री सदस्या नहीं हो सकती जब तक कि इस संबंध में विशिष्ट कुलाचार कुटुंब में प्रचलित न हो ।[5] किंतु अंतिम स्वामी की निःसंतान मृत्यु होने पर उसकी विधवा उत्तराधिकार विधि के अधीन उत्तराधिकारिणी होती है जैसा कि पृथक् संपत्ति की बाबत नियम लागू है ।[6]

---

[1] दयाराम **बनाम** दौलतशाह, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 681.

[2] सुंदरलिंगस्वामी **बनाम** रामस्वामी, (1899) 26 आई० ए० 55.

[3] रामलक्ष्मी **बनाम** शिवनाथ (1972) 14 एम० आई० ए० 570; बहादुर **बनाम** शिव प्रताप, (1901) 28 आई० ए० 100.

[4] बैजनाथप्रसादसिंह **बनाम** तेजबलीसिंह, 60 आई० सी० 534 (पी० सी०).

[5] राव किशोरसिंह **बनाम** गहनाबीबी, 17 ए० एल० जे० 1077 (पी० सी०).

[6] ठकुरानी ताराकुमारी **बनाम** चतुर्भुजनारायणसिंह, (1915) 42 आई० ए० 192; 60 आई० सी० 534; विश्वनाथ स्वामी **बनाम** कामुअम्माल, 21 आई० सी० 724.

(ग) यदि अविभाज्य संपदा पैतृक है और उसका अंतिम स्वामी कुटुंब के अन्य सदस्यों से पृथक् रहता है तो संपदा विभाज्य संपत्ति के सामान्य उत्तराधिकार के नियम के अनुसार न्यागमित होती है ।[1]

अविभाज्य संपदा के न्यागमन की वर्तमान स्थिति

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 5 (ii) के अधीन अब कोई भी संपदा कुलाचार रूप में अविभाज्य नहीं रह गई है। किंतु भूतपूर्व भारतीय राज्यों के शासकों की संपदा का न्यागमन भारत सरकार से विशेष करार द्वारा अविभाज्य है। सामान्यतया अविभाज्य संपदा का भी न्यागमन अब हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के उपबंधों के अनुसार होता है।

अग्रजाधिकार का नियम

अग्रजाधिकार का अर्थ है 'पहले जन्म लेने वाले वंशज का अधिकार'। इस अधिकार के अनुसार सबसे पहले जन्म लेने वाले पुत्र या वंशज को मृत धारक की संपूर्ण संपत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त होती है ।[2] अन्य पुत्र या वंशज, जो उसके पश्चात् उत्पन्न हुए होते हैं, मृतक की संपत्ति में हिस्सा पाने के हकदार नहीं होते। मनु के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र ही धर्मानुसार उत्पन्न होता है, अन्य पुत्र काम से उत्पन्न होते हैं ।[3] धर्मज होने के कारण ही ज्येष्ठ पुत्र को पिता की संपूर्ण संपत्ति मिलती है क्योंकि उसी के उत्पन्न होने से व्यक्ति पुत्रवान् होता है और पितृऋण से मुक्ति पाता है ।[4] तैत्तिरीय संहिता में आया है कि 'प्रजापति ने अपने ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र को अपनी संपूर्ण संपत्ति दे दी जिससे कि वह यावज्जीवन उसका उपयोग करे: इसीका संसार में अनुसरण किया जाता है और ज्येष्ठ पुत्र को ही संपत्ति दी जाती है ।[5] सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में इसका समर्थन किया है ।[6]

अग्रजाधिकार नियम के आधार

अग्रजाधिकार नियम के दो आधार हैं—प्रथम कौटुंबिक नेतृत्व, द्वितीय धार्मिक महत्व ।

---

[1] चुन्नीलाल, आफिशियल रिसीवर बनाम जयगोपाल, ए०आई०आर० 1936 लाहौर 55.

[2] ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ।। मनु० 9/105.

[3] स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः । वही, 9/107 (उत्तरार्द्ध)

[4] यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते । मनु० 9/107 (पूर्वार्द्ध).
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्रीभवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव सतस्मात्सर्वमर्हति ।। मनु० 9/106.

[5] ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं दैवत्यं पौर्णमास्यमिति प्राजापत्यमिति ब्रूयात्तेनेन्द्रं, ज्येष्ठं पुत्रं निरवसयदिति, तस्माज्जेष्ठं पुत्रं धनेन निरवसयन्ति ।
—तैत्ति० सं० 2/5/2/7.

[6] निःशेषमायुषोऽवसानं धनेन युक्तो यथा प्राप्नोति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः
—तैत्ति० सं० 2/5/2/7 पर सायण भाष्य.

(क) **कौटुंबिक नेतृत्व**—पिता की मृत्यु के उपरांत कुटुंब का नेतृत्व, ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करता है तथा वही कुटुंब के सदस्यों के भरणपोषण आदि का भार वहन करता है।[1] संपत्ति प्रधान समाज में यही व्यावहारिक है कि जो व्यक्ति कुटुंब का पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करे उसे ही कौटुंबिक संपत्ति का एकमेव उत्तराधिकारी माना जाये। वस्तुतः ज्येष्ठ पुत्र का संपूर्ण कौटुंबिक संपत्ति पर पिता की मृत्यु के उपरांत प्राप्त एकाधिकार नैसर्गिक है, जिसमें अन्य सहदायिकों का सहदायिकी संबंध बना रहता है। कौटुंबिक संपत्ति के प्रबंध की दृष्टि से ही अग्रजाधिकार की उत्पत्ति हुई, जिसे कर्त्ता का ही विकसित रूप माना जा सकता है। इस विषय पर महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि संपत्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो उस पर पिता की मृत्यु के उपरांत या उसके जीवन काल में एकमेव अधिकारी की कल्पना नहीं की गई। संपत्ति विभाज्य बनी रही। किंतु जब संपदा ने राज का रूप ले लिया और जब उस संपत्ति का स्वामी सिंहासनारूढ़ राजा हो गया तभी वह संपत्ति 'अविभाज्य संपदा' के रूप में परिवर्तित हो गई क्योंकि उस स्थिति में सहदायिकी संबंध के आधार पर विभाजन राज के विनाश का कारण हो जाता है। राज को अविभाज्य घोषित करने में प्रजा का सामूहिक हित और उनकी सुरक्षा आदि भी अंतर्निहित हैं। इसमें न केवल कौटुंबिक नेतृत्व का प्रश्न है, अपितु उस भू-क्षेत्र के नेतृत्व और प्रबंध का भी प्रश्न है, जो धारक के नेतृत्व में आते हैं। इस दृष्टि से भी ज्येष्ठ पुत्र को ही मृत धारक की संपूर्ण संपत्ति का स्वामी माना जाता है।

(ख) **धार्मिक महत्व**—अति प्राचीन काल में गृहपति अथवा कर्त्ता को कुछ विशिष्ट धार्मिक कृत्य करने पड़ते थे। गृहपति को आहिताग्नि होना पड़ता था। उसकी मृत्यूपरांत उसकी अग्नियां उसके शव के साथ रख दी जाती थीं।[2] इस प्रकार गृह की अग्नि समाप्त हो जाने पर दूसरी अग्नि उसके स्थान पर स्थापित की जाती थी।[3] शांखायन गृह्यसूत्र के अनुसार गृह में अग्नि की पुनःस्थापना का अधिकार ज्येष्ठ पुत्र का है[4] जो इस बात का द्योतक है कि उसने घर संभाल लिया है। इस धार्मिक कृत्य से ज्येष्ठ पुत्र की महत्ता कुटुंब में बढ़ जाती है। इससे ज्येष्ठ पुत्र न केवल पिता की अग्नि के स्थान पर दूसरी अग्नि स्थापित करने का हकदार हो जाता है अपितु पिता की संपत्ति को ग्रहण करने का भी अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है। यह धार्मिक कृत्य प्रत्येक कुटुंब में करने का विधान है, जिससे प्रत्येक कुटुंब में कर्त्ता रूपी संस्था को मान्यता मिली। किंतु

---

1 विभृयाद्वेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता। नारदस्मृ० 15/5. सर्वं वा पूर्वजस्येतराने बिभृयात्पितृवत्। गौत० ध० स० 28/1 पितुरसत्यर्थे ज्येष्ठाः कनिष्ठाननुगृह्णीयुः, अन्यत्र मिथ्यावृत्तेभ्यः।

—कौटि० अर्थ० 3/5.

2 हरिदत्त, हिंदू परिवार मीमांसा, पृष्ठ 361.
पिता वै गार्हपत्योऽग्निः—पिता गार्हपत्य अग्नि है। मनु० 2/233.
उसकी मृत्यु से गार्हपत्य अग्नि बुझ जाती है।

3 औदवाहिकं प्रेत पिता शालाग्निं कुर्वीत। मान० गृ० सू० 2/1/1.

इससे कौटुंबिक संपत्ति के एकमात्र अधिकारी की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी ज्येष्ठ पुत्र का कौटुंबिक महत्व अवश्य सूचित होता है जो ज्येष्ठ राजकुमार द्वारा पैतृक राज पर स्वत्व प्राप्ति का आधार बना।

वस्तुतः अग्रजाधिकार को विधि जगत् में मान्यता दिलाने में दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। धार्मिक कृत्य का अधिकार मिलने से ही ज्येष्ठ पुत्र को कौटुंबिक नेतृत्व करने का अवसर मिला।[1] फलस्वरूप वह पैतृक संपत्ति का स्वामी भी हो गया। ज्येष्ठ राजपुत्र को स्वभावतः यह स्वामित्व अधिक होता है और वह एकमात्र धारक होता है। राज संपत्ति में प्रशासनिक नेतृत्व भी सन्निहित होने से उसे अविभाज्य माना गया।

अग्रजाधिकार के भेद

अग्रजाधिकार दो प्रकार का होता है—यथा, क्रमागत और सामान्य।

(1) **क्रमागत अग्रजाधिकार** — क्रमागत अग्रजाधिकार में सदैव ज्येष्ठ शाखा को वरीयता दी जाती है। इस प्रकार के अग्रजाधिकार में अविभाज्य संपत्ति का न्यागमन ज्येष्ठ शाखा के ज्येष्ठ वंशज को होता है।[2] इसे नीचे दिये गये वृक्षशाला चित्र द्वारा समझा जा सकता है—
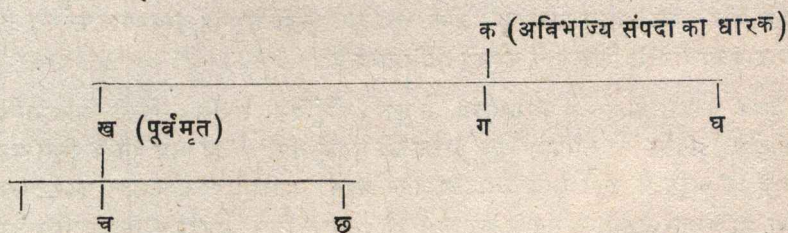
ऊपर के चित्र में क अविभाज्य संपदा का धारक है। क के ज्येष्ठ पुत्र ख की मृत्यु उसके जीवन काल में ही हो गई है। यदि क की मृत्यु होती है तो अविभाज्य संपदा का उत्तराधिकारी च होगा जो क्रमागत ज्येष्ठ शाखा का ज्येष्ठ वंशज है।[2] किंतु यदि च का पिता ख जीवित रहता तो अविभाज्य संपदा उसी को न्यागमित होती। दूसरे शब्दों में, क्रमागत अग्रजाधिकार के नियम के अधीन ज्येष्ठ पुत्र के जीवित न रहने पर उसकी ज्येष्ठ पुत्र अर्थात् मृत धारक का ज्येष्ठ पौत्र (ज्येष्ठ पुत्र का ज्येष्ठ पुत्र) उत्तराधिकारी होता है।

(2) **सामान्य अग्रजाधिकार** — सामान्य अग्रजाधिकार में अविभाज्य संपदा का न्यागमन मृत धारक के ज्येष्ठ पुत्र के जीवित न रहने पर उस वंशज को होता है जो रक्त संबंध में निकटतम श्रेणी में आता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु अविभाज्य संपदा के धारक के जीवन काल में हो गई हो तो धारक की मृत्यूपरांत अविभाज्य संपदा का न्यागमन उसके द्वितीय पुत्र को होगा-यदि उसके अनेक पुत्र हैं, क्योंकि द्वितीय

---

[1] अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः यज्ञयज्ञाश्च शतदक्षिण्णः ॥
ज्येष्ठपुत्रप्रसूतस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।। शंख, दाय० 11/1/31 में उद्धृत.

[2] बैजनाथप्रसादसिंह बनाम तेजबलीसिंह, ए० आई० आर० 1921 पी० सी० 62.

पुत्र ही ऐसी स्थिति में ज्येष्ठ होता है और वही रक्त संबंध की निकटतम श्रेणी में आता है ।

ऊपर दिये गये चित्र में अविभाज्य संपदा के अंतिम धारक क की मृत्यु होने पर सामान्य अग्रजाधिकार नियम के अधीन उसके ज्येष्ठ पुत्र ख की पूर्व मृत्यु हो जाने के कारण संपदा उसके द्वितीय पुत्र ग को न्यागमित होगी न कि ख (मृत) के ज्येष्ठ पुत्र च को क्योंकि ख की पहले ही मृत्यु हो जाने के कारण ग ही रक्त संबंध की निकटता के कारण ज्येष्ठ पुत्र की श्रेणी में आता है । पुत्र चाहे ज्येष्ठ हो या कनिष्ठ, पिता का निकटतम रक्त संबंधी वही होता है न कि पौत्र या प्रपौत्र ।

अविभाज्य संपदा के धारक की अनेक पत्नियां होने की दशा में ज्येष्ठ पुत्र का निर्धारण——ज्येष्ठ पुत्र के निर्धारण की समस्या उस समय उत्पन्न होती है, जब किसी अविभाज्य संपदा के धारक की एक से अधिक पत्नियां होती हैं और सभी से पुत्र होते हैं । ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर पुत्रों में जो पहले उत्पन्न हुआ हो, उसी को ज्येष्ठ माना जाता है चाहे वह सबसे छोटी पत्नी से ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो ।[1] किंतु कुछ कुटुंबों में यह भी परंपरा होती है कि प्रथम पत्नी का प्रथम पुत्र ही ज्येष्ठ माना जाता है न कि अन्य किसी पत्नी से सब पुत्रों से पहले उत्पन्न होने वाला पुत्र ।[2] इस परंपरा को प्राचीन, अविच्छिन्न और स्पष्ट प्रमाण द्वारा पुष्ट होना चाहिए, क्योंकि यह असामान्य परंपरा है, जो विशिष्ट कुलाचार के सिद्ध होने पर ही विधिमान्य है ।

पृथक् संपत्ति के रूप में अभिभाज्य संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति—किसी अविभाज्य संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति को न्यागमन हेतु धारक की पृथक् संपत्ति का रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि कुटुंब के सभी कनिष्ठ सदस्य अपने-अपने उत्तराधिकार के हक का त्याग या समर्पण का आशय असंदिग्ध रूप से कर चुके हों । इसके लिए संपदा में निहित हित का स्पष्ट रूप से त्याग या समर्पण या उत्तराधिकार की परित्यक्ति सिद्ध होनी चाहिए जिसके द्वारा संयुक्त संपदा को धारक की पृथक् संपत्ति का रूप प्रदान किया गया हो ।[3] यह इसलिए भी आवश्यक है कि इस प्रकार के त्याग आदि में कनिष्ठ या अन्य सदस्यों का सांपत्तिक अहित अन्तर्ग्रस्त होता है । कनिष्ठ सदस्यों द्वारा स्वेच्छा से वरण किए गये सांपत्तिक अहित में मिताक्षरा विधि बाधक नही है; किंतु न्यायिक प्रक्रिया में उन परिस्थितियों या अभिव्यक्ति के ढंग पर विचार किया जाता है जिन परिस्थितियो में या जिस ढंग से समर्पण की अभिव्यक्ति की गई थी ।

स्वार्जित अविभाज्य संपदा का न्यागमन—मिताक्षरा विधि के अधीन स्वार्जित अविभाज्य संपदा का न्यागमन पृथक् संपत्ति के रूप में होता है, चाहे अंतिम धारक की मृत्यु के समय वह अविभक्त की क्यों न रही हो ।[4]

---

[1] रामलक्ष्मी **बनाम** शिवनाथ; (1872)14 एम० आई० ए० 570; जगदीशबहादुर **बनाम** शिवप्रताप, (1901) 28 आई० ए० 100.

[2] सुंदरलिंगस्वामी **बनाम** रामस्वामी, (1899) 26 आई० ए० 55.

[3] चिन्नतायी **बनाम** कुलशेखर पाण्डेय नोकार, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 59.

[4] काटम्मा नाचियार **बनाम** राजा शिवगंगा, (1863) 9 एम० आई० ए० 539.

उत्तराधिकारी के विरुद्ध डिक्री का निष्पादन—यदि अविभाज्य संपदा के धारक के विरुद्ध न्यायालय से कोई डिक्री हुई हो और डिक्री के निष्पादन से पूर्व ही धारक की मृत्यु हो जाए तो उस डिक्री का निष्पादन उस अविभाज्य संपदा के उत्तरजीवी धारक के विरुद्ध हो सकता है।[1]

दायभाग विधि

दायभाग विधि में भी अविभाज्य संपदा की सामान्य प्रकृति वही है जो मिताक्षरा विधि में है। हिंदू विधि की दायभाग शाखा में अविभाज्य संपदा का न्यागमन अंतिम स्वामी के निकटतम रक्त संबंधियों के वर्ग के व्यक्तियों में ज्येष्ठ सदस्य को होता है। इसमें मुख्यतया वही सपिण्ड संबंधी आते हैं जो मृतक को पिण्ड देने के अधिकारी होते हैं।

□□□

1 रावभीमसिंह बनाम शेर सिंह, आई० एल० आर० (1947) नागपुर 830.

अध्याय 9

धार्मिक और पूर्त विन्यास

धार्मिक और पूर्त कार्य

इष्ट अर्थात् धार्मिक और पूर्त कर्मों को प्रतिदिन करते रहने का जो निर्देश शास्त्रों द्वारा दिया गया[1] वह भारतीय जीवन-पद्धति का अंग बन गया। हमें इन बातों के विषय में सही मार्ग-दर्शन भारतीय जीवन-पद्धति से ही प्राप्त होता है।[2] इन कार्यों से संबंधित मामले न्यायालयों में अभिनिर्धारण हेतु प्रायः उठते रहते हैं, अतएव हिंदू विधि में इन मामलों से संबंधित विधि का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इष्ट और पूर्त एक दूसरे से भिन्न हैं और दोनों के उद्देश्य भी भिन्न हैं। इष्ट से स्वर्ग की प्राप्ति और पूर्त से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3] इन दोनों में आने वाले कार्यों का पृथक्-पृथक् उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

इष्ट कार्य—यज्ञ, अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य पशुयाग, सोमयाग, वैश्यदेव, बलिहरण आदि द्रव्यमय कर्म इष्ट कहलाते हैं।[4] अत्रि के अनुसार अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदों का पालन, अतिथि सत्कार और वैश्वदेव इष्ट कर्म हैं।[5] इन्हीं को धार्मिक कृत्य भी कहते हैं क्योंकि इनका सीधा संबंध धर्म से होता है।

पूर्त कार्य—देवालय, आराम (बगीचा), कुंआ जलाशय आदि बनवाना पूर्त कार्य कहलाते हैं।[6] ये कार्य सामाजिक हित में भी किये जाते हैं। इनके करने से पारलौकिक हित

---

[1] श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः।। मनु० 4/226.

[2] आयकर आयुक्त, नई दिल्ली **बनाम** फेडरेशन आफ इंडियन चैम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्रीज, नई दिल्ली, [1982] 1 उम० नि० प० 1223.

[3] इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्तेनमोक्षमाप्नुयात्। अत्रि० स्मृश्लो० 45.
इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्तैर्मोक्षं च विन्दति। वारा० पु० 172/33.

[4] हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः।।
एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च॥ श्रीमद्भा० पु० 7/15/48-49 (पूर्वार्ध).

[5] अग्निहोत्रंतपः सत्यंवेदानाच्चचैव पालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते।। अत्रि स्मृ० श्लोक 43.

[6] सुरालयसरोवापी कूपारामादिकल्पना।
एतदर्थं हि पूर्ताख्या धर्मशास्त्रेषु निश्चिता।। स्क० पुरा० 102/10.
पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादि लक्षणम्। भा० पु० 7/15/49 (उत्तरार्द्ध)

की कल्पना की जाती है[1] फलस्वरूप ये कार्य भी धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं।

आयकर आयुक्त, नई दिल्ली बनाम फेडरेशन आफ इंडियन चैम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्रीज, नई दिल्ली[2], के मामले में उच्चतम न्यायालय ने जिस भारतीय जीवन पद्धति की ओर संकेत किया है वह उक्त कार्यों से ही संबंधित है। दान को लोक-परलोक का मित्र माना गया है।[3] मनु ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी की याचना करने पर यथा-शक्ति देते रहने से कभी ऐसा भी पात्र (व्यक्ति) आ सकता है जो दाता के सभी पापों को दूर कर दे।[4] पाप से मुक्ति ही धार्मिक कृत्य का प्रमुख उद्देश्य है। किंतु हिंदू जीवन पद्धति में पारलौकिक हित भी धर्म के अन्तर्गत आता है। मनु के अनुसार दान की हुई वस्तुएं दाता को भावी जीवन में प्राप्त होती हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि धार्मिक और पूर्त कार्यों में व्यक्ति के लौकिक तथा पारलौकिक हित निहित हैं। यही कारण है कि हिंदू धार्मिक और पूर्त विन्यास की कोई निश्चित सूची विधि के अधीन न्यायालयों के मार्गदर्शन हेतु नहीं बनायी जा सकती। वे सभी विन्यास वैध हैं, जिनसे लौकिक अथवा पारलौकिक हित संभव हों। देवता की पूजा और मूर्ति की स्थापना आदि धार्मिक उद्देश्यों के लिए संपत्ति का समर्पण धार्मिक विन्यास है और परिणामतः न्यास है।

दान का अर्थ—अपनी भौतिक संपत्ति में से कुछ देना ही दान कहलाता है।[6]

विन्यास के अधिकारी व्यक्ति—एक वयः प्राप्त हिंदू, जिसका मस्तिष्क स्वस्थ हो अपनी संपत्ति का दान या विल द्वारा धार्मिक और पूर्त कार्यों के लिए अन्यसंक्रामण कर सकता है।[7] दान या विल के मामले में दाता या वसीयतकर्ता का स्वस्थचित्त और वयस्क होना आवश्यक है[8] जो सभी प्रकार के दान या विल के मामले में सामान्य रूप से लागू है। शास्त्रीय विधि के अनुसार आय का केवल एक चौथाई भाग ही धर्म कार्य में दिया जा सकता है।[9] इस सीमा तक ही कोई व्यक्ति जंगम संपत्ति दान में देने का अधिकारी होता है। महाभारत के उक्त वचन के अनुसार कोई भी व्यक्ति स्वार्जित संपत्ति अथवा पैतृक संपत्ति की

---

1 यस्तडागं नवं कुर्यात् पुराणं वाऽपि खानयेत्।
स सर्वकुलमुद्धृत्य स्वर्गे लोके महीयते।।
वापीकूपतडागानि उद्योनोपवनानि च।
पुनः संस्कारकर्त्ता च लभते मौलिकं फलम्।। बृह० स्मृ० श्लो० 92-63.

2 [1982] 1 उम० नि० प० 1223.

3 नास्ति दानात् परं मित्रमिह लोके परेऽपि च। अत्रिस्मृ० श्लो 15.

4 यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारस्यति सर्वतः।। मनु० 4/228.

5 येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः।। मनु० 4/234.

6 स्तोकादपि प्रयत्नेन दानमित्यभिधीयते। अत्रिस्मृ० श्लो० 40.

7 भूपतिनाथ बनाम रामलाल, 3 इंडियन केसेज़ 642.

8 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध, 367, पृष्ठ 482.

9 आजीवेभ्यो धनं प्राप्य चतुर्धा विभजेद् बुधः।
धर्मायार्थाय कामाय आपत्प्रशमनाथ च।। महा० अनु० अ० 145 (अधिक श्लोक).

आय के ही कुछ अंश को दान देने का अधिकारी होता है। अधिक दान दरिद्रता का कारण होने से निषिद्ध है।[1] पैतृक संपत्ति में से पितरों के श्राद्ध आदि के समय ही थोड़ा अंशदान किया जा सकता है।[2]

समर्पण—देवार्थ समर्पण मूर्ति को न होकर उस देवी या देवता को होता है जिसकी प्राण-प्रतिष्ठा मूर्ति में हुई रहती है; फिर भी मूर्ति की स्थापना और मंदिर के निर्माण हेतु दान या समर्पण वैध है।[3] किंतु मठ के मामले में संपत्ति का समर्पण वस्तुत: मठ के नाम से महंत को ही किया जाता है। वही संपत्ति का प्राप्तिकर्ता होता है।[4]

समर्पण का उद्देश्य—किसी संपत्ति का समर्पण करते समय दाता को समर्पण का उद्देश्य सुनिश्चित करना आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि दानपत्र में उल्लिखित संपत्ति की आय का उपयोग किस हेतु किया जाएगा, यह स्पष्ट होना चाहिए; यथा: धर्मशाला, देवमंदिर आदि। यदि कोई व्यक्ति मात्र धर्म-कार्य के लिए समर्पण करता है तो ऐसा समर्पण अवैध है।[5] धर्म और धर्मार्थ में कोई अंतर नहीं है। अत: धमार्थ न्यास का विल निरर्थक होने से अवैध है।[6] हिंदू विधि के अधीन ऐसा सामान्य विन्यास, जो केवल परमात्मा की पूजा के लिए किया गया हो और जिसमें किसी देवता का नामोल्लेख न किया गया हो जिसके लाभ के लिए विन्यास का उपयोग किया जा सके, अनिश्चितता के कारण अवैध है।[7]

धार्मिक विन्यास की आवश्यकताएं — किसी मूर्ति के पक्ष में वैध समर्पण के लिए यह आवश्यक है कि उसमें यह स्पष्ट रहे कि दाता का आशय अमुख मूर्ति के पक्ष में दान देना है और उसने मूर्ति के पक्ष में संपत्ति पर से अपने हक को निरस्त कर लिया है। मूर्ति के पक्ष में समर्पण की वैधता के लिए संकल्प या समर्पण संबंधी अनुष्ठान आवश्यक नहीं है[8]।

विन्यास का ढंग—विन्यास के लिए किसी विलेख की आवश्यकता नहीं है, किंतु यदि विन्यास विल द्वारा किया जाए तो विल को हस्ताक्षरित होना चाहिए और यदि विल भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 57 के उपबंधों के अधीन आती हो तो विल को लिखित और दो साक्षियों द्वारा हस्ताक्षरित होना चाहिए।

संपूर्ण या आंशिक विन्यास—धार्मिक या पूर्त विन्यास के लिए किया गया दान

---

1 अतिदानं तप: सत्यं योगो दारिद्र्यकृत्त्विह। शुक्र० 5/37.

2 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 357 और 368.

3 एस० एन० पचचतुतियथिस नाडार **बनाम** तिलैयाकि पिल्लैयार मंदिर धर्मादा, ए० आई० आर० 1971 मद्रास 253.

4 लक्ष्मीनारायण **बनाम** बिहार राज्य, ए० आई० आर० 1978 पटना 330.

5 गौरीशंकर **बनाम** मोहनलाल, ए० आई० आर० 1940 अवध 275.

6 गुरुदीनसिंह **बनाम** शेरसिंह, 14 आई० सी० 247.

7 चंडीशरण मिश्र **बनाम** हरिबोलदास, 51 आई० सी० 215.

8 शांतिस्वरूप **बनाम** आर० एस० सभा, ए० आई० आर० 1969 इलाहाबाद 248; विपिन **बनाम** रुद्रनारायण मिश्र, ए० आई० आर० 1978 उड़ीसा 203.

संपूर्ण या आंशिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। यह प्रश्न उठने पर कि विन्यास संपूर्ण है या आंशिक, उत्तर विन्यास विलेख की आद्योपांत व्याख्या या भाषा पर निर्भर होगी[1]

संपूर्ण विन्यास — जहां सारी संपत्ति किसी देवता की अर्चना हेतु पूर्ण रूप से दान की जाती है और उसमें किसी अन्य व्यक्ति को कोई लाभकारी हित नहीं दिया जाता, वहां दान अंतिम और संपूर्ण होता है। ऐसे मामले में संपत्ति देवता द्वारा धारण की जाती है और उसका अन्यसंक्रामण वैध आवश्यकता या संपदा के लाभ के अलावा नहीं हो सकता।[2] यदि इस प्रकार के विन्यास में पारिश्रमिक रूप में प्रबंधक को दी जाने वाली धनराशि निश्चित कर दी जाए तो भी विन्यास संपूर्ण और अंतिम होगा।[3]

आंशिक विन्यास — जब विन्यास विलेख द्वारा किसी मूर्ति के पक्ष में मात्र न्यास या भार प्रदान किया जाता है तब दान सशर्त या आंशिक होता है।[4] ऐसे मामले में संपत्ति सामान्य रूप में विभाज्य और अन्यसंक्रामण के योग्य होती है किंतु मूर्ति के पक्ष में संपत्ति पर सदैव भार या न्यास बना रहता है[5] और संपत्ति की प्रकृति मूल रूप में निजी और धर्मनिरपेक्ष बनी रहती है।[6]

यदि पूजा और धार्मिक कृत्यों में व्यय करने के उपरांत देवोत्तर संपत्ति की आय की बचत का उपयोग अनुदाता के वंशजों के निवास स्थान या गृह आदि में किया जाए तो दानसंपूर्ण न होकर आंशिक होता है।[7]

समर्पण साक्ष्य—यदि धार्मिक अथवा पूर्त विन्यास हेतु संपत्ति का समर्पण किसी दानपत्र द्वारा किया जाए तो वह समर्पण का प्रत्यक्ष साक्ष्य होगा। किंतु किसी दानपत्र या विलेख के अभाव में संप्रदाय के आचार के अनुसार पूजा-अर्चना आदि, जिसके हितार्थ समर्पण किया गया हो, समर्पण का उत्तम साक्ष्य है।[8]

मंदिर-संपत्ति और मठ-संपत्ति के समर्पण में अंतर—मंदिर को चढ़ाई गई या समर्पित संपत्ति को मूर्ति धारण करती है किंतु उसका कब्जा और प्रबंध अवश्य ही स्वभावतः किसी ऐसे व्यक्ति को प्रदत्त किया जाता है जो प्रबंधक के रूप में कार्य कर सके और जो मूर्ति की पूजा-अर्चना करने वाला मानव संरक्षक हो। मठ भी मूर्ति की भांति एक विधिक व्यक्ति है जिसे संपत्ति के अर्जन, धारण और विधिक अधिकारों का प्रयोग करने की क्षमता है। फिर

---

1 निर्मलाबाला **बनाम** बलैचन्द, ए० आई० आर० 1917 पी० सी० 177.

2 यदुनाथसिंह **बनाम** ठाकुर सीताराम, ए० आई० आर० 1926 कलकत्ता 1083.

3 ए० आई० आर० 1917 पी० सी० 177.

4 रामकिशोरलाल **बनाम** कमलनारायण, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 890.

5 गोपाललाल सेठ **बनाम** पूर्णचन्द्र बासव, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 253.

6 षण्मुगम् पिल्लै **बनाम** के० षण्मुगम् पिल्लै, ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 2069.

7 ईश्वरीभुवनेश्वरी ठकुरानी **बनाम** प्रजानाथदेव, ए० आई० आर० 1937 पी० सी० 185; यदुगोपाल **बनाम** पन्नालाल, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1329.

8 मोहनलालजी **बनाम** टीकायत श्री गुरु ध्यानलालजी, 40 आई० सी० 97 (पी० सी०).

भी उसकी संपत्ति को महंत ही, संस्था का धर्माध्यक्ष होने के नाते, धारण करता है। मठ को समर्पित की जाने वाली संपत्ति वस्तुतः महंत को ही प्रदत्त की जाती है।[1]

आभासी समर्पण --विलेख का निष्पादन-मात्र, चाहे उसकी भाषा से यह प्रतीत होता हो कि संपत्ति मूर्ति को चढ़ायी गयी है, वैध समर्पण के लिए पर्याप्त नहीं है, यदि समर्पण का उद्देश्य न्यागमन की सामान्य विधि को धोखा देना हो या अन्यसंक्रामण को रोकना या संपत्ति को कुटुंब तक सीमित रखना हो। समर्पण विलेख की वैधता के लिए यह आवश्यक है कि दाता संपत्ति से अपने को असंबद्ध कर ले। दाता ने अपने को संपत्ति से असंबद्ध किया है अथवा नहीं यह उसके पश्चात्वर्ती कृत्य और आचरण से विदित होता है। यदि दाता विन्यास-संपत्ति की आय का उपयोग मूर्ति के लिए न करके अपने लिए करे तो इससे यह स्पष्ट है कि उसने विन्यास की रचना नहीं की थी। फलस्वरूप, समर्पण अवैध है और संपत्ति पूर्ववत् उसी की बनी हुई है।[2] संपत्ति का समर्पण लिखित हो अथवा मौखिक, विन्यास की पूर्णता और वैधता के लिए यह आवश्यक है कि दाता संबंधित संपत्ति पर से अपना स्वामित्व समाप्त करके उस पर मूर्ति या पूर्त संस्था का स्वामित्व स्थापित कर दे अन्यथा विन्यास आभासी होगा।

कभी-कभी वंशजों की शाश्वतता के हितार्थ विन्यास बनाया जाता है और विलेख में नाममात्र के लिए मूर्ति की पूजा का उल्लेख कर दिया जाता है। मूर्ति को दिया गया ऐसा दान अवैध है।[3] किंतु विन्यास को इस आधार पर आभासी नहीं माना जा सकता कि संस्थापक ने मंदिर के प्रबंधकों में अपने कुटुंब के सदस्यों को नामांकित किया है और इस कार्य के लिए विन्यास संपत्ति से आय के अनुरूप पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।[4]

देवोत्तर संपत्ति – धार्मिक अथवा पूर्त कार्य हेतु पूर्णतया प्रदत्त या समर्पित संपत्ति देवोत्तर संपत्ति कहलाती है। देवोत्तर शब्द 'देव' और 'उत्तर' शब्दों की संधि से बना है जिसका अर्थ है—'देव' के पश्चात्। दूसरे शब्दों में, जो संपत्ति किसी देव को चढ़ाने के पश्चात् किसी प्रबंधक की देखरेख में आती है, वह देवोत्तर संपत्ति है। जब संपत्ति किसी देवता को चढ़ायी जाती है तो उसका स्वामी देवता ही होता है न कि प्रबंधक, संस्थापक या सेवायत। यद्यपि चढ़ावे की संपत्ति में प्रधानता चढ़ाने वाले की होती है और देवता उसे व्यवहारतः स्वीकार नहीं करता तथापि यह माना जाता है कि किसी देवता को जो कुछ चढ़ाया जाता है, वह उसे स्वीकार कर ही लेता है। यह एक प्रकार की पूजा सामग्री या हवि है जिसे अस्वीकार करने में देवताओं की रुचि नहीं होती। देवोत्तर संपत्ति की आय से प्रबंधक या सेवायत ने कोई संपत्ति अर्जित की हो, और वह उसे मूर्ति की संपदा मानता हो तो वह देवोत्तर संपत्ति का अंश हो जाती है।[5] हिंदू विधि में अनेक ऐसे धार्मिक स्थल

---

1 लक्ष्मीनारायण बनाम बिहार राज्य, ए० आई० आर० 1978 पटना 330.

2 भेषधारीसिंह बनाम श्रीरामचन्द्रजी, ए० आई० आर० 1931 पटना 275.

3 श्रीठाकुरजी बनाम सुखदेवसिंह, ए० आई० आर० 1920 इलाहाबाद 63.

4 ईश्वरीभुवनेश्वरी ठकुरानी बनाम प्रजानाथदेव, ए० आई० आर० 1937 पी० सी० 185.

5 कार्त्तिकचन्द्र बनाम गोसाई प्रतापगिरि, 66 आई० सी० 894.

हैं जिन्हें न्याय जगत् में संपत्ति धारण करने के योग्य माना जाता है, यथा:मंदिर(देवस्थान) मठ पीठ और आश्रम आदि।

मंदिर—वह स्थान या भवन, जहां कोई मूर्ति स्थापित रहती है, मंदिर, देवालय या देवस्थानम् कहलाता है। मंदिर या देवालय में देवता की मूर्ति की प्रमुखता होती है। धन या संपत्ति का चढ़ावा या समर्पण देवता की मूर्ति को होता है न कि मंदिर को। जिस देवता की मूर्ति मंदिर में स्थापित रहती है वही देवता चढ़ायी गई या समर्पित संपत्ति का स्वामी होता है। समर्पित संपत्ति पर से दाता के स्वत्व की निवृत्ति हो जाती है और मंदिर के देवता के स्वत्व की उत्पत्ति होती है। मूर्ति एक न्यायिक व्यक्ति है, जो संपत्ति का ग्रहण तथा धारण करने के योग्य है और उसका हक या स्वत्व किसी भी प्रकार जीवित व्यक्ति से भिन्न नहीं है।[1] इस दृष्टि से मात्र उसी मूर्ति को दान या समर्पण किया जा सकता है, जो स्थापित हो चुकी है। ऐसी मूर्ति जिसकी भविष्य में स्थापना होने वाली है उसके पक्ष में वसीयत भी हिंदू विधि में अवैध है।[2] मंदिर की संपत्ति-संबंधी विवाद में मूर्ति की ओर से ही या उसी के विरुद्ध वाद संस्थित किया जाता है।[3] यदि किसी कारण से मूर्ति नष्ट हो जाए या खंडित हो जाए, तो भी मूर्ति पूजा के लिए किया गया विन्यास प्रभावित नहीं होता और धार्मिक उद्देश्य बना रहता है जिसकी पूर्ति के लिए नई मूर्ति स्थापित की जा सकती है, जिससे कि मूल संस्थापक के आशय के अनुरूप उसकी पूजा की जा सके।[4] हिंदू-विधि में यह सामान्य नियम इसलिए मान्य है कि हवि देवता के नाम से दी जाती है[5] और यही नियम देवताओं के दान के विषय में भी लागू है। हवि या दान ग्रहण करने का देवता ही अधिकारी है चाहे व्यवहार में पुजारी, प्रबंधक या पुरोहित ही क्यों न दान को ग्रहण करता हो। वस्तुस्थिति यह है कि यज्ञ के समय अग्नि में जिस देवता के नाम से हवि डाली जाती है, वह उस देवता को समर्पित हो जाती है किंतु दान या चढ़ावे के मामले में संपत्ति प्रत्यक्षत: संस्थापक या प्रबंधक के हाथों में रहती है। ऐसे मामलों में उद्देश्य यह होता है कि समर्पित संपत्ति की आय से मूर्ति की पूजा-अर्चना आदि की जाएगी और पुजारी तथा प्रबंधक आदि का भरण-पोषण भी होता रहेगा। पुजारी, प्रबंधक या सेवायत मंदिर की संपत्ति से भरण-पोषण पाने का तभी तक हकदार है जब तक वह मूर्ति की सेवा या प्रबंध में निरत है।

मठ—मठ का अर्थ है, वह स्थान जहां यतियों, मुनियों और उनके शिष्यों तथा अनुयायियों का निवास हो।[1] मठ या स्थल मुनियों के आश्रम या भिक्षुओं के बिहार की भांति एक संस्था है। यह संप्रदाय विशेष की सेवाओं, सिद्धांतों के उपदेश और आचार के

---

[1] सीतारामजी **बनाम** यदुनाथसिंह, 24 आई० सी० 72 : 1 अवध ए० एल० जे० 204.

[2] शरदेन्दु मुखोपाध्याय **बनाम** चारुचन्द्रदत्त, 53 आई० सी० 885.

[3] प्रमथनाथ **बनाम** प्रद्युम्न कुमार, (1925) 52 आई० ए० 245; विश्वनाथ **बनाम** राधावल्लभ जी, ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1044.

[4] विजयचन्द महातप **बनाम** कालीपद चट्टोपाध्याय, 20 आई० सी० 78.

[5] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु। इन्द्राग्नी तस्य बोधकम्।

ऋ० 8/38/1.

[6] रामप्रकाश **बनाम** आनन्ददास, 43 आई० ए० 73 (पी० सी०).

अनुपालन के लिए स्थापित किया जाता है । मुल्ला के अनुसार 'शंकराचार्य, ने हिंदू-मठों की स्थापना की । ये मठ संस्थाओं के रूप में विकसित हुए जिनका कार्य विभिन्न प्रकार के हिंदू धार्मिक दर्शनों की शिक्षा देना था । इन संस्थाओं के प्राचार्य संन्यासी हुआ करते थे जो आदरणीय होते थे या जिनकी धार्मिक प्रतिष्ठा अधिक होती थी । राजा-महाराजा और दानी सज्जन इन संस्थाओं को विशाल संपत्तियों का अनुदान प्रदान करते थे' ।[1] संप्रदाय के आश्रमवासी अनुयायियों और समर्थकों को शिष्य या चेला कहते हैं । शिष्य या चेले दो प्रकार के होते हैं प्रथम, ब्रह्मचारी (या बाल ब्रह्मचारी) और द्वितीय, गृहस्थ जो वैराग्य धारण कर चुका हो मठ का प्रबंधक या आचार्य महंत होता है और वह (महंत) मठ की संपत्ति को न्यासी-स्वामी के रूप में मठ या संस्था के लिए धारण करता है ।[2]

आश्रम—जब कोई ऋषि किसी स्थान विशेष पर तपस्या हेतु रहने लगता है तो उस स्थान को आश्रम कहते हैं । आश्रम का शाब्दिक अर्थ है, जहां आकर श्रम किया जाए । संस्थापक ऋषि स्वयं तप के रूप में श्रम करता है और शिष्य भी तपस्या करते हैं । जहां योग, विद्याध्ययन, और तपस्या की जाय उस स्थान को आश्रम कहते हैं । आश्रम की संपत्ति का स्वामी गुरु ऋषि होता है । यह एक प्रकार की निजी संपत्ति होती है । प्राचीन काल में आश्रमों के पास अधिक संपत्ति होने का कारण यह था कि राजा लोग ऋषियों को दान तथा बंधान दिया करते थे और जो निजी संपत्ति राज्य द्वारा उत्तराधिकारी के अभाव में विरासत में प्राप्त की जाती थी उसका कुछ अंश भी राजा इन आश्रमों को दान कर देते थे । ऐसी संपत्ति ग्रहणकर्ता ऋषि की निजी संपत्ति होती थी और वही उसका प्रबंधक होता था ।

कालांतर में आश्रम भी इन्हीं कारणों से विधि-व्यक्ति माने गये । किसी आश्रम की संपत्ति के बारे में विवाद उठने पर संबंधित व्यक्ति भी वाद संस्थित कर सकता है या उसके विरुद्ध वाद संस्थित हो सकता है और आश्रम की ओर से या उसके विरुद्ध वाद मित्र द्वारा वाद संस्थित किया जा सकता है ।[3]

पीठ—किसी साधु-संन्यासी की समाधि को पीठ कहते हैं क्योंकि यह एक ऐसा स्थान होता है जिसकी स्थापना संन्यासी के समाधिस्थ होने के पश्चात् शिष्यों एवं अनुयायियों द्वारा होती है । पीठ के अध्यक्ष गद्दीधारी होते हैं इसीलिए इन्हें पीठाधीश्वर भी कहते हैं । वस्तुत: पीठ की स्थापना आश्रम के संस्थापक ऋषि के समाधिस्थ होने के पश्चात् होती है । समाधिस्थ ऋषि का वरिष्ठ शिष्य आश्रम और उसकी संपत्ति का स्वामी होता है । पीठ एक विधि-व्यक्ति है । इसके बारे में भी वही विधि लागू होती है जो मूर्ति के बारे में ।

हिंदू विधि में धार्मिक स्थलों की स्थिति

ब्रिटिश न्याय-पद्धति में गिरजाघर को एक विधि-व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त रहने से भारतीय धार्मिक स्थलों को विधि-व्यक्ति मानने में कोई कठिनाई सामने नहीं

---

[1] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 413 पृष्ठ 525.

[2] रामप्रकाश बनाम आनन्ददास, 43 आई० ए० 73 (पी० सी०).

[3] कृष्णसिंह बनाम मथुरा अहीर, ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 207.

आयी। भारत में अनेक प्रकार के धार्मिक स्थल हैं और, जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, उनके स्वरूप तथा उद्देश्य भिन्न हैं किन्तु विधि की दृष्टि से इन विभिन्नताओं का कोई महत्त्व नहीं है। मूर्ति[1], मठ[2], पीठ[3], आश्रम[3], आर्यसमाज मंदिर[3], जैन मंदिर[4] तथा गुरुद्वारा[4] आदि सभी न्याय जगत् में विधि-व्यक्ति होते हैं। ये सभी धार्मिक स्थल किसी जीवित व्यक्ति की भांति सम्पत्ति धारण करते हैं उसका प्रबंध करते हैं तथा विधिक आवश्यकता पड़ने पर उसे अन्यसंक्रांत कर सकते हैं, किन्तु धार्मिक स्थलों के ये सभी कार्य प्रबंधक द्वारा किये जाते हैं[5] क्योंकि विधि-व्यक्ति होते हुए भी इनमें जीवित व्यक्ति की भांति स्वतः कार्य संपादन करने की क्षमता नहीं होती।

धार्मिक स्थलों को वाद-संस्थिति का अधिकार

मंदिर की मूर्ति विधि व्यक्ति होने के नाते उसमें वाद संस्थित करने और उसके विरुद्ध वाद संस्थित किये जाने की शक्ति निहित है।[6] किन्तु व्यवहारतः मंदिर या देवता को समर्पित सम्पत्ति का कब्जा और प्रबंध सेवायत का होता है। फलस्वरूप उसे सम्पत्ति की रक्षा हेतु आवश्यक वाद संस्थिति का अधिकार प्राप्त होता है।[7] किसी मंदिर का प्रबंधक या देवोत्तर सम्पत्ति का सेवायत अपने नाम से वाद संस्थित कर सकता है उसे प्रतिनिधि के रूप में वाद संस्थित करना आवश्यक नहीं है।[8] अनेक सेवायत होने की दशा में किसी सेवायत के विरुद्ध हुआ निर्णय सभी सेवायतों के विरुद्ध निर्णय माना जाता है और यह आवश्यक नहीं है कि मूर्ति और अन्य सेवायतों को आवश्यक पक्षकार बनाया ही जाय।[9] मंदिर की सम्पत्ति के कब्जे और स्वत्व संबंधी विवाद उठने पर यदि सेवायत वाद संस्थित करने का अनिच्छुक या अशक्त है। तो भावी प्रबंधक या संस्थापक के उत्तराधिकारी या किसी संबद्ध व्यक्ति या अन्य मित्र द्वारा स्वयं देवता वाद संस्थित करने का अधिकारी है।[10] इस विषय पर उच्चतम न्यायालय[11] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि मूर्ति की पूजा-अर्चना में रुचि रखने वाले व्यक्ति को निश्चित रूप से उसके हितों की रक्षा हेतु प्रतिनिधित्व की अस्थायी शक्ति से समन्वित किया जा सकता है। अपवाद रूप में, प्रबंधक के अतिरिक्त भी कोई

---

1 कलंकदेवी संस्थान बनाम महाराष्ट्र राजस्व अधिकरण, ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 439.

2 कृष्णसिंह बनाम मथुरा अहीर, ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 707.

3 बी० के० मुखर्जी, हिंदू लॉ ऑफ रिलीजंस एंड चैरिटेबुल ट्रस्ट्स (चौथा संस्करण) पृष्ठ 328.

4 प्यारासिंह बनाम श्री गुरुग्रंथसाहब, ए० आई० आर० 1973 पंजाब-हरियाणा 470.

5 योगेन्द्रनाथ बनाम आयकर आयुक्त, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 1089.

6 प्रमथनाथ बनाम प्रद्युम्न कुमार, (1925) 52 आई० ए० 245.

7 महाराजा जगदीशचन्द्रनाथ राय बनाम हेमंतकुमारी, 31 आई० ए० 203.

8 जयनाथ सरकार बनाम हरिमोहनदास, 59 आई० सी० 469.

9 विधुशेखर बनाम कुलपदप्रसाद, 50 आई० सी० 525.

10 सुषमा राय बनाम अतुल्यकृष्ण, ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 624.

11 विश्वनाथ बनाम राधावल्लभजी, ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1044.

व्यक्ति धार्मिक स्थल की रक्षा हेतु वाद संस्थित कर सकता है।[1] यदि प्रबंधक की गतिविधियां धार्मिक स्थल के हित में नहीं हैं, तो पूजा-अर्चना में रुचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति मूर्ति की ओर से प्रबंधक के विरुद्ध वाद संस्थित कर सकता है।[2]

धार्मिक स्थलों के विभिन्न पदाधिकारियों की स्थिति

सेवायत—मंदिर संबंधी सम्पत्ति का सेवायत पदेन प्रशासक होता है। सेवायत की अवधारणा में मूर्ति की पूजा-अर्चना और सम्पत्ति दोनों ही सम्मिलित हैं और इनमें से किसी एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।[3] मंदिर की सम्पत्ति की बाबत वह एक न्यासी होता है और मंदिर की सेवा और उससे संबंधित कर्तव्यों की बाबत वह एक पदाधिकारी होता है।[4] उसे मात्र पुजारी या अर्चक नहीं माना जा सकता।[5]

सेवायत अपना पद आजीवन धारण करता है और सम्पूर्ण सम्पदा उसी में निहित होती है भले ही अन्यसंक्रामण की उसकी शक्ति सशर्त और प्रतिबंधित होती है।[6] यदि एक मंदिर के एक से अधिक सेवायत हों तो सह-सेवायतों की स्थिति कुछ अर्थों में सह-न्यासियों की सी होती है। वे निगमित निकाय के रूप में होते हैं और उन्हें अपने पद से संबंधित कर्तव्य का पालन संयुक्त रूप से करना चाहिए[7] क्योंकि वे परस्पर सह-भागीदार न होकर सह-अर्चक होते हैं।[8] वस्तुतः एक मूर्ति के एक से अधिक सेवायत विधि की दृष्टि में एक ही शरीर के रूप में होते हैं।[9]

कोई व्यक्ति प्रतिकूल कब्जे के आधार पर सेवायती पद का दावा नहीं कर सकता, चाहे वह कितने ही लम्बे काल तक सेवायत क्यों न रहा हो क्योंकि ऐसी संकल्पना सभी प्रकार से शून्य है।[10]

सेवायत पद का अन्यसंक्रामण

कोई सेवायत अपने पद को विल या दान द्वारा अन्यसंक्रान्त कर सकता है। किन्तु न तो मंदिर और न ही मूर्ति या सेवायती अधिकार धन संबंधी प्रतिफल के लिए अन्यसंक्रांत

---

1 किशोर **बनाम** गुमान, ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 1.
2 भागवत **बनाम** अयोध्यादास, ए० आई० आर० 1978 उड़ीसा 794.
3 हिंदू धार्मिक विन्यास आयुक्त, मद्रास **बनाम** स्वामियार, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 282.
4 मोतीदास **बनाम** एस० पी० शाही, ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 942.
5 श्रीकालीमाता ठकुरानी **बनाम** जीवबंधन, ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1329.
6 कुंजमणिदास **बनाम** निकुंजबिहारी, 32 आई० सी० 823.
7 अब्दुलगफूर मंडल **बनाम** उमाकांत पंडित, 24 आई० सी० 266.
8 नरेन्द्रनाथकुमार **बनाम** अतुल्यचन्द्र बंद्योपाध्याय, 41 आई० सी० 827.
9 अंगूरबाला मलिक **बनाम** देवव्रत मलिक, ए० आई आर० 1951 एस० सी० 293; नन्दलाल **बनाम** केशरलाल, ए० आई० आर० 1975 राजस्थान 226.
10 श्री श्रीईश्वर **बनाम** सुशीलाबाला, (1954) एस० सी० आर० 407.

हो सकता है। ऐसा अन्यसंक्रामण अवैध और शून्य होगा।[1] मामले के तथ्य और परिस्थितियों के अनुरूप सेवायती अधिकार का अन्यसंक्रामण विल द्वारा हो सकता है। किन्तु अन्तर यह है कि अन्य संपत्तियों की भांति सेवायती अधिकार, पूर्णतया अन्यसंक्रामण योग्य नहीं हो सकता क्योंकि यह एक ऐसा पद है, जिसके साथ कुछ धार्मिक और आध्यात्मिक कर्त्तव्य भी जुड़े हैं। उसी प्रकार यह मत कि सेवायती अधिकार की अवधारणा में संपत्ति का तत्त्व होने से इसका अन्यसंक्रामण कदापि नहीं हो सकता, मान्य नहीं है। जब-तक कि हिन्दू विधि में पूर्ण रोक नहीं हो या धार्मिक विन्यास के विलेख में प्रत्यक्षतः प्रतिषिद्ध नहीं हो, सेवायती अधिकार के दान या विल द्वारा अन्यसंक्रामण करने की सेवायत की शक्ति पर कोई परिसीमन नहीं होना चाहिए।[2] आनुवंशिक सेवायती पद यदि बारी-बारी से उपयोग में लाया जाता है तो वह स्थावर सम्पत्ति है और उसका दान निर्बन्धित विलेख द्वारा ही होना चाहिए।[3] सेवायत को विधि में यह भी हक है कि वह सेवायती का समर्पण सहसेवायत या अन्य सेवायत को कर सकता है जो उसके पश्चात् न्यागमन के क्रम में हो।[4]

महंत—महंत संस्थान का प्रधान होता है।[5] इस रूप में वह आध्यत्मिक प्रधान भी होता है।[6] मठ या स्थल की संपत्ति महंत द्वारा न्यासी के रूप में मठ या संस्थान के लिए धारण की जाती है। गद्दीधारी महंत में असंदिग्ध रूप से विशाल प्रशासनिक शक्ति निहित होते हुए भी संपत्ति एक न्यास के रूप में होती है, जिसका उसे आदर करना ही होता है।[6] उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि विधि में मठ की सम्पत्ति की बाबत महंत की स्थिति न्यासी की ही है।[7] फिर भी उसकी स्थिति न्यासी शब्द के सामान्य अर्थों में नहीं होती अपितु विधि-दृष्टि में मठ के स्थायी विन्यास और अनुयायियों के चढ़ावे से हुई आय की पूर्ण संपत्ति में उसकी संपदा आजीवन होती है और उस पर केवल संस्थान के संरक्षण का ही भार होता है। वाक्यांश 'संस्थान के संरक्षण के भार' को इस रूप में समझा जाना चाहिए कि उसमें मठ का संरक्षण, उसके प्रधान तथा उसके अनुयायियों का पोषण और मठ से संबंधित धार्मिक तथा अन्य पूर्त कृत्यों का रूढ़ि के अनुसार किया जाना समाहित है।[8] महंत मठ की संपत्ति का स्वामी नहीं होता।[9] सामान्यतया किसी वैध रूढ़ि के अभाव में

---

[1] कालीकिंकर **बनाम** पन्ना, ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1932.

[2] शोभावती दासी **बनाम** काशीनाथ देव, ए० आई० आर० 1972 कलकत्ता 95. नन्दलाल **बनाम** केशरलाल, ए० आई० आर० 1975 राजस्थान 226.

[3] रामरत्न **बनाम** बजरंग लाल, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1393.

[4] कल्याणदास **बनाम** रणवीरदास, ए० आई० आर० 1980 एन० ओ० सी० 123 (इलाहाबाद).

[5] रामप्रकाश **बनाम** आनन्ददास, 43 आई० ए० 73 (पी० सी०).

[6] अरुणाचलम् चेट्टी **बनाम** वेंकटाचलपति गुरुस्वामी, 46 आई० ए० 204 (पी० सी०)

[7] देवसी कमानी नटराज देसीकर **बनाम** वल्ली-अम्मी अची, 52 आई० सी० 914.

[8] कृष्णसिंह **बनाम** मथुरा अहीर, ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 707.

[9] परसनियां **बनाम** हरिचरणदास, 16 आई० सी० 588.

मठ-संपत्ति की आय की बचत पर मठ के प्रधान के रूप में महंत का कोई लाभ संबंधी हित नहीं होता।[1] किसी धार्मिक और पूर्त संस्थान का प्रधान (महंत) अपने पद के लिए सौदा नहीं कर सकता; न ही वह जिस संस्थान का अधिकृत व्यक्ति होता है, उसके संविधान को संशोधित कर सकता है।[2]

महंत पद का अन्यसंक्रामण—महंत का पद आजीवन चलता है। उसे इस पद का अन्यसंक्रामण करने का हक प्राप्त नहीं है। वह केवल अपना उत्तराधिकारी ही नामनिर्दिष्ट कर सकता है। वह भी रूढ़ि के अनुसार वरिष्ठ शिष्य को, यदि ऐसी कोई रूढ़ि हो।[3] किंतु यदि मठ का महंत (पट्टाधिकारी) अपने विवाह के पश्चात् कोई उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट करे और नियुक्त करे तो वह अवैध होगा[4] क्योंकि उसे नियमतः ब्रह्मचर्य का पालन करना है और विवाह करने मात्र से वह अयोग्य हो जाता है। कोई आयोग्य व्यक्ति अपना वारिस नियुक्त नहीं कर सकता।

महंत की योग्यता—महंत को आजीवन ब्रह्मचारी और संन्यासी होना चाहिए।[4] विवाह करते ही उसका संन्यासाश्रम समाप्त हो जाता है, और वह गृहस्थ हो जाता है। इससे उसकी महन्ती की योग्यता समाप्त हो जाती है। महंत के विवाह करते ही महंती गद्दी रिक्त हो जाती है।[4] किंतु इसके कुछ अपवाद हैं। कहीं-कहीं विवाहित महंत भी होते हैं और महंत का न्यागमन उसके निजी उत्तराधिकारी या वारिस को होता है।[5] ऐसे मठ जहां किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों को दीक्षित करके प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था होती है वहां का महंत अवश्य ही ब्रह्मचारी और संन्यासी होना चाहिए किंतु जहां महंत की स्थिति किसी मंदिर के पुजारी की रहती है, वहां विवाहित व्यक्ति भी महंत हो सकता है।

अर्चक, पुजारी या धर्माधिकारी—अर्चना पूजा से भिन्न नहीं है किन्तु अर्चन शब्द का प्रयोग देवी या देवता के नाम का जप करते समय फूल, बेलपत्र आदि चढ़ाने के लिए किया जाता है। अर्चन मंगलाचरण और स्तुति से अधिक संबंधित है और पूजन मानसिक अभिवृत्ति से।[6] जो व्यक्ति ऐसे कार्यों से संबद्ध होता है, उसे पुजारी या अर्चक कहते हैं। अर्चक पद के दावेदार को यह सिद्ध करना आवश्यक है कि वह मंदिर में मंत्रोच्चारण की क्षमता रखता है।[7] अर्चक को न्यासी या न्यासियों अथवा सेवायत के अधीन रह कर कार्य करना होता है। मंदिर के अर्चक द्वारा न्यासियों के आदेशों की अवहेलना उचित नहीं है।[8] मंदिर

1 43 आई० ए० 73; ओवला वेंकटाचलपति अय्यर **बनाम** त्रिज्ञान संबंध भंडार सन्निधि, 42 आई० सी० 273.

2 कृष्णदयाल गिरि **बनाम** लालधारी गिरि, 40 आई० सी० 276.

3 कृष्णसिंह **बनाम** मथुरा अहीर, ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 707.

4 एन० पी० वी० एम० हीरामठ **बनाम** वी० एस० एम० के० हीरामठ, ए० आई० आर० 1976 कर्नाटक 103.

5 तुलसीराम **बनाम** रमाप्रसन्न, ए० आई० आर० 1956 उड़ीसा 41.

6 अमृतेश्वर पंडित **बनाम** मुरुगप्पाचेट्टियार, 27 आई० सी० 886.

7 लक्ष्मीनरसिंहम् **बनाम** प्रतिपात्तिलक्ष्मीनारायण, 24 आई० सी० 825.

8 नीलिरंगस्वामी मुदालियर **बनाम** हरिकृष्ण भट्टाचारियर, 54 आई० सी० 281.

के अर्चक को यदि न्यासी त्रुटिपुर्ण ढंग से पृथक् कर दें तो वह पद से हटा दिये गये समय की चढ़ावे की हानि की क्षतिपूर्ति पाने का हकदार है भले ही चढ़ावे शुद्ध ऐच्छिक प्रकृति के होते हों।[1] इस प्रकार अर्चक या पुजारी मंदिर का कर्मचारी होता है और उसकी स्थिति सेवायत या महंत से भिन्न होती है।[2] किन्तु छोटे मंदिरों में जहां आय कम हो वहां न्यासी और पुजारी एक ही व्यक्ति हो सकता है।[3]

धर्मकर्त्ता—धर्मकर्त्ता प्रबंधक नहीं होता और उसके अधिकार न्यासी से अधिक नहीं होते। इस रूप में वह सेवायत या मठ के महंत से भिन्न होता है।[4] वस्तुतः धर्मकर्त्ता दक्षिण के मंदिरों या धर्मस्थलों में होते हैं। दक्षिण के धर्मकर्त्ता और उत्तर के पुजारी, अर्चक, महंत, मठाधीश और सेवायतों के कार्यों में अत्यधिक अंतर है। धर्मकर्त्ता मात्र एक प्रबंधक होता है। उसके दायित्व न्यासी के होते हैं किंतु वह एक पद धारण करता है। यह पद व्यक्तिशः, सामूहिक रूप से, या एक कुटुंब द्वारा या अनेक कुटुंबों द्वारा धारण किया जा सकता है। मंदिर और उसकी संपत्तियों की बाबत धर्मकर्त्ता की सेवाएं कर्त्तव्यों और आभारों की गठरी होती है जिसे वह अवैतनिक पद के रूप में धारण किये रहता है। इससे उसके पद का मान-सम्मान नहीं होता, अपितु उसे सामान्यतया अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह दर्शनार्थ आये प्रमुख व्यक्तियों का आदर सत्कार करके करना होता है।[5] धर्मकर्त्ता पद की नियुक्ति आदि में धार्मिक विन्यास के संस्थापक को पूर्ण अधिकार होता है और वह जैसा चाहे कर सकता है।[5]

देवोत्तर संपत्ति का अन्यसंक्रामण— हिंदू विधि के अधीन देवोत्तर संपत्ति का अन्यसंक्रामण मात्र वैध आवश्यकता या संपदा के फायदे हेतु किया जा सकता है। वैध आवश्यकता के लिए यह आवश्यक है कि संपदा पर ऐसा दवाव पड़ रहा हो कि अन्यसंक्रामण के बिना संपदा की अनुरक्षा संभव नहीं हो। संपदा का लाभ या अन्यान्य मामलों में लागू आवश्यकता की संक्षिप्त परिभाषा दिया जाना असंभव है। संपदा को विनाश से बचाना, संपदा को प्रभावित करने वाले पक्षद्रोही विवादों के विरुद्ध प्रतिवाद, संपूर्ण संपदा या उसके किसी अंश को जोखिम से बचाना, नदियों के कटाव से अनुरक्षण आदि तथ्य स्पष्टतः लाभ हैं। आवश्यकता का अर्थ वास्तविक अनिवार्यता न होकर एक प्रकार का ऐसा दबाव है, जिसे विधि गंभीर और पर्याप्त माने।[6] वैध आवश्यकता संबंधी बिवाद उठने पर अन्यसंक्रांती(क्रेता) को यह सिद्ध करना होगा कि संपत्ति का उसे अंतरण वैध आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ था

---

1 बालसुब्रह्मणियन शास्त्री **बनाम** पुन्नुस्वामी अय्यर्, 54 आई० सी० 721.

2 वरिवशवराय **बनाम** भक्तिलिंगद गद्दीमठ, ए० आई० आर० 1973 मैसूर 280,

3 वेंकटरामन् **बनाम** पीएलिए तनगप्पा, ए० आई० आर० 1972 मद्रास 119.

4 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ उपबंध 414, पृष्ठ 529.

5 के० नानतुर्ननाथ **बनाम** सुंदरलिंगम्, ए० आई० आर० 1971 मद्रास.

6 श्रीधरसुवार **बनाम** जगन्नाथ मंदिर, ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1860; योगेन्द्रनाथ **बनाम** शासकीय रिसीवर, ए० आई० आर० 1975 कलकत्ता 389; चेवालियर् आई० आई० अय्यप्पन् **बनाम** धर्मोदयन् कंपनी, त्रिचूर, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1017.

और उसने इस तथ्य की जांच कर ली थी। देवोत्तर संपत्ति को वैध आवश्यकता पड़ने पर प्रीमियम हेतु बिना किराये अथवा निश्चित किराये पर स्थायी या अस्थायी पट्टे पर उठाया जा सकता है।[1] किंतु पट्टेदार को स्वतंत्र रूप से वैध आवश्यकता की जांच कर लेना चाहिए और मंदिर के खाते या दस्तावेज का निरीक्षण किये बिना मात्र सेवायत के मौखिक कथन पर विश्वास करके यदि वह पट्टा ले ले तो वह अवैध है।[2] इस मामले में भी अन्यसंक्रामण की परिस्थितियों के औचित्य को सिद्ध करने का भार अन्यसंक्रांती पर ही होता है।[3] वास्तविक जांच की यह अपेक्षा है कि व्यक्ति ने अवश्य ही युक्तिपूर्वक और सद्भाव से कार्य किया हो।[2]

ऋण धनराशि के भुगतान हेतु ऋणदाता द्वारा वाद-संस्थिति

यदि सेवायत या महंत वैध आवश्यकता हेतु ऋण की संविदा करता है तो ऋणदाता को सेवायत के विरुद्ध देवोत्तर संपत्ति की आय से डिक्री हुई धनराशि के भुगतान हेतु डिक्री पाने का हक है भले ही ऋण की जमानत (प्रतिभूति) के लिए संपत्ति पर किसी अभिभार का उल्लेख न हो। ऋणी सेवायत की मृत्यु हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी के विरुद्ध ऋणदाता को इसी प्रकार का हक है।[4]

यदि ऋणी सेवायत या उसका उत्तराधिकारी निश्चित काल के अंदर डिक्री धनराशि का भुगतान नहीं कर दे तो न्यायालय को यह शक्ति है कि वह रिसीवर नियुक्त कर दे जो देवोत्तर संपत्ति की और चढ़ावे आदि से धार्मिक कृत्यों, विशिष्ट समारोहों और महंत या सेवायत के पोषण की उचित व्यवस्था करने के पश्चात् शेष धनराशि का उपयोग वादी के ऋण के भुगतान में तब तक करे जब तक वह चुकता न हो जाए।[5] किंतु सेवायत या महंत के विरुद्ध डिक्री के निष्पादन में मंदिर का विक्रय नहीं हो सकता है।[6]

महंती गद्दी का न्यागमन—महंती गद्दी का न्यागमन प्रत्येक मठ की रूढ़ियों पर निर्भर होता है। प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'महंत, उनके पद, कार्य और कर्तव्यों से संबंधित विधि परम्परा और व्यवहार में पायी जाती है जिसे साक्षियों द्वारा सिद्ध होना चाहिए'।[7] विविध परंपराओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

(1) महंत द्वारा अपने उत्तराधिकारी का नामनिर्देशन—अधिकांश मठों में यह

---

1 प्रसन्नकुमार **बनाम** श्रीजगन्नाथ यहूदी, ए० आई० आर० 1971 उड़ीसा 246 (पूर्णपीठ) :

2 योगेन्द्रनाथ **बनाम** शासकीय रिसीवर, ए० आई० आर० 1975 कलकत्ता 389.

3 गदिज्जिय्या वीरय्याकालमय **बनाम** विष्णुदेव, ए० आई० आर० 1973 मैसूर 207.

4 श्री श्रीईश्वरगोपाल जीव **बनाम** प्रतापमल्ल, ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 21 ; बिबुध प्रिय **बनाम** लक्ष्मेन्द्र, ए० आई० आर० 1927 पी० सी० 131.

5 नीलाद्रि साहु **बनाम** महंत चतुर्भुजदास, ए० आई० आर० 1926 पी० सी० 112.

6 मुकुंदजी महाराज **बनाम** पुरुषोत्तम, ए० आई० आर० 1957 इलाहाबाद 77.

7 गिरधारीदास **बनाम** नंदकिशोरदास, (1867) 11 एम० आई० ए० 405; रामप्रकाश दास **बनाम** आनन्ददास, ए० आई० आर० 1916 पी० सी० 256; 43 आई० ए० 73.

परंपरा है कि महंत अपने जीवनकाल में ही किसी जीवित व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त या विल द्वारा नामनिर्दिष्ट कर देता है।[1] किंतु उसे यह अधिकार नहीं होता कि वह उत्तराधिकारी के नामनिर्देशन की शक्ति को किसी अन्य को अंतरित कर दे।[1] महंत अपने पूर्ववर्ती विल को पश्चात्वर्ती विल द्वारा रद्द करके किसी दूसरे शिष्य को उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट कर सकता हैं।[2]

(2) **एक ही संप्रदाय के मठाधीशों द्वारा महंत के उत्तराधिकारी का निर्वाचन**—कुछ मठों में यह भी परंपरा या रूढ़ि पायी जाती है, कि यदि एक ही संप्रदाय या शाखा के अनेक मठ एक क्षेत्र में हों तो उनके मठाधीश, महंत के समाधि ले लेने (मृत्यु) के पश्चात्, उत्तराधिकारी चुनते हैं।[2]

(3) **शिष्यों में से महंत के उत्तराधिकारी का निर्वाचन**—कुछ मठों में यह भी परंपरा है कि महंत के समाधि ले लेने पर उसके शिष्यगण महंती गद्दी के लिए परस्पर सहमति से अपने बीच से किसी एक का चुनाव करते हैं।[2]

(4) **वरिष्ठ शिष्य को उत्तराधिकारी मानने की परंपरा**—अनेक मठों में यह भी परंपरा है कि महंत के शिष्यों में जो वरिष्ठतम शिष्य हो वही उसके समाधि लेने पर उसकी गद्दी का उत्तराधिकारी होता है।[3] वस्तुतः यह उस परंपरा या रूढ़ि का द्योतक है, जिसमें धार्मिक पद वंशानुगत होता है। अब यह विधि सुस्थिर हो चुकी है कि धार्मिक पद आनुवंशिक हो सकता है अतः इस प्रकार का पद स्वभावतः संपत्ति होती है।

सेवायत का न्यागमन—सेवायती पद हिंदू संपत्ति है जिसके न्यागमन में संपत्ति की न्यागमन संबंधी हिंदू विधि लागू होती है किंतु सेवायत पद का न्यागमन मंदिर या देवोत्तर संपत्ति के संस्थापक की इच्छाओं पर भी निर्भर होता है। इसका न्यागमन निम्नलिखित प्रकार से होता है :—

(1) **विन्यास-विलेख में उल्लिखित व्यवस्थानुसार न्यागमन**—यदि संस्थापक ने सेवायत पद के न्यागमन हेतु विन्यास विलेख में कोई रूप रेखा उल्लिखित कर दी है, तो न्यागमन उसी के अनुसार होगा।[4] किंतु यदि विलेख में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हो अथवा उसमें उल्लिखित उत्तराधिकार की रूपरेखा समाप्त हो चुकी हो तो संपत्ति का हक या संपत्ति का प्रबंध और नियंत्रण सामान्य हिंदू विधि के विरासत नियम के अनुसार होगा। तात्पर्य यह है कि न्यागमन संस्थापक के उत्तराधिकार क्रम का अनुगामी होता है और उसके वारिसों को प्राप्त होता है।[5] संस्थापक के कुटुंब में यदि एक ही उत्तराधिकारी

---

[1] 11 एम० आई० ए० 405.

[2] रमासन्न **बनाम** सुंदरसन, ए० आई० आर० 1961 उड़ीसा 137.

[3] हिंदू धार्मिक विन्यास आयुक्त, मद्रास **बनाम** श्री लक्ष्मेंद्रतीर्थ स्वामियार, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 282; राजकालीकुंअरि **बनाम** रामरतन पाण्डेय, ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 493.

[4] चोक्कलिंग सेतुरायर **बनाम** असमानायकम, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 569; अनाथबंधु **बनाम** कृष्णलाल, ए० आई० आर० 1979 कलकत्ता 168.

[5] चोक्कलिंग सेतुरायर **बनाम** असमानायकम्, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 569; गणेशचन्द्र धर **बनाम** लालबिहारी धर, (1936) 63 आई० ए० 448.

को संपत्ति न्यागत होती हो, तो सेवायत पद भी उसी एक ही उत्तरधिकारी को होगा जिसे कौटुंबिक संपत्ति न्यागत होगी।[1] उत्तराधिकार का यह नियम उस मामले में भी लागू होगा जिसमें सेवायत के नामांकन हेतु समिति का गठन हुआ हो और समिति का अस्तित्व समाप्त हो चुका हो।[2] किंतु इस नियम से उन व्यक्तियों को सेवायत नहीं बनाया जा सकता जो परंपरानुसार पूजा नहीं कर सकते[3] क्योंकि सेवायत पद के साथ देवता की परंपरानुसार पूजा और धार्मिक कृत्य जुड़े हैं। यदि संस्थापक ने सेवायत पद का कोई ऐसा उत्तराधिकार क्रम बना दिया हो, जो हिंदू विधि के उपबंधों के विपरीत हो, तो वह शून्य है।[4]

(2) **संयुक्त सेवायतों की नियुक्ति की व्यवस्था के अनुसार न्यागमन**---यदि संस्थापक ने विन्यास विलेख में एक से अधिक सेवायतों की व्यवस्था कर दी हो तो सेवायत पद का न्यागमन उसी के अनुसार होगा किंतु इसे भी सामान्य हिंदू विरासत विधि के अनुरूप होना चाहिए।[5] इसके लिए यह आवश्यक है कि वह संयुक्त सेवायतों की नियुक्ति भी कर चुका हो। अनेक सेवायत होने की स्थिति में जिस सेवायत की मृत्यु होती है, उसी का पद उसके उत्तराधिकारी को न्यागत होता है। अन्य सेवायत अपने-अपने पद पर बने रहते हैं। यदि देवोत्तर संपत्ति के प्रबंध और पूजा-अर्चना हेतु परस्पर कार्य का विभाजन हो गया हो और प्रत्येक सेवायत के कार्य पृथक्-पृथक् हों तो उस कार्य पर नियुक्त सेवायत का उत्तराधिकारी भी उसी का कार्य-भार संभालेगा। जहां सभी सेवायतों द्वारा संयुक्त रूप से देवोत्तर संपत्ति की व्यवस्था और पूजा-अर्चना की जाती है वहां मृत सेवायत का उत्तराधिकारी सेवायत मंडल का एक सदस्य हो जाता है और उसे भी वे ही अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः संयुक्त सेवायतों की स्थिति संयुक्त हिंदू कुटुंब जैसी होती है और देवोत्तर संपत्ति संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति जैसी होती है।[6] जिस प्रकार संयुक्त हिंदू कुटुंब के एक सदस्य की मृत्यु होने पर उत्तराधिकारी को उसके सभी हक और अधिकार प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार संयुक्त सेवायतों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी को संयुक्त सेवायतों को कार्य और प्रबंध आदि का संपत्ति के रूप में विभाजन का भी अधिकार है।[6]

(3) **संपत्ति की भांति न्यागमन**—सेवायती को संपत्ति मान लिये जाने से इसका न्यागमन हिंदू विधि में संपत्ति की भांति होता है।[7] किंतु संपत्ति की भांति न्यागत

---

1 ऐश्वर्यनंदजी **बनाम** शिवजी, ए० आई० आर० 1926 मद्रास 84.

2 धर्मनारायण **बनाम** सूर्यनारायण, ए० आई० आर० 1941 इलाहाबाद 1.

3 मोहनलालजी **बनाम** गुरुधनलालजी, 40 आई० ए० 17; श्रीशंकरेश्वर **बनाम** भगवती, ए० आई० आर० 1949 पटना 193.

4 अनाथबंधु **बनाम** कृष्णलाल, ए० आई० आर० 1979 कलकत्ता 168; हिरण्यबाला देवी **बनाम** विष्णुपद, ए० आई० आर० 1976 कलकत्ता 404.

5 अनाथबंधु **बनाम** कृष्णलाल, ए० आई० आर० 1919 कलकत्ता 168.

6 प्रेमथनाथ **बनाम** प्रद्युम्नकुमार, (1925), 52 आई० ए० 245 (पी० सी०); शेषाचार्युलु **बनाम** वेंकटाचार्युलु, ए० आई० आर० 1957 आंध्र प्रदेश 876.

7 प्रफुल्लचरण रिकवेती **बनाम** सत्यचरण रिकवेती, ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1682.

होते हुए भी सेवायती के साथ पद संबंधी कुछ कर्तव्य और व्यक्तिगत हित भी सम्मिश्रित हैं जो एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते।[1] इस पद के साथ जुड़े कर्तव्यों को प्रत्येक दशा में प्राथमिकता दी जाती है। अतएव उसे वही वारिस उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकता है जो इससे संबंधित कर्तव्यों और धार्मिक कृत्यों को करने योग्य हो।[2] वही सेवायती और वास्तविक संपत्ति के न्यागमन के सिद्धांतों में मूलभूत अंतर है। पुरुष वारिस के अभाव में स्त्री वारिस भी उपरिलिखित कारणों से सेवायती की उत्तराधिकारिणी हो सकती है।[3]

(4) **विल द्वारा नामनिर्देशन**—हिंदू विधि में यह विधि अब सुस्थिर हो चुकी है कि सेवायती पद संपत्ति है न कि मात्र पद, अतः यह विल द्वारा उत्तराधिकारी के नामनिर्देशन की विषय-वस्तु है।[4] यह स्पष्ट है कि जब एक व्यक्ति सेवायत नियुक्त होता है और उसे यह शक्ति रहती है कि वह अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सके तो वह विल या दान (पद-विमुक्ति) द्वारा अपना उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट कर सकता है। यदि सेवायत की मृत्यु बिना उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट किये ही हो जाए, तो सेवायती संस्थापक या उसके वारिसों को प्रत्यावर्तित हो जाएगी।[5] पहले विभिन्न उच्च न्यायालयों में इस विषय में मतभेद था कि सेवायत को विल द्वारा अपना उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट करने की शक्ति है अथवा नहीं। कलकत्ता उच्च न्यायालय का यह मत था कि जब-तक कोई रूढ़ि विल द्वारा उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट करने के औचित्य को सिद्ध नहीं करती, तब तक सेवायत एतदर्थ विल नहीं कर सकता।[6] इलाहाबाद उच्च न्यायालय का मत भी इसी प्रकार का है।[7] किंतु बंबई उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सेवायत को विल द्वारा उत्तराधिकार-क्रम में आने वाले योग्य व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट करने की शक्ति है।[8] जहां तक विल द्वारा उत्तराधिकारी नियुक्त करने की सेवायत की शक्ति का प्रश्न है, इसे कलकत्ता उच्च न्यायालय ने ही **शोभावतीदासी** बनाम **काशीनाथदेव**[9] के मामले में स्थिर कर दिया था कि संपत्ति की भांति सेवायती पद के उत्तराधिकारी का नामांकन (नामनिर्देशन) सेवायत विल द्वारा कर सकता है जब तक कि हिंदू विधि के उपबंधों में पूर्ण रोक या विन्यास विलेख में प्रत्यक्ष प्रतिषेध नहीं हो। इस निर्णय से उक्त मतभेद का अन्त हो जाता है।

---

1 हिंदू धार्मिक विन्यास आयुक्त, मद्रास **बनाम** श्रीलक्ष्मेंद्रतीर्थ स्वामियर, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 282.

2 राजकालीकुंअरि **बनाम** रामरत्न पाण्डेय, ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 443.

3 अंगूरबाला मलिक **बनाम** देवव्रत मलिक, ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 293.

4 बंकू बी० दास **बनाम** काशीनाथ एन० दास, ए० आई० आर० 1963 कलकत्ता 85; शोभावती दासी **बनाम** काशीनाथ, ए० आई० आर० 1972 कलकत्ता 95.

5 राधानाथ मुकर्जी **बनाम** शक्तिपद मुकर्जी, ए० आई० आर० 1936 इलाहाबाद 626.

6 राजेश्वर **बनाम** गोपेश्वर, आई० एल० आर० (1908) 35 कलकत्ता 226.

7 गोस्वामी पूर्णलाल जी **बनाम** रासबिहारीलाल, ए० आई० आर० 1922 इलाहाबाद 285.

8 मानचरण **बनाम** प्राणशंकर, आई० एल० आर० (1882) 6 मुंबई 298.

9 शोभावती दासी **बनाम** काशीनाथ, ए० आई० आर० 1972 कलकत्ता 95.

पुजारी-पद का न्यागमन—पुजारी का पद यदि आनुवंशिक चलने वाला हो, तो उसका न्यागमन हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अनुसार होगा। यदि धार्मिक विन्यास के संस्थापक ने विन्यास-विलेख में पुजारी पद के न्यागमन हेतु कोई निश्चित निर्देश दिया हो तो उसके अनुसार ही न्यागमन होगा। उदाहरणार्थ, यदि संस्थापक ने किसी व्यक्ति को पुजारी नियुक्त कर दिया और विलेख में यह व्यवस्था कर दी कि पुजारी का ज्येष्ठ पुत्र और उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र ही क्रमानुसार पुजारी होगा तो इसी के अनुसार पुजारी पद का न्यागमन होता रहेगा। पुजारी या उसके ज्येष्ठ वंशज की पुत्रहीन मृत्यु होने पर उसका कोई अन्य रक्त संबंधी इस पद का दावेदार नहीं हो सकता। इस स्थिति में सेवायत या संस्थापक के वारिसों को किसी अन्य व्यक्ति को पुजारी नियुक्त करने का अधिकार होगा।

किंतु यदि पुजारी पद सामान्य रूप से आनुवंशिक हो तो रूढ़ि या परम्परानुसार पुजारी की स्त्री संबंधी या वंशज भी उत्तराधिकारी हो सकती हैं और मंदिर की पूजा-अर्चना वह अपने किसी पुरुष सहायक द्वारा करा सकती हैं क्योंकि शास्त्रीय विधान किसी स्त्री को विधिवत् प्रतिष्ठित और स्थापित मंदिर की मूर्ति को पुजारिन होने की स्वीकृति नहीं देता।[1] उच्चतम न्यायालय ने भी इस प्रकार की रूढ़ि या परंपरा को **राजकाली-कुंअरि** बनाम **रामरत्न पाण्डेय**[2] के मामले में मान्यता दे दी है। किंतु पुजारी-पद के साथ पूजा-अर्चना के कर्तव्य और उत्तरदायित्व जुड़े होने से जो व्यक्ति इनका निर्वहन नहीं करता उसे हटाया जा सकता है भले ही पद आनुवंशिक क्यों न हो। प्राथमिकता और बल पुजारी पद के न्यागमन पर नहीं अपितु पूजा-अर्चना पर दिये जाते हैं।[3]

प्रबंध के अधिकार का अन्यसंक्रामण—सेवायत या महंत द्वारा देवोत्तर संपत्ति संबंधी प्रबंध के अधिकार का विक्रय किया जाना शून्य होगा[3] किसी मामले में हुई डिक्री के निष्पादन में भी सेवायती या महंती अधिकार का विक्रय नहीं हो सकता। इसके पक्ष में यदि कोई रूढ़ि सिद्ध हो तो भी इस प्रकार का विक्रय लोकनीति के विरुद्ध होने से न्यायालयों द्वारा अमान्य है। उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि वैध आवश्यकता और देवता के लाभ के आधार पर सेवायती अधिकार के अन्य संक्रामण का सिद्धांत प्रिवी कौंसिल की कुछ घोषणाओं की भ्रामक धारणा पर आधारित है।[4] कहने का तात्पर्य यह है कि प्रबंध संबंधी अधिकार के अन्यसंक्रामण का अधिकार सेवायत या महंत को नहीं होता।

संस्थापक और उसके अधिकार—जो व्यक्ति मूलत: विन्यास को स्थापित करता है वही उसका संस्थापक होता है।[5] यह आवश्यक नहीं है कि जितने व्यक्ति संस्थापना के समय

---

1 डी॰ एफ॰ मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ : उपबंध 419 ए, पृष्ठ 538.

2 ए॰ आई॰ आर॰ 1955 एस॰ सी॰ 493.

3 राजवर्मा **बनाम** रविवर्मा, 4 आई॰ ए॰ 76; कालीकिंकर **बनाम** पन्ना, ए॰ आई॰ आर॰ 1974 एस॰ सी॰ 1932.

4 कालीकिंकर **बनाम** पन्ना, ए॰ आई॰ आर॰ 1974 एस॰ सी॰ 1932.

5 नरसिंहय्या **बनाम** वेंकटरामप्पा, ए॰ आई॰ आर॰ 1976 कर्नाटक 43.

दान दें, वे सभी संस्थापक हों।[1] यह तभी संभव है जब दाता संस्थापक-मंडल में सदस्यता प्राप्त कर लें। जब तक वह न्यासी के रूप में मान्य नहीं हो जाता तब तक उसकी स्थिति मात्र प्रदाता की रहती है। विन्यास की स्थापना के पश्चात् जो व्यक्ति उसमें दान देते है उनकी स्थिति मात्र दानकर्त्ता की ही रहती है वे संस्थापक नहीं हो सकते।[2]

किसी मंदिर के संस्थापक को हिन्दू विधि के अधीन निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं—

(1) संस्थापक को मंदिर के प्रबंध और देवता की पूजा-अर्चना आदि का पूर्ण अधिकार होता है। जो व्यक्ति अपनी स्थावर या जंगम संपत्ति से किसी धार्मिक विन्यास का गठन करता है उसे इस प्रकार का अधिकार होना स्वाभाविक ही है। उसके ये अधिकार निजी अथवा सार्वजनिक दोनों ही प्रकार के विन्यासों में विधिमान्य हैं।[3] अपने इन अधिकारों पर संस्थापक स्वयं नियंत्रण लगा सकता है। विधि की दृष्टि में अपने अधिकारों को वह तब नियंत्रित करता है, जब उसने—

(क) प्रबंध या पूजा आदि हेतु कोई अन्य व्यवस्था कर दी हो, या

(ख) देवोत्तर संपत्ति के न्यागमन के ढंग आदि के संबंध में कोई भिन्न आधार या परंपरा उसके कुटुम्ब में प्रचलित हो।

(2) जब संस्थापक एक बार किसी अन्य व्यक्ति को अपनी ओर से प्रबंधक या सेवायत के रूप में कार्य करने हेतु नियुक्त कर देता है, तब वह उसके कार्यों का नियंत्रण या पर्यवेक्षक रहता है और उसके अभद्र आचरण के कारण उसे हटा सकता है। अपने को प्रबंध आदि मामलों से पृथक कर लेने पर संस्थापक प्रबंधक या सेवायत से प्रबंध के अधिकार हेतु वाद संस्थित नहीं कर सकता।[4]

(3) कोई हिंदू संस्थापक दान या विल द्वारा यह निर्देश नहीं दे सकता कि सेवायती पद शाश्वत रूप से उसके पुत्र, पौत्र या उसके पुरुष-वंशजों को न्यागत होता रहेगा।[6]

(4) दान का यह सामान्य नियम है कि दी हुई वस्तु का प्रतिसंहरण नहीं किया जा सकता।[5] एक वस्तु का दान एक ही बार किया जाता है, बार-बार नहीं।[7] जहां तक धार्मिक विन्यास का प्रश्न है, दाता या उसके वारिसों को यह अधिकार है कि जिस उद्देश्य

---

[1] ताथानप्पा चेट्टियार **बनाम** करुप्पन चेट्टियार, ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 913.

[2] नरसिंहय्या **बनाम** वेंकट रामप्पा, ए० आई० आर 1976 कर्नाटक 43.

[3] प्रकाशचंद्र नाग **बनाम** सुबोधचंद्र नाग, ए० आई० आर० 1937 कलकत्ता 67.

[4] गंगाराम **बनाम** दुब्बू, ए० आई० आर० 1936 नागपुर 223.

[5] रामकिशोरी दासी **बनाम** शासकीय न्यासी, ए० आई० आर० 1960 कलकत्ता 235.

[6] युगलमोहिनी **बनाम** शेषमणि, (1871) 14 एम० आई० ए० 289.

[7] सकृदाह ददानीति त्रण्येतानि सतां सकृत्। मनु० 9/47.

हेतु दान दिया गया था, उसकी पूर्ति न होने पर उससे मिलते-जुलते प्रयोजन हेतु संपत्ति का उपयोग कर-करा सकें ।[1] इसका कारण यह है कि जब दान दी हुई वस्तु प्रतिसंहृत नहीं की जा सकती है तब दानकर्त्ता या उसके उत्तराधिकारियों को यह अधिकार स्वभावतः होना चाहिए कि मूल उद्देश्य के विफल हो जाने पर संपत्ति का उपयोग उससे मिलते-जुलते प्रयोजन हेतु किया जा सके। किन्तु यदि अवैध होने से दान ही विफल हो जाए तो 'समानार्थ सिद्धांत' के अंतर्गत संपत्ति के उपयोग की मांग न्यासी द्वारा नहीं हो सकती और संबंधित संपत्ति प्रदाता की कौटुम्बिक संपत्ति बनी रहती है ।[2]

(5) यदि किसी धार्मिक या पूर्त कार्य हेतु कौटुम्बिक संपत्ति के किसी अंश विशेष की आय आरंभ में आबंटित कर दी जाए, तो यह आबंटन धार्मिक या पूर्त विन्यास नहीं होगा और संपत्ति कौटुम्बिक संपत्ति बनी रहेगी। यह एक अस्थायी व्यवस्था है जो धार्मिक या पूर्त कार्य को प्रारंभ करने हेतु संस्थापक द्वारा की जाती है। इस व्यवस्था को संस्थापक किसी भी समय समाप्त कर सकता है और आय प्रतिसंहृत कर सकता है ।[3]

सेवायत और महंत का निष्कासन—यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सेवायती एक ऐसा पद है, जिसका सृजन व्यवहारतः कर्तव्यों के आधार पर हुआ है। इसका प्रयोजन ही धार्मिक कृत्य है। जो व्यक्ति मंदिर के देवी या देवता की पूजा-अर्चना तथा इससे संबंधित अन्य धार्मिक कृत्यों को करने की क्षमता रखता है और करने का संकल्प लेता है, उसी को वस्तुतः सेवायत नियुक्त किया जाता है। यदि नियुक्ति के उपरांत वह व्यक्ति उन धार्मिक कृत्यों को उचित ढंग से नहीं करे तो उस सेवायत को पद से निष्कासित किया जा सकता है। सेवायत को निष्कासित करने या तत्संबंधित कार्यवाही करने का जिन व्यक्तियों को अधिकार है, उनमें संस्थापक, सहसेवायत और पूजा में रुचि रखने वाले व्यक्ति आते हैं। इनको अधिकारों का पृथक्-पृथक विवेचन नीचे किया जा रहा है—

(1) **संस्थापक**—यह संस्थापक का मूलभूत अधिकार है कि वह यह देखता रहे कि जिस विन्यास या मंदिर की स्थापना वह कर रहा है, उसका कारबार और पूजापाठ सुचारु रूप से चले। इसी अधिकार का प्रयोग करके संस्थापक सेवायत को कर्तव्यों का अनुपालन न करने के आरोप में निष्कासित कर सकता है और उसके स्थान पर दूसरा सेवायत नियुक्त कर सकता है ।[4] संस्थापक का यह अधिकार उसकी मृत्यूपरान्त उसके वंशजों को प्राप्त होता है[5] क्योंकि वे संस्थापक के रक्तांश होते हैं और उनका यह उत्तरदायित्व है कि वे पूर्वज संस्थापक के उन पारलौकिक हितों की रक्षा करते रहें जिनके लिए उसने विन्यास या मंदिर की स्थापना की थी। संस्थापक के उस धार्मिक कृत्य में वंशजों का हित भी अन्तर्ग्रस्त होता है क्योंकि पूर्वज द्वारा किये गये धर्म से वंशज भी लाभान्वित होते हैं। यदि सेवायत

---

[1] रामनारायण **बनाम** रमण, (1874) 23 डब्ल्यू० आर० 76.

[2] कारुपन्नम् अम्बलम् **बनाम** त्रिमल्ली अम्बलम्, ए० आई० आर० 1962 मद्रास 500.

[3] चतुर्भुजसिंह **बनाम** शारदाचरण गुह, ए० आई० आर० 1933 पटना 6.

[4] गंगाराम **बनाम** दुब्बू, ए० आई० आर० 1936 नागपुर 223.

[5] प्रफुल्लचरण **बनाम** सत्यचरण, ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 569.

मंदिर से संबंधित धार्मिक कृत्य नहीं करे तो इससे वंशजों का लौकिक-पारलौकिक हित भी स्वतंत्र रूप से प्रभावित होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर कर्तव्यच्युत सेवायत को निष्कासित करने की शक्ति संस्थापक के वंशजों में निहित रहती है जिसका प्रयोग वे आवश्यकता पड़ने पर कर सकते हैं। संस्थापक के उत्तराधिकारियों को उक्त शक्ति इसलिए प्राप्त हो जाती है कि हिन्दू-विधि में उत्तराधिकार मृत स्वामी के पारलौकिक हितों से पूर्णतया संबद्ध होता है, और उत्तराधिकारियों को मृतक के पारलौकिक हितों के लिए कार्य करना आवश्यक है। कर्तव्यच्युत सेवायत को निष्कासित करने की शक्ति संस्थापक का उत्तराधिकारी उक्त सिद्धांत के अन्तर्गत ही प्राप्त करता है। यदि सेवायत देवोत्तर संपत्ति का रख-रखाव या स्थापित देवता की पूजा-पाठ सुचारु रूप से नहीं करेतो संस्थापक, उसका वंशज या उत्तराधिकारी उसे निष्कासित कर सकता है।[1]

(2) **सह-सेवायत**—यदि किसी विन्यास या मंदिर के एक से अधिक सेवायत हैं तो उनमें से जो सेवायत धार्मिक कृत्यों का पालन नहीं करता हो उसे निष्कासित करने की कार्यवाही वैधानिक प्रक्रिया के माध्यम से की जा सकती है। किसी सह-सेवायत को यह अधिकार प्राप्त है कि कर्तव्यच्युत अन्य सह-सेवायत के निष्कासन हेतु वाद संस्थित कर सके।[2] किंतु किसी सेवायत में अपने सह-सेवायत को निष्कासित करने की शक्ति नहीं होती। उसे अपने अधिकार का प्रयोग विधि की सामान्य प्रक्रिया में ही करना पड़ता है और यह सिद्ध करना पड़ता है कि संबंधित सह-सेवायत मंदिर या विन्यास संबंधी धार्मिक कृत्य सुचारु रूप से नहीं करता। सह-सेवायत का उक्त अधिकार संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत पर आधारित है जिसका प्रयोग वह विधि प्रक्रिया में आवश्यकता पड़ने पर कर सकता है।

(3) **मूर्ति की पूजा में रुचि रखने वाला सामान्य व्यक्ति**—समाज का कोई भी व्यक्ति, जो मंदिर में पूजा-अर्चना करता है, मंदिर के रख-रखाव और समारोहों आदि में शिथिलता आने अथवा देवोत्तर संपत्ति विनष्ट होने अथवा उसकी आय का दुरुपयोग होने पर एक प्रतिनिधि के रूप में वाद संस्थिति द्वारा सेवायत के निष्कासन या लेखा-जोखा प्रस्तुत करने की मांग कर सकता है।[3] किंतु जब तक प्रबंधक अथवा सेवायत के विरुद्ध आय या देवोत्तर संपत्ति के कपटपूर्ण दुर्विनियोग का आरोप सिद्ध नहीं हो, तब-तक उसके निष्कासन का आधार नहीं बनता। ऐसे मामले में न्यायालय सेवायत के कार्यों के निरीक्षण और नियंत्रण हेतु एक समिति की नियुक्ति कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर मंदिर के प्रबंध के लिए एक योजना बना सकता है। यदि सेवायती पद आनुवंशिक हो तो भी न्यायालय की एतत् संबंधी अधिकारिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[4] निजी मंदिर के मामले में भी न्यायालय को प्रबंध संबंधी योजना बनाने की शक्ति है।[5] समाज के सदस्य का उक्त

---

1 अयोध्याप्रसाद **बनाम** संगमलाल, (1971) एस० सी० डब्ल्यू० आर० 352.

2 निर्मलकुमार बनर्जी **बनाम** ज्योतिप्रसाद बनर्जी, ए० आई० आर० 1941 कलकत्ता 562.

3 पुत्तीबाई **बनाम** श्रीदेवमंदिर, ए० आई० आर० 1942 नागपुर 105.

4 नीलअप्पा **बनाम** पुन्नेवनम्, ए० आई० आर० 1927 मद्रास 614.

5 रामचंद्र **बनाम** जानकीवल्लभजी, ए० आई०आर० 1970 एस० सी० 532.

अधिकार इसलिए विधिमान्य है कि इससे उसके धार्मिक हितों की रक्षा होती है। किसी भी व्यक्ति के धार्मिक हित के प्रभावित होने पर उसे न्याय की सामान्य प्रक्रिया से उपचार पाने का हक है।

विन्यास के भेद—विन्यास दो प्रकार के होते हैं—निजी तथा सार्वजनिक। हिंदू विचारधारा या दर्शन के अनुसार देवमूर्ति किसी व्यक्ति या समाज की संपत्ति नहीं हो सकती। देवमूर्ति का एक स्वतंत्र अस्तित्व है और मंदिर में स्थापना के समय प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा उसका देवीकरण किया जाता है। मूर्ति की स्थापना के पूर्व मंदिर उसे समर्पित किया जाता है तत्पश्चात् मंदिर वस्तुतः उस देवी या देवता की निजी संपत्ति हो जाता है।[1] इस दृष्टि से विचार करने पर हिंदू धर्म में निजी या सार्वजनिक प्रकार का मंदिर नहीं हो सकता फिर भी यह विभेद व्यवहारतः है जिसका विवेचन नीचे किया जाएगा—

(1) **निजी विन्यास**—यदि संस्थापक ने हिंदू धार्मिक विन्यास के माध्यम से अपने कुटुंब की सेवा करने के आशय से संपत्ति का दान किया हो तो उसे निजी विन्यास कहते हैं।[2] निजी विन्यास का ज्ञात स्वरूप कौटुंबिक देवता को दिया गया अनुदान है, जिसमें जन-सामान्य का कोई हित नहीं होता।[3] यदि विन्यास का प्रमुख प्रयोजन संस्थापक द्वारा एक गृह में स्थापित देवता की पूजा हो तो न्यास निजी है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित है कि निजी विन्यास का प्रमुख प्रयोजन कुटुम्ब का धार्मिक हित होता है। इसमें सार्वजनिक हित को ध्यान में नहीं रखा जाता। यह संभव है कि किसी कौटुंबिक मंदिर में समाज के अनेक सदस्य भी पूजा-अर्चना करते हों किंतु मात्र इतने से कोई धार्मिक विन्यास सार्वजनिक नहीं हो जाता।

(2) **सार्वजनिक विन्यास**—जिस विन्यास में जन-सामान्य अथवा समाज के एक वर्ग की प्रसुविधा परिकल्पित होती है, वह सार्वजनिक विन्यास होता है।[4] इसमें एक अनिश्चित और अस्थिर जन-समुदाय का लाभकारी हित अन्तर्निहित होता है। सार्वजनिक विन्यास का सार मंदिर आदि का जन-समुदाय को समर्पण है। यदि मंदिर पूजा हेतु जनसमुदाय को समर्पित है तो वह सार्वजनिक विन्यास है। इस प्रकार के विन्यास में लोक की धार्मिक प्रसुविधा या हित को ध्यान में रखा जाता है।

निजी और सार्वजनिक विन्यास में अंतर

कोई धार्मिक विन्यास निजी है अथवा सार्वजनिक इसकी परीक्षा विभिन्न दृष्टियों से की जाती है। न्याय-प्रक्रिया में सामान्यतया उन सभी पहलुओं पर विचार किया जा चुका

---

[1] डूंगरसी श्यामजी जोशी **बनाम** मुखिया त्रिभुवनदास, ए० आई० आर० 1947 इलाहाबाद 375.

[2] एम० केशवगौंडर **बनाम** डी० सी० राजन्, ए० आई० आर० 1976 मद्रास 102; बिहार राज्य परिषद् **बनाम** पलटलाल, ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 57.

[3] प्रसाददास पाल **बनाम** जगन्नाथ पाल, ए० आई० आर० 1933 कलकत्ता 519; बिहार राज्य **बनाम** चारुशीला दासी, ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 1002.

[4] एम० केशव गौंडर **बनाम** डी० सी० राजन्, ए० आई० आर० 1976 मद्रास 102.

है जो किसी धार्मिक स्थल को निजी या सार्वजनिक सिद्ध करने में सहायक हो सकते हैं। किसी मंदिर या धार्मिक स्थल की उत्पत्ति, प्रबंध का ढंग, दान प्राप्ति या चढ़ावे की सीमा और प्रकृति, उसमें भक्तों द्वारा पूजा-पाठ करने के अधिकार का प्रयोग, प्रबंधक की सजगता और स्वयं भक्तों की सजगता ऐसे तत्त्व हैं जो किसी धार्मिक स्थल, मंदिर या मठ के निजी या सार्वजनिक स्वरूप को सिद्ध करते हैं।[1] इन तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए निजी और सार्वजनिक विन्यास में निम्नलिखित अन्तर हैं :—

(1) किसी निजी धार्मिक या पूर्त विन्यास में हिताधिकारी निर्धारित व्यक्ति होते हैं, किंतु सार्वजनिक धार्मिक या पूर्त विन्यास में हिताधिकारी सामान्य जन होते हैं।[1] इस विषय में संस्थापक के आशय की प्रधानता होती है कि उसने किस प्रकार के विन्यास की स्थापना हेतु संपत्ति का समर्पण किया है। यदि उसने अपने कुटुंबी जनों के हितार्थ समर्पण किया हो तो विन्यास निश्चित रूप से निजी है और यदि उसने लोक-सामान्य के हितार्थ समर्पण और धार्मिक स्थल की स्थापना की हो तो विन्यास का स्वरूप सार्वजनिक है।[2] किंतु साधुओं के भोजन और यात्रियों के आतिथ्य-सत्कार मात्र से कोई भी मंदिर या धार्मिक स्थल सार्वजनिक विन्यास नहीं हो जाता।[3] क्योंकि अतिथियों का सत्कार और संन्यासियों को भोजन कराना प्रत्येक हिंदू का भी कर्तव्य है। यदि कोई संस्थापक अपने निजी मंदिर में ऐसी व्यवस्था कर दे, तो मात्र इतने से ही वह सार्वजनिक नहीं माना जा सकता। कोई स्थल या मठ धार्मिक या पूर्त प्रयोजन हेतु सार्वजनिक विन्यास तभी होगा[3] जब वह सार्वजनिक उपयोग के लिए ही स्थापित हुआ हो।

(2) निजी देवस्थल में केवल संस्थापक के कुटुंबी जनों या उसके द्वारा निश्चित व्यक्तियों को ही प्रवेश, दर्शन या पूजा-पाठ करने का अधिकार होता है। लोक-सामान्य उसमें अधिकारतः प्रवेश नहीं पा सकते यदि लोक-सामान्य में से कुछ व्यक्ति किसी देवस्थल में संस्थापक या प्रबंधक की कृपा दृष्टि से प्रवेश पा जाते हैं तो इतने से ही उसका स्वरूप सार्वजनिक विन्यास का नहीं हो जाएगा। सार्वजनिक विन्यास के लिए यह आवश्यक है कि देवस्थल में प्रवेश सामान्य लोगों के लिए अप्रतिबंधित रूप से खुला हो और वे उसमें अधिकारतः प्रवेश पा सकते हों।[4]

(3) यदि किसी धार्मिक या पूर्त विन्यास का प्रबंध संस्थापक या उसके उत्तराधिकारियों तक ही सीमित रहता हो तो देवस्थल या मठ निश्चित रूप से निजी विन्यास हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में लोक सामान्य का अधिकार उसके प्रबंध या रख-रखाव में हस्तक्षेप

---

[1] तिलकायत श्रीगोविंदलालजी **बनाम** राजस्थान राज्य, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1638; श्रीराम **बनाम** प्रभुदयाल, ए० आई० आर० 1972 राजस्थान 180.

[2] गोस्वामी श्रीमहालक्ष्मीवादुजी **बनाम** रणछोड़दास, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 2025.

[3] बिहार राज्य **बनाम** विश्वेश्वरदास, ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 2057.

[4] श्रीराम **बनाम** प्रभुदयाल, ए० आई० आर० 1972 राजस्थान 180.

करने का नहीं रहता न ही इससे उनका धार्मिक हित प्रभावित होता है। किंतु सार्वजनिक विन्यास के प्रबंध में जन-समुदाय के प्रभावित व्यक्ति या व्यक्तियों को भी हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है भले ही वे संस्थापक या उसके उत्तराधिकारी प्रबंधक न हों। किसी सार्वजनिक विन्यास का प्रबंध बिगड़ने या देवोत्तर संपत्ति के विनष्ट होने आदि के मामले में कोई भी भक्त या दर्शनार्थी, जो मंदिर में पूजा-पाठ करता है, न्यायालय के माध्यम से हस्तक्षेप करने और प्रबंधक से लेखा-जोखा मांगने या देवोत्तर संपत्ति के अन्यसंक्रामण को रोकने का अधिकारी होता है।

□□□

अध्याय 10

विवाह विषयक विधि

विवाह का अर्थ

सामान्य अर्थ में विवाह वह कृत्य है, जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष संबंधों को अनुशासनिक स्वरूप प्रदान किया जाता है।

हिंदुओं में विवाह एक प्रकार का संस्कार है, जो पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए एक समान है।[1] यहां तक कि शूद्रों के लिए भी यह संस्कार विहित है।[2] स्त्रियों के लिए विवाह एक वैदिक संस्कार है[3] और इसकी तुलना उपनयन संस्कार से करते हुए कहा गया है कि "पति सेवा ही गुरुकुल वास है और पतिगृह में भोजन बनाना ही अग्निहोत्र है।"[4] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक गुरु के घर विद्याध्यन के लिए जाता है और वहां निवास कर विद्याध्ययन करने के साथ-साथ अग्निहोत्र आदि भी करता है उसी प्रकार बालिका विवाह संस्कार के पश्चात् पतिगृह को जाती है और पतिसेवा के साथ-साथ भोजन भी बनाती है जो एक प्रकार का अग्निहोत्र ही है।

विवाह के द्वारा पति-पत्नी में एकत्व की स्थापना होती है। मनु इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "विद्वानों के अनुसार जो पति है, वही पत्नी है।"[5] बृहदारण्यक उपनिषद् में इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"प्रजापति ऐसा था मानो स्त्री पुरुष जुड़े हों उस ने अपने वेश विभक्त करके स्त्री पुरुष की रचना की एक पति हुआ, दूसरी पत्नी। ये एक ही दाने की दो दालें हैं।"[6] इन शास्त्रीय वचनों से यह सुनिश्चित हो जाता है कि विवाह का अर्थ न केवल स्त्री-पुरुष संबंधों को आनुशासनिक स्वरूप प्रदान करना है, अपितु एक पूर्णांग की रचना करना भी है, जिससे वे भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हुए भी एक ही तत्त्व के बोधक हो जायें। पति-पत्नी की संयुक्त संज्ञा 'दंपति' से भी यही बोध होता हैं कि वे दम् अर्थात् घर के दो पति (स्वामी) हैं। स्पष्टतया विवाह संयुक्त स्वाभित्व प्रदान करने वाली क्रिया है।

---

1. सुंदरबाई **बनाम** शिवनारायणन्, आई० एल० आर० (1908) 32 मुंबई 81; गोपाल कृष्णन् **बनाम** वेंकट नरसेया ए०, आई० आर० 1914, मद्रास 432.
2. कामेश्वर बनाम वीरचारुलु, 8 आई० सी० 195 (शूद्र का मामला).
3. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। मनु० 2/67(पूर्वार्थ).
4. पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रिया। मनु 2/67 (उत्तरार्द्ध).
5. विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना॥ मनु० 9/45.
   अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी। तैत्ति० सं० 6/1/8/5.
6. स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सपरिष्वक्तौ। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।
   तस्मादर्थंद्विदलमिव स्वः इति हस्माऽऽह याज्ञवल्क्यः॥ बृह० उप० 1/4/3.

विवाह का उद्देश्य

याज्ञवल्क्य के अनुसार विवाह का प्रयोजन है, पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि द्वारा वंश-परंपरा को अविच्छिन्न बनाये रखना और स्वर्गादि पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति।"[1] विज्ञानेश्वर ने इसकी व्याख्या करते हुए लोक में अनन्त काल तक वंश-परंपरा के साथ-साथ स्वर्गप्राप्ति हेतु अग्निहोत्र आदि के योग्य बनना भी विवाह का प्रयोजन बताया है।[2] आपस्तम्ब ने विवाह के दो प्रयोजनों में धर्म संपदा और संतान (प्रजा) संपत्ति का उल्लेख किया है[3] और कहा है कि विवाह से कार्य करते, पुष्पफल पाने, तथा संपत्ति उपार्जन करने के लिए सहयोगी प्राप्त होता है।[4] हिंदुओं में विवाह के सुस्पष्ट प्रयोजन हैं। विवाह केवल वासनाओं की तृप्ति हेतु ही नहीं किया जाता, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है। यद्यपि भारतीय शास्त्रों में लौकिक रतिफल की अनदेखी नहीं की गयी है और इसे भी विवाह के प्रयोजनों में गिनाया गया है,[5] तथापि यह अतिगौण प्रयोजन है, जिसे विज्ञानेश्वर ने जोड़ दिया था। जब मनु यह कहते हैं कि प्रथम पुत्र ही धर्मज है, शेष कामज हैं[6] तो इसका यही अर्थ है कि पुरुष को स्त्री की आवश्यकता जहां तक धर्मसिद्धि का संबंध है, केवल एक ही पुत्र के लिए है उसके पश्चात् स्त्री सहवास आवश्यक नहीं। कुछ भी हो यदि सहवास को ही प्रमुखता दी जाय, तो भी शास्त्रों में इस पर अनेक प्रकार से नियंत्रण लगाये गये हैं[7] और इन्द्रिय निग्रह पर अत्यधिक बल दिया गया है।[8] स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक गुणों को स्वेच्छाचारिता में परिणत न होने देना भी विवाह का एक प्रयोजन है। विवाह के इस उद्देश्य को स्वीकार करने से विधि के द्वारा सामाजिक अनुशासन बनाये रखने में सहायता मिलती है।

हिंदू विवाह की प्रकृति

हिंदू विवाह आजीवन चलने वाला संस्कार है। पति-पत्नी का संबंध अटूट है। इस सिद्धांत के स्वीकार कर लेने पर कि पत्नी पति के शरीर का आधा भाग है और उसी की आत्मा है[8] विवाह की प्रकृति अटूट हो जाती है। आत्मा अटूट और अभिन्न होती है, जो मृत्यूपरान्त भी अटूट बनी रहती है।[9] वैवाहिक अविच्छिन्नता के आधार पर ही

---

[1] लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्र पौत्र प्रपौत्रकैः ।। याज्ञ० 1/78 (पूर्वार्द्ध).

[2] पुत्रपौत्रप्रपौत्र कैर्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः ।। मिता० याज्ञ० 1/78 की टीका।

[3] धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। आप० ध० सू० 2/5/11/12.

[4] पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु ।। तथा पुण्य फलेषु ।। द्रव्यपरिग्रहेषु च ।। आ० ध० सू० 2/6/14/17 से 19.

[5] रति फलं तु लौकिकमेव ।। याज्ञ० 1/78 की मिता० टीका।

[6] स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितारान्विदुः ।। मनु० 9/107.

[7] षोडशर्तु निशाःस्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्यैव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ।। याज्ञ० 1/79.
अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः। मनु० 4/128.

[8] तद्यज्जायामामन्त्रयतेऽर्धो ह वा एष आत्मवतो यज्जाया। शत० ब्रा 5/2/1/10.

[9] जाय एहि स्वोरोहावेति रोहावेत्याह जाया। वही 5/2/1/10.

कहा जाता है कि पति-पत्नी में विभाजन नहीं होता।[1] जन्म-जन्मान्तर चलने वाले वैवाहिक संबंध से संबंधित हिंदू विधि के अनेक दार्शनिक आधार हैं। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि राम विष्णु के अवतार थे तो सीता योगमाया लक्ष्मी की।[2] यह विवरण इस तथ्य का द्योतक है कि वैवाहिक संबंध की अटूटता का सिद्धांत दृढ़ता से प्रतिपादित है।

पाश्चात्य विधि के सदृश हिंदू विधि में विवाह एक संविदा नहीं है और व्यापारिक संविदाओं की भांति खंडनीय नहीं है अतएव किसी पक्ष के अवयस्क होने के कारण, विवाह अविधिमान्य नहीं हो जाता।[3] उल्लेखनीय है कि संविदा के लिए उसके सभी पक्षकार वयस्क होने चाहिए। संविदा की यह शर्त हिंदू विवाह के पक्षकारों में लागू नहीं है। फिर भी जो विवाह को समझने और वधू के साथ पतिवत् व्यवहार करने योग्य नहीं है, ऐसे पूर्णतया उन्मत्त या पागल वर के साथ हुआ विवाह अवैध है, किन्तु यदि पागलपन की मात्रा ऐसी है, वह उक्त तथ्यों को समझता है और पत्नी के साथ यथोचित व्यवहार करता है तो विवाह वैध है।[4]

कपट या बलपूर्वक किया गया विवाह पूर्णतया अवैध होने से विवाह की कोटि में नहीं आता।[5] विवाह की सामान्य प्रकृति केवल वैध विवाह के मामले में ही लागू होती है। कपटपूर्ण विवाह संस्कार की कोटि में आता ही नहीं।

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के अधिनियमित हो जाने के उपरान्त हिंदू विवाह की प्रकृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है। अब विवाह न तो पवित्र-बंधन रह गया है, न अखंडनीय संबंध ही। हिंदू विवाह पाश्चात्य विधि के अनुरूप एक संविदा से अधिक कुछ नहीं रह गया। किन्तु इसे अभी भी संस्कार माना जाता है और विवाह के रूढ़िगत कृत्य को भी किया जाता है जिन में सप्तपदी भी सम्मिलित है। हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 7 और 5 (चार) तथा (पांच) के उपबंधों के अधीन क्रमशः प्रतिषिद्ध नातेदारी और सपिण्ड नातेदारी में विवाह न करने की अवधारणा को भी सुरक्षित रखा गया है। धारा 7 में आया 'अनुष्ठापित' शब्द इस बात का सूचक है कि विवाह रूढ़िगत कृत्य द्वारा संपन्न होना चाहिए। यह रूढ़िगत कृत्य या धार्मिक कर्म निश्चय ही विवाह को संस्कार का स्वरूप प्रदान करता है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अधीन विवाह-विच्छेद की व्यवस्था हो जाने से हिंदू विवाह संविदा हो गया। इस प्रकार अब हिंदू विवाह निर्विवाद रूप से संस्कार और संविदा दोनों ही हैं।

---

[1] जायापत्यो विभागो न विद्यते। आप० ध० सू० 2/6/14/16.

[2] जातो राम इति ख्यातो मायामानुषवेषधृक्।
आस्ते दाशरथिर्भूत्वा चतुर्धा परमेश्वरः॥
योगमायापि सीतेति जाता वै तव वेश्मनि।
अतस्त्वं राघवायैव देहि सीतां प्रयत्नतः॥ अध्या० रामा० 1/6/64-65.

[3] पुरुषोत्तम बनाम पुरुषोत्तम आई० एल० आर०, (1897) 21 मुम्बई 23.
आत्माराम बनाम बांके मल, ए० आई० आर० 1930 लाहौर 561.

[4] रत्नेश्वरी बनाम भगवती, ए० आई० आर० 1950 एफ० सी० 142.

[5] कुन्ती देवी बनाम श्रीराम, ए० आई० आर० 1963 पंजाब 235.

विवाह के प्रकार

हिंदू विधि में विवाह आठ प्रकार के बताये गये हैं—यथा ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच।[1] इनमें प्रथम चार प्रशस्त और अन्तिम चार अधम माने जाते हैं।[2] इनका पृथक उल्लेख किया जा रहा है :—

(1) **ब्राह्म विवाह**—अच्छे स्वभाव के वर को स्वयं बुलाकर उसे यथाशक्ति अलंकृत करके कन्यादान देना ब्राह्म विवाह है।[3] आधुनिक काल में यही प्रकार अधिक प्रचलित है। ब्राह्म विवाह में कन्या के पिता या संरक्षक द्वारा वर को कन्या का दान किया जाता है और वर कन्या का पाणिग्रहण करके उसे स्वीकार करता है। अतिप्राचीन काल में ब्राह्म विवाह ब्राह्मणों के लिए स्वीकृत था और उन्हीं में प्रचलित था किंतु अनेक शताब्दियों से यह विवाह अन्य वर्णों में भी प्रचलित हो गया। इस विवाह की विशेषता यह है कि वर को शिक्षित और ब्रह्मचारी होना चाहिए। इसमें कन्या का पिता वर को यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से अलंकृत भी करता है। वर को अलंकृत करने की रूढ़ि आज भी प्रचलित है, किंतु वर के शिक्षित होने की शर्त शिथिल हो चुकी है। इसलिए अशिक्षित (शूद्र) भी इस प्रकार के विवाह द्वारा कन्यादान कर सकतेहैं।[4] विधवा का पुर्नविवाह भी ब्राह्म प्रकार से हो सकता है।

(2) **दैव विवाह**—यज्ञ में सम्यक् प्रकार से कार्य करते हुए ऋत्विज को अलंकृत करके कन्यादान करना दैव विवाह है।[5] दैव प्रकार के विवाह में यज्ञ के ऋत्विज को कन्या दक्षिणा के भाग के रूप में दी जाती है।[6] प्राचीनतम काल में जो स्नातक या ब्रह्मचारी गुरुकुल से विद्याध्ययन करके आता था, उससे यज्ञ का अनुष्ठान उसकी योग्यता की परीक्षा हेतु कराया जाता था। यज्ञ का सफलतापूर्वक संपादन करने से बालक की विद्वत्ता की परीक्षा हो जाती थी और यजमान अपनी कन्या को उसे दक्षिणा रूप में दान दे देता था। यह विवाह ब्राह्मणों में ही प्रचलित था और ऋत्विज ब्राह्मण ही हुआ करते थे। किंतु दैव

---

1 ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ मनु० 3/21.

2 चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः। मनु० 3/24.
चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः॥ गौत० ध० सू० 4/14 (आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख करने के पश्चात् प्रथम चार को धर्मतः उचित कहा गया है।).

3 आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ मनु० 3/27.
ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता॥ याज्ञ० 1/58.

4 कृष्णदेवी **बनाम** शिवपल्टन, ए० आई० आर० 1926 इलाहाबाद 1.

5 यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥ मनु० 3/28.
स दैवो विवाहो यस्मिन्यज्ञानुष्ठाने वितते ऋत्विजे शक्त्यालंकृता कन्या दीयते।
याज्ञ० 1/59 की मिता० टीका।

6 दक्षिणासु नीयमानास्वन्तर्वेदि ऋत्विजे स दैवः॥ बौधा० ध० सू० 1/11/20/5.

विवाह में भी ब्राह्म रीति से ही कन्यादान संपन्न कराया जाता था ।[1] मनु इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सवर्ण पाणिग्रहण संस्कार उचित है अर्थात् वर-कन्या का एक ही वर्ण हो ।[2] मानव गृह्यसूत्र में भी स्नातक का विवाह ब्राह्म कर्म से ही कराने पर बल दिया गया है ।[3] दैव विवाह ब्रह्म विवाह से निम्नतर है । इस प्रकार का विवाह बहुत पहले ही अप्रचलित हो गया था ।

(3) **आर्ष विवाह** —धर्मपूर्वक वर से एक या दो जोड़ी बैल या गाय लेकर विधिवत् कन्यादान देना आर्ष विवाह है ।[4] मिताक्षरा का यह मत है कि एक जोड़ी गाय लेकर कन्या देना आर्ष विवाह है ।[5] आर्ष शब्द ऋषि का पर्याय है । ऋषि समुदाय में विवाह की जो रूढ़ि प्रचलित थी, उसी को आर्ष विवाह कहते हैं । आर्ष प्रकार के विवाह की विशेषता यह है कि इसमें ऋषि वर को विवाह की स्वीकृति देनी पड़ती थी और स्वीकृति देते समय वर ऋषि कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल देता था । तत्पश्चात् ब्राह्म विधि से विवाह होता था ।[6] वह कन्या का मूल्य नहीं है[7] । ऋषि समुदाय में विवाह प्रथा की समाप्ति के साथ-साथ इस प्रकार का विवाह भी प्राचीन काल में ही अप्रचलित हो गया था ।

(4) **प्राजापत्य विवाह**—प्राजापत्य का शाब्दिक अर्थ है, संतानोत्पत्ति । इस प्रकार के विवाह का मूल उद्देश्य संतानोत्पत्ति है । 'तुम दोनों साथ रहते हुए धर्माचरण करो' मंत्र पढ़कर कन्यादान किया जाना प्राजापत्य विवाह है । यहां धर्माचरण का तात्पर्य संतान प्राप्ति और सहकर्म है ।[8] इसमें वर का अविवाहित होना आवश्यक नहीं है । संतानहीन पुरुष

---

[1] अदभिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।। मनु० 3/35.

[2] पाणिग्रहण संस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।। मनु० 3/43.

[3] संजुष्टां धर्मेणोपयच्छेत ब्राह्मेण शौल्केन वा ।। मा० गृ० सू० 1/7/11.

[4] एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म स उच्यते ।। मनु० 3/29.
आदायार्षस्तु गोद्वयम् । याज्ञ० 1/59.

[5] गोमिथुनमादाय कन्या दीयते स आर्षः । याज्ञ० 1/59 की मिता० टीका ।
आर्षे गोमिथुनं कन्यावते दद्यात् । गौत० ध० सू० 4/8.

[6] पूर्वां लाजाहुतिं हुत्वा गोमिथुनं कन्यावते दत्वा ग्रहणमार्षः ।। बौधा० ध० सू० 1/11/20/4.
वैवाहिकीनां लाजाहुतीनां प्रथमाहुत्यनन्तरं कन्यास्वामिने गोमिथुनं वरं प्रदाय तस्या एवं पुनर्ग्रहण मार्षो नाम विवाहः ।। उसी पर गोविन्द स्वामी कृत भाष्य ।

[7] ततश्चधर्मार्थं न प्रजार्थंवि क्रयार्थम् । यस्तु तस्यां विवाह क्रियायां क्रय शब्दः क्वचित्स-मृतौ दृश्यते स संस्तुतिमात्रं द्रव्यदानसाम्यात् न मुख्यक्रयत्वप्रतिपादनार्थम् । आप० ध० सू० 2/6/13/11 पर उज्ज्वला टीका ।

[8] सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ।। मनु 3/30.
सहधर्मचरतामिति परिभाष्य कन्यादानं स प्राजापत्यः ।। याज्ञ० 1/60 की मिता० टीका ।
प्रजार्थं सहत्वकमार्थं चेति आप० ध० सू० 2/5/11/17 पर उज्ज्वला टीका ।

एक पत्नी के जीवित रहते भी संतान प्राप्ति के लिए पुनर्विवाह कर सकता है। प्राजापत्य विवाह में भी कन्या को वस्त्रों और अलंकारों से आभूषित करके दान देने का नियम है।[1] यह विवाह भी ब्रह्मरीति से विधिवत् करने का नियम है, किंतु विशेषता यह है कि इसमें उक्त 'मंत्र'[2] (सहधर्मश्चर्यतम्म) का पाठ भी होता है, जो सामान्य ब्राह्म विवाह में नहीं होता। यही कारण है कि आपस्तम्ब ने ब्राह्म और प्राजापत्य विवाहों का उल्लेख एक ही साथ किया है।[3]

(5) **आसुर विवाह** — कन्या और उसके माता-पिता को शक्ति के अनुसार धन देकर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या ग्रहण करना आसुर विवाह कहलाता है।[4] इस विवाह में कन्या प्राप्ति के लिए उसे तथा उसके माता-पिता को धन देना शिष्टाचार के विरुद्ध है अतएव इसे आसुर विवाह कहा गया। मनु का स्पष्ट मत है कि 'कन्यादान के प्रतिफल स्वरूप शूद्रों को भी शुल्क नहीं लेना चाहिए क्योंकि शुल्क लेने वाला कन्यादान के बहाने प्रच्छन्नतः कन्या विक्रय करता है।'[5] किंतु अनेक क्षेत्रों में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन होने के कारण आज भी यह मान्य है[6] और यह आवश्यक नहीं है कि शुल्क कन्या के क्रय करने के लिए ही दिया जाय। शुल्क को स्त्रीधन का एक प्रकार मान लेने से यह रूढ़िगत भी हो गया है। जहां तक विवाह के समय वर या उसके पिता द्वारा कन्या को वस्त्राभूषण देने की रूढ़ि का प्रश्न है, यह रूढ़ि आज भी प्रचलन में है और मात्र इतने सें ही कोई विवाह आसुर नहीं कहा जा सकता।[7]

(6) **गांधर्व विवाह** — विवाह संपन्न होने से पूर्व ही स्त्री-पुरुष-संयोग, दोनों की पारस्परिक सहमति से, स्थापित हो जाना गांधर्व विवाह कहलाता है।[8] मिताक्षरा के अनुसार वर-कन्या का परस्पर अनुराग होना गांधर्व विवाह है।[9] अनुराग में स्त्री-पुरुष का पूर्व संयोग होना आवश्यक नहीं है। किंतु मनु ने स्त्री-पुरुष के पूर्व संयोग का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिससे यह विवाह भारतीय लोकनीति के विपरीत है और निन्द्य है। किंतु इनमें भी संयोग

---

1 आच्छाद्याऽलङ्कृतयैषा 'सहधर्मश्चर्यता' मिति प्राजापत्यः ॥ बौधा० ध० सू० 1/11/20/3.

2 कोऽसौ मन्त्रः ? 'सहधर्मश्चर्याताम्' इति ॥ गौत० ध० सू० 4/1 पर मस्करि-भाष्य

3 ब्राह्मे विवाहे बन्धुशील लक्षण संपन्न श्रुतारोग्याणि बुध्वा प्रजासहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयेच्छक्ति-विषयेणालंकृत्य ॥ आप० ध० सू० 2/5/11/17.

4 ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ मनु० 3/31. 'आसुरो द्रविणादानात्' याज्ञ० 1/61, धनेनोपतोष्याऽऽसुरः ॥ बौधा० ध० सू० 1/11/20/7.

5 आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।
शुल्कं हि गृहणन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ मनु० 9/98.

6 डी० एफ० मुल्ला, : प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला०, उपबंध 428, पृ० 552.

7 वीरप्पा बनाम माइकेल, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 933.

8 इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ मनु० 3/32.

9 गान्धर्वस्तु परस्परानुरोगेण भवति । याज्ञ० 1/61 की मिता० टीका ।

के पश्चात् विवाहहोम आदि विधिवत् संपन्न होता है।[1] कालांतर में परस्पर अनुराग हो जाने के कारण स्वयं वरण कर लेना भी गांधर्व मान लिया गया।[2]

(7) **राक्षस विवाह**— कन्या तथा उसके माता-पिता को कष्ट देकर उसका अपहरण करके विवाह किया जाना राक्षस विवाह है।[3] किंतु याज्ञवल्क्य ने युद्ध में अपहृत स्त्री के साथ विवाह करने को राक्षस विवाह कहा है।[4] यह विवाह न होकर एक प्रकार का अनाचार या दुराचार भी है। कोई सभ्य समाज कन्या अपहरण की अनुमति नहीं दे सकता। किंतु विशेष परिस्थिति में इसे स्त्री-पुरुष संबंधों को वैधता प्रदान करने के लिए विवाह का एक प्रकार मान लिया गया, यदि हरण के पश्चात् विवाह विधिवत् संपन्न हुआ हो। कन्या या स्त्री का हरण प्राचीन और संसदीय दोनों ही विधियों में अपराध है।

(8) **पैशाच विवाह**— छल-बलपूर्वक कन्या के साथ विवाह करना पैशाच विवाह है।[5] मनु ने इसे पाप कर्म कहा है। परिस्थितिवश इसे भी विवाह में परिवर्तित किया गया। किंतु यह संबंध तभी विवाह की कोटि में आ सकता है, जब वैवाहिक कर्म संपन्न हुआ हो, अन्यथा यह अपराध है।

हिंदू विवाह के वर्तमान प्रकार

आधुनिक हिंदू विधि में केवल ब्राह्म और आसुर प्रकार के विवाह ही मान्य हैं। ब्राह्म अनुमोदित प्रकारों में प्रथम है और आसुर अननुमोदित प्रकारों में प्रथम। गृह्यसूत्रों में विवाह कर्म का जो विवरण मिलता है उसे देखने से यह पता चलता है कि विवाह वस्तुतः दो ही प्रकार के हैं—प्रथम ब्राह्म और द्वितीय आसुर (जिसमें में शुल्क लेने की व्यवस्था)[6]। शुल्क अर्थात् धन लेकर विवाह करने वाले पिता के लिए कन्यादान के समय विशिष्ट कर्म निर्धारित हैं, जिसमें धन और कन्या का आदान-प्रदान होता है—वर धन देता हैं और पिता कन्या।[7] यद्यपि विवाह हेतु कन्या के पिता द्वारा धन लेना ही शास्त्रीय-विधि के अनुसार आसुर विवाह है, तथापि उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि कन्या के पिता को लाभ मिलना ही आवश्यक नहीं है, किंतु उसे वह लाभ कन्या-विक्रय के

---

1 संयोगस्समवायः। विवाह होमस्तु यथाविध्येव। बौधा० ध० सू० 1/11/20/6 पर गोविन्द स्वामी कृत टीका।

2 इच्छन्ती कामयमाना स्वयंमेव वरेण संयुज्येत। संगान्धर्वो विवाहः। गौत० ध० सू० 4/10 पर मस्करि-भाष्य।

3 हत्वा छित्त्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।। मनु० 3/33.

4 'राक्षसो युद्ध-हरणात्' याज्ञ० 1/61.

5 सुप्तां मुत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पायिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधम,।। मनु 3/34.
पैशाचः कन्यकाछलात्।। याज्ञ० 1/61.

6 संजुष्टां धर्मेणोपयच्छेद ब्रह्मेण शौल्केन वा।। मान० गृ० सू० 1/7/11.

7 सहिरन्यान ञ्जुलिनावपति धनायत्वेतिदाता पुत्रेभ्यस्त्वेति प्रतिग्रहीता तस्मै प्रत्यावति। मान० गृ० सू० 1/8/7.

प्रतिफल स्वरूप मिलना चाहिए ।[1] कुछ भी हो, आज भी आसुर विवाह हिंदू विधि में मान्य है और शुल्क (नेम्मेकनम्) लेना तमिलनाडु की कुछ जातियों में रूढ़िगत है ।[2] फिर भी इससे विवाह आसुर नहीं माना जाता । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शुल्क लेना गृह्य-सूत्रों में भी मान्य है ।

विवाह-कर्म को जो विस्तृत विवरण गृह्यसूत्रों में देखने को मिलता है, वह ब्राह्म प्रकार के विवाह का ही है । प्राजापत्य विवाह में कन्यादान के समय मात्र एक विशेष मंत्र का पाठ होता है । आर्ष विवाह में ऋषि वर द्वारा गाय-बैल की जोड़ी विवाह-बंधन को स्वीकार करने के लिए दी जाती है । दैव-विवाह वर चुनने का एक साधन है । आर्ष और दैव विवाहों के विवाहों के विवाह-कर्म भी ब्राह्म प्रकार से ही होते हैं । ब्राह्म विवाह और इन विवाहों में अंतर विवाहपूर्व विशिष्ट गृह्यकर्मों या धार्मिक कृत्यों के नाते हैं । प्राजापत्य और ब्राह्म विवाहों में अंतर परिस्थितियों के अनुरूप प्रयोजन के कारण है । विवाह-कर्म के आधार पर इनमें अंतर नहीं स्थापित किया जा सकता ।

आसुर आदि अननुमोदित विवाह प्रकारों में विवाह-पूर्व घटनाओं के आधार पर अंतर किया गया है । राक्षस और पैशाच वस्तुतः विवाह हैं ही नहीं । किंतु समाज में कन्या अपहरण करके विवाह करना व्यवहारतः आज भी विद्यमान है जो राक्षस विवाह से भिन्न कुछ भी नहीं । इस प्रकार का विवाह प्रत्येक समाज या धर्म में प्रायः देखने को मिलता है । जहां तक छल-बल का प्रश्न है, ये साधन भी अनेक लोगों द्वारा प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी रूप में अपनाये जाते हैं और भोली-भाली कन्याओं से विवाह किया जाता है । विधि की दृष्टि में ये सभी कार्य आपराधिक होते हुए भी विवाह के मामले में प्रचलन में हैं ।

व्यावहारिक दृष्टि से अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अनुमोदित आर्ष और दैव विवाह अपने मूल रूप में अवश्य अप्रचलित हो गये हैं, किंतु अननुमोदित चारों विवाह प्रकार आज भी प्रायः होते रहते हैं, भले ही इन्हें विधि मान्यता न दे । उन परिस्थितियों में विधि को इन विवाहों को भी मान्यता देनी पड़ती है, जब स्त्री-पुरुष के संबंध आपराधिक होते हुए भी विवाह-कर्म द्वारा वैवाहिक संबंध में परिणत हो जाते हैं । फिर भी विधि में अपहरण या छल-बल से किये गये विवाह अविधिमान्य है[3] और इस आधार परकिसी पक्ष द्वारा विवाह की वैधता को चुनौती दी जा सकती है ।

प्राचीन हिंदू विधि में विधिमान्य विवाह की आवश्यक शर्तें

शास्त्रीय हिंदू विधि के अधीन विधिमान्य विवाह के लिए तीन निम्नलिखित शर्तों की पूर्त्ति होना आवश्यक है ।

---

1 वीरप्पा **बनाम** माइकेल, ए० आई० आर० 1963, एस० सी० 933.

2 मुत्तु **बनाम** नारायणन् ए० आई०आर० 1950 मद्रास 35.

3 वेंकटाचार्युलु **बनाम** रंगाचार्युलु, आई० एल० आर० (1891) 14 मद्रास 316; कुंतीदेवी **बनाम** श्रीराम, ए० आई० आर० 1963 पंजाब 235.

(क) **जाति की अनन्यता या वर्णानुकूलता**—वर-कन्या एक ही जाति या वर्ण के होने चाहिए। किंतु एक ही जाति की उप-जातियों में किया गया विवाह अविधिमान्य नहीं है।[1] गोलवाड़ा और अग्रवाल वैश्य जाति की ही दो उपजातियां हैं, अतः इनमें हुआ विवाह विधिमान्य है।[2] ब्राह्मणों की विभिन्न उपजातियों में वैवाहिक संबंध विधिमान्य है।[3] इसी प्रकार शूद्रों में भी विभिन्न उपजातियों में वैवाहिक संबंध हो सकता हैं।[4]

आज जिसे जाति कहा जाता है, उसे शास्त्रों में वर्ण कहा गया है। मनु का यह स्पष्ट मत है कि विवाह अपने ही वर्ण में होना चाहिए।[5] मिताक्षरा का भी यही मत है कि विवाह एक ही वर्ण में होना उचित और प्रशस्त है।[6] इसका कारण स्पष्ट करने के लिए एक श्रुति वचन उद्धृत किया है कि समान वर्ण की जाया (स्त्री) से उत्पन्न संतान अपना ही स्वरूप होती है।[7]

किंतु हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 29(1) के अधीन भिन्न जाति में हुआ विवाह विधिमान्य है। हिंदू विवाह की विधिमान्यता की कसौटी अब वर्ण या जाति की समानता नहीं रह गई है। अब कोई हिंदू अपनी जाति से भिन्न जाति में भी विवाह कर सकता है और ऐसा विवाह विधिमान्य होगा। शास्त्रीय हिंदू विधि में भी भिन्न वर्णों में विवाह अनुमोदित है और अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह शास्त्रसम्मत है। किंतु लोकनीति यह है कि 'विपरीत गुण-कर्म वाले बालक-बालिकाओं का विवाह नहीं होना चाहिए, चाहे वे मरण-पर्यन्त कुमार कुमारी ही क्यों न रह जाएं[8]। इस नीति का प्रतिपादन ऋग्वेद ने किया, जिसमें कहा गया है कि 'सुंदर और अध्ययनरत विद्वान् ही मंगलकारी और उन्नतिशील होता है[9] कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे ही विद्वान् युवक से विवाह करना उचित है। जिस प्रकार अच्छे बीज और अच्छे खेत से अच्छी उपज होती है, उसी प्रकार आर्ष पुरुष और आर्ष स्त्री से उत्पन्न संतान संस्कारों के योग्य होती है[10] विधि द्वारा अंतर्जातीय विवाह को विधि-मान्य किया जा सकता है किंतु अयोग्य वर-कन्या के विवाह को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। यह लोकनीति पर ही निर्भर है कि यदि विपरीत गुण-कर्म-स्वभाव के बालक-बालिकाओं का विवाह हो जाए, तो भी परस्पर सद्भाविक रूप से दाम्पत्य जीवन के अनुकूल बने,

---

[1] गोपीकृष्ण केसौधन **बनाम** श्रीमती जग्गू, ए० आई० आर० 1936 पी० सी० 198.

[2] काशीनाथ **बनाम** भगवानदास, आई० एल० आर० 1947 इलाहाबाद 578.

[3] क्षितीशचंद्र चक्रवर्ती **बनाम** सम्राट्, ए० आई० आर० 1937 कलकत्ता 214.

[4] इंद्रन् **बनाम** रामस्वामी, (1869) 13 एम० आई० ए० 141.

[5] उद्वेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ मनु 3/4.

[6] 'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्तादारकर्मणि' याज्ञ० 1/56 की मिता० टीका.

[7] "तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः याज्ञ० 1/56 की मिता० टीका में उद्धृत।

[8] काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ मनु० 9/89.

[9] युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उश्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ ऋ० 3/8/4.

[10] सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा।
तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ मनु० 10/69.

जिससे कि सामाजिक अनुशासन बना रहे। वस्तुतः सामाजिक अनुशासन को ध्यान में रखकर अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का शास्त्रकारों ने उल्लेख किया है। इन विवाहों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जा रहा है :—

अनुलोम विवाह— उच्च वर्ण के पुरुष का अपने निम्नवर्ण की स्त्री से वैवाहिक संबंध अनुलोम विवाह कहलाता है। मनु के अनुसार ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्या से विवाह कर सकता है, क्षत्रिय अपने वर्ण, वैश्य और शूद्र की कन्या से, वैश्य अपने वर्ण और शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता है और शूद्र मात्र अपने ही वर्ण में विवाह करने का अधिकारी है।[1] किंतु अनुलोम विवाह एक वैकल्पिक व्यवस्था थी जिसे समाज में अच्छा नहीं माना जाता था। मनु कहते हैं कि "जो द्विज मोहवश अपने से निम्न जाति की कन्या से विवाह करते हैं, वे संतान सहित अपने वंश को शूद्र अर्थात् अशिक्षित बना देते हैं।[2] मनु की यह चेतावनी औषधों के प्रयोग की चेतावनी के सदृश है, जिनका अकारण सेवन घातक होता है। उन्होने अनुलोम विवाह को विधिमान्य बना दिया किंतु उसके दुष्परिणाम का उल्लेख भी कर दिया, जिसे समाज को ध्यान में रखना है। याज्ञवल्क्य का भी कथन है कि 'स्ववर्ण की स्त्री से उत्पन्न संतानें ही सजातीय होती हैं और अनिन्द्य विवाह से उत्पन्न संतानें ही वंशवृद्धि करती हैं।[3] इस प्रकार शास्त्रकारों ने अनुलोम विवाह के दुष्परिणामों के बारे में सतर्क करने की चेष्टा भी की है।

अनुलोम विवाहों को न्याय जगत् में मान्यता भी दी गई है और उन्हें विधिमान्य घोषित किया गया है।[4] किंतु यह विवाह उन्हीं क्षेत्रों में विधिमान्य हो सका जहां की लोक-नीति इसके पक्ष में रही और ऐसे विवाह प्रचलन में रहे। यथा; बंगाल और महाराष्ट्र क्षेत्र। बंबई[5] और कलकत्ता[6] उच्च न्यायालयों के अनुसार अनुलोम विवाह विधिमान्य है अतएव ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री का विवाह विधिसम्मत है। किंतु उत्तरप्रदेश और मद्रास क्षेत्रों में अनुलोम विवाह लोकनीति के विरुद्ध होने से इलाहाबाद[7] और मद्रास[8] उच्च न्यायालयों के मतानुसार अविधिमान्य है।

प्रतिलोम विवाह

निम्नवर्ण के पुरुष का उच्चवर्ण की स्त्री के साथ होने वाला विवाह प्रतिलोम विवाह

---

1 शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ मनु० 3/13.

2 हीनजातिस्त्रियं मोहागुद्वहंतो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशुस संतानानि शूद्रताम्॥ मनु० 3/15.

3 सवर्णेभ्यः सवर्णासुजायन्ते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धनाः॥ याज्ञ० 2/90.

4 नाथ **बनाम** छोटेलाल मेहता, ए० आई० आर० 1931 मुम्बई 89.

5 बुलावती **बनाम** जीवनलाल, ए० आई० आर० 1922 मुम्बई 32.

6 नलिनाक्ष **बनाम** रजनी ए० आई० आर० 1931 कलकत्ता 741.

7 पद्मकुमारी **बनाम** सूरज कुमारी, आई० एल० आर० (1906) 28 इलाहाबाद 458.

8 स्वयम्पकुल सुब्रह्मय्या **बनाम** स्वयम्पकुल वेंकट सुब्बम्मा, ए० आई० आर० 1941 मद्रास 513.

कहलाता है । याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण स्त्री से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुरुष विवाह करके जो संतान उत्पन्न करते हैं, उन्हें क्रमशः सूत, वैदेहक और चाण्डाल कहते हैं ।[1] मिताक्षरा के अनुसार इन्हें प्रतिलोमज अर्थात् प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न संतान कहते हैं ।[2] प्रतिलोमज को असंत (निकृष्ट) और अनुलोमज को संत (उत्कृष्ट) संतान माना जाता है ।[3] इन विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रतिलोम विवाह निन्द्य माना गया है । यही कारण है कि भारतीय न्यायालयों ने प्रतिलोम विवाहों को अविधिमान्य घोषित कर दिया । न्यायालयों के सम्मुख क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री,[4] शूद्र पुरुष और ब्रह्मण स्त्री[5] तथा शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री[6] के विवाह के मामले विचार के लिए आये और सभी मामलों में यह अभिनिर्धारित हुआ कि **विवाह** प्रतिलोम होने के नाते अविधिमान्य हैं ।

(ख) प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी — वर कन्या को प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी[7] के अंदर नहीं होना चाहिए । अन्य शब्दों में, उन्हें सपिंड, सगोत्र या सप्रवर नहीं होना चाहिए ।[8] किंतु हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 29 (1) के उपबंधों के अनुसार गोत्र या प्रवर अब प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी में नहीं माने जाते हैं । फिर भी उक्त अधिनियम की धारा 5 (पांच) के अधीन सपिंड संबंध को प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी में माना गया है । इतना ही नहीं उक्त अधिनियम की धारा 5 (चार) के अधीन प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी की सामान्य अवधारणा को भी विवाह के मामले में सुरक्षित रखा गया है जब तक कि रूढ़ि या प्रथा वर-कन्या के बीच वैवाहिक संबंध की अनुमति नहीं दे । अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रतिषिद्ध की नातेदारी की अवधारणा आज भी हिंदू विधि में मान्य है । अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से सपिंड, सगोत्र और सप्रवर नातेदारी का पृथक्-पृथक् विवेचन आगे किया जा रहा है ।

सपिंड नातेदारी -- मिताक्षरा और दायभाग दोनों ही विधियों में एक पुरुष अपने ही सपिंड की कन्या से विवाह नहीं कर सकता । किंतु इस विषय पर दोनों विधियों में

---

1 ब्राह्मण्यां क्षतियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा ।
शूद्राज्जातस्तु चांडालः सर्वधर्मवहिष्कृतः ।। याज्ञ० 1/93.

2 एते च सूतःवैदेहक-चंडाल-मागध-क्षत्रा—योगवाः षद् प्रतिलोमजाः ।
—याज्ञ० 1/94 की मिता० टीका ।

3 असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ।। याज्ञ० 1/95.
अत एतावदत्र विवक्षितं—असंतः प्रतिलोमजाः संतश्चानुलोमजा ज्ञातव्या इति ।। मिता० टीका ।

4 लक्ष्मी बनाम कल्याण सिंह, (1900) 2 बोम्बे लॉ रिपोर्ट 128.

5 काशीबाई बनाम जमुनादास, (1912) 14 बोम्बे ला रिपोर्टर 547.

6 मुन्नीलाल बनाम श्यामा, ए० आई० आर० 1926 इलाहाबाद 656.

7 असपिंडा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।। मनु० 3/5.

8 सपिंडासुसमानगोत्रासुसमानप्रवरासु भार्यात्वमेव नोत्पद्यते ।। याज्ञ० 1/53 की मिता० टीका ।

मतभेद है कि सपिंड नातेदारी में किस पीढ़ी तक के वंशज आते हैं।

सपिंड नातेदारी का मिताक्षरा सिद्धांत—मिताक्षरा विधि के अनुसार पितृकुल में एक ही पूर्वज से अवजनित छह पीढ़ी तक के वंशज और पूर्वज अर्थात् सात पीढ़ी तक के पूर्वज सपिंड नातेदारी में आते हैं और मातृकुल में पांच पीढ़ी तक के पूर्वज सपिंड नातेदार हैं[1]। सपिंड नातेदारी की गणना करते समय पितृकुल में सातवें पूर्वज और मातृकुल में पांचवें पूर्वज को ही ध्यान में रख जाता है। क्रमशः आठवें और छठें पूर्वज का संबंध सपिंड की गणना में टूट जाता है। इसके कुछ अपवाद भी हैं। दक्षिण में मातुल कन्या से विवाह की प्रथा अतिप्राचीन काल से प्रचलित है, जिसका उल्लेख शुक्र[2] और बौधायन[3] ने भी किया है। मिताक्षरा और अन्य शास्त्रों के अनुसार मातुल कन्या मातृकुल की सपिंड नातेदारी में आती है और उनमें वैवाहिक संबंध नहीं हो सकता। किंतु क्षेत्रीय लोकनीति के विरुद्ध न होने से यह प्रथा प्रचलन में बनी रही।

कमलाकर भट्ट ने निर्णयसिंधु में सपिंडता की व्याख्या करते हुए नारद के वचन के आधार पर यह अधिकथित किया है कि पितृपक्ष में सातवीं पीढ़ी और मातृपक्ष में पांचवी पीढ़ी एवं पितृ तथा मातृबंधुओं में भी इन्हीं पीढ़ियों तक विवाह वर्जित है।[4] उन्होंने मूल श्लोक में आये 'बंधुभ्यः' पद से यह निष्कर्ष निकाला है कि पिता के पिता की बहिन के पुत्र से सप्तम और माता के पिता अथवा पाठांतर से माता की बहिन के पुत्र से पंचमी कन्या अविवाह्य होती है और यही अन्य बंधुओं के संबंध में भी समझना चाहिए।[5]

इन विषयों पर निर्णय सिंधु मिताक्षरा का पूरक ग्रंथ होने के नाते हिंदू विधि की मिताक्षरा शाखा में सपिंड नातेदारी की गणना दोनों के अनुसार की जाती है, जो इस प्रकार है :—

(क) **पितृपक्ष**—पिता के सातवीं पीढ़ी तक के वंशज या पिता के छह पूर्वजों में से किसी एक पूर्वज के पुरुष वंशज सपिंड होते हैं। भट्टाचार्य के अनुसार सातवीं पीढ़ी तक के वंशजों में पिता की माता के पुरुष पूर्वजों के वंशज भी सम्मिलित होते हैं।[6]

---

1 पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्था ।। याज्ञ० 1/53.
मातृतो, मातुः संताने पंचमादूर्ध्वं; पितृतः, पितुः संताने सप्तमादूर्ध्वं 'सापिंड्यं निवर्तत' इति शेषः। मिता० टीका।

2 उदुह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुता द्विजैः। शुक्र० 4/5/47. व्य० नि० पृष्ठ-16 में उद्धृत

3 मातुलपितृवसृदुहितृगमनमिति ।। बौधा० ध० सू० 1/1/2/3.

4 आ सप्तमात्पंचमात्बंधुभ्यः पितृमातृतः।
अविवाह्याः सगोत्राश्च समानप्रवराश्चयाः।। नारदः निर्ण० सिं० पृष्ठ 204 पर उद्धृत।
व्य० नि० पृष्ठ 376 भी देखिए

5 अत्र बंधुभ्यः इति पंचमी निर्देशात्पितुः पितृष्वसृपुत्रात्सप्तमी,
मातृपितृष्वसृपुत्राच्च पंचमीमपि त्यजेत् ।। एवमन्यबंधुषु ज्ञेयम् ।।
—कमलाकर भट्ट, निर्ण० सिं० पृष्ठ 204.

6 के० भट्टाचार्य, हिंदू लॉ, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 90.
डी० एफ० मुल्ला; प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, पृष्ठ 560।

(ख) **मातृपक्ष**—माता के पिता (नाना या मातामह) से पांचवी पीढ़ी तक के वंशज या नाना के चार पूर्वजों में से किसी एक पूर्वज के पुरुष वंशज सपिंड होते हैं। भट्टाचार्य के अनुसार पांचवी पीढ़ी तक के वंशजों में माता की माता (नानी या मातामही) के पुरुष पूर्वजों के वंशज भी सम्मिलित होते हैं।[1]

(ग) **पितृ बंधु**—पितृपक्ष में तीन पितृबंधु हैं—(1) पिता के पिता की बहिन का पुत्र, (2) पिता की माता की बहिन का पुत्र, और (3) पिता की माता के भाई का पुत्र।[2]

(घ) **मातृ बंधु**—मातृपक्ष में तीन मातृ बंधु हैं—(1) माता के पिता की बहिन का पुत्र, (2) माता की माता की बहिन का पुत्र, और (3) माता की माता के भाई का पुत्र।[3]

उपर्युक्त सपिंड नातेदारों को नीचे दिये गये चित्र द्वारा समझा जा सकता है :—
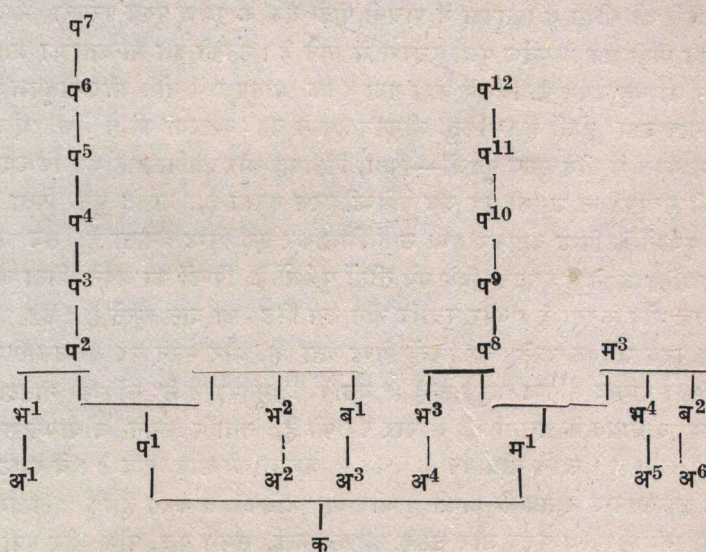
सपिण्ड नातेदारी का चित्र
(मिताक्षरा और निर्णय सिन्धु के अनुसार)

ऊपर के चित्र में क वर या संबंधित व्यक्ति है, प1 उसका पिता, म1 उसकी माता,

---

1 के० भट्टाचार्य, हिंदू लॉ, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 90, डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू लॉ, पृष्ठ 560.

2 पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबांधवाः॥ याज्ञ० 2/135 की मिता० टीका में उद्धृत।

3 मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः।
मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः मातृबांधवाः॥
याज्ञ० 2/135 की मिता० टीका में उद्धृत

म^{2} उसके पिता की माता म^{3} उसकी माता की माता है। प^{1} से प^{7} तक क के सात पीढ़ी के पैतृक पूर्वज पुरुष परंपरा में हैं। प^{8} से प^{12} तक पांच पीढ़ी के क के मातृक पूर्वज पुरुष परंपरा में हैं। अ^{1}, अ^{2} और अ^{3} क के पिता के बंधु हैं अर्थात् पितृ बंधु हैं। अ^{1}, अ^{2} और अ^{3} क के पिता के बंधु इसलिए हैं कि क्रमशः वे क के पिता प^{1} के पिता प^{2} की भगिनी (बहिन) म^{2} के पुत्र (आत्मज), क के पिता प^{1} की माता म^{2} की बहिन म^{2} के पुत्र और क के पिता की माता के भाई ब^{1} के पुत्र हैं जैसा कि ऊपर पितृबंधु की विवेचना में उल्लिखित है। अ^{4}, अ^{5} और अ^{6} क्रमशः क की माता म^{1} के मिता प^{8} की बहिन म^{3} के पुत्र, क की माता म^{1} की माता म^{3} की बहिन म^{4} के पुत्र और क की माता म^{1} की माता म^{3} के भाई व^{2} के पुत्र हैं, जैसा कि ऊपर मातृबंधु की विवेचना में उल्लिखित है।

सपिण्ड नातेदारी का दायभाग सिद्धांत

दायभाग विधि में जीमूतवाहन ने अपनी विचित्र व्याख्या के आधार पर सपिण्ड नातेदारी की सीमा में पितृपक्ष में पांचवीं पीढ़ी तक के पूर्वज पुरुष परंपरा में और मातृपक्ष में तीन पीढ़ी तक के पूर्वज पुरुष परंपरा में माने हैं। उनकी इस मान्यता का आधार पैठीनसि स्मृति का वह वचन है, जिसमें कहा गया है कि 'मातृपक्ष में तीन और पितृपक्ष में पांच पीढ़ी तक सपिण्डता होती है।[1] किंतु जीमूतवाहन ने यह व्याख्या की है कि 'एक पुरुष अपने जीवन काल में तीन पुरुष पूर्वजों—पिता, पितामह और प्रपितामह को पिण्डदान करता है उसकी मृत्यूपरान्त उसका पुत्र जब सपिण्डीकरण करता है, अर्थात् मृत पिता और उसके तीन पूर्वजों के पिण्ड बनाकर तथा उन्हें मिलाकर एक पिण्ड बनाता है, तब वह मध्यस्थित मृत व्यक्ति अपने पुत्र द्वारा दिये गये तीनों पूर्वजों के पिण्डों का अपने पिता और पितामह के साथ भोग करता है। और पुत्रादि तीन उस पिंड का दान करते हैं। इस प्रकार मध्य-स्थित पुरुष जीवित रहते हुए जिन्हें पिण्ड देता है, और मरने पर जो उसे पिण्ड देते हैं, वे अविभक्त दायाद सपिण्ड कहलाते हैं।[2] यद्यपि जीमूतवाहन ने सपिण्ड नातेदारी की यह व्याख्या बौधायन के वचनों के आधार पर की है, तथापि उसने बौधायन से भिन्न मत व्यक्त किया है। उसने बौधायन के वचन के अर्धांश को छोड़ दिया है। वे स्पष्ट रूप से सात पीढ़ी तक सपिण्ड नातेदारी मानते हैं और यह अधिकथित करते हैं कि 'प्रपितामह, पितामह, पिता, स्वयं मध्यस्थ पुरुष और उसके सहोदर भाई, सवर्ण पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र (किंतु पुत्र नहीं) तथा उनके पुत्र-पौत्र अविभक्त दायाद सपिण्ड कहलाते हैं।[3] सपिण्ड नातेदारी की

---

1 त्रीनतीत्यमातृतः पंचातीत्य च पितृतः। पैंठीनसि स्मृ०, याज्ञ० 1/53 की मिता० टीका, में उद्धृत।

2 पित्रादिपिंडत्रये सपिंडनेन भोक्तृत्वात् पुत्रादिभिश्च त्रिभि तत्पिडस्यैवदानात्। यश्च जीवन् यत्पिण्डदाता स मृतः संसपिंडात् तत्पिण्डभोक्ता एवञ्च सति मध्यस्थितः पुरुषः सर्वेषां जीवन् पिंडदाता स मृतः तत्पिण्डभोक्ता च। परेषां जीवतां पिंडसंप्रदानभूत आसीत् मृतश्च तैः सह दौहित्रादिदेयपिंड भोक्ता, अतोयेषामयं पिंडदाता, ये वास्य पिंडदातारः ते अविभक्तपिंडरुपं दायमदन्तीत्यविभक्तदायादाः सपिंडाः। दाय० 11/1/38.

3 अपि च प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रस्तत्पुत्रवर्जम्तेषां च पुत्रपौत्रमविभक्तदायं सपिंडानाचक्षते।। बौधा० धू० सू० 1/5/11/7.

बौधायन की यह परिभाषा पितृपक्ष से संबंधित है और इसके पूर्व वह कह आये हैं कि सपिण्डता सात पीढ़ी तक चलती है।[1] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीमूतवाहन की सपिण्डता की पितृपक्ष की व्याख्या युक्तियुक्त नहीं है। जीमूतवाहन की मातृपक्ष में तीन ही पीढ़ी तक की मान्यता का भी आधार विचित्र है कि मातृकुल में दौहित्र अपने नाना को पिण्डदान देता है और नाना अपने पिता, पितामह और प्रपितामह को पिण्डदान देता है। जीमूतवाहन के सिद्धांत 'जिसे वह पिण्ड देता है, और जो उसे पिण्ड दान देता है'[2] के आधार पर नाना के ऊपर तीन पीढ़ी, नाना स्वयं और दौहित्र पांच सपिण्ड होते हैं। किंतु माता के ऊपर वह तीन पीढ़ी—नाना, नाना के पिता और नाना के पितामह—तक ही मानते हैं। नाना के प्रपितामह को छोड़ देते हैं। पिण्डदान की दृष्टि से विचार करने पर माता का भाई सपिण्डता से बाहर हो जाता है क्योंकि बहिन का पुत्र पिण्डदान करने का अधिकारी नहीं होता। इस आधार पर मामा की पुत्री भी सपिण्डता के क्रम में नहीं आती। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी प्रकार की परिभाषा मातृपक्ष की सपिण्डता के विषय में चाहे वह मौखिक ही क्यों न रही हो, अतिप्राचीन काल में की गई थी, जिससे मातुल कन्या से विवाह करने की रूढ़ि दक्षिण भारत में चल निकलीं। ऐसी रूढ़ि बौधायन के समय में भी प्रचलित थी, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने सूत्रग्रंथ में किया है।[3] इस रूढ़ि को बौधायन ने देशप्रामाण्य[4] माना है किंतु वस्तुतः यह सपिण्डता की उक्त परिभाषा के अनुसार भी विधिमान्य रही होगी। किंतु जीमूतवाहन के अनुसार 'बहिन का पुत्र मृत के पिता को पिण्ड देता है, क्योंकि स्वामी का पिता उसका नाना है। अतः वह स्वामी से पिण्डरूप में संबंधित है। पिता की बहिन का पुत्र स्वामी के पितामह को—जो उसका नाना होता है—पिण्ड देता है। मामा स्वामी के कुल में उत्पन्न नहीं होता है किंतु वह अपने उस पिता को पिण्ड देता है, जो मृत स्वामी का नाना होता है। अतः मामा या उसका पुत्र या पौत्र उस पिण्ड से, जो नाना या परनाना को दिया जाता है, संबंधित है और वह इस प्रकार मृत स्वामी का सपिण्ड है। मौसी का पुत्र अपनी माता के पिता को पिण्ड देता है, जो स्वयं स्वामी की माता का पिता है। अतः मौसी का पुत्र स्वामी का सपिण्ड है।[5]

---

1 सपिंडता त्वासप्तभात्सपिंडेषु ॥ वही 1/5/11/2.

2 अतोयेषामयं पिंडदाता ये वास्य पिंडदातारः—दाय० 11/1/38.

3 मातुलपितृवसृदुहितृगमनमिति ॥ बौधा० ध० सू० 1/1/2/3.
स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति ॥
—कुमारिल भट्ट, गोविंदस्वामी द्वारा बौधा० ध० सू० 1/1/2/5 की टीका में उद्धृत।

4 तत्र तत्र देशप्रमाण्यमेव स्यात्। बौधा ध० सू० 1/1/2/6.

5 पां० वा० काणे : ध० शा० इति० 2, पृष्ठ 926-927.

दायभाग के अनुसार सपिण्ड नातेदारी को नीचे के चित्र से समझा जा सकता है :—

दायभाग के अनुसार सपिण्ड नातेदारी का चित्र

ऊपर के चित्र में क वर या संबंधित व्यक्ति है, प^1 उसका पिता, म^1 उसकी माता, म^2 उसके पिता की माता, म^3 उसकी माता की माता है । प^1 से प^5 तक क के पांच पीढ़ी के पैतृक पूर्वज पुरुष परंपरा में हैं । प^3 से प^8 तक के तीन पीढ़ी तक के क के मातृक पूर्वज पुरुष परंपरा में है । पितृबंधुओं में निम्नलिखित वंशज आते हैं :—

(1) अ^1 अ^2 और अ^3, जो क्रमशः क के पिता प^1 के पिता प^2 की बहिन भ^1 के पुत्र, क के पिता प^1 की माता म^2 की बहिन भ^2 के पुत्र, और क के पिता प^1 की माता म^2 के भाई ब^1 के पुत्र हैं।

(2) ब^1 जो अ^3 का पिता है ।

मातृबंधुओं में निम्नलिखित वंशज आते हैं :—

(1) अ^4, अ^5 और अ^6, जो क्रमशः क की माता म^1 के पिता प^6 की बहिन भ^3 के पुत्र, क की माता म^1 की माता म^3 की बहिन भ^4 के पुत्र, और क की माता म^1 की माता म^3 के भाई ब^2 के पुत्र हैं ।

(2) ब^2 जो अ^6 का पिता है ।

सगोत्र नातेदारी—व्यावहारिक अर्थ में गोत्र का अर्थ है एक पूर्वज के वंशजों का समूह । ऋग्वेद की एक ऋचा में गोत्र शब्द अंगिरा (पूर्वज) के वंशजों के अर्थ में आया है ।[1] वैवाहिक संबंध के लिए यदि कोई व्यक्ति अपना गोत्र बताता है तब इसका यही अर्थ है कि वह उस गोत्र पुरुष का वंशज है । मूल गोत्र सात हैं—यथा; भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, अत्रि और कश्यप ।[2] इनकी शाखाएं और उपशाखाएं अनेक

---

[1] इदाहि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवांमङ्गिरसे । गृणन्ति । ऋ० 6/65/5.

[2] विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तऋषयः ।। बौधायन प्रवरमञ्जरी ।

हैं। गोत्र के मूल संस्थापक के किसी वंशज की ख्याति हो जाने पर उसके बाद की पीढ़ी के वंश-परिचय में उस ऋषि का नाम लिया जाने लगा जिस से शाखाओं की श्रृंखला बनती गई। रक्त की पवित्रता को बनाये रखने के लिए सगोत्र विवाह प्रतिषिद्ध हुआ। ऋषियों के वंश में वृद्धि होते रहने के कारण सपिण्ड नातेदारी तक ही विवाह प्रतिषिद्ध नहीं रह सकता था। सपिण्ड नातेदारी का व्यापक स्वरूप सगोत्र नातेदारी है।

गोत्र सिद्धांत की विशिष्टता यह है कि इससे प्रत्येक कुल की वंशावली स्पष्ट होती है। मातृकुल और पितृकुल में सम्मिश्रण नहीं होता। दोनों कुलों में स्पष्ट विभेद होता है। जिस समाज में सगोत्र या सपिण्ड सिद्धांत नहीं विकसित किया जा सका उसमें एक ही कुल में वैवाहिक संबंध होता आ रहा है, फलस्वरूप मातृ कुल और पितृकुल को पृथक् नहीं किया जा सकता। इस दोष से बचने के लिए हिन्दुओं ने सगोत्र नातेदारी वैवाहिक संबंध प्रतिषिद्ध कर दिया। किंतु हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अधीन सगोत्र नातेदारी प्रतिषिद्ध नहीं है।

सप्रवर नातेदारी—जिस प्रकार सपिण्ड का व्यापक रूप गोत्र है, उसी प्रकार गोत्र का व्यापक रूप प्रवर है। प्रवर का अर्थ है, प्रवर्त्तक ऋषि या वंश। स्पष्टतया यह शब्द आर्ष या आर्षेय का समानार्थक है। अथर्ववेद में आर्षेय शब्द ऋषियों के वंशज के अर्थ में प्रयुक्त है।[1] ऋषि या वंश दोनों ही अर्थों में यह शब्द उस नातेदारी का द्योतक है, जो एक मूल पूर्वज से चलती है।

प्रवर नातेदारी का सिद्धांत बड़ा ही विचित्र है किंतु इसका आधार रक्त संबंध है। एक प्रवर में एक से पांच तक ऋषि होते हैं। अधिकांश प्रवर तीन ऋषि वाले हैं जो एक ही वंश के दूर के पूर्वज होते हैं।[2] ये ऋषिगण ही संबंधित गोत्र के प्रवर अर्थात् ऋषि पूर्वज हैं। सपिण्ड पूर्वज जहां गृहस्थ या ऋषि कोई भी हो सकता है वहां गोत्र या प्रवर अनिवार्यतः ऋषि पूर्वज ही होगा, चाहे सैंकड़ों ऊपरली पीढ़ी का हो। अध्ययन की दृष्टि से प्रवर का उदाहरण दे देना आवश्यक है। यहां वसिष्ठ गोत्र लिया जाता है। इसकी चार शाखायें हैं—उपमन्यु, पराशर, कुण्डिन और वशिष्ठ। उपमन्यु गोत्र के प्रवर हैं—वसिष्ठ, अमरद्व और इन्द्रप्रमद पराशर गोत्र के प्रवर है—वशिष्ठ, शाक्त्य (शक्ति के पुत्र) और पाराशर्य (पाराशर के पुत्र) वशिष्ठ गोत्र के प्रवर केवल वशिष्ठ हैं। इन तीनों गोत्रों में—उपमन्यु, पराशर और वशिष्ठ—वशिष्ठ का नाम होने से तीनों ही सप्रवर हैं। अतएव तीनों प्रवरों में विवाह प्रतिषिद्ध है[2]। क्योंकि उनमें एक ही पूर्वज ऋषि का रक्त प्रवाहित है।

किंतु हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अनुसार सप्रवर नातेदारी में विवाह प्रतिषिद्ध नहीं है। अतः सप्रवर विवाह अविधिमान्य नहीं है।

गृह्यकर्म द्वारा विवाह का अनुष्ठापन—विवाह प्राचीन हिन्दू विधि के अनुसार गृह्य कर्म द्वारा अनुष्ठापित होना आवश्यक है। गृह्य सूत्रों में विवाह संस्कार में अनेक गृह्यकर्म बताए हैं। विवाह का शुभारम्भ कन्या के पितृगृह में होता है और समापन वर गृह में। इसमें प्रमुख तीन गृह्यकर्म हैं—यथा, विवाह होम के साथ कन्या दान, पाणिग्रहण और

---

1 आर्षेया देवा अभिसंगत्य भागमित तपिष्टा ऋतुभिस्तपन्तु। अथर्व॰ 11/1/16.

2 भट्टोजि दीक्षित,: गोत्र—प्रवरभास्कर, वशिष्ठ गोत्र देखिए।

सप्तपदी। कन्यादान उस गृह्यकर्म को कहते हैं जिसमें विवाह होम होता है और पिता या संरक्षक कन्या को वर के हाथों में देता है।[1] वर जब कन्या का हाथ पकड़ कर उसे ग्रहण करता है तब उस गृह्यकर्म को पाणिग्रहण कहते हैं।[2] तत्पश्चात् सप्तपदी का गृह्यकर्म होता है; जिसमें वर-कन्या संयुक्त रूप से चारों ओर घूमते हैं या भांवर लगाते हैं[3] और सातवें पद के पूरा होते ही विवाह संपूर्ण हो जाता है।[4] इन गृह्यकर्मों में वैदिक मंत्रों का पाठ आवश्यक है। किंतु यदि दोनों पक्षों की जातीय रूढ़ि या प्रथा के अनुसार गृह्य कर्मों के अतिरिक्त किसी अन्य गृह्य कर्म द्वारा विवाह संपन्न होता है तो विवाह संबंधित रूढ़ि के अनुसार ही संपूर्ण माना जायगा।[5] जातिगत प्रथा की आबद्धता न केवल विवाह के पक्षकारों पर है अपितु न्यायालयों पर इसकी आबद्धता है, जो इस प्रकार की प्रथा या रूढ़ि को मान्यता देने और कार्यान्वित करने के लिये आबद्ध हैं।[6] दक्षिण के नट्टुकोट्ट चेट्टियों में सप्तपदी की अनिवार्यता नहीं है और विवाह की पूर्णता उनकी जातिगत प्रथा के अनुसार होती है।[7]

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन एक विधिमान्य विवाह की आवश्यक शर्तें

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5 के अधीन विधिमान्य विवाह के लिये निम्नलिखित शर्तें अधिकथित हैं और इन्हें पूरा करके ही दो हिंदुओं के बीच विवाह अनुष्ठापित किया जा सकता है :—

(1) दोनों पक्षकारों में से न तो वर की कोई जीवित पत्नी हो और न वधू का कोई जीवित पति हो;

(2) विवाह के समय दोनों में से कोई पक्षकार—

(क) चित्तविकृति के परिणाम स्वरूप विधिमान्य सम्मति देने में असमर्थ न हो, या

(ख) विधिमान्य सम्मति देने में समर्थ होने पर भी इस प्रकार के या इस

---

[1] मङ्गलान्युक्त्वा ददामि, प्रतिगृहणामीति त्रिब्राह्मदेयां पिता भ्राता वा द्द्यात्। मा० गृ० सू० 1/8/6

[2] अथास्यै दक्षिणेन नीचा हस्तेन दक्षिणाभुत्तानं हस्तं गृहणीयात्।
आप० गृ० सू० 2/4/11.

[3] प्रोदशेनाध्यधि प्रतिदिशं प्रदक्षिणं सर्वतोऽभ्युद्धिशक्षति" मान० गृ० सू० 1/9/13.

[4] सखति सप्तमे पदे जयति। आप० गृ० सू० 2/4/17; तावद् विवहोनैवस्याद् यावत् सप्तपदी. भवते॥ यम स्मृ० विवाह पद्धति में उद्धृत.
अतिकेशवलु बनाम रामानुजम्, आई० एल० आर० (1909) 32 मद्रास 512
वृन्दावन बनाम चंद्र, आई० एल० आर० (1886) 12 कलकत्ता 140.

[5] हरिचरण बनाम निगम, आई० एल० आर० (1884) 10 कलकत्ता 124.

[6] देवनै बनाम चिदम्बरम्, ए० आई० आर० 1954 मद्रास 657.

[7] राकप्पा बनाम चोक्कलिंगम्, ए० आई० आर० 1964 मद्रास 126.

हद तक मानसिक विकार से पीड़ित न हो कि वह विवाह और सन्तानोत्पत्ति के लिए अयोग्य हो, या

(ग) ऐसा न हो कि उसे उन्मत्तता या मिरगी का बार-बार दौरा पड़ता हो।

(3) विवाह के समय वर ने 21 वर्ष की आयु और वधू ने 18 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो;

(4) जब तक कि उन दोनों पक्षकारों में से प्रत्येक को शासित करने वाली रूढ़ि या प्रथा से उन दोनों के बीच विवाह अनुज्ञात न हो, वे प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के भीतर न हों;

(5) जब-तक कि दोनों पक्षकारों में से प्रत्येक को शासित करने वाली रूढ़ि या प्रथा से उन दोनों के बीच विवाह अनुज्ञात न हो, वे एक-दूसरे के सपिण्ड न हों।

विधिमान्य विवाह के लिए यह भी आवश्यक है कि वह इस अधिनियम की धारा 7 में अधिकथित सस्कारों द्वारा अनुष्ठापित किया गया हो संस्कार की शर्तें इस प्रकार है :—

(1) हिंदू विवाह उसके पक्षकारों में से किसी की भी रूढ़िगत रीतियों और कर्मकाण्ड के अनुसार अनुष्ठापित किया जा सकेगा;

(2) जहां कि ऐसी रूढ़ियों और कर्मकाण्ड के अन्तर्गत सप्तपदी (अर्थात् अग्नि के समक्ष वर औरवधू द्वारा संयुक्तत: सात पद चलना आती हो वहां विवाह पूर्ण आबद्धकर और तब होता है, जब सातवां पद चल लिया जाता है।

(1) **एकपत्नीत्व या एक पतित्व**—इस खंड का उद्देश्य हिंदू विधि में बहुपत्नीत्व के स्थान पर एक पत्नीत्व की व्यवस्था करना है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के अधिनियमित होने से पूर्व कोई हिंदू पत्नी के जीवित रहते अनेक विवाह कर सकता था। यद्यपि शास्त्रीय हिंदू विधि में पत्नियों की संख्या पर कोई नियंत्रण नहीं है तथापि बहुपत्नीत्व को अच्छा नहीं माना गया है और एकपत्नीत्व का ही आदर्श है। मनु जब यह कहते हैं कि जो पति है वही पत्नी है[1] तब उसका यही अर्थ है कि एक ही पत्नी और पति के जोड़े को आदर्श दम्पती माना गया है। यही निष्कर्ष पत्नी के अर्धांगिनी होने की उक्ति से भी निकलता है।[2] उपनिषद् का यह वचन कि "प्रजापति ने अपने को विभक्त करके स्त्री-पुरुष की रचना की"[3] इस सिद्धांत का द्योतक है कि पति को एक ही स्त्री और स्त्री को एक ही पति रखने का अधिकार है। हिंदू विवाह का दार्शनिक पक्ष एकपत्नीत्व और एक-पतित्व को प्रतिपादित करता है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5(1) का उपबंध उक्त सिद्धांत को विधि का रूप देता है।

उक्त खंड की शर्त उन शर्तों में से एक है, जो न केवल विवाह की विधिमान्यता के लिए ही आवश्यक है, अपितु जिसके उल्लंघन से इस अधिनियम की धारा 11 के अधीन

---

1 यो भर्त्ता सास्मृताङ्गना ।। मनु० 9/45.

2 अर्धो वा एप आत्मनो यत्पत्नी ।। तैत्ति० सं० 6/1/8/5.

3 स हैतावानासे यथा स्त्रीपुमांसौ सपरिष्वक्तौ ।। बृह० उप० 1/4/3.

विवाह शून्य है, और धारा 17 के अनुसार भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 494 और 495 के उपबंधों के अधीन दंडनीय अपराध है। पति या पत्नी के जीवन काल में भारत से बाहर किया गया विवाह भी इस खंड के अधीन शून्य है, क्योंकि हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 1(2) के उपबंधों के अधीन भारत में अधिवसित हिंदू जो विदेश में हो उन्हें भी यह अधिनियम लागू होता है। नेपाल के अधिवासित गोरखा जो भारत में रह रहे हैं, उन्हें भी यह अधिनियम लागू होता है। वे भी एक से अधिक विवाह पति या पत्नी के जीवन काल में नहीं कर सकते और यदि ऐसा विवाह करते हैं, तो वह विवाह शून्य होता है, और भारतीय दंड संहिता की धारा 494 और 495 के अधीन दंडनीय अपराध भी।

हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 5 (1) में प्रयुक्त 'पति या पत्नी' का अर्थ है विधिपूर्वक विवाहित पति या पत्नी जिनका दाम्पत्य-बंधन विच्छिन न हुआ हो। यदि दाम्पत्य-बंधन विवाह-विच्छेद द्वारा विच्छिन हो चुका हो तो विवाह-विच्छिन पति या पत्नी अन्य विवाह कर सकते हैं। विवाह-विच्छेद की डिक्री पक्षकारों की वैवाहिक प्रास्थिति को समाप्त कर देती है। अतएव विवाह-विच्छेद की डिक्री हो जाने के उपरांत पूर्विक विवाह के पक्षकार (पति या पत्नी) अन्य विवाह करने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं।

(2) **मानसिक क्षमता**—हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 5 का खंड (ii) यह अधिकथित करता है कि हिंदू विवाह का कोई भी पक्षकार चित्त-विकृति, मानसिक त्रुटि या विकार, उन्मत्तता या मिरगी रोग से ग्रस्त नहीं होना चाहिए। यदि विवाह का कोई भी पक्षकार इन रोगों में से किसी भी मानसिक रोग से विवाह के समय ग्रस्त रहा है, तो इस अधिनियम की धारा 12(1)(ख) के उपबंधों के अधीन किसी भी पक्षकार के आवेदन पर विवाह शून्यकरणीय है। विवाह के किसी भी पक्षकार के इन रोगों से विवाह के समय ग्रस्त होने के कारण विवाह शून्य न होकर केवल शून्यकरणीय ही है जो प्रभावित पक्ष की इच्छा पर निर्भर है। यदि प्रभावित पक्ष विवाह को समाप्त नहीं कराना चाहता है तो विधि निष्प्रभावी रहेगी। शास्त्रीय हिंदू विधि में भी रोगिणी, (जिसमें मानसिक विकार भी समाप्ति है) कन्या[1] या रोगी बालक[2] के साथ विवाह प्रतिषिद्ध है।

'मानसिक विकार' पद को हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 13(1) (iii) और उसके स्पष्टीकरण (क) के अनुसार पढ़ा जाना चाहिए जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि 'मानसिक विकार' अभिव्यक्ति से मानसिक बीमारी, मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या अशक्तता अभिप्रेत है और इनके अन्तर्गत विखंडित मनस्कता भी है। जिस प्रत्यर्थी का चित्त उक्त रोगों में से किसी भी मानसिक रोग से असाध्य रूप से विकृत रहा हो उससे यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह याचिकादाता के साथ उचित व्यवहार करेगा।

---

1 अरोगिणीं अचिकित्सनीय व्याध्यनुपसृष्टाम् । याज्ञ० 1/53 की मिता० टीका।

2 पञ्चविवाहकारकाणि भवन्ति: वित्तं, रूपं, विद्या, प्रज्ञा, बान्धव इति ॥ एकालाभे वित्तं विसृजेद्, द्वितीयालाभे रूपं, तृतीया लाभे विद्यां, प्रज्ञायां बान्धव इति च विवहन्ते ॥ मान० गृ० सू० 1/7/6-7. इनमें सब गुणों का त्याग हो सकता है, किंतु प्रज्ञा का नहीं। दूसरे शब्दों में, मानसिक विकार से ग्रस्त वर का विवाह अनुमोदित नहीं है।

प्राचीन शास्त्रकारों ने भी यह अनुभव किया था कि अन्य पक्ष की मानसिक रुग्णता कष्टप्रद होती है। मनु के अनुसार उन्मत्तपति की सेवा करने के लिए पत्नी बाध्य नहीं है।[1] इस प्रकार की उन्मत्तता विवाह के समय की उन्मत्तता की द्योतक है क्योंकि इसके पूर्व के उन्मत्त पति की सेवा करने की व्यवस्था कर चुके[2] हैं, जो विवाहोपरांत मानसिक विकार का सूचक है। स्पष्टतया विवाद के समय उन्मत्त पति की पत्नी उससे पृथक् रहने की अधिकारिणी है।

(3) **पक्षकारों की आयु**—हिंदू विवाह अधिनियम में यह अधिकथित है कि वर की आयु 21 वर्ष और कन्या की आयु 18 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। इस खंड के उपबंधों के अधीन ऐसा विवाह केवल शून्यकरणीय ही नहीं है अपितु इस अधिनियम की धारा 18 के उपबंधों के अधीन इसका उल्लंघन दंडनीय अपराध है। यदि पत्नी की आयु विवाह के समय 15 वर्ष से कम थी तो वह 15 वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर किंतु 18 वर्ष की आयु पूरी करने से पहले विवाह को निराकृत कर सकती है और इस आधार पर इस अधिनियम की धारा 13(2) (iv) के अधीन विवाह की समाप्ति के लिए याचिका प्रस्तुत कर सकती है। यह धारा विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के प्रारंभ होने के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठापित सभी विवाहों को लागू होती है। हिंदू शास्त्रों में भी वर-कन्या की न्यूनतम आयु का विवरण देखने को मिलता है। मनु ने वर की आयु तीस वर्ष और कन्या की आयु बारह वर्ष तथा विकल्प में वर की आयु चौबीस वर्ष और कन्या की आयु आठ वर्ष निश्चित की है[3]। उन्होंने साथ-साथ यह भी यह कहा है कि इसमें शीघ्रता करना उचित नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि कन्या की आयु आठ वर्ष से कदापि कम नहीं होनी चाहिए। किंतु यह विकल्प की न्यूनतम आयु सीमा है। सामान्यतया बारह वर्ष या उससे ऊपर की आयु कन्या के लिए उपयुक्त मानी गई है। वस्तुतः विवाह के लिए कन्या की आयु रजोदर्शन से संबंद्ध है, जो उसकी युवावस्था का सूचक होता है।[4] इसी को ध्यान में रखकर बालक विवाह अवरोध (संशोधन) अधिनियम, 1978 के अधिनियमित होने के पूर्व कन्या की न्यूनतम आयु पन्द्रह वर्ष रखी गई थी।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि कन्या की विवाह संबंधी न्यूनतम आयु सीमा में समय की गति के साथ वृद्धि होती गई जब कि वर की न्यूनतम आयु सीमा में कमी होती गई और वर्तमान समय में यह सीमा इक्कीस

---

[1] उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनभ्॥ मनु॰ 9/79.

[2] अतिक्रामेत्प्रमत्तं वा मत्तं रोगार्तमेव वा॥ सात्रीन् माप्रान् परिसाज्या विभूषण परिच्छदा मनु॰ 9/78.

[3] त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्या हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः॥ मनु॰ 9/94.

[4] त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमती सती।
अर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं प्रीतम्॥ मनु॰ 9/90.

[5] हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5 (iii) मूल अधिनियम में।

वर्ष है जो कभी तीस या चौबीस थी। वर की आयु विद्याध्ययन से संबद्ध है[1] जो सामान्यतया पच्चीस वर्ष की आयु तक समाप्त होती है।

(4) **प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी**—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5 का खंड (iv) अधिकथित करता है कि यदि विवाह ऐसे व्यक्तियों के बीच हो जो प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी के अंदर आते हैं तो विवाह विधिमान्य नहीं होगा, जब तक कि दोनों पक्षों की रूढ़ि या प्रथा द्वारा स्वीकृति नहीं हो। वह रूढ़ि, जो प्रतिषिद्ध नातेदारी के अंदर के व्यक्तियों के बीच विवाह की अनुमति देती है, इस अधिनियम की धारा 3 के खंड(क) द्वारा परिभाषित 'रूढ़ि' और 'प्रथा' की आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करे। रूढ़ि अयुक्ति-युक्त या लोकनीति के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। ऐसी भी रूढ़ि नहीं होनी चाहिए जो नैतिकता, शिष्टता या शिष्टों के आचार या व्यवहार के अनुकूल न हो।[2] वस्तुतः यह खंड गोत्र-प्रवर बाह्य विवाह के सिद्धांत पर आधृत है और वंश की पवित्रता की अपेक्षा करता है। किंतु गोत्र-प्रवर की प्रतिषिद्धता स्पष्ट उल्लेख द्वारा हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 29 (1) द्वारा अमान्य कर दी गयी है। फलस्वरूप, प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी को गोत्र-प्रवर के अर्थ में नहीं समझा जा सकता। फिर भी इस खंड से वंश की पवित्रता को बनाये रखने में सहायता मिलती है, जो हिंदू विवाह की मूल-भूत आवश्यकता के रूप में प्रतिपादित है। प्रतिषिद्ध पीढ़ी की नातेदारी का विवेचन पिछले पृष्ठों में प्राचीन हिंदू विधि में विवाह की आवश्यक शर्तों के अन्तर्गत किया जा चुका है। इसमें वे सभी पीढ़ियां आती हैं, जो पहले सपिंड थी किंतु अब सपिंड से बाहर हैं, यथा; मौसी की संतान, पिता के चचेरे भाई के वंशज या इसी प्रकार के अन्य सपिंड पूर्वजों के भाइयों के वंशज अर्थात् पितृबंधु प्रतिषिद्ध नातेदारी में आते हैं।

(5) **सपिंड नातेदारी**—इस खंड के उपबंधों के अधीन सपिंड नातेदारी की प्रतिषिद्धता का सिद्धांत सुरक्षित रखा गया है और सपिंड नातेदारी के भीतर किया गया विवाह विधिमान्य नहीं होगा जब तक कि दोनों पक्षों की रूढ़ि या प्रथा द्वारा ऐसा विवाह स्वीकृत या मंजूर नहीं हो। किंतु इस खंड की सपिंड नातेदारी अब पितृकुल की पांच पीढ़ी और मातृकुल की तीन पीढ़ी तक ही सीमित रह गई है। यह वस्तुतः दायभाग की सपिंड नातेदारी की पीढ़ियां हैं, जिन्हें हिंदू विवाह अधिनियम में अंगीकार किया गया है। सपिंड नातेदारी की विस्तृत विवेचना पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। विस्तृत अध्ययन के लिए वहीं देखना चाहिए।

(6) **विवाह कर्म**—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 7 (1) के अधीन हिंदू विवाह का अनुष्ठापन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष के गृह्यकर्म के अनुसार या रूढ़िजन्य कर्म द्वारा हो सकता है। किन्तु धारा 7(2) में यह अधिकथित है कि जहां वैवाहिक कृत्य और कर्म के अन्तर्गत सप्तपदी आती है वहां विवाह सातवीं प्रदक्षिणा के साथ पूर्ण हो जाता है। इन उपबंधों से यह स्पष्ट है कि जब-तक विवाह किसी उचित गृह्यकर्म

---

1 गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेतद्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ मनु० 3/4.

2 बालुस्वामी बनाम बालकृष्ण : ए० आई० आर० 1957 मद्रास 97.

द्वारा सम्पन्न नहीं होता तबतक उसे अनुष्ठापित नहीं कहा जा सकता है। ये उपबंध इस तथ्य के द्योतक हैं कि हिंदू विधि में प्राचीन गृह्यकर्म अभी भी अपने मूल रूप में विधिमान्य हैं, जिसके अन्तर्गत सप्तपदी और विवाह-होम आते हैं। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि कतिपय गृह्यकर्म करने मात्र से, जिससे कि यह कहा जा सके कि दोनों पक्षों में विवाह-बंधन हो चुका है, विधि द्वारा विहित या स्थापित रूढ़ि द्वारा अनुमोदित गृह्यकर्म नहीं माना जाएगा।[1] यद्यपि इस अधिनियम द्वारा कोई विशिष्ट गृह्यकर्म विवाह के अनुष्ठापन के लिये विहित नहीं है तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें शास्त्रीय गृह्यकर्म को अमान्य कर दिया गया है। प्रसुविधा के लिए इसे विवाह के पक्षकारों पर छोड़ दिया गया है कि या तो वे अपनी जातिगत प्रथा के अनुसार विवाह अनुष्ठापित करें या शास्त्रीय गृह्यकर्म के अनुसार। किंतु जब विवाह का अनुष्ठापन शास्त्रीय गृह्यकर्म द्वारा हो, तब विवाह-होम और सप्तपदी आवश्यक कर्म हैं और धारा 7 (2) के अधीन विवाह की पूर्णता सातवीं प्रदक्षिणा पूर्ण होने के साथ ही हो जाती है। इन गृह्यकर्मों के द्वारा किसी भी जाति या वर्ण के लोग विवाह अनुष्ठापित कर सकते हैं।

विवाहार्थ संरक्षक

हिंदू विधि में विवाहार्थ संरक्षकों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, मिताक्षरा शाखा के अधीन संरक्षक, द्वितीय दायभाग शाखा के अधीन संरक्षक और तृतीय संहिताकृत हिंदू विधि के अधीन संरक्षक। इन तीनों वर्गों के संरक्षकों की विवेचना अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पृथक्-पृथक् की जाएगी।

(1) **मिताक्षरा शाखा के अनुसार विवाहार्थ संरक्षक**—यह तथ्य प्रारंभ में ही स्पष्ट कर देना उचित होगा कि शास्त्रीय हिंदू विधि में विवाहार्थ संरक्षक की उस अवधारणा का सर्वथा अभाव है जो संहिताबद्ध अथवा संसदीय विधि में उल्लिखित है। वैवाहिक कर्म में कन्यादान की अवधारणा के अधीन जिन पूर्वजों या संबंधियों को कन्यादान करने के लिए नामतः निर्दिष्ट किया गया है वे ही विवाहार्थ संरक्षक के रूप में आज मान्य हैं। याज्ञवल्क्य ने निम्नलिखित नातेदारों को कन्यादान करने का अधिकारी माना है[2] और इन्हीं नातेदारों को मिताक्षरा ने भी मान्यता दी है;[3]

(1) पिता;
(2) पितामह;
(3) भाई;
(4) सकुल्य या पैतृक नातेदार, जो संबंध सामीप्य के क्रम में अधिकारी है;
(5) माता।

---

[1] प्रियबाला बनाम सुरेशचन्द्र; ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1153; भाऊराव बनाम महाराष्ट्र राज्य, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1564.

[2] पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः॥ याज्ञ० 1/63.

[3] एतेषां पित्रादीनां पूर्वस्य पूर्वस्याऽभावे परः परः कन्याप्रदः प्रकृतिस्थश्चेत् यद्युन्मादादिदोषवान्न भवति। याज्ञ० 1/63 का मिता० टीका।

इन नातेदारों में पूर्व वर्ती के अभाव में उत्तरवर्ती नातेदार कन्यादान के अधिकारी हैं। सामान्यतया पिता को ही कन्यादान का पूर्ण अधिकार है। अन्य संबंधी वैकल्पिक व्यवस्था के अन्तर्गत आते है।[1] किन्तु यदि इनमें से सभी का अभाव हो तो किस नातेदार को कन्यादान का अधिकार होगा इस विषय पर याज्ञवल्क्य और मिताक्षरा दोनों ही मौन हैं। इस विषय पर युक्तियुक्त क्रम यही है कि पितृकुल में सकुल्यों के भी अभाव में मातृकुल के नातेदार कन्यादान कर सकते हैं।[2] इन सभी के अभाव में वस्तुतः जो कन्या का पालक है, वही कन्यादान कर सकता है क्योंकि पालक धर्मतः कन्या या बालक का पिता माना जाता है। किन्तु यदि वह वयस्क हो गई हो तो तो उसे स्वयं वरण करने का भी अधिकार है, जिसे स्वयंवर कहते हैं।[3] अन्य शब्दों में वयस्क कन्या को संरक्षक के अभाव में स्वयं अपना दान करने का अधिकार प्राप्त है, और यह अधिकार शास्त्रसम्मत है। यदि माता जीवित हो तो पिता की मृत्यु के उपरान्त वही स्वाभाविक संरक्षक है और कन्या के विवाह हेतु उसकी सहमति आवश्यक है, भले ही कन्या के पिता ने बिल द्वारा अपने भाई को एतदर्थ प्राधिकृत किया हो।[4]

(2) **दायभाग शाखा के अनुसार विवाहार्थ संरक्षक**—दायभाग शाखा के अनुसार निम्नलिखित नातेदार कन्यादान करने के अधिकारी हैं—[5]

(1) पिता;

(2) पितामह;

(3) भ्राता;

(4) सकुल्य या पैतृक नातेदार, जो संबंध सामीप्य के क्रम में अधिकारी हों,

(5) मातामह (नाना);

(6) मामा (माता का भाई);

(7) माता।

यदि पितृकुल के नातेदार या संबंधी हों तो मातृकुल के संबंधियों को विवाह में कन्यादान करने का प्राधिकार नहीं है, किंतु यदि पितृकुल के संबंधी विवाह में कन्यादान नहीं करें तो मातृकुल के संबंधियों को कन्यादान करने का प्राधिकार प्राप्त हो जाता है।[2] यदि माता जीवित हो तो उसकी सहमति लेनी आवश्यक है। यद्यपि दायभाग और मिताक्षरा दोनों ने माता को कन्यादान के लिए पितृकुल और मातृकुल संबंधियों के अभाव में प्राधिकृत

---

1 "पिता रक्षति कौमारे" मनु० 9/3 और "कालेऽदाता पिता वाच्यो" मनु० 9/4 अर्थात् 'पिता कौमार्यावस्था में रक्षक है पर' विवाह काल में कन्यादान न करने वाला पिता निन्द्य होता है। इन व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि पिता ही कन्यादान का वास्तविक अधिकारी है।

2 कस्तूरी बनाम पन्नालाल, (1916) 38 इलाहाबाद 520.

3 गम्यम्या त्वभावे दातृणां कन्या कुर्यात्स्वयं वरम्। याज्ञ० 1/64.

4 रामतारा बाई बनाम जमुनादास, आई० एल० आर० 37 मुम्बई 18.

5 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू लॉ, उपबंध 433, पृष्ठ 555.

किया है तथापि न्यायालयों ने पिता के अभाव या उसके जीवन काल में भी माता को कन्या का विवाह करने का अधिकारी माना है।[1]

(3) **हिंदू विवाह अधिनियम के अनुसार विवाहार्थ संरक्षक**—हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 6, के अनुसार, जो अब निरसित हो चुकी है, केवल उन्हीं मामलों में विवाहार्थ संरक्षक की आवश्यकता थी, जिनमें कन्या 15 वर्ष से 18 वर्ष तक की हो, अर्थात् अप्राप्तवय हो। वयःप्राप्त कन्या के विवाह के लिए, किसी संरक्षक की आवश्यकता इस अधिनियम में नहीं थी। किंतु अब बालक विवाह अवरोध (संशोधन) अधिनियम, 1978 के उपबंधों के अनुसार अवयस्क कन्या का विवाह नहीं हो सकता। 18 वर्ष से कम की आयु की कन्या का विवाह दण्डनीय हो चुका है। फिर भी अध्ययन की दृष्टि से इस अधिनियम की निरसित धारा 6 के अधीन दिया गया संरक्षकों का क्रम यहां दिया जा रहा है :—

(क) पिता;

(ख) माता;

(ग) पितामह;

(घ) पितामही;

(ङ) पूर्ण रक्त भाई, भाइयों में ज्येष्ठ को अधिमान दिया जाना है;

(च) अर्ध रक्त भाई, अर्धरक्त भाइयों में ज्येष्ठ को अधिमान दिया जाना है;

परंतु यह तब जब कि कन्या (वधू) उसके साथ रह रही है और उसका पालन-पोषण वही कर रहा है;

(छ) पूर्ण रक्त चाचा, अनेक चाचा होने पर ज्येष्ठ चाचा को अधिमान दिया जाना है;

(ज) अर्ध रक्त चाचा, अनेक अर्ध रक्त चाचा होने पर ज्येष्ठ अर्ध रक्त चाचा को अधिमान दिया जाना है,

परंतु यह तब जब कि वधू उसके साथ रह रही है, और उसका पालन-पोषण वही कर रहा है;

(झ) मातामह (नाना),

(ञ) मातामही (नानी),

(ट) पूर्ण रक्त मामा, अनेक मामा होने पर ज्येष्ठ मामा को अधिमान दिया जाना है,

परंतु यह तब जब कि वधू उसके साथ रह रही है और उसका पालन-पोषण वही कर रहा है।

---

1 श्रीमती जीवनी बनाम मूलराम, आई० एल० आर० 1922 लाहौर 112 (पिता के अभाव में).जगन्नाथ बनाम वसन्तराम, आई० एल० आर० 1923 लाहौर 95 (पिता के जीवन में).

संरक्षक के लिए यह आवश्यक है कि उसकी आयु इक्कीस वर्ष पूरी हो चुकी हो। यदि कोई व्यक्ति विवाह में संरक्षक के रूप में कार्य करने का हकदार होते हुए भी अस्वीकार करे अथवा किसी कारणवश ऐमा करने में असमर्थ या अनुपयुक्त हो तो क्रम में निकटतम व्यक्ति संरक्षक होने का हकदार होगा। ऊपर की सूची में दिये गये नातेदारों के अभाव में विवाह हेतु किसी भी संरक्षक की सम्मति इस अधिनियम में आवश्यक नहीं है।

यद्यपि अब विवाह के लिए किसी संरक्षक की सम्मति की आवश्यकता हिंदू विधि में नहीं रह गई है तथापि विवाह-कर्म की आवश्यकता से यह निर्विवाद है कि कन्यादान की विधिक मान्यता बनी हुई है और इसे संपन्न कराने के लिए कोई न कोई संरक्षक आवश्यक है। व्यवहारतः विवाह में वयस्क वर-कन्या के मामले में भी प्राकृतिक संरक्षक की सम्मति प्रायः ली ही जाती है, भले ही विवाह की विधिमान्यता के लिए इसकी आवश्यकता न हो।

विवाह की उपधारणा और धर्मजत्व

यदि पुरुष और स्त्री स्थानीय व्यक्तियों द्वारा कथित विवाह के समय से पति-पत्नी के रूप में माने जाते हैं और इसी रूप में महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों में और विशिष्ट अवसरों पर वर्णित होते हैं, तो न केवल विवाह की विधिमान्यता के पक्ष में ही प्रबल उपधारणा बनती है, अपितु उनके वच्चों के धर्मजत्व के बारे में भी ऐसी ही उपधारणा बनती है साथ ही यह भी उपधारणा बनती है कि विधिमान्य विवाह कर्म की औपचारिक अपेक्षाएं भी पूरी की गई थीं।[1] यदि कोई स्त्री किसी पुरुष के नियंत्रण और संरक्षण में रहती है और वह उसके बच्चों को स्वीकार करता है, तो यह इस तथ्य की प्रबल उपधारणा है कि वह स्त्री उस पुरुष की पत्नी है किन्तु यह उपधारणा ऐसे प्रतिकूल साक्ष्य द्वारा खंडित की जा सकती है जो यह सिद्ध करे कि उनमें कोई विवाह नहीं हुआ।[2]

अपरिवर्तनीय तथ्य—अपरिवर्तनीय तथ्य का सिद्धांत निदेशित व्यवस्थाओं के उल्लंघन को वैधता के लिए समर्थ बनाता है। दूसरे शब्दों में, अपरिवर्तनीय तथ्य के सिद्धांत के अनुसार कार्य संपन्न हो गया हो तो वैध माना जाता है भले ही संबंधित कार्य निदेशित व्यवस्थाओं का उल्लंघन करते हुए संपन्न किया गया है। किन्तु यदि कतिपय आवश्यक गृह्यकर्म विवाह में अननुपालित हो तो उन गृहकर्मों या धार्मिक कृत्यों के अननुपालन की उपेक्षा अपरिवर्तनीय तथ्य का सिद्धान्त लागू करके नहीं की जा सकती है। एक विवाह में अनेक ऐसे गृह्यकर्म होते हैं, जिनका अनुपालन आबद्धकर नहीं होता और यदि ऐसे गृह्य-कर्म नहीं किये जाएं, तो इनका लोप होने पर भी अपरिवर्तनीय तथ्य के सिद्धांत के द्वारा विवाह वैध माना जा सकता है।[3]

---

[1] विकास कुमार **बनाम** नन्दारानी, ए० आई० आर० 1979, कलकत्ता 358, गुरुचरण **बनाम** आदिकन्द बेहरा, ए० आई० आर० 1972 उड़ीसा 38.

[2] आनन्दीलाल **बनाम** ओंकार, ए० आई० आर० 1960 राजस्थान 251, नागराजाम्मा **बनाम** भारतीय स्टेट बैंक, ए० आई० आर० 1962 आन्ध्र प्रदेश 260.

[3] अप्पीबाई **बनाम** खेमजी कुंअरजी, आई० एल० आर० (1936) 60 मुम्बई 455.

दाम्पत्याधिकारों का प्रत्यास्थापन

पति-पत्नी में से कोई भी अन्य पक्ष के विरुद्ध दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन का वाद संस्थित कर सकता है।[1] दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन का मामला तब उठता है जब पति या पत्नी, एक-दूसरे से पारस्परिक मतभेद या विवाद के कारण, पृथक् रहते हैं जिससे दाम्पत्य जीवन में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। दाम्पत्य संबंध यह प्रत्याशा करता है कि पति-पत्नी एक साथ रहें और एक दूसरे से सहयुक्त रहें। हिंदू जीवन-पद्धति में पति-पत्नी का संगम एक पवित्र-बंधन होने के कारण इसका महत्व अत्यधिक है। मनु ने स्पष्टतः यह व्यवस्था दी है कि 'पति-पत्नी आमरण परस्पर मेल से धर्मादि कृत्यों में सहयोग देते हुए रहें'।[2] यदि किसी कारणवश पति-पत्नी पृथक्-पृथक् रहते हों तो भी उन्हें धर्मादि कृत्यों में प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू जीवन-पद्धति में दाम्पत्य संबंध केवल सहवास के लिए ही नहीं अपितु धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान के लिए भी है और स्त्री के पृथक् रहने से पुरुष के धार्मिक कृत्यों के संपादन में अवरोध होता है। इस आधार पर भी दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन का वाद संस्थित किया जा सकता है। विधि के साथ-साथ जीवन पद्धति को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन से संबंधित प्रश्नों का अवधारण करने के लिए हिंदू जीवन पद्धति से ही सही मार्गदर्शन प्राप्त होता है और इन शब्दों का अर्थान्वयन इस पृष्ठभूमि के आधार पर भी किया जाना चाहिए। दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की अंग्रेजी धारणा की तुलना में इस विषय पर हिंदू विधि की धारणा अत्यधिक विकसित है।

हिंदू विवाह अधिनियम के अनुसार दाम्पत्याधिकारों का प्रत्यास्थापन

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 9 में दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की चर्चा की गई जो इस प्रकार है—

> "जब कि पति या पत्नी ने किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना अपने को दूसरे के साहचर्य से प्रत्याहृत कर लिया हो, तब व्यथित पक्षकार दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए जिला न्यायालय में अर्जी द्वारा आवेदन कर सकेगा और न्यायालय ऐसी अर्जी में किये गये कथनों की सत्यता के बारे में तथा इस बात के बारे में कि इसके लिए कोई वैध आधार नहीं है कि आवेदन मंजूर क्यों न कर लिया जाए अपना समाधान हो जाने पर दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन डिक्री कर सकेगा।"

स्पष्टीकरण—जहां यह प्रश्न उठता है कि क्या साहचर्य से प्रत्याहरण के लिए युक्तियुक्त प्रतिहेतु वहां युक्तियुक्त प्रतिहेतु साबित करने का भार उस व्यक्ति पर होगा, जिसने साहचर्य से प्रत्याहरण किया है।

---

[1] टिकैत बनाम बसंत, आई० एल० आर० (1901) 28 कलकत्ता 75.

[2] अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः।। मनु० 9/101.

[3] तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्।। मनु० 9/102.

इस अधिनियम की धारा 9 में तीन तत्वों का समावेश है, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) पति-पत्नी में से कोई भी बिना किसी युक्तियुक्त कारण के दूसरे के साहचर्य से अपने को प्रत्याहृत कर लेता है,

(ख) दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की याचिका के कथन की सत्यता से न्यायालय तुष्ट हो जाता है, और

(ग) प्रत्यास्थापन के लिए किये गये आवेदन को मंजूर न करने के लिए कोई वैध आधार नहीं है।

युक्तियुक्त कारण के बिना साहचर्य से प्रत्याहरण — दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री के लिए दावा करने का आधार यह है कि पति या पत्नी को यह अधिकार है कि वह पत्नी या पति के साहचर्य को प्राप्त करता या करती रहे। यदि इनमें से कोई बिना किसी युक्तियुक्त या उचित कारण के अपना साहचर्य प्रत्याहृत कर ले तो न्यायालय को दाम्पत्याधिकारों की प्रत्यास्थापना के लिए डिक्री प्रदान करनी चाहिए।

दाम्पत्याधिकारों की प्रत्यास्थापना के लिए याचिका इस अधिनियम की धारा 19 के अधीन उस ज़िला न्यायालय के समक्ष उपस्थापित की जानी चाहिए जिसकी साधारण आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के अन्दर विवाह का अनुष्ठापन हुआ था, या प्रत्यर्थी आवेदन के उपस्थापन के समय, निवास करता है, या विवाह के पक्षकार अन्तिम बार एक साथ रहते थे या याची याचिका के समय निवास कर रहा है। याची तभी ऐसे जिला न्यायालय के समक्ष याचिका उपस्थापित कर सकता है, जिसकी साधारण आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के अन्दर वह निवास कर रहा है जब कि प्रत्यर्थी उस समय ऐसे राज्य क्षेत्र के बाहर निवास करता है, जिस पर इस अधिनियम का विस्तार है।

जिला न्यायालय इस धारा के अधीन दी गई याचिका उस समय स्वीकार कर लेगा जब उसका समाधान हो जाएगा कि—

(क) अनुतोष अनुदत्त करने के लिए कोई न कोई आधार विद्यमान है और याचिकादाता अनुतोष के प्रयोजन से अपने ही किसी दोष या निर्योग्यता का किसी प्रकार का फायदा नहीं उठा रहा है;

(ख) कार्यवाही संस्थित करने में कोई अनावश्यक या अनुचित विलम्ब नहीं हुआ है, और

(ग) अनुतोष अनुदत्त न करने के लिए कोई अन्य वैध आधार नहीं है, तो ऐसी दशा में, किन्तु अन्यथा नहीं, न्यायालय तदनुकूल ऐसा अनुतोष डिक्री करेगा।

याचिकादाता (याची) को यह दर्शाना आवश्यक है कि वह सद्भाविक रूप से दाम्पत्य संबंध की पुनःस्थापना का इच्छुक है और दाम्पत्य जीवन के अधिकारों और कर्तव्यों

को निभाने के प्रति निष्ठावान् है। वही याची, जो इस अर्थ में निष्ठावान् है, दाम्पत्यधिकारों के प्रत्यास्थापन के अनुतोष की मांग कर सकता है अन्य नहीं।[1]

दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए आज्ञप्ति (डिक्री) करने के पूर्व न्यायालय को यह समाधान कर लेना होगा कि प्रत्यर्थी ने बिना किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के दूसरे से अपना साहचर्य प्रत्याहृत कर लिया है और आवेदन को मंजूर न करने का कोई वैध आधार नहीं है। दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की याचिका द्वारा मांगे गये अनुतोष को निम्नलिखित आधार पर नामंजूर किया जा सकता है—

(क) यदि प्रत्यर्थी ने किसी वैध आधार पर इस अधिनियम की धारा 10 के उपबंधों के अधीन न्यायिक पृथक्करण मांगा हो, या धारा 11 के उपबंधों के अधीन विवाह की शून्यता की मांग की हो, या धारा 12 के अधीन विवाह-विच्छेद का आवेदन लिखित रूप में किया हो।

(ख) यदि प्रयत्र्थी ने न्यायोचित कारण या युक्तियुक्त प्रति हेतु से याची से अपना साहचर्य प्रत्याहृत कर लिया हो।

(ग) यदि याची अनुतोष के प्रयोजन के लिए अपने ही दोष या निर्योग्यता का फायदा किसी रीति से उठा रहा हो।

(घ) यदि याचिका प्रत्यर्थी के साथ दुस्संधि करके संस्थित की गई हो।

(ङ) यदि कार्यवाही संस्थित करने में कोई अनावश्यक या अनुचित विलम्ब हुआ हो।

यदि याची पति ने अन्य पत्नी से विवाह कर लिया हो, तो पत्नी इस आधार पर धारा 13(2)(i) के अधीन याचिका का प्रत्युत्तर दे सकती है, जो दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की याचिका में किये गये आवेदन को मंजूर न करने का उचित और युक्तियुक्त कारण होगा।[2] इसी प्रकार अवयस्क पत्नी होने की दशा में न्यायालय पति की दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की याचिका बाल विवाह अधिनियम के उल्लंघन के आधार पर अस्वीकृत कर सकता है। किन्तु यदि वयस्क हो जाने पर पत्नी पति के साथ रही हो, और उसने पति का साहचर्य बिना किसी युक्तियुक्त कारण के प्रत्याहृत कर लिया हो, तो स्थिति भिन्न होगी।[3]

याचिका के कथन की सत्यता— विधि द्वारा न्यायालय का यह कर्त्तव्य विहित है कि उसे याचिका के कथन की सत्यता के समाधान हेतु उसकी जांच स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा करनी होगी। यदि उसके समक्ष ऐसे साक्ष्य हैं, जिनसे याचिका के कथन की सत्यता सिद्ध या स्थापित हो जाती है, तो यह न्यायालय के समाधान का कारण हो सकता है। न्यायालय की अधिकारिता साक्ष्य तक सीमित है। उसे प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर ही याचिका के कथन

---

1 सामल बनाम सामल : ए० आई० आर० 1964 पंजाब-हरियाणा 489.

2 मालप्पा बनाम नीलाब्बा, ए० आई० आर० 1970 मैसूर 59.

3 सुखराम बनाम मिश्रीराय, ए० आई० आर० 1979 मध्य प्रदेश 144.

की सत्यता का परीक्षण अपने समाधान हेतु करना होता है। किन्तु न्यायालय को वर्तमान परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना होगा और वैवाहिक कर्तव्य की प्राचीन अनम्य धारणाओं से हट कर परिस्थितियों का आकलन आज के परिवेश में करना होगा।[1] इस दृष्टि से पति की इच्छा के प्रतिकूल पत्नी द्वारा नौकरी करना पति के साहचर्य का प्रत्याहरण नहीं है। किन्तु पति का यह अधिकार है कि वह पत्नी को अपने साथ रहने की अपेक्षा करे। वह जहां रहना चाहता है रह सकता है। साथ ही परिस्थितियां उसे जहां रहने के लिए विवश करती हैं वहां भी रह सकता है अतः न्यायालय का यदि समाधान हो जाता है कि पत्नी पृथक् रहने के लिए युक्तियुक्त या उचित कारण उपस्थापित नहीं करती है तो वह पत्नी को समुचित कर्तव्य के निर्वहन से मुक्त नहीं करेगा।[2]

याचिका की अस्वीकृति हेतु अन्य वैध आधार का अभाव—यदि याची अपने दोष या निर्योग्यता का लाभ उठाना चाहता है, प्रत्यर्थी से दूरभिसंधि करता है, और याचिका अनावश्यक या अनुचित विलंब से प्रस्तुत करता है, तो इस अधिनियम की धारा 23 के उपबंधों के अधीन उसकी याचिका का कोई वैध आधार नहीं होगा। गुजरात उच्च न्यायालय ने **मणिलाल हरिभजनदास** बनाम **गंगाबेन गणेशभाई**[3] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि "इस अधिनियम की धारा 23 (1) का अनादर करते हुए दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए दी गई डिक्री प्रभावहीन होगी। न्यायालय यह ध्यान रखेगा कि याची ने याचिका सद्भाविक रूप से प्रस्तुत की है या नहीं और वह साथ-साथ रहने का वस्तुतः इच्छुक है अथवा केवल इस डिक्री को लेकर एक वर्ष तक सहवास न करके इस अधिनियम की धारा 13 (1) (क) के अन्तर्गत विवाह-विच्छेद की योजना बना रहा है।

न्यायिक पृथक्करण और विवाह-विच्छेद

न्यायिक पृथक्करण का अर्थ है न्यायिक कार्यवाही द्वारा पति-पत्नी को एक-दूसरे के साहचर्य से पृथक् रहने की अनुमति। प्राचीन हिन्दू विवाह विधि में न्यायिक पृथक्करण जैसा कोई अनुतोष पति या पत्नी को उपलब्ध नहीं था। हिंदू विवाह विधि में न्यायिक पृथक्करण को हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 10 के उपबंधों द्वारा स्थान दिया गया। यह अनुतोष दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन और विवाह-विच्छेद के बीच का है। इसका उद्देश्य पति-पत्नी के बीच तनाव पूर्ण परिस्थितियों के प्रत्येक मामले में विवाह-विच्छेद की डिक्री देने के स्थान पर पारस्परिक समायोजन का अवसर प्रदान करना है। समय की गति के साथ दाम्पत्य-संबंधों की प्राचीन मान्यताओं और आदर्शों में लचीलापन आता जा रहा है। मनुष्य अब उन मान्यताओं और आदर्शों से बंधा नहीं रहना चाहता जो उसकी मानसिक वेदना में सहायक होते हैं। प्राचीन समाज व्यवस्था में दाम्पत्य संबंधों से संबंधित आदर्श मर्यादा की दृष्टि से मान्य थे। अब आदर्शों की कल्पना विचार-स्वातंत्र्य के आधार पर उसके अनुरूप की जाती है। इसी कल्पना की एक कड़ी न्यायिक पृथक्करण की व्यवस्था है।

---

1 शांति निगम **बनाम** रमेशचन्द्र, (1971) ए० एल० जे० 67.

2 गयाप्रसाद **बनाम** भगवती, ए० आई० आर०, 1966 मध्य प्रदेश 212.

3 ए० आई० आर० 1979 गुजरात 98.

हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 10 के उपबंधों के अधीन न्यायिक पृथक्करण की डिक्री द्वारा पति-पत्नी को पृथक्-पृथक् निवास करने की अनुमति दी जा सकती है। न्यायिक पृथक्करण की डिक्री किये जाने के पश्चात् इस धारा की उपधारा (2) के अधीन यह बाध्यता नहीं है कि पति-पत्नी पृथक्-पृथक् निवास करें ही। यदि न्यायिक पृथक्करण के लिए डिक्री कर दी गई हो तो याचिकादाता आगे के लिए इस आभार के अधीन न होगा कि वह प्रत्यर्थी के साथ सहवास करे। डिक्री का प्रभाव यह होता है कि वैवाहिक अधिकार और कर्तव्य निलम्बित हो जाते हैं जिनका स्थान डिक्री द्वारा विहित अधिकार और कर्त्तव्य ले लेते हैं। किन्तु वैवाहिक सूत्रबंधन बना रहता है। यह डिक्री या आज्ञप्ति पति-पत्नी को मेलमिलाप का अवसर प्रदान करती है, और यदि आज्ञप्ति के दिन से एक वर्ष के भीतर मेल-मिलाप न हो जाए तथा सहवास पुनः स्थापित नहीं हो तो उसके पश्चात् धारा 13(1)(क)(i) के अधीन विवाह में का कोई भी पक्षकार तलाक की डिक्री द्वारा विवाह विच्छेद के लिए याचिका प्रस्तुत कर सकता है।

न्यायिक पृथक्करण के लिए न्यायालय में याचिका विवाह में का कोई पक्षकार चाहे वह विवाह इस अधिनियम के प्रारंभ होने से पूर्व अनुष्ठापित हुआ हो चाहे पश्चात्, जिला न्यायालय की धारा 13 की उपधारा (1) में और पत्नी की दशा में उसकी उपधारा (2) के अधीन विनिर्दिष्ट आधार में से किसी ऐसे आधार पर, जिस पर विवाह विच्छेद के लिए अर्जी उपस्थापित की जा सकती हो, अर्जी उपस्थापित कर सकता है। धारा 13 (1) और (2) में व्यक्त आधारों की विवेचना अध्ययन की सुविधा हेतु नीचे की जा रही है। वस्तुतः धारा 13 तलाक की धारा है जिसमें दिये गये आधार अब न्यायिक पृथक्करण में भी लागू होते हैं।

विवाह विच्छेद—'विवाह विच्छेद' पद का अर्थ है विवाह बन्धन की परिसमाप्ति। इस अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (i) के खंड (i) के अनुसार कोई विवाह, चाहे वह इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व अनुष्ठपित हुआ हो, या पश्चात् पति या पत्नी में से किसी एक के द्वारा पेश की गई याचिका पर विच्छेद की डिक्री द्वारा नीचे दिये आधारों पर विघटित किया जा सकेगा। विवाह-विघटन हो जाने के पश्चात् व्यक्ति अन्य विवाह करने के लिए स्वतंत्र हो जाता है।

विवाह-विघटन के निम्नलिखित आधार हो सकते हैं :—

(1) **जारकर्म**—जब पत्नी ने अपने पति से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ स्वेच्छया मैथुन किया हो, या पति ने अपनी पत्नी से भिन्न किसी स्त्री के साथ स्वेच्छया मैथुन किया हो। हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 13 के खंड (1) के उप-खंड (i) के उपबन्धों के अधीन अब विवाह अनुष्ठापन के पश्चात् एक बार के जारकर्म में भी न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद का मामला बनता है और याची को यह स्थापित नहीं करना होगा कि प्रतिपक्ष जारकर्म में अब भी प्रवृत्त है।[1] किंतु जारकर्म का प्रयत्न इस अनुतोष का पर्याप्त आधार नहीं होगा।

---

1 पट्टैअम्माल बनाम मणिकम्, ए० आई० आर० 1967 मद्रास 254.

(2) **क्रूरता**—जब पति या पत्नी ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अर्जीदार अर्थात् याची के साथ क्रूरता का बर्ताव या व्यवहार किया हो। विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के द्वारा हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (1) में नये उपखंड (iक) की रचना की गयी है, जिसका आशय क्रूरता के प्रत्येक मामले को विवाह-विच्छेद या न्यायिक पृथक्करण का आधार बनाना है। क्रूरता के आरोप के लिए यह आवश्यक नहीं रह गया है कि वैवाहिक संबंधों की परिधि में ही क्रूरता का व्यवहार किया गया हो ऐसा व्यवहार पति और पत्नी के पृथक् रहने की दशा में भी किया हुआ हो सकता है।[1]

(3) **अभित्यजन**—जब याची को अन्य पक्षकार ने याचिका के उपस्थापन के ठीक पहले कम से कम दो वर्ष की निरन्तर कालावधि तक अभित्यक्त रखा हो। यह व्यवस्था हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 13(1)के उपखंड(1ख)में हैं। यह उपखंड भी विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा नया विरचित है। वैवाहिक विधि में 'अभित्यजन' पदकी एक विधिक धारणा है, जिसका अर्थ स्थान से प्रत्याहरण मात्र नहीं अपितु संबंधों की अवस्था से प्रत्याहृण भी है।[2] इस उपखंड के अधीन यह आवश्यक है कि अभित्यजन याचिका की प्रस्तुति के दिन से दो वर्षों की कालावधि तक निरन्तर चलता रहे। वैवाहिक विधि में अभित्यजन के दो आवश्यक तत्त्व हैं :—

(अ) वस्तुत: पृथक्करण, (आ) सहवास की स्थायी समाप्ति का आशय, प्रमुख शर्त यह है कि दोनों तत्त्व सतत रूप से दो वर्षों की कालावधि तक चलने चाहिए।

इस उपखंड के अभित्यजन के अन्तर्गत 'स्वेच्छया उपेक्षा' सम्मिलित है जो प्रतिपक्ष द्वारा दो वर्षों की कालावधि तक निरन्तर की गयी हो।

(4) **हिंदू धर्म से अन्य धर्म में संपरिवर्तन**—जब दूसरा पक्षकार दूसरे धर्म को ग्रहण करके, हिंदू होने से परिविरत हो गया हो। प्राचीन हिंदू विधि में धर्म संपरिवर्तन की कोई व्यवस्था न होने के कारण पति या पत्नी में से किसी के हिंदू न रह जाने पर भी वैवाहिक संबंधों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। किंतु हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अधीन विवाह मात्र हिंदू में ही होने से उक्त धारणा भी परिवर्तित हो गई और अब यदि पति-पत्नी में से कोई भी हिंदू होने से परिविरत हो जाए तो यह न्यायिक पृथक्-करण या विवाह-विच्छेद का एक ठोस आधार है। इस उपखंड में 'हिंदू' शब्द का व्यापक अर्थ है और इसके अन्तर्गत बौद्ध, जैन और सिक्ख भी सम्मिलित हैं।

(5) **विकृत चित्त या मानसिक विकार**—जब दूसरा पक्षकार असाध्य रूप से विकृत-चित्त रहा हो या लगातार या आन्तरायिक रूप से इस किस्म के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा हो कि याची (अर्जीदार) से यह आशा नहीं की जा सकती हो कि वह प्रत्यर्थी के साथ रहे।

---

1 **जैमिसन बनाम** जैमिसन, ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 525.

2 खुरशीद **बनाम** मुंकरजी, (1937) 38 बोम्बे एल० आर० 1141.

स्पष्टीकरण—"(क) इस खंड में 'मानसिक विकार' अभिव्यक्ति से मानसिक बीमारी, मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या निःशक्तता अभिप्रेत है और इनके अन्तर्गत विखण्डित मनस्कता भी है;

(ख) मनोविकृति' अभिव्यक्ति से मस्तिष्क का दीर्घ स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें बुद्धि की अवसामान्यता हो या नहीं) अभिप्रेत है, जिसके परिणामस्वरूप दूसरे पक्षकार का आचरण असामान्य रूप से आक्रामक या गभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है चाहे उसके लिए चिकित्सा उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं।"

इस उपखंड का पाठ इस अधिनियम की धारा 5 के खंड (ii) के साथ किया जाना चाहिए, जिसके उपबन्धों के अधीन यह अधिकथित है कि हिंदू विवाह का कोई भी पक्षकार चित्त-विकृति, मानसिक विकार, उन्मत्तता या मिरगी से पीड़ित नहीं होना चाहिए। यद्यपि धारा 5, उपखड (ii) विवाह के समय के मानसिक विकारों अथवा अक्षमता का उल्लेख करता है और ऐसे रोगग्रस्त व्यक्ति को विवाह के लिए निर्रहित घोषित करता है तथापि विवाह के पश्चात् विवाह का जो पक्षकार ऐसे रोग से ग्रस्त हो जाता है, उसके मामले में भी इस उपखंड से मार्गदर्शन प्राप्त होता है। धारा 13 की उपधारा (1) के उपखंड (iii) का आशय उस रिक्तता की पूर्ति करना है, जो धारा 5 के खंड (ii) में रह जाती है। चित्त-विकृति या मानसिक विकार इस हद तक होना चाहिए कि रोगग्रस्त व्यक्ति आक्रामक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाय। यदि विवाह का अन्य पक्षकार मानसिक विकार या चित्त-विकृति के परिणाम स्वरूप आक्रामक या गंभीर रूप से अनुत्तर-दायी न हो, तो मानसिक विकृति मात्र से ही न्यायिक पृथक्करण या तलाक का मामला नहीं बनता। संशोधन के पश्चात् इस उपखंड को सरल किया गया है, जिससे कि विवाह का प्रभावित पक्षकार दूसरे पक्ष के दोषपूर्ण आचरण से मुक्त हो सके।

(6) **उग्र और असाध्य कुष्ठ रोग**—जब दूसरा पक्षकार याचिका पेश किये जाने से अव्यवहित पूर्व उग्र और असाध्य कुष्ठ रोग से पीड़ित रहा हो। यह संशोधित उपखंड उग्र और असाध्य कुष्ठ रोग को न्यायिक पृथक्करण या तलाक के आधारों में से एक आधार बनाता है। 'उग्र' पद का अर्थान्वयन आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय[1] ने परिपक्व या विषयुक्त किया है। अभिप्राय यह है कि अन्य पक्षकार का कुष्ठ रोग उस मात्रा में होना चाहिए जिससे कि याची को भी उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ सकता हो।

(7) **रतिज रोग**—जब दूसरा पक्षकार याचिका पेश किये जाने से अव्यवहित पूर्व रतिज रोग से पीड़ित रहा हो। रतिज रोग के आधार पर भी न्यायिक पृथक्करण या तलाक हो सकता है किंतु रतिज रोग संचारी रूप में होना चाहिए जिससे कि याची को भी रोगग्रस्त होने का भय हो। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि ऐसे रोग का संचार संतान को भी हो सके। दोनों ही अर्थों में संचारी रतिज रोग न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद का आधार हो सकता है।

---

[1] अन्नपूर्णम्मा बनाम अप्पाराव, ए० आई० आर० 1963 आन्ध्र प्रदेश 312.

(8) **धार्मिक पंथ के अनुसार प्रव्रज्या**—जब दूसरा पक्षकार प्रव्रज्या लेकर किसी धार्मिक आश्रम में प्रवेश करके संसार का परित्याग कर चुका हो, हिंदू विधि के अधीन जब कोई व्यक्ति वानप्रस्थ या संन्यासाश्रम ग्रहण करता है, तो यह उस व्यक्ति की सांसारिक मृत्यु मानी जाती है।[1] उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि जो व्यक्ति संन्यास ग्रहण करता है, वह प्राकृतिक कुटुम्ब से अपना संबंध-विच्छेद कर लेता है और दीक्षित हो जाने पर अपने गुरु का आध्यात्मिक पुत्र हो जाता है।[1] विवाह के विघटन के लिए 'प्रव्रज्या' में संसार का परित्याग आवश्यक है।[2] किंतु हिंदू विधि में जब प्रव्रज्या सांसारिक मृत्यु मान ली गयी है तब न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की डिक्री या आज्ञप्ति किस व्यक्ति को प्रभावित करेगी इसका अभिनिर्धारण किया जाना चाहिए। विधि की दृष्टि में ऐसे मामलों में पति या पत्नी की स्थिति विधुर या विधवा के सदृश हो जाती है। प्रव्रज्या का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि व्यक्ति इसमें संस्कारित होकर हिंदू मंदिर का पुजारी, जैन यति या सिक्ख ग्रंथी हो जाए। राजस्थान उच्च न्यायालय[2] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'संसार का परित्याग' मात्र पुजारी, यति या ग्रंथी होने से नहीं माना जा सकता क्योंकि ये गृहस्थ भी हो सकते हैं।'

(9) **उपधारित मृत्यु**—जब दूसरे पक्षकार के बारे में सात वर्ष या अधिक की कालावधि में उन लोगों ने कुछ नहीं सुना हो कि वह जीवित है जो उसके बारे में, यदि वह जीवित होता तो स्वभावतः सुनाते तो उसकी मृत्यु के बारे में उपधारणा कर ली जाती है। धारा 13 (1), उपखंड (vii) के द्वारा उपधारित मृत्यु की परिभाषा की गई है, जो भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 108 के समान है अथवा उसी की पुनरावृत्ति है। उपधारणा यह है कि जिस व्यक्ति के बारे में सात वर्ष या अधिक की कालावधि में उन व्यक्तियों ने कुछ नहीं सुना जो उसके जीवित रहने पर स्वभावतः सुनते, तो उसकी मृत्यु हो चुकी है। यह उपधारणा साक्ष्य पर आधारित है, जिसका अभिनिर्धारण न्यायालय द्वारा किया जाता है। इस उपखण्ड के उपबंधों का विस्तार निजी उपधारणा के लिए नहीं किया जा सकता। यदि विवाह का कोई पक्षकार इस उपखंड के उपबंधों का लाभ दूसरे विवाह के लिए उठाना चाहे तो उसे इस आधार पर न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की आज्ञप्ति के लिए न्यायालय में याचिका देनी चाहिए और न्यायालय की विवाह-विच्छेद की आज्ञप्ति के पारित हो जाने के उपरान्त ही दूसरा विवाह करना चाहिए अन्यथा पक्षकार द्विविवाह के अपराध का दोषी हो सकता है। इस आधार पर न्यायिक पृथक्करण की याचिका भी धारा 10 के अधीन प्रस्तुत की जा सकती है किंतु वह निरर्थक होगी।

पत्नी को प्रदत्त अतिरिक्त आधार

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 की उपधारा (2) में पत्नी को न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद के अतिरिक्त विधिविहित आधार प्रदत्त हैं जो निम्नलिखित हैं। यह उपखंड 1976 के संशोधन के पूर्व अनुष्ठापित विवाह में भी लागू होगा।

---

[1] महन्त शीतलदास **बनाम** सन्तराम, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 606.

[2] सुमेरचन्द्र **बनाम** राजस्थान राज्य, ए० आई० आर० 1965 राजस्थान 2.

(i) **अधिनियम पूर्व बहु-विवाह**—पत्नी तलाक की डिक्री द्वारा अपने विवाह के विघटन के लिए याचिका इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व अनुष्ठापित किसी विवाह की अवस्था में इस आधार पर भी उपस्थापित कर सकेगी कि पति ने ऐसे प्रारंभ से पूर्व फिर विवाह कर लिया था या पति की ऐसे प्रारंभ से पूर्व कोई विवाहित दूसरी पत्नी याचिकादात्री के विवाह के अनुष्ठापन के समय जीवित थी। दोनों ही अवस्थाओं में दूसरी पत्नी याचिका के पेश किये जाने के समय जीवित होनी चाहिए।

यद्यपि इस अधिनियम के लागू होने से पूर्व हिंदू विवाह विधि में पति द्वारा बहु-विवाह विधिमान्य था और कोई पत्नी इस आधार पर विवाह-विच्छेद हेतु याचिका प्रस्तुत नहीं कर सकती थी किंतु समय की गति के साथ विधायिका ने उस समय हुए विवाह को भी इस रूप में अनुचित माना कि इससे किसी भी पत्नी के दाम्पत्य सुख या जीवन यापन में बाधाएं आ सकती है, या वह कष्ट में पड़ सकती है। इससे मुक्ति पाने हेतु किसी भी पत्नी को विधि-विहित आधार प्राप्त हो गया है कि वह न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की याचिका न्यायालय में प्रस्तुत कर सकती है किन्तु याचिका प्रस्तुति के समय अन्य पत्नी या पत्नियों का जीवित होना आवश्यक है।

(ii) **अप्राकृतिक व्यभिचार**—पत्नी न्यायिक पृथक्करण या तलाक की डिक्री द्वारा अपने विवाह के विघटन के लिए याचिका इस आधार पर पेश कर सकेगी कि पति विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् बलात्संग, गुदामैथुन या पशुगमन का दोषी रहा है। इन अपराधों के आधार पर न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की डिक्री के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पति किसी आपराधिक कार्यवाही में सिद्धदोष हुआ हो। किंतु इन अपराधों को करने का प्रयत्न मात्र न्यायिक पृथक्करण या बिवाह विच्छेद का आधार नहीं हो सकता। इस उपखंड में आये 'दोषी' पद का आशय यह है कि पति ने अप्राकृतिक मैथुन किया है। ऐसा कृत्य एक बार भी किया जाना पर्याप्त है।

(iii) **भरण-पोषण की डिक्री के पश्चात् सहवास का अभाव**—पत्नी न्यायिक पृथक्करण या तलाक की डिक्री द्वारा अपने विवाह का विघटन कराने के लिए याचिका इस आधार पर पेश कर सकेगी कि हिंदू दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 18 के अधीन वाद में या दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अधीन कार्यवाही में यथास्थिति डिक्री या आदेश पति के विरुद्ध पत्नी के भरण-पोषण के लिए इस बात के होते हुए भी पारित किया गया है कि यह अलग रहती थी और ऐसे डिक्री या आदेश पारित किये जाने के समय से पक्षकारों में एक वर्ष या उससे अधिक के समय तक सहवास का पुनरारम्भ नहीं हुआ है इस उपखण्ड के द्वारा पति के विरुद्ध न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की याचिका प्रस्तुत करने का अतिरिक्त आधार पत्नी को दिया गया है। यद्यपि यह पत्नी का विशिष्ट अधिकार माना जा सकता है तथापि इसके प्रयोग से पत्नी का भरण-पोषण का अधिकार समाप्त हो जायेगा और भरण-पोषण के रूप में पति से मिलने वाली धनराशि बन्द हो जायगी। फलस्वरूप उसे आर्थिक संकट का सामना करना पड़ सकता है।

(iv) **पत्नी द्वारा विवाह का निराकरण**—यह उपखंड पत्नी को यह अधिकार प्रदत्त करता है कि पत्नी न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा अपने विवाह का विघटन करने के लिए याचिका इस आधार पर पेश कर सकेगी कि उसका

विवाह (चाहे विवाहोत्तर सम्भोग हुआ हो या नहीं) उस स्त्री की पन्द्रह वर्ष की आयु हो जाने के पूर्व अनुष्ठापित किया गया था और उसने पन्द्रह वर्ष की आयु प्राप्त करने पश्चात् किंतु अठारह वर्ष की आयु प्राप्त करने से पूर्वविवाह का निराकरण कर दिया है। यह उपखण्ड धारा 5 (iii) में हुए संशोधन की दृष्टि से महत्त्वहीन हो गया है जिसके अनुसार वर और वधू की आयु क्रमशः 21 वर्ष और 18 वर्ष कर दी गई है।

पारस्परिक सम्मति से विवाह-विच्छेद

विधायिका ने विवाह-विच्छेद को सरल बनाने के उद्देश्य से इस अधिनियम की धारा 13ख में यह उपबंधित कर दिया है कि यदि विवाह के पक्षकर वैवाहिक सम्बन्धों को बनाए रखना परिस्थितिवश उचित नहीं समझें तो वे पारस्परिक सम्मति से विवाह विघटन के लिए याचिका जिला न्यायालय में प्रस्तुत कर सकते हैं। धारा 13ख का पाठ इस प्रकार है—

> "(1) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए विवाह के पक्षकार मिलकर विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा विवाह के विघटन के लिए अर्जी चाहे ऐसा विवाह विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठापित किया गया हो, जिला न्यायालय में इस आधार पर पेश कर सकेंगे कि वे एक वर्ष या उससे अधिक समय से अलग-अलग रह रहे हैं और वे एक साथ नहीं रह सके हैं तथा वे इस बात के लिए परस्पर सहमत हो गये हैं कि विवाह विघटित कर दिया जाना चाहिए।
>
> (2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट अर्जी के पेश किये जाने की तारीख से छह मास के पश्चात् और उस तारीख से अठारह मास के भीतर दोनों पक्षकारों द्वारा किये गये प्रस्ताव पर, यदि इस बीच अर्जी वापस नहीं ली गई है तो, न्यायालय पक्षकारों को सुनने के पश्चात् और ऐसी जांच जैसी वह ठीक समझे करने के पश्चात् अपना यह समाधान कर लेने पर कि विवाह अनुष्ठापित हुआ है और अर्जी में किये गये प्रकथन सही हैं, यह घोषणा करते हुए विवाह-विच्छेद की डिक्री पारित करेगा कि विवाह डिक्री की तारीख से विघटित हो जाएगा।"

धारा 13ख की उपधारा (1) में दो अवयव हैं :—

> (1) प्रथम, यह कि पति-पत्नी एक वर्ष या उससे अधिक समय से अलग-अलग रह रहे हैं और वे एक साथ नहीं रह सके हैं।
>
> (2) द्वितीय, यह कि वे इस बात के लिए परस्पर सहमत हो गये हैं कि विवाह विघटित कर देना चाहिए।

पारस्परिक सम्मति से विवाह के विघटन के लिए दोनों तत्त्वों की विद्यमानता आवश्यक है। किन्तु पारस्परिक सहमति स्वेच्छया होनी चाहिए। इसके लिए किसी भी पक्षकार से छल-कपट या बल प्रयोग से सम्मति नहीं ली जानी चाहिए। यदि सम्मति छल-कपट या बल प्रयोग द्वारा ली गई है तो इस धारा में विवाह-विघटन नहीं हो सकता। पति-

पत्नी का एक वर्ष या इससे अधिक कालावधि तक एक दूसरे से पृथक्-पृथक् रहना सिद्ध होना चाहिए और उन परिस्थितियों का भी उल्लेख होना चाहिए जिनमें वे एक साथ नहीं रह सके। वे परिस्थितियां सामान्यतया वही हो सकती हैं, जिनका उल्लेख विवाह-विच्छेद की डिक्री के लिए धारा 13 में हुआ है। इस उपधारा में अधिकथित 'ऐसी जांच, जैसी वह ठीक समझे' से भी स्पष्ट है कि याचिका में व्यक्त परिस्थितियों की जांच साक्ष्य द्वारा होनी चाहिए।

धारा 13ख (2) में अधिकथित अवधि न्यायिक पृथक्करण की कालावधि के सदृश है। इसके द्वारा परस्पर मेल-मिलाप का एक अवसर दिया गया है और वाक्यांश 'यदि अर्जी इस बीच वापस नहीं ली गई हो' विधायिका के इस आशय की पुष्टि करता है कि वह इस बीच उनको मेल-मिलाप का अवसर देना चाहती है।

इस धारा के अधीन सुनवाई के पश्चात् और न्यायालय यह समाधान कर लेने पर कि विवाह अनुष्ठापित हुआ है और अर्जी के प्रकथन सही हैं; विवाह के विघटन की डिक्री पारित कर सकेगा। न्यायालय घोषणात्मक डिक्री में उल्लेख भी करे कि विवाह डिक्री के दिन से विघटित हो गया। पारस्परिक सम्मति के आधार पर विवाह-विच्छेद की डिक्री पारित करते हुए हुए मध्य प्रदेश[1] उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'न्यायालय को धारा 13ख में उल्लिखित बातों को हीदेखना है और उसे स्वविवेक के प्रयोग का अधिकार प्राप्त नहीं है। न्यायालय अतिरिक्त आवश्यकताओं पर बल नहीं दे सकता।

विवाह-विच्छेद की कार्यवाहिओं में प्रत्यर्थी को वैकल्पिक अनुतोष

इस अधिनियम की धारा 13क के उपबंधों के अधीन न्यायालय को यह विवेकाधिकार प्राप्त है कि वह मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए न्यायोचित समझने पर विवाह-विच्छेद की अर्जी पर विवाह-विच्छेद की डिक्री देने के बजाय न्यायिक पृथक्करण के लिए डिक्री पारित कर सके। किन्तु न्यायालय को धारा 13 की उपधारा (1) के खंड (ii),(iv) और (vii) में वर्णित आधारों में से किसी एक पर दी गई अर्जी पर विवेकाधिकार प्राप्त नहीं है। वे आधार निम्नलिखित हैं :—

(क) दूसरा पक्षकार दूसरे धर्म को ग्रहण करने से हिंदू होने से परिविरत हो गया है;

(ख) दूसरा पक्षकार याचिका पेश किए जाने से अव्यवहित पूर्व उग्र और असाध्य रोग से पीड़ित रहा है, और

(ग) दूसरे पक्षकार के बारे में सात वर्ष या अधिक की कालावधि में उन लोगों द्वारा, जिन्होंने दूसरे पक्षकार के बारे में, यदि वह जीवित होता तो स्वभावतः सुना होता, नहीं सुना गया कि वह जीवित है।

---

[1] रविशंकर बनाम शारदा : ए० आई० आर० : 1978 मध्य प्रदेश 44.

इनमें से कोई भी आधार ऐसा नहीं है, जिस पर न्यायालय स्वविवेकाधिकार के प्रयोग से वैकल्पिक अनुतोष की डिक्री न्यायिक पृथक्करण के रूप में पारित कर सके क्योंकि इनमें न्यायिक पृथक्करण के द्वारा मेल-मिलाप करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

रूढ़ि तथा विशेष अधिनियमों के उपबंधों के अधीन विवाह-विच्छेद :

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 29(2) के उपबंधों में रूढ़ि के अनुसार विवाह-विच्छेद के अधिकार को अथवा किसी विशेष अधिनियमिति द्वारा प्रदत्त ऐसे अधिकार को अप्रभावित रखा गया है। धारा 29(2) का पाठ इस प्रकार है :—

> "इस अधिनियम में अंतर्विष्ट कोई भी बात रूढ़ि से मान्यताप्राप्त या किसी विशेष अधिनियमिति द्वारा प्रदत्त किसी ऐसे अधिकार पर प्रभाव डालने वाली न समझी जाएगी जो किसी हिंदू विवाह का, वह इस अधिनियम के चाहे पूर्व अनुष्ठापित हुआ हो चाहे पश्चात्, विघटन अभिप्राप्त करने का अधिकार हो।"

इस उपधारा के उपबंधों में यह स्पष्ट है कि रूढ़ि के अनुसार प्राप्त विवाह-विच्छेद का अधिकार इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठापित दोनों ही विवाहों के मामले में सुरक्षित रखा गया है। ऐसा विच्छेद पंचायत या जातीय पंचायत या पारस्परिक समझौते आदि द्वारा हो सकता है। राजस्थान[1] और मध्य प्रदेश[2] उच्च न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि जिन जातियों में उनकी रूढ़ि के अनुसार तलाक लिया जा सकता है। उनमें पंचायत द्वारा विवाह-विच्छेद हो सकता है। किन्तु यह स्थापितकरना आवश्यक है कि पंचायत को विवाह-विच्छेद करने का अधिकार था और पंचायत ने नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अनुपालन किया। किन्तु पंचायत को ऐसी रूढ़ि के अनुसार विवाह-विच्छेद करने की शक्ति नहीं होती है जिसमें एक पक्षकार को दूसरे पक्षकार की इच्छा के विरुद्ध तलाक देने का अधिकार दिया गया हो, ऐसी रूढ़ि युक्तियुक्त नहीं है और शून्य है।[3]

पुनर्विवाह

विच्छिन्न विवाह व्यक्तियों का पुनर्विवाह—हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 15 के उपबंधों के अनुसार 'जब कि विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा विवाह विघटित कर दिया गया हो और या तो डिक्री के विरुद्ध अपील करने का कोई अधिकार ही न हो, या यदि अपील का ऐसा अधिकार हो तो अपील करने के समय का कोई अपील उपस्थापित किये बिना अवसान हो गया हो, या अपील की गई हो किन्तु खारिज कर दी गई हो तब विवाह के किसी पक्षकार के लिए पुनः विवाह करना विधिपूर्ण होगा। इस प्रकार विधि-विहित अपील का समय समाप्त हो जाने या अपील अस्वीकृत हो जाने के पश्चात् विच्छिन्न विवाह व्यक्ति पुनः विवाह कर सकता है।[4]

---

1 कृष्णलाल बनाम प्रभु, ए० आई० आर० 1963 राजस्थान 95.

2 प्रेमबाई बनाम चुन्नूलाल, ए० आई० आर० 1963 मध्य प्रदेश 57.

3 आनन्दी बनाम राजा, ए० आई० आर० 1973 राजस्थान 94.

4 लीला गुप्ता बनाम लक्ष्मी नारायण, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1351.

अकृत विवाह के पक्षकारों का पुनर्विवाह—शून्य अथवा शून्यकरणीय विवाह में विवाह अकृतता की डिक्री न्यायालय द्वारा पारित हो जाने के पश्चात् और विहित अपील का समय समाप्त हो जाने अथवा अपील अस्वीकृत हो जाने पर अकृत विवाह के पक्षकार पुनर्विवाह कर सकते हैं।

धारा 28 के उपबंधों के अनुसार इस अधिनियम के अधीन की किसी भी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गई सभी डिक्रियां उस न्यायालय द्वारा अपनी आरम्भिक सिबिल अधिकारिता के प्रयोग में दी गई डिक्रियों की भांति अपीलनीय है, जो उपधारा (4) के अनुसार तीस दिनों की कालावधि के अन्दर की जायगी। इस प्रकार अपील की कालावधि समाप्त हो जाने पर और अपील न होने पर डिक्री प्राप्त पक्षकार पुनर्विवाह कर सकता है चाहे उसे विवाह-विच्छेद की डिक्री प्राप्त हो अथवा अकृतविवाह की डिक्री।

विधवा का पुनर्विवाह—शास्त्रीय हिंदू विधि के अधीन विधवा का विवाह अशोभनीय माना जाता है। फिर भी अनेक पिछड़ी जातियों और शूद्रों में विधवा-विवाह जातीय रूढ़ि या प्रथा के अनुसार प्रचलन में रहा है और उनमें विधवा-विवाह विधिमान्य है।[1] हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 के उपबंधों के अधीन द्विजों में भी विधवा विधि विहित हो गया। विधवा का पुनर्विवाह भी हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अधीन ही अनुष्ठापित होगा।[2] विधवा-विवाह की शास्त्रीय अवधारणाएं ये हैं कि सदाचारी नारियों के लिए दूसरे पति की घोषणा नहीं की जा सकती है।[3] किन्तु अक्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत है।[4] किंतु अक्षतयोनि विधवा का अर्थ है वह कन्या जिसका विवाह तो हुआ हो, किंतु पति से सहवास होने से पूर्व ही वह विधवा हो गई हो शास्त्रों में आये 'पुनर्भू' शब्द से क्षत और अक्षतयोनि दोनों प्रकार की कन्याओं के पुनर्विवाह का अर्थ निकलता है[5] और दोनों प्रकार की विधवाओं का विवाह हो सकता है।

विधवा के पुनर्विवाह के परिणाम—विधवा द्वारा पुनर्विवाह कर लेने के पश्चात् मृत पति की जो संपदा उसे विरासत या उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हो वह निनिहित हो जाती है। हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 की धारा 2 के अनुसार पुनर्विवाह के पश्चात् मृत पति की संपदा में उसका हित उसी प्रकार समाप्त हो जाता है जिस प्रकार उसकी मृत्यु होने पर।[6] हिंदू विधि में विधवा अर्द्धांगिनी के रूप में उत्तरजीविता के आधार पर पति की संपदा को विरासत में प्राप्त करती है और ज्यों ही वह पुनर्विवाह करती है पूर्वमृत पति की उत्तरजीवी नहीं रह जाती। किंतु विधवा पुनर्विवाह के पश्चात् पूर्वमृत पति से उत्पन्न संतान की संपदा के उत्तराधिकार या विरासत के अधिकार को नहीं खो

---

1 अक्षयकुमार **बनाम** यतीन्द्रनाथ, ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 612.

2 उमरुलाल **बनाम** लक्ष्मीनारायण, (1976) मध्य प्रदेश ला जर्नल 518.

3 न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥ मनु० 9/65.

4 सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। मनु० 9/176.

5 अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः। याज्ञ० 1/67.
पुनर्भूरपि द्विविधा क्षता चाक्षता च॥ मिता० टीका।

6 सीतावीदेवी **बनाम** रामधनी, ए० आई० आर० 1966 कलकत्ता 60.

देती ।[1]

हिंदू विवाह के विधिक परिणाम—हिंदू विधि के अधीन विवाह के अनेक लौकिक और पारलौकिक विधिक परिणाम होते हैं। विवाह करने से व्यक्ति अनेक धार्मिक कृत्यों के योग्य बनता है। विधिमान्य विवाह के परिणामों का विवेचन आगे किया जा रहा है :—

(1) **यज्ञ का अनुष्ठान**—प्राचीन हिंदू विधि में विधिमान्य विवाह के फलस्वरूप दम्पति को यज्ञ करने की पात्रता प्राप्त हो जाती है।[2] पत्नी के अभाव में यज्ञ अधूरा समझा जाता है और जिसकी पत्नी नहीं हो, उसे यज्ञ का अधिकार भी नही होता।[3] इससे भी स्पष्ट है कि यज्ञ की पात्रता विवाह से ही आती है। आपस्तम्ब के अनुसार विवाह से पति पत्नी सब कर्मों को मिलकर करते हैं और उनका पुण्य फल एक साथ मिल कर पाते हैं।[4]

(2) **पत्नी की संरक्षकता**—विवाहोपरान्त पति पत्नी का संरक्षक होता है, चाहे पत्नी अवयस्क हो अथवा वयस्क।[5] शास्त्र स्त्री की सदा रक्षा के प्रतिपादक हैं और अवयस्क या वयस्क में विभेद नहीं करते।[6] विवाह होते ही कन्या पर से पिता या भाई का संरक्षण हट जाता है उसका स्थान पति ले लेता है। अवयस्क होने पर भी पति अपनी पत्नी का विधियुक्त संरक्षक होता है। वह पति-कुटुंब की एक विधिवत् सदस्य हो जाती है और पतिगृह में निवास करने की हकदार। संरक्षकता का अर्थ मात्र शारीरिक रक्षा ही नहीं है, अपितु उसके हितों आदि की भी रक्षा इसमें सम्मिलित है। विवाह से स्त्री के अनेक विधिक अधिकारों का भी उदय होता है जो पति से पूर्णतया संबंधित होते हैं। पत्नी के उन सभी हितों की रक्षा का भार पति को वहन करना होता है।

(3) **वैवाहिक कर्तव्य**—पति-पत्नी के वैवाहिक कर्त्तव्य भी हैं, जिनका पालन उन्हें करना ही है। पत्नी के कर्तव्य पति के प्रति हैं और पति के पत्नी के प्रति।

पत्नी के कर्तव्य—यह पति का अधिकार है कि पत्नी उसके साथ रहे और पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह पति के साथ, जहां भी वह रहता हो, रहे। यदि वह बिना किसी युक्ति-युक्त कारण के पति के साहचर्य में नहीं रहे तो यह हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13(1) के उपबंधों के अधीन विवाह-बिच्छेद का आधार है। इसे विच्छेद के आधारों में इसलिए सम्मिलित किया गया है कि पति के साहचर्य से पृथक् रह कर पत्नी अपने कर्तव्य से विमुख होती है। यह एक ऐसा अनुशासन है, जिसका अनुपालन पत्नी को करना ही है,

---

1 तायाम्मा बनाम गिर्यम्मा, ए० आई० आर० 1960; मैसूर 176.
रामस्वामी बनाम ई० तेवाड़, ए० आई० आर० 1972 मद्रास 314;
भीखू बनाम केशव, ए० आई० आर० 1924 मुम्बई 360. पुत्र की विरासत

2 संजानानाः उपसीदंनभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन् । ऋ० 1/72/5.

3 अयज्ञो व एष । योऽपत्नीकः ।। तैत्ति० ब्रा० 3/3/3/1.

4 पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु ।। तथा पुण्यफलेषु ।। आप० ध० सू० 2/6/14/17-18.

5 भर्ता रक्षति यौवने । मनु 9/3 (पूर्वार्ध).

6 न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।। उसीका उत्तरार्ध.
सूक्ष्मे भ्योऽपि प्रसंगेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।। मनु 9/5.

अन्यथा उसके विवाह विच्छेद और पुनर्विवाह का क्रम चलता ही रहेगा। साहचर्य पृथक्ता का प्रभाव सामाजिक अनुशासन पर भी पड़ता है और इस दृष्टि से भी इसका महत्व है।

पति के कर्तव्य—पत्नी का भी यह अधिकार है कि उसका पति उसे अपने साहचर्य में रखे। यदि पति अपनी पत्नी को अपने साहचर्य से पृथक् रखता हो, तो यह पति की कर्तव्य-विमुखता है और दो वर्षों तक पृथक् रखने पर उचित कारण के अभाव में उसे हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 उपधारा (1) के खण्ड (1ख) के अधीन अभित्यजन माना जा सकता है, जो विवाह-विच्छेद का एक आधार होगा।

(4) **भरण-पोषण का दायित्व**—अपनी पत्नी का भरण-पोषण करना पति का विधिविहित कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का निर्वाह प्राचीन[1] हिंदू विधि और हिंदू दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन पति को करना आवश्यक है। जो पुरुष किसी स्त्री से विवाह करता है, वह उसके भरण-पोषण का भार भी वहन करता है। प्राचीनतम काल में भले ही यह स्वेच्छया वहन किया जाता रहा हो किंतु बहुत पहले ही शास्त्रों में पत्नी के आवश्यक भरण-पोषण का दायित्व स्वीकार कर लिए जाने से यह विधिक दायित्व हो चुका है और पति विवाह बंधन के चालू रहने तक पत्नी का भरण-पोषण करने के लिए आबद्ध है। किंतु यह पत्नी का भी पारस्परिक कर्तव्य है कि वह उसके साहचर्य में रहने, उसकी आज्ञाओं का पालन करने और सद्व्यवहार करने के लिए समर्पित रहे।[2] यदि पत्नी ऐसा नहीं करे, तो पति को न्यायिक पृथक्करण या विच्छेद का अधिकार प्राप्त है। प्राचीन हिंदू विधि में पत्नी को भरण-पोषण का अधिकार पृथक् रहने पर भी था क्योंकि विवाह-बंधन अटूट था।[3]

विवाह की अकृतता

शून्य विवाह— प्राचीन हिंदू विवाह की अकृतता का उल्लेख हुआ है और विधिमान्य विवाह की आवश्यक शर्तें पूरी न होने पर विवाह अकृत हो जाता है। शुद्ध हिंदू विधि में निम्नलिखित हिंदू विवाह अविधिमान्य होने से अकृत होते हैं—

(1) यदि विवाह के पक्षकार एक ही धर्म, जाति के नहीं हों;

(2) यदि विवाह के पक्षकार एक ही गोत्र और प्रवर के हों;

(3) यदि विवाह के पक्षकार प्रतिषिद्ध नातेदारी या सपिण्ड नातेदारी में आते हों;

(4) यदि पक्षकारों का विवाह विवाह-होम और सप्तपदी आदि गृह्यकर्म द्वारा अनुष्ठापित नहीं हुआ हो अथवा रूढ़ि अथवा विधिमान्य जातीय प्रथा के अनुसार

---

[1] विधाय वृत्तिं भार्याया : प्रसवेत्कार्यवान्नरः। मनु० 9/74.
भार्यायाः भरणाद् भर्त्ता पालनाच्च प्रति स्मृतः॥ महा० आदि० 1/104/31.

[2] भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया। भाग० पु० 10/29/24.
स्त्रीभिर्भर्त्तृवचः कार्यमेष धर्मः पर स्त्रियाः॥ याज्ञ० 1/77.

[3] अधिविन्ना तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत्। याज्ञ० 1/74.

अनुष्ठापित नहीं हुआ हो;

(5) यदि पक्षकारों में से किसी के अवयस्क होने पर संरक्षक से या वयस्क होने पर बल-कपट से सम्मति ली गई हो;

(6) यदि स्त्री ने एक से अधिक पति से विवाह किया हो ।

ऐसे विवाहों को विवाह ही नहीं माना जाता । हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के उपबंधों का उल्लंघन करने पर धारा 11 के अधीन हिंदू विवाह उसके किसी भी पक्षकार की याचिका पर अकृतता की डिक्री द्वारा शून्य घोषित किया जा सकता है । धारा 5 के खंड (i) (iv) और (v) में क्रमशः यह यह अधिकथित है कि—

(1) विवाह के समय वर की कोई पत्नी जीवित नहीं होनी चाहिए और वधू का कोई पति;

(2) पक्षकार प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के भीतर नहीं हों; जब-तक कि दोनों में से प्रत्येक की रूढ़ि या प्रथा से विवाह अनुज्ञात न हो ।

(3) पक्षकार एक दूसरे के सपिण्ड नहीं हों जब-तक कि रूढ़ि या प्रथा से उनके बीच विवाह अनुज्ञात न हो ।

हिंदू विवाह अधिनियम के उपयुक्त उपबंध न्यूनाधिक रूप में प्राचीन विधि के ही नये रूप हैं ।

(1) **पति या पत्नी के जीवित रहते विवाह**—जब तक पहला विवाह विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा विघटित नहीं कर दिया जाता, तब तक न तो पत्नी का और न ही पति का दूसरा विवाह विधिमान्य है । उनमें से किसी का भी दूसरा विवाह प्रारम्भ से ही शून्य होगा ।[1] पति या पत्नी असाध्य रोग के रोगी भी क्यों न हो, पर विवाह-विच्छेद के अभाव में दूसरा विवाह शून्य होगा ।[1]

(2) **प्रतिषिद्ध नातेदारी**—यह नातेदारी सपिण्ड नातेदारी के अतिरिक्त है । मामा और भानजी अर्थात् बहिन की पुत्री से विवाह मद्रास उच्च न्यायालय ने प्रतिषिद्ध नातेदारी में मानते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि उस स्त्री की स्थिति रखैल से अच्छी नहीं है और विवाह शून्य है ।[2]

(3) **सपिण्ड नातेदारी**—हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 11 के अनुसार सपिण्ड नातेदारी का विवाह शून्य होता है । कलकत्ता उच्च न्यायालय ने अक्षय कुमार बनाम **यतीन्द्रनाथ**[3] के मामले में विवाह के पक्षकार सपिण्ड नातेदारी के भीतर आने के कारण

---

[1] ईश्वरसिंह **बनाम** हुकुमकौर, ए० आई० आर० 1965, इलाहाबाद, 464.

[2] मीनाक्षी **बनाम** नाम्मलवार, ए० आई० आर० 1970 मद्रास 402.

[3] ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 612.

उनका विवाह शून्य घोषित कर दिया। सपिण्ड नातेदारी का यहां अर्थ मातृकुल और पितृकुल दोनों का है। इसका विस्तृत विवेचन गत पृष्ठों में किया जा चुका है।

शून्य विवाह की याचिका का अधिकार—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 11 में ही यह अधिकथित है कि अनुष्ठापित विवाह के किसी पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार के विरुद्ध पेश की गई याचिका पर अकृतता की डिक्री द्वारा उसे अकृत घोषित किया जा सकेगा। इस अभिकथन से यह स्पष्ट है कि इनसे भिन्न व्यक्ति विवाह की अकृतता के लिए याचिका प्रस्तुत नहीं कर सकता।[1]

शून्यकरणीय विवाह

शून्यकरणीय विवाह स्वतः शून्य नहीं होता। जब तक ऐसा विवाह न्यायालय द्वारा विवाह के किसी पक्षकार द्वारा प्रस्तुत याचिका पर अकृत घोषित नहीं कर दिया जाता तब तक वह अविधिमान्य नहीं होता। हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 12 की उपधारा (1) के अधीन शून्यकरणीय विवाह के आधारों का उल्लेख है जो निम्नलिखित हैं और जिनमें से किसी एक आधार पर विवाह शून्यकरणीय हो सकता है :—

(क) **प्रत्यर्थी की नपुंसकता**—अर्थात् यदि प्रत्यर्थी की नपुंसकता के कारण विवाहोत्तर सम्भोग नहीं हुआ हो। नपुंसकता का अर्थ है, पक्षकार द्वारा पूर्ण मैथुन करने की असमर्थता। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि पक्षकार की शारीरिक मानसिक स्थिति विवाह की पूर्णता को व्यावहारिक रूप से असम्भव बनाती है, तो वह पक्षकार नपुंसक होता है।[2]

(ख) **अस्वस्थ मस्तिष्क**—अर्थात् यदि विवाह धारा 5 (ii) में उल्लिखित शर्तों के उल्लंघन में हो। वे शर्तें हैं—(अ) किसी पक्षकार का चित्त-विकृति के परिणामस्वरूप विधिमान्य संमति देने में असमर्थ होना, (आ) पक्षकार का इस हद तक मानसिक विकार से रोगग्रस्त होना कि वह विवाह और संतानोत्पत्ति के अयोग्य हो, और (इ) पक्षकार को उन्मत्तता या मिरगी का दौरा बार-बार पड़ना। यदि विवाह का कोई पक्षकार इनमें से किसी भी मानसिक रोग से पीड़ित हो। तो अन्य पक्षकार शून्यकरणीय विवाह की याचिका विवाह की अकृतता के लिए प्रस्तुत कर सकता है। प्रत्यर्थी का अस्वस्थ मस्तिष्क शून्यकरणीय विवाह का आधार तभी हो सकता है, जब वह इस रोग से विवाह के समय भी पीड़ित रहा हो[3] और याचिकादाता अभिकथित तथ्यों से विवाह के समय अनभिज्ञ हो। यदि प्रत्यर्थी विवाहोपरान्त अस्वस्थ मस्तिष्क से पीड़ित हुआ हो या विवाह के पूर्व अस्वस्थ मस्तिष्क से पीड़ित रहा हो किंतु विवाह के समय स्वस्थ मस्तिष्क का था तो न्यायालय द्वारा इन दोनों दशाओं में विवाह की अकृतता की डिक्री नहीं दी जा सकती।[3]

(ग) **बल-कपट से प्राप्त सहमति**—यदि याचिका दाता की संमति बल पूर्वक या कार्य की प्रकृति या प्रत्यर्थी से सम्बन्धित किसी तात्त्विक तथ्य या परिस्थिति के बारे में

1 परमस्वामी बनाम शूरनाथअम्माल, ए० आई० आर० : 1968 मद्रास 124.

2 दिग्विजय सिंह बनाम प्रताप कुमारी, ए० आई० आर० : 1970 एस० सी० 167.

3 मुनीश्वरदत्त बनाम इन्द्रकुमारी, ए० आई० आर० 1963 पंजाब 449.

कपट द्वारा अभिप्राप्त की गई हो तो विवाह शून्यकरणीय होगा। धारा 5 (ii) के निरसित हो जाने से अब विवाहार्थ संरक्षक की सम्मति का प्रश्न ही नहीं है और विवाह के समय पक्षकारों का वयस्क होना आवश्यक है। अब मात्र पक्षकारों की ही सम्मति विवाह के लिए आवश्यक है। धारा 12 की उपधारा (1) के खंड (ग) के उपबंधों के अधीन बल प्रयोग अथवा कपट का मामला तभी होगा जब कि परिस्थितियां ऐसी हों कि जिनसे विवाह के लिए स्वतंत्र सम्मति का अभाव दीखता हो।[1] किन्तु धारा 12 (2) (क) (ii) के अधीन बल या कपट के आधार पर विवाह को अकृत करने के लिए याचिका यथास्थिति बल के चालू रहने से परिविरत हो जाने के या कपट का पता चल जाने के एक वर्ष से अधिक पश्चात् नहीं पेश की जा सकती। यदि याचिकादाता यथास्थिति बल के चालू रहने से परिचित हो जाने के या कपट का पता चल जाने के पश्चात् अपनी पूरी सम्मति से विवाह में के दूसरे पक्षकार के साथ पति या पत्नी रूप में रहा या रही है तो धारा 12 की उपधारा (2) खंड (क) (ii) के अधीन कोई याचिका विवाह को अकृत करने के लिए ग्रहण नहीं की जा सकेगी। बम्बई उच्च न्यायालय[2] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि कपट का पता लग जाने के पश्चात् यदि पक्षकार पति-पत्नी के रूप में रह रहे हों, चाहे रहने का समय थोड़ा ही क्यों न हो, तो यह शून्यकरणीय विवाह का आधार नहीं होगा।

(4) **प्रत्यर्थी का विवाह के समय गर्भवती होना**—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 12 की उपधारा (1) के खंड (घ) के अधीन यदि प्रत्यर्थी विवाह के समय याचिकादाता से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा गर्भवती थी, तो विवाह शून्यकरणीय होगा और अकृतता की डिक्री द्वारा अकृत किया जा सकेगा। किंतु इस खंड में उल्लिखित आधार पर तब तक याचिका का ग्रहण नहीं किया जायेगा जब तक न्यायालय का समाधान नहीं हो जाता कि (i) याचिकादाता अभिकथित तथ्यों से विवाह के समय अनभिज्ञ था; (ii) इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व अनुष्ठापित विवाह की अवस्था में कार्यवाहियां ऐसे प्रारंभ से एक वर्ष के भीतर और ऐसे प्रारंभ के पश्चात् अनुष्ठापित विवाहों की अवस्था में विवाह की तारीख से एक वर्ष के भीतर संस्थित कर दी थीं और (iii) याचिकादाता की सम्मति से वैवाहिक सम्भोग उक्त आधार के अस्तित्व का पता याचिकादाता को चल जाने के दिन से नहीं हुआ। विवाह के समय प्रत्यर्थी के गर्भवती होने के सबूत का भार याचिकादाता पर है। उच्चतम न्यायालय ने **महेन्द्र बनाम सुशीला**[3] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि जब यह सिद्ध हो जाय कि याचिकादाता और प्रत्यर्थी के बीच विवाह के पहले संबंध नहीं थे और प्रत्यर्थी विवाह के समय गर्भवती होना स्वीकार कर ले, तो विवाह के शून्यकरणीय होने की डिक्री प्रदान की जाएगी क्योंकि इसमें ऐसा मान लिया जायगा कि याचिकादाता अपने सबूत का भारवहन करने में समर्थ रहा है।' याचिकादाता को उन तथ्यों और परिस्थितियों को स्थापित करना होगा जिनसे न्यायालय का यह समाधान हो सके कि प्रत्यर्थी याचिकादाता से भिन्न किसी व्यक्ति से गर्भवती थी अथवा उन तथ्यों और परिस्थितियों में कोई प्रज्ञावान् व्यक्ति पूर्णरूपेण संतुष्ट हो जाय कि बात ऐसी ही थी।

---

[1] नंदकिशोर **बनाम** श्रीमती मुन्नीबाई, ए० आई० आर० 1979 मध्य प्रदेश 45.

[2] रघुनाथ **बनाम** विजय, ए० आई० आर० 1972 मुम्बई 132.

[3] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 364.

वैवाहिक मामलों में न्यायालय की अधिकारिता और प्रक्रिया

याचिका ग्राही न्यायालय—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 19 के अधीन प्रत्येक याचिका उस जिला न्यायालय के समक्ष उपस्थापित की जायगी जिसकी साधारण आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के अंदर (i) विवाह का अनुष्ठापन हुआ था, या (ii) प्रत्यर्थी याचिका के उपस्थापन के समय, निवास करता है, या (iii) विवाह के पक्षकार अंतिम बार एक साथ रहे थे, या (iv) याचिकादाता याचिका के उपस्थापन के समय निवास कर रहा है, यह उस दशा में, जब प्रत्यर्थी उस समय पर ऐसे राज्यक्षेत्र के बाहर निवास करता हो जिस पर इस अधिनियम का विस्तार है या उसके जीवित होने के या न होने के बारे में सात वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक उन्होंने कुछ नहीं सुना, जिन्होंने उसके बारे में, यदि वह जीवित होता तो, स्वभावतः सुना होता ।

उच्चतम न्यायालय ने **जागीर बनाम यशवंतसिह**[1] के मामले में 'निवास करता है' तथा 'अंतिम बार एक साथ रहेहैं' का अर्थ करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि 'विवाह के संस्कार उस स्थान पर अनुष्ठापित माने जाते हैं, जहां पर मुख्य संस्कार होते हैं क्योंकि वैसे तो वर-कन्या दोनों के यहां कुछ न कुछ संस्कार होते हैं । अधिकांशतः मुख्य संस्कार कन्या के घर होते हैं, फिर भी मुख्य संस्कार अन्य स्थानों पर भी हो सकते है । यथा: मंदिर, गुरुद्वारा, धर्मशाला और होटल आदि । यदि पक्षकारों ने वैवाहिक घर बसाया हो या उनका स्थायी निवास स्थान हो तो वह उनके रहने का स्थान होगा चाहे पक्षकारों ने वहां कुछ दिन या कुछ घंटों के लिए ही निवास किया हो । यदि पक्षकारों ने न तो वैवाहिक घर बसाया हो और न उनका स्थायी निवास स्थान है तो जहां वे साथ-साथ निवास करते हों, वही उनका निवास स्थान माना जाएगा । निवास करने का समय कुछ भी हो सकता है । यदि पक्षकारों ने अनेक स्थानों पर साथ-साथ निवास किया हों वो वह स्थान उनका निवास स्थान माना जाएगा जहां वे अंतिम बार निवास करते थे । निवास सद्भावपूर्ण होना चाहिए न कि आकस्मिक या यात्री जैसा । पक्षकार का उद्देश्य याचिका उपस्थापित करने का नहीं होना चाहिए जिससे कि न्यायालय याचिका स्वीकृत कर सके ।' तात्पर्य यह कि केवल याचिका उपस्थापित करने के उद्देश्य से किसी स्थान पर निवास नहीं किया होना चाहिए ।

न्यायालय की प्रक्रिया—हिंदू-विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 20 में वैवाहिक मामलों की याचिकाओं की अंतर्वस्तु और सत्यापन के बारे में अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का उल्लेख है, जो इस प्रकार है :—

(1) इस अधिनियम के अधीन उपस्थापित हर अर्जी उन तथ्यों को जिन पर कि अनुतोष के लिए दावा आधारित हो इतने स्पष्ट तौर पर कथित करेगी जितना उस मामले की प्रकृति अनुज्ञात करे और धारा 11 के अधीन अर्जी को छोड़कर ऐसी हर अर्जी यह भी कथित करेगी कि अर्जीदार और विवाह के दूसरे पक्ष के बीच कोई दुस्संधि नहीं है ।

(2) इस अधिनियम के अधीन दी जाने वाली हर अर्जी में अंतर्विष्ट कथन वाद-पत्रों के सत्यापन के लिए विधि द्वारा अपेक्षित रीति से अर्जीदार या अन्य सक्षम

---

1 ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 152.

व्यक्ति द्वारा सत्यापित किए जाएंगे और सुनवाई में साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होंगे।"

इस धारा के अंतर्गत दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन, न्यायिक पृथक्ककरण, विवाह के अकृत और शून्य घोषित किये जाने, तथा विवाह-विच्छेद की ही याचिकाएं नहीं सम्मिलित हैं, अपितु वे सभी याचिकाएं भी सम्मिलित हैं, जिनमें इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन किसी अनुतोष का दावा किया गया हो। ऐसी याचिका में कथित तथ्यों को इतनी स्पष्टता से व्यक्त किया जाना चाहिए, जितना कि मामले की प्रकृति की दृष्टि से किया जा सकता हो। इससे न्यायालय को निष्कर्ष निकालने और निर्णय लेने में सुविधा होगी। याचिका में अंतर्विष्ट तथ्यों का कथन या तो याचिकादाता या किसी सक्षम व्यक्ति द्वारा, जो इस हेतु याचिकादाता द्वारा प्राधिकृत हो, सत्यापित किया जाना चाहिए। धारा 21 में यह स्पष्ट रूप से अधिकथित है कि इस अधिनियम में अंतर्विष्ट अन्य उपबंधों के और उन नियमों के जो उच्च न्यायालय इस निमित्त बनाये अध्यधीन यह है कि इस अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां जहां तक हो सकेगा सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 द्वारा विनियमित होंगी।' तात्पर्य यह कि इस अधिनियम की सभी कार्यवाहियां तीन प्रक्रियाओं से विनियमित होंगी; यथा—:(1) इस अधिनियम के उपबंधों में अंतर्विष्ट प्रक्रिया, (2) उच्च न्यायालय द्वारा इस निमित्त बनाई गई प्रक्रिया, (3) सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के उपबंधों में अधिकथित प्रक्रिया।

कार्यवाही की प्रथम प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि याचिकादाता याचिका में उन तथ्यों का विशेष रूप से उल्लेख करे, जिनके आधार पर वह इस अधिनियम के अधीन किसी अनुतोष का दावा करता है। मामले की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि याचिका के कथन और अनुतोष में पारस्परिक संबंध स्थापित हो। यह भी आवश्यक है कि याचिकादाता याचिका में यह कथन करे कि विवाह के पक्षकारों में याचिका प्रस्तुत करने के लिए कोई दुस्संधि नहीं की गई है और कार्यवाही संस्थित करने में कोई अनावश्यक या अनुचित विलंब नहीं हुआ है। धारा 23 के अधीन यदि इस प्रकार के कथनों का याचिका में अभाव हो तो न्यायालय अनुतोष अनुदत्त नहीं कर सकता। किंतु इस प्रकार के कथनों की आवश्यकता धारा 11 के उपबंधों के अधीन संस्थित याचिका में नहीं है। इसका कारण यह है कि धारा 11 के अधीन दुस्संधि की संभावना नहीं होती है क्योंकि विवाह विधि या तथ्यों के आधार पर शून्य होता है। इस प्रकार की याचिकाओं में वैवाहिक तथ्यों और विधि का मिश्रित प्रश्न प्रायः विचाराधीन होता है।

कार्यवाही की द्वितीय प्रक्रिया में उच्च न्यायालयों को यह शक्ति प्रदत्त है कि वे वैवाहिक मामलों के निपटारे के निमित्त कोई प्रक्रिया बना सके। अपनी इस कानूनी शक्ति के अधीन अनेक उच्च न्यायालयों ने यह नियम बनाया है कि इस अधिनियम के अधीन उपस्थापित प्रत्येक याचिका के साथ हिंदू विवाह रजिस्टर के उद्धरण की प्रमाणित प्रति संलग्न हो जो इस अधिनियम की धारा 8 के अधीन रजिस्ट्रार द्वारा रखा जाता है। याचिकादाता द्वारा उन सभी व्यक्तियों को पक्षकार बनाया जाना आवश्यक है जो कार्यवाहियों से प्रभावित होने वाले हैं; यथा जारकर्म के आधार पर विवाह-विच्छेद के मामले में जारकर्मी को भी पक्षकार बनाया जाना चाहिए।[1] किंतु पंजाब उच्च न्यायालय द्वारा विरचित

---

[1] मगनलाल बनाम डाही, ए० आई० आर० 1971 गुजरात 33.

नियमों के अधीन जारकर्मी को पक्षकार बनाया जाना आवश्यक नहीं है ।[1]

धारा 21-क के अनुसार जहां इस अधिनियम के अधीन कोई अर्जी अधिकारिता रखने वाले जिला न्यायालय में विवाह के किसी पक्षकार द्वारा धारा 10 के अधीन न्यायिक पृथक्करण की डिक्री के लिए या धारा 13 के अधीन विवाह-विच्छेद की डिक्री के लिए प्रार्थना करते हुए पेश की गई है और उसके पश्चात् इस अधिनियम के अधीन कोई दूसरी अर्जी विवाह के पक्षकार द्वारा किसी आधार पर धारा 10 के अधीन न्यायिक पृथक्करण की डिक्री के लिए या धारा 13 के अधीन विवाह-विच्छेद की डिक्री के लिए प्रार्थना करते हुए, चाहे उसी जिला न्यायालय में अथवा उसी राज्य के या किसी भिन्न राज्य के किसी भिन्न जिला न्यायालय में पेश की गई है, वहां निम्नलिखित रीति से विचार किया जाएगा :—

(1) ऐसे मामले में जहां अर्जियां एक ही जिला न्यायालय में पेश की जाती है दोनों याचिकाओं का विचारण और उनकी सुनवाई उस जिला न्यायालय द्वारा एक साथ की जाएगी ।

(2) यदि अर्जियां भिन्न-भिन्न जिला न्यायालयों में पेश की जाती हैं तो बाद वाली पेश की गई अर्जी उस जिला न्यायालय को अंतरित की जाएगी जिसमें पहली अर्जी पेश की गई थी और दोनों अर्जियों की सुनवाई और उनका निपटारा उस जिला न्यायालय द्वारा एक साथ किया जाएगा जिसमें पहली अर्जी पेश की गई थी । याचिका को अंतरित करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन, यथास्थिति, जो न्यायालय या सरकार सक्षम है, ऐसी बाद वाली अर्जी का अंतरण करने के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग करेगा मानो उस उक्त संहिता के अधीन ऐसा करने की शक्ति, उस जिला न्यायालय से लेकर जिसमें बाद वाली अर्जी पेश की गई है, उस जिला न्यायालय को जिसमें पहली अर्जी लंबित है, दी गई है । बाद वाली याचिका के अंतरण संबंधी उपबंध कानूनी हैं और प्रत्येक दशा में इस याचिका को उस जिला न्यायालय में अवश्य अंतरित किया जाना चाहिए जिसमें पहली याचिका विचारण और सुनवाई हेतु लंबित है किंतु याचिका के अंतरण के लिए प्रार्थनापत्र प्रथम याचिका उपस्थापित करने वाले पक्षकार को करना है जिससे कि दूसरी याचिका की सुनवाई कर रहे जिला न्यायालय को इस तथ्य की सूचना प्राप्त हो सके कि इन्हीं पक्षकारों के बीच कोई अन्य याचिका इसके पूर्व से ही किसी अन्य जिला न्यायालय में लंबित है ।

याचिकाओं के शीघ्र विचारण और निपटारे के लिए विशेष उपबंध— इस अधिनियम की धारा 21-ख के उपबंधों के अनुसार इस अधिनियम के अधीन याचिका का विचारण, उस दशा के सिवाय जिसमें न्यायालय विचारण का स्थगन आगामी दिन से आगे उन कारणों से करना आवश्यक समझे जो लेखबद्ध किये जायेंगे, दिन प्रतिदिन विचारण न्याय के हित में यथासाध्य तब तक निरंतर चलता रहेगा जब तक कि वह समाप्त न हो जाए । इस धारा का आशय और उद्देश्य वैवाहिक अनुतोष के मामले में शीघ्रता से न्यायिक कार्यवाहियों का निपटारा करना है । प्रायः न्यायिक प्रक्रिया में विवादों का निपटारा

---

1 सरला बनाम शकुन्तला, ए० आई० आर० 1966 पंजाब 337

अनेक वर्षों में हो पाता है। इसे ध्यान में रखते हुए विधायिका ने यह विशेष उपबंध इस अधिनियम में विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा है, जिससे कि वैवाहिक मामलों के शीघ्र निपटारे हेतु न्यायालयों को आबद्ध किया जा सके। इस उपबंध को प्रभावी बनाने के लिए धारा 13-ख की उपधारा (2) में उपबंधित किया गया है कि 'उपधारा 13 ख (1) में निर्दिष्ट अर्जी (याचिका)के उपस्थापित किये जाने की तारीख से छह मास के पश्चात् और अठारह मास के भीतर दोनों पक्षकारों द्वारा किए गए प्रस्ताव पर, यदि इस बीच अर्जी वापिस नहीं ले ली गई हो तो, न्यायालय पक्षकारों को सुनने के पश्चात् और ऐसी जांच, जैसी वह ठीक समझे, करने के पश्चात् अपना यह समाधान कर लेने पर कि विवाह अनुष्ठापित हुआ है और अर्जी में किए गए प्रकथन सही हैं, यह घोषणा करने वाली डिक्री पारित करेगा कि विवाह डिक्री की तारीख से विघटित हो जाएगा।' इस उपधारा के माध्यम से विधायिका ने न्यायालय को विवाह विच्छेद के मामलों के निपटारे हेतु अधिकतम अठारह मास का समय विहित कर दिया है।

किंतु इस अधिनियम की धारा 21-ख की उपधारा (2) के अनुसार इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक याचिका का विचारण यथासंभव शीघ्रता से किया जाएगा और जिस दिन को प्रत्यर्थी पर याचिका की सूचना निष्पादित की गई है, उस दिन से छह मास के भीतर विचारण समाप्त करने का प्रयास किया जाएगा। अपीलों की सुनवाई को निपटाने के लिए भी धारा 21-ख (3) में यह विशेष रूप से उपबंधित है कि अपीलीय न्यायालय इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक अपील की सुनवाई यथासंभव शीघ्रता से करे और जिस दिन को प्रत्यर्थी पर अपील की सूचना निष्पादित की गई हो, उस दिन से तीन मास के भीतर सुनवाई समाप्त करने का प्रयास करे। यद्यपि विधायिका ने इस अधिनियम के अधीन याचिकाओं के शीघ्र विचारण और निपटारे के लिए धारा 21ख के माध्यम से विशेष उपबंध किया है तथापि हिंदी का 'प्रयास' और अंग्रेजी का 'एंडेवर' पद इतने 'सबल' नहीं हैं कि जिससे न्यायालयों को विहित कालावधि के अंदर सुनवाई के समाप्त करने के लिए आबद्ध किया जा सके। दीवानी प्रक्रिया के पेचीदेपन के कारण विहित कालावधि से अधिक समय सुनवाई के समाप्त होने में लग सकता है और ऐसा निपटारा न्याय के क्षेत्र में वैध होगा। किंतु न्यायालय पर इतनी आबद्धता तो है ही कि आवश्यक कारणों के बिना उसे न्याय के हित में याचिका का विचारण तब-तक निरंतर चलाना होगा जब तक वह समाप्त न हो जाए। 'दिन प्रतिदिन' और'निरंतर' पदों में इतनी सबलता है कि न्यायालय विचारण को आगामी दिन चलाने के लिए उचित बाधक कारण के अभाव में आबद्ध है। कारण को 'लेखबद्ध' करने की 'व्यवस्था' भी इसे बल प्रदान करती है।

दस्तावेजी साक्ष्य—धारा 21-ग में अब यह उपबंधित हो गया है कि किसी अधिनियम में प्रतिकूल बात के होते हुए भी कोई लेखपत्र (दस्तावेज) इस अधिनियम के अधीन याचिका के विचारण की किसी कार्यवाही में साक्ष्य में इस आधार पर अग्राह्य नहीं होगा कि उस पर सम्यक् रूप से स्टाम्प नहीं है या वह रजिस्ट्रीकृत नहीं है। इस धारा का आशय साक्ष्य विधि के नियमों को सरल करके वैवाहिक अनुतोष के मामलों में उचित न्याय दिलाना है। स्टाम्प और रजिस्ट्रीकरण ऐसे महत्वपूर्ण तत्व हैं, जिनके अभाव के आधार पर

अत्यावश्यक लेखपत्र भी साक्ष्य में अग्राह्य हो जाते हैं और निर्णय प्रतिकूल हो जाता है किंतु अब हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 में इस धारा के जुड़ जाने से वैवाहिक मामलों में दस्तावेजी साक्ष्य की जटिलता समाप्त हो गयी है।

कार्यवाहियों का बंद कमरे में होना—अब हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 22 को विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा प्रतिस्थापित करके यह उपबंधित कर दिया गया है कि इस अधिनियम के अधीन हर कार्यवाही बंद कमरे में की जाएगी। अब यह न्यायालय पर आबद्धकर है कि वह हिंदू विवाह अधिनियम के अधीन हर कार्यवाही बंद कमरे में करे। यह संशोधन इस दृष्टि से किया गया है कि सुनवाई के दौरान वैवाहिक मामलों के पक्षकारों के सम्मान की सुरक्षा की जा सके।

कार्यवाहियों के मुद्रण-प्रकाशन पर रोक—इस अधिनियम की धारा 22 के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा ऐसी किसी कार्यवाही के संबंध में किसी बात को मुद्रित या प्रकाशित करना उस दशा के सिवाय विधिपूर्ण नहीं होगा जिसमें कि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय का कोई निर्णय न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा से मुद्रित या प्रकाशित हो। धारा 22 का पूर्वांश जहां कार्यवाहियों को बंद कमरे में करने की व्यवस्था करता है, वहीं उत्तरांश कार्यवाहियों के मुद्रण-प्रकाशन पर रोक लगाता है। यह प्रतिबंध मात्र उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा से ही और उन्हीं मामलों में शिथिल किया जा सकता है, जिनका प्रकाशन निर्णय की महत्ता की दृष्टि से आवश्यक है, जिसके अंतर्गत विनिश्चयों की रिपोर्ट आती है। इस प्रतिबंध का उल्लंघन धारा 22 की उपधारा के अनुसार दंडनीय अपराध है, जिसके लिए एक हजार रुजार रुपये तक का जुर्माना हो सकता है। यद्यपि इस धारा की विरचना ब्रिटेन के 'जुडिशियल प्रोसीडिंग्स (रेगुलेशन आफ रिपोर्ट्स) ऐक्ट, 1926 के उपबन्धों के आधार पर हुई तथापि धारा 22 की उपधारा (2) के उपबन्ध पूर्णतया भारतीय लोकनीति पर आधृत हैं। ब्रिटेन में उक्त अधिनियम के अधीन वैवाहिक मामलों की संक्षिप्त रिपोर्ट, जिसमें लोक नैतिकता को क्षति पहुंचाने वाले अंश न हो, प्रकाशित की जा सकती है। किंतु धारा 22 के अधीन इस प्रकार का संक्षिप्त विवरण भी समाचार पत्रों आदि में प्रकाशित नहीं किया जा सकता हैं, जब तक कि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के किसी निर्णय को प्रकाशित करने की पूर्व अनुज्ञा सम्बन्धित न्यायालय से न ले ली गई हो। इस धारा के उपबंधों से यह भी स्पष्ट है कि केवल उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के निर्णय ही पूर्व अनुज्ञा से प्रकाशित हो सकते हैं न कि निचले न्यायालयों के निर्णय।

संपत्ति का व्ययन—इस अधिनियम के अधीन वाली किसी कार्यवाही में धारा 27 के अनुसार न्यायालय विवाह में या विवाह के समय के आस-पास भेंट की गई ऐसी संपत्ति के बारे में जो कि पति और पत्नी की संयुक्त संपत्ति हो, ऐसे उपबंध डिक्री में कर सकेगा जैसे कि वह न्यायोचित और उपयुक्त समझे। इस धारा का आशय ऐसे विवादों के बाहुल्य को रोकना है जो एकही मामले से संबंधित होते हैं। इसके लिए कार्यवाही समाप्त होने के पूर्व आवेदन पत्र दिया जाना चाहिए जिससे कि डिक्री में संपत्ति के व्ययन संबंधी उपबंध न्यायालय कर सके। यह धारा केवल उन्हीं संपत्तियों पर लागू होती है जो विवाह के समय

या उसके आस-पास पति-पत्नी को संयुक्त रूप से दी गई हो।[1] न्यायालय को इस अधिनियम के अधीन की कार्यवाहियों में यह अन्तर्निहित शक्ति प्राप्त है कि वह डिक्री में यह उपबंधित कर सके कि कौन सी संपत्ति अकेले पति की है, और कौन सी संपत्ति अकेली पत्नी की है।[2]

डिक्रियों और आदेशों की अपीलें—धारा 28 की उपधारा (1) के अनुसार इस अधिनियम के अधीन की किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा की गई सभी डिक्रियां, उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में दी गई डिक्रियों की भांति अपील योग्य होंगी और ऐसी हर अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में उस न्यायालय के विनिश्चयों की अपीलें साधारणतया होती हैं। इस धारा की उपधारा (2) के अनुसार इस अधिनियम की धारा 25 या धारा 26 के अधीन होने वाली किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा किये गये आदेश उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, तभी अपील योग्य होंगे जब वे अन्तरिम आदेशों की प्रकृति के न हों और ऐसी हर अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में किये विनिश्चयों की अपीलें साधारणतया होती हैं।

किंतु वे ही आदेश अपील योग्य हैं, जो धारा 25 और 26 के अधीन क्रमशः स्थायी निर्वाह व्यय और भरण-पोषण तथा संतति की अभिरक्षा के लिए किये गये हैं, जो अन्तरिम आदेशों की प्रकृति के नहीं होते। यदि आदेश धारा 24 के अधीन वादकालीन भरण-पोषण के लिए किया गया हो तो वह अपील योग्य नहीं है, क्योंकि अन्तरिम प्रकृति का है।

धारा 28 की उपधारा (3) के अनुसार कोई अपील खर्चे के विषय में नहीं होगी। इस प्रकार खर्चे के विषय में की जाने वाली अपील पर इस अधिनियम में पूर्ण प्रतिबंध है। धारा 28 की उपधारा (4) के अनुसार इस धारा के अधीन की जानेवाली हर अपील डिक्री के आदेश के दिनांक से तीस दिनों की कालावधि के अन्दर ही की जा सकती है। किंतु इस कालावधि की गणना में से डिक्री की प्रति प्राप्त करने में व्यतीत हुए समय को घटाया जाना चाहिए।[3]

डिक्रियों और आदेशों का प्रवर्तन—धारा 28-क के अनुसार इस अधिनियम के अधीन की किसी भी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गई सभी डिक्रियां और आदेश उसी रीति से प्रवर्तित किये जायेंगे, जिससे न्यायालय द्वारा अपनी तत्समय आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में दी गई डिक्रियां और आदेश प्रवर्तित किए जाते हैं। यह धारा विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के द्वारा जोड़ी गई है, जिसका आशय इस

---

1 महालक्ष्मीअम्मा **बनाम** राधाकृष्ण राव, ए० आई० आर० 1968 मैसूर 229.

2 कामता प्रसाद **बनाम** ओमवती, ए० आई० आर० 1972 इलाहाबाद 173.

3 **चन्द्रदेव चड्ढा बनाम** श्रीमती रानीबाला, ए० आई० आर० 1979 दिल्ली 22.

अधिनियम के अधीन हुई डिक्रियों और आदेशों को उसी भांति प्रवर्तित करने का उपबंध करना है जैसी कि सिविल मामले की अन्य डिक्रियां या आदेश सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन प्रवर्तित किये जाते हैं।

हिंदू विवाहों का रजिस्ट्रीकरण

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 8 में हिंदू विवाहों के रजिस्ट्रीकरण की व्यवस्था है। इस धारा की उपधारा (1) के अधीन राज्य सरकार को यह शक्ति अनुदत्त की गई है कि वह हिंदू विवाहों की सिद्धि सुकर करने के प्रयोजन के लिए यह उपबंधित करने वाले नियम बना सकेगी कि ऐसे किसी विवाह के पक्षकार अपने विवाह से संबंधित विशिष्टियां इस प्रयोजन के लिए रखे जाने वाले हिंदू-विवाह रजिस्टर में ऐसी रीति में और ऐसी शर्तों के अधीन, जैसी कि विहित की जायें, प्रविष्ट करा सकेंगे। धारा 8 की उपधारा (2) के अधीन राज्य सरकार को यह भी शक्ति-अनुदत्त है कि वह विवाह का रजिस्ट्रीकरण अनिवार्य कर सकती है और इस निमित्त बनाये गये किसी नियम का उल्लंघन दंडनीय होगा, जिसके लिए 25 रुपये तक का जुर्माना हो सकेगा।

हिंदू विवाह रजिस्टर सब युक्तियुक्त समयों पर निरीक्षण के लिए खुला रहेगा और उसमें अंतर्विष्ट कथन साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होंगे। रजिस्ट्रार आवेदन किये जाने और विहित फीस दिये जाने पर उसमें से प्रमाणित उद्धरण प्राप्त करवा देगा।

किंतु रजिस्टर में प्रविष्टि करने में कार्यलोप के कारण, हिंदू विवाह की मान्यता प्रभावित न होगी।

वादकालीन भरण-पोषण और कार्यवाहियों के व्यय

धारा 24 के अनुसार जहां कि अधिनियम के अधीन वाली किसी कार्यवाही में न्यायालय को यह प्रतीत हो कि अपने पालन और कार्यवाही के आवश्यक व्ययों के लिए यथास्थिति पत्नी या पति की अपनी पर्याप्त स्वतंत्र आय नहीं है. वहां पति या पत्नी के आवेदन पर वह प्रत्यर्थी को आदेश दे सकेगा कि यह याचिकादाता की कार्यवाही में लगने वाले व्यय दे और जो राशि याचिकादाता की अपनी आय और प्रत्यर्थी की आय को ध्यान में रखकर न्यायालय को युक्तियुक्त लगे, वह राशि कार्यवाही के दौरान प्रतिमास दे। इस धारा का मूल उद्देश्य विवाह के उस पक्षकार की, जिसकी आर्थिक दशा अच्छी न हो, वाद के दौरान भरण-पोषण की व्यवस्था करना है और वाद चलाने के लिए या उसमें अपने बचाव के लिए उचित धनराशि उपलब्ध कराना है, जिससे कि वाद पर कोई कुप्रभाव न पड़े।[1] किंतु यदि याचिका अस्वीकृत हो जाए तो उसके पश्चात् इस धारा में भरण-पोषण संबंधी आदेश नहीं दिया जा सकता।[2] इस धारा में यह बात स्पष्ट है कि इस धारा के अनुसार इस अधिनियम के अधीन पति या पत्नी द्वारा, चाहे वह याचिकादाता हो, अथवा याचिकादात्री, किसी भी कार्यवाही के दौरान आवश्यक भरण-पोषण या कार्यवाहियों

---

1 चित्रलेखा बनाम रणजीतराय, ए० आई० आर० 1977 दिल्ली 176.

2 निर्मलदेवी बनाम रामदास, ए० आई० आर० 1973 पंजाब-हरियाणा 211.

के व्यय की मांग उस पक्षकार से की जा सकती है जिसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है। इस विषय पर प्रारंभिक न्यायालय को पर्याप्त विवेकाधिकार प्राप्त है, किंतु अपील के दौरान इस प्रकार का आदेश अपील की सुनवाई कर रहे न्यायालय द्वारा ही दिया जा सकता है।

संतति की अभिरक्षा

न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद के उपरान्त या वैवाहिक मामलों की कार्यवाही की अवधि में अवयस्क संतति की अभिरक्षा, भरण-पोषण और शिक्षा ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं, जिनकी विधि में उपेक्षा नहीं की जा सकती। विधायिका ने इस अधिनियम की धारा 26 में इस बारे में पर्याप्त उपबंध किया है। इस धारा के अनुसार इस अधिनियम के अधीन वाली किसी कार्यवाही में न्यायालय अप्राप्तवय अपत्य की अभिरक्षा, भरण-पोषण, और शिक्षा के बारे में जहां संभव हो, वहां उनकी इच्छा के अनुकूलसमय-समय पर ऐसे अंतरिम आदेश दे सकेगा और डिक्री में ऐसे उपबंध कर सकेगा जिन्हे वह न्यायसंगत और उचित समझे और इस प्रयोजन से अर्जी द्वारा किए गए आवेदन पर ऐसे अपत्य की अभिरक्षा, भरण-पोषण और शिक्षा के बारे में समय-समय पर ऐसे आदेश और उपबंध कर सकेगा जो कि ऐसी डिक्री अभिप्राप्त करने के लिए कार्यवाही के लंबित रहते ऐसी डिक्री या अंतरिम आदेशों द्वारा किये जा सकते हैं और न्यायालय पूर्वतर किये गये ऐसे आदेश और उपबंध को समय-समय पर प्रतिसंहृत या निलंबित या परिवर्तित भी कर सकेगा।

इस धारा के दो प्रमुख तत्व हैं प्रथम, संतति का अवयस्क होना और द्वितीय इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में आवेदन किया जाना। इन विषयों पर न्यायालय तभी कोई आदेश दे सकेगा या डिक्री में उपबंध कर सकेगा जब इन दोनों शर्तों की पूर्ति की गई हो। धारा 26 के अधीन किये गये आदेश समय-समय पर अपखंडित, निलंबित या परिवर्तित भी किये जा सकते हैं। आदेश प्रतिसंहृत भी किये जा सकते हैं।

शून्य और शून्यकरणीय विवाहों के अपत्यों की धर्मजता

शून्य विवाह के अपत्य—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 16(1) के अनुसार इस बात के होते हुए भी कि विवाह धारा 11 के अधीन अकृत और शून्य है, ऐसे विवाह का ऐसा अपत्य धर्मज होगा, जो विवाह के विधिमान्य होने की दशा में धर्मज होता, चाहे ऐसे अपत्य का जन्म विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के प्रारंभ से पूर्व या उसके पश्चात् हुआ हो और चाहे उस विवाह के संबंध में अकृतता की डिक्री इस अधिनियम के अधीन मंजूर की गई हो या नहीं और चाहे वह विवाह इस अधिनियम के अधीन अर्जी से भिन्न आधार पर शून्य अभिनिर्धारित किया गया हो या नहीं।

यों धारा 16 की उपधारा (1) में ऐसे सभी अपत्यों को धर्मज घोषित किया गया है जो शून्य विवाहों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए हैं चाहे उन विवाहों को इस अधिनियम के अधीन किसी सक्षम न्यायालय की डिक्री द्वारा अकृत घोषित किया गया हो अथवा नहीं अथवा किसी अन्य न्यायिक प्रक्रिया द्वारा अकृत या शून्य अभिनिर्धारित किया गया हो

या नहीं। तात्पर्य यह है कि शून्य विवाहों के परिणामस्वरूप कोई भी अपत्य अधर्मज नहीं होगा। इस अधिनियम का यह उपबंध विवाहित माता-पिता से उत्पन्न अपत्यों को सुरक्षा प्रदान करता है जिससे कि वे अधर्मज न माने जायें। यद्यपि शून्य विवाह विधि की दृष्टि में विवाह नहीं माना जाता तथापि अनुष्ठापित होने से ऐसे विवाह के परिणामस्वरूप उत्पन्न संतति को धर्मज मानना न्यायसंगत होगा। विधि में शून्य विवाहों के परिणामस्वरूप उत्पन्न अपत्यों की स्थिति को सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से विधायिका ने इस धारा की रचना की है। उपधारा (1) के उपबंधों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि चाहे ऐसे अपत्य का जन्म विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के प्रारंभ से पूर्व हुआ हो अथवा पश्चात् वह धर्मज ही होगा क्योंकि धारा 16 इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु हिंदू विवाह अधिनियम में उसके पारित होने के समय से ही है। किंतु संशोधित धारा 16 से पूर्व न्यायालयों द्वारा यह मत अभिव्यक्त किया गया था कि न्यायालय की डिक्री द्वारा अकृत विवाहों के मामले में ही उत्पन्न या गर्भाहित अपत्य धर्मज होंगे[1] न कि ऐसे शून्य विवाहों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अपत्य जिनके माता-पिता का विवाह डिक्री द्वारा अकृत घोषित नहीं हुआ है। 1976 के संशोधन से यह विवाद समाप्त हो गया। किंतु न तो संशोधित धारा 16, में न ही मूल धारा में, कोई ऐसा उपबंध देखने को मिलता है जो हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के पारित होने से पूर्व शून्य विवाहों के परिणामस्वरूप उत्पन्न अपत्यों को धर्मज घोषित करता हो। अतएव यह धारा उक्त अधिनियम के पारित और लागू होने से पूर्व उत्पन्न ऐसे अपत्यों को लागू नहीं होती और उनकी धर्मजता के प्रश्न का अवधारण पक्षकारों को तत्समय शासित करने वाले हिंदू विधि के नियमों के अनुसार होगा न कि इस धारा के उपबंधों के अधीन।

शून्यकरणीय विवाह के अपत्य—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 16की उपधारा (2) के अनुसार 'जहां धारा 12 के अधीन शून्यकरणीय विवाह के संबंध में अकृतता की डिक्री मंजूर की जाती है वहां डिक्री की जाने से पूर्व जनित या गर्भाहित ऐसा कोई अपत्य, जो यदि विवाह डिक्री की तारीख को अकृत किये जाने के बजाय विघटित कर दिया गया होता तो विवाह के पक्षकारों का धर्मज अपत्य होता, अकृतता की डिक्री होते हुये भी उनका धर्मज अपत्य समझा जायेगा।' शून्यकरणीय अनुष्ठापित विवाह तब-तक वैध होता है जब-तक कि वह किसी पक्षकार के आवेदन पर सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा पारित डिक्री से विघटित या अकृत नहीं कर दिया जाता। जो अपत्य डिक्री के दिन से पूर्व जनित या गर्भाहित है वह विवाह के पक्षकारों का धर्मज अपत्य है। विवाह की अकृतता की डिक्री से विवाह-बंधन पर प्रभाव पड़ता है न कि उस अपत्य की धर्मजता पर जो ऐसे विवाह के परिणामस्वरूप जनित या गर्भाहित है। इस उपधारा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि विवाह अकृत किये जाने के बजाय विघटित किया गया होता तो जिस प्रकार विवाह के पक्षकारों का अपत्य धर्मज होता उसी प्रकार शून्यकरणीय विवाह की अकृतता की डिक्री पारित होने पर अपत्य धर्मज ही होंगे। अपत्य की धर्मजता अप्रभावित रहेगी। यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई शून्यकरणीय विवाह उसके किसी

---

[1] तुलसीअम्माल बनाम गौरी अम्माल; ए० आई० आर० 1964 मद्रास 118; चरणसिंह बनाम मेजरसिंह (1976) 78 पी० एल० आर० 367.

भी पक्षकार के आवेदन पर अकृत कर ही दिया जाय। यह विषय तथ्य और परिस्थिति के आधार पर अवधारित होता है। अतएव ऐसे विवाह के परिणामस्वरूप उत्पन्न या गर्भाहित अपत्य धर्मज ही होते हैं। किंतु यदि अपत्य अकृतता की डिक्री के पश्चात् गर्भाहित हुआ हो तो उसको विघटित या अकृत विवाह के पक्षकारों का धर्मज अपत्य नहीं समझा जायेगा। यह बात इस उपधारा के वाक्यांश "डिक्री की जाने से पूर्व गर्भाहित ऐसा कोई अपत्य" से स्पष्ट है। ज्योंही अकृतता की डिक्री मंजूर की जाती है त्योंही विवाह अकृत हो जाता है और पक्षकार ऐसे हो जाते हैं जैसे उनमें विवाह हुआ ही नहीं था और उसके पश्चात् उनके पारस्परिक सम्पर्क से यदि कोई अपत्य गर्भाहित हुआ हो तो उसे उनका अधर्मज अपत्य ही समझा जायेगा, धर्मज अपत्य नहीं। इस उपधारा से यह भी स्पष्ट है कि विवाह चाहे शून्यकरणीय ही क्यों न हो, यदि विवाह के पक्षकारों में से किसी के जीवनकाल तक वह सक्षम न्यायालय की डिक्री द्वारा अकृत नहीं कर दिया गया हो, तो विवाह के परिणाम स्वरूप जनित या गर्भाहित अपत्य उनका धर्मज अपत्य होगा। ऐसा विवाह पक्षकारों में से प्रत्येक के जीवनकाल में अकृत होना चाहिए न कि उनमें से किसी की मृत्यूपरान्त। वाद या आवेदन के लम्बित रहते गर्भाहित अपत्य भी पक्षकारों का धर्मज अपत्य होगा।

शून्य और शून्यकरणीय विवाहों के अपत्यों के सांपत्तिक अधिकार

हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 16 की उपधारा (3) के उपबंधों के अनुसार इस धारा की उपधारा (1) या उपधारा (2) में की किसी बात का यह अर्थ नही लगाया जायेगा कि वह ऐसे विवाह के किसी अपत्य को, जो अकृत और शून्य है या जिसे धारा 12 के अधीन अकृतता की डिक्री द्वारा अकृत किया गया है, उसके माता-पिता से भिन्न किसी व्यक्ति की संपत्ति में या संपत्ति के लिए कोई अधिकार किसा ऐसी दशा में प्रदान करती है जिसमें कि, यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो वह अपत्य अपने माता-पिता का धर्मज अपत्य न होने के कारण ऐसा कोई अधिकार रखने या अर्जित करने में असमर्थ होता इस उपधारा का आशय इस बात को स्पष्ट करना है कि शून्य और शून्यकरणीय विवाहों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न या गर्भाहित अपत्य को मात्र सामाजिक रूप से धर्मज घोषित ही नहीं किया गया है अपितु विधि में सभी प्रयोजनों के लिए धर्मजता प्रदान की गयी है जिसमें उत्तराधिकार भी सम्मिलित है। किन्तु उनके उत्तराधिकारी होने का अधिकार इस उपधारा में मात्र उनके माता-पिता की संपत्ति तक ही सीमित कर दिया गया है। इस प्रकार धारा 16 की उपधारा (1) और (2) द्वारा प्रदत्त उनकी धर्मजता की स्थिति उपधारा (3) द्वारा उत्तराधिकारी के मामले में सीमित या संकुचित कर दी गयी है। ऐसे धर्मज अपत्य अपनी माता या पिता के अतिरिक्त किसी अन्य रक्त नातेदार की संपत्ति के उत्तराधिकार का दावा करने के अधिकारी नहीं हैं। फलस्वरूप, ऐसे अपत्यों की धर्मजता संपूर्ण होते हुए भी उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन उत्तराधिकार के मामले में सीमित है। वे अपनी माता या पिता के द्वारा भी किसी नातेदार की संपत्ति या संपदा के उत्तराधिकार का दावा करने के हकदार नहीं है। इस प्रकार अकृत विवाहों के अपत्यों के साम्पत्तिक अधिकार अकृतता के कारण प्रभावित होते हैं।

विवाह संबंधी अपराध और दण्ड

द्विविवाह के लिये दण्ड—हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 17 और 18 के उपबंधों में विवाह से संबंधित शर्तों के उल्लंघन को अपराध घोषित किया गया है और

उल्लंघनकर्त्ता पक्षकार के दण्ड की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम की धारा 17 जहां यथास्थिति पति या पत्नी के जीवित रहते विवाह करना दण्डनीय अपराध घोषित करती है वहीं धारा 18 इसी अधिनियम की धारा 5 के खण्ड (iii), (iv) और (v) में उल्लिखित शर्तों का का उल्लंघन दण्डनीय अपराध घोषित करती है।

धारा 17 का पाठ इस प्रकार है :—

"यदि इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् दो हिन्दुओं के बीच अनुष्ठापित किसी विवाह की तारीख पर ऐसे विवाह के किसी पक्षकार का पति या पत्नी जीवित था या थी तो ऐसा कोई विवाह शून्य होगा और भारतीय दण्ड संहिता (1860 का अधिनियम 45) की धारा 494 और 495 के उपबंध उसे तदनुसार लागू होंगे।"

प्राचीन हिंदू विधि में द्विविवाह प्रतिषिद्ध नहीं था। किन्तु इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार हिन्दुओं के लिए द्विविवाह न केवल प्रतिषिद्ध है अपितु दण्डनीय अपराध है जो विवाह के दोनों पक्षकारों पर समान रूप से लागू है। इस अधिनियम के पारित होने की तारीख से जो व्यक्ति द्विविवाह करता है उसका विवाह शून्य होगा। ऐसे शून्य विवाह के पक्षकारों के दण्ड की व्यवस्था इस अधिनियम में नहीं है किन्तु इसके लिए विनिर्दिष्टतः भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 और 495 लागू है।

इस अधिनियम की धारा 5, खंड (i) के उपबंधों में हिंदुओं के लिये एक ही विवाह विधिमान्य है। कोई भी व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरुष वह यथास्थिति पति या पत्नी के जीवित रहते अन्य विवाह नहीं कर सकता और यदि करता है तो उसका विवाह इस अधिनियम की धारा 11 के अधीन शून्य होगा। उल्लेखनीय है कि किसी हिंदू व्यक्ति का पहला विवाह चाहे इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व अनुष्ठापित हुआ था या पश्चात् दोनों ही मामलों में धारा 5, खंड (i), धारा 11 और धारा 17 के उपबंध लागू होंगे। धारा 11 और धारा 17 में आया "अनुष्ठापित" पद इस बात का द्योतक है कि विवाह प्रत्येक दशा में हिंदू विवाह अधिनियम अथवा किसी अन्य विधि या अधिनियम के उपबंधों के अधीन (यथा, विशेष विवाह अधिनियम) विधिमान्यतः अनुष्ठापित होना चाहिए।[1] जो विवाह विधि की दृष्टि में विधिमान्य नहीं है उसके आधार पर न तो धारा 11 के उपबंधों के अधीन प्रश्नगत विवाह शून्य होगा और न ही इस धारा में दंडनीय अपराध।[2] दोनों ही विवाह विधिमान्यतः अनुष्ठापित होने चाहिए तभी धारा 17 में द्विविवाह दण्डनीय अपराध होगा। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अपराधी की विवाह के बारे में स्वीकृति मात्र ही द्विविवाह के मामले में विवाह को सिद्ध करने के प्रयोजन का साक्ष्य नहीं है। अभियोजन पक्ष को दोनों विवाहों के उचित रूप से अनुष्ठापित और विधिमान्य होने का स्वतंत्र साक्ष्य देना होगा तभी द्विविवाह का मामला सिद्ध होगा। भारतीय दंड संहिता की धारा 494 में आये 'विवाह' पद का यही अभिप्राय है कि विवाह विधिमान्यतः अनुष्ठापित और विधिमान्य होना चाहिए।[1]

---

[1] भाऊराव बनाम महाराष्ट्र राज्य, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1564; कंवलराम बनाम हिमाचलप्रदेश प्रशासन, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 616.

[2] कंवलराम बनाम हिमाचलप्रदेश प्रशासन, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 616.

यदि दोनों ही विवाह इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व अनुष्ठापित हुये थे तो ऐसे द्विविवाह के बारे में धारा 17 लागू नहीं होती। यह बात धारा 17 के वाक्यांश "यदि इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् दो हिंदुओं के बीच अनुष्ठापित किसी विवाह" से पूर्णतया स्पष्ट है। इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व हिंदुओं को विवाह के मामले में प्राचीन हिंदू विधि लागू थी और उस विधि में द्विविवाह या बहुविवाह प्रतिषिद्ध न होने से दण्डनीय अपराध नहीं था और भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धाराएं 494 और 495 हिंदुओं के द्विविवाह या बहुविवाह के मामले में लागू नहीं थीं।

विवाह-संबंधी अन्य शर्तों के उल्लंघन के लिये दंड

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबंधों में अन्यत्र भी विवाह के बारे में शर्तें दी हुयीं हैं जिनका उल्लंघन इस अधिनियम की धारा 18 के उपबंधों के अधीन दंडनीय अपराध माना गया है। धारा 18 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जो धारा 5 के खण्ड (iii), (iv) और (v) में उल्लिखित शर्तों के उल्लंघन में इस अधिनियम के अधीन विवाह अनुष्ठापित करा लेता है :—

(क) धारा 5 के खण्ड (iii) में विनिर्दिष्ट शर्त के उल्लंघन की दशा में सादे कारावास से जिसकी अवधि 15 दिन तक की हो सकेगी या जुर्माने से, जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा, अथवा दोनों से;

(ख) धारा 5 के खण्ड (iv) या खण्ड (v) में विनिर्दिष्ट शर्त के उल्लंघन की दशा में सादे कारावास से जिसकी अवधि एक मास तक की हो सकेगी, या जुर्माने से, जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा, अथवा दोनों से, दंडित किया जा सकेगा।

धारा 18 हिंदू विवाह की उन शर्तों के उल्लंघन को दण्डनीय अपराध घोषित करती है जिनका उल्लेख धारा 5 के खण्ड (iii), (iv) और (v) में किया गया है और जो क्रमशः वर के लिए न्यूनमत 21 वर्ष की आयु और वधू के लिए न्यूनतम 18 वर्ष की आयु विवाह के लिये निर्धारित करते हैं; प्रतिषिद्ध नातेदारी विवाह तब-तक अविधिमान्य घोषित करते हैं जब-तक कि कोई रूढ़ि या प्रथा पक्षकारों के विवाह को अनुज्ञात न करें, और सपिण्ड नातेदारी के विवाह को तब तक निषिद्ध करती हैं जब तक वे पक्षकारों को शासित करने वाली रूढ़ि या प्रथा से अनुज्ञात न हों। इन शर्तों में से धारा 5 के खंड (iv) और (v) प्राचीन हिंदू विधि में भी विधिमान्य विवाह के लिए आवश्यक शर्त थे किंतु इनके उल्लंघन को दंडनीय अपराध नहीं माना गया था। इस अधिनियम की धारा 12 के उपबंधों के अधीन इन शर्तों का उल्लंघन न केवल विवाह की अकृतता के लिए आधार है अपितु धारा 18 के उपबंधों के अधीन दंडनीय अपराध भी है। इनका उल्लंघन सामाजिक अपराध के रूप में विधि के अधीन स्वीकार कर लिया गया है। यह ऐसे विवाहों की रोक-थाम में सहायक है और एतद्विषयक प्राचीन हिंदू धारणाओं को विधिमान्यता प्रदान करता है।

□□□

अध्याय 11

ऋण विधि

ऋण का अर्थ

"ऋण" शब्द की व्युत्पत्ति "ऋण गतौ" या 'ऋ' 'गति प्रापणयोः' धातुओं में से किसी एक धातु या दोनों से हुई है। दोनों ही धातुएं गतिवाची हैं और दोनों से ही यह ज्ञात होता है कि यह गतिमान रहने वाला दायित्व है। यह दायित्व तब तक चलता रहता है जब तक इसका भुगतान नहीं कर दिया जाता। सामान्य अर्थ में ऋण उस दायित्व का सूचक है, जो किसी सम्पत्ति या व्यक्ति पर एक प्रकार का भार होता है। गतिवाची होने से अन्य दायित्वों में यह प्रथम श्रेणी का दायित्व है और इसका भुगतान सर्व प्रथम किया जाना चाहिए।[1] हिन्दू विधि में ऋण-मुक्ति का सम्बन्ध लौकिक और पारलौकिक कल्याण से भी है[2] और पुत्र की शास्त्रीय धारणा में अन्तर्निहित है।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि ऋण पुत्रों पर भी न्यागति होता है और पिता की मृत्यु के उपरान्त इसके भुगतान का दायित्व पुत्रों का होता है। प्राचीन भारतीय विधि-दर्शन में ऋण का भुगतान अकालबाधित है और इसका उन्मोचन प्रतिसंदाय से ही होता है।

मिताक्षरा विधि

व्यक्ति अपनी निजी एवं कौटुम्बिक आवश्यकताओं हेतु ऋण उपगत करता है। कौटुंबिक आवश्यकताओं हेतु उपगत किया गया ऋण कुटुम्ब के सभी सदस्यों पर भार होता है, जिसका विवेचन सहदायिकी विधि में किया जा चुका है। इस अध्याय का मुख्य विषय

---

1 ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि। मनु० 9/218.

2 ऋणानि त्रीण्ययाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ मनु० 6/35.
संन्यसेदनृणों द्विजः॥ मनु० 6/94.
इन श्लोकों में मनु ने यद्यपि सामाजिक ऋण का उल्लेख किया है, तथापि इससे उपगत ऋण का भी बोध होता है, जिससे मुक्त हुए बिना संन्यास ग्रहण करना या जीवन मुक्ति का उपाय करना अनुचित है। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथोऽनृणा ऽऽ क्षियेम्। अथर्व० 6/117/3.

3 'यस्मिन्नृऋणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते। स एव धर्मजः पुत्रः' मनु० 9/107.
यहां भी पुत्र की उत्पत्ति से पितृऋण की मुक्ति का उल्लेख है किंतु ऋण धन का हो अथवा कर्त्तव्य का, दोनों ही दायित्ववाची हैं। भारतीय शास्त्रों में दोनों को समान स्तर पर रखा गया है। पुत्र की अवधारणा में दोनों प्रकार के ऋणों की मुक्ति समाहित है।

निजी आवश्यकताओं हेतु उपगत ऋण की भुगतान-संबंधी विधि है। मिताक्षरा विधि के अधीन निजी ऋण के भुगतान के दायित्व को चार शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं :—

(1) ऋण के भुगतान के लिए व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति का दायित्व;

(2) ऋण के भुगतान के लिए सहदायिक की अविभक्त कौटुम्बिक सम्पत्ति का दायित्व;

(3) पिता के व्यक्तिगत ऋण के भुगतान के लिए सहदायिकों अथवा पुत्रों का दायित्व; और

(4) पति के ऋण के भुगतान के लिए पत्नी का दायित्व।

1. **पृथक् सम्पत्ति का दायित्व**—अविभक्त हिंदू कुटुम्ब का कोई सदस्य या सहदायिक या कर्त्ता पृथक् सम्पत्ति भी रखने का हकदार है। पृथक् सम्पत्ति उसकी स्वार्जित सम्पत्ति होती है, जिस पर उपार्जनकर्त्ता स्वामी का पूर्ण अधिकार होता है। अविभक्त हिंदू कुटुम्ब का कोई सदस्य जब ऋण उपगत करता है तब यह उपधारणा बनती है कि उसने अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण लिया होगा किंतु जब कौटुम्बिक आवश्यकताएं प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो जाती हैं, तब यह उपधारणा बदल जाती है। ऋणी व्यक्ति भले ही हिंदू अविभक्त कुटुम्ब का सदस्य क्यों न हो, उसकी पृथक् सम्पत्ति पर ऋण के भुगतान का दायित्व प्रथमतः है, जो उसके जीवन काल में और मृत्यूपरान्त बना रहता है। याज्ञवल्क्य और गौतम के अनुसार जो व्यक्ति मृत स्वामी की सम्पत्ति को विरासत (रिक्थ) में प्राप्त करता है वह उसके ऋण के भुगतान का भी दायित्व ग्रहण करता है।[1] किंतु ऋण का संबंध ऋणी की सम्पत्ति से ही है। ऋणी की जितने मूल्य की सम्पत्ति वारिस के हाथों में होती है, उतने ही मूल्य के ऋण का उस पर दायित्व होता है। वारिस पर ऋणी के ऋण के भुगतान का व्यक्तिगत दायित्व नहीं होता, चाहे वह पुत्र या पौत्र ही क्यों न हो। ऋण ऋणी की सम्पत्ति का सहगामी है और जहां-जहां सम्पत्ति जाती है, वहां-वहां जाता रहता है।[2] किंतु वस्तुतः ऋण एक चेतन प्राणी द्वारा उपगत होता है और चेतन

---

1 रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च।
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिः॥ याज्ञ० 2/51.
रिक्थभाज ऋणं प्रतिकुर्युः॥ गौतम ध० सू० 12/37.
विभागद्वारेण रिक्थं गृह्णातीति रिक्थग्राहः। स ऋणं दाप्यः। एतदुक्तं भवति—यो यदीयं द्रव्यं रिक्थरुपेण गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यो न चौरादिः॥ याज्ञ० 2/51 की मिता० टीका।

2 "पुत्रों के विपदाग्रस्त होने पर ऋणों का दायित्व सम्पदा के दायित्वों पर न्यागमित होता है अथवा सम्पदा के उत्तराधिकारी के अभाव में विधवा के उत्तरभोगी पर।"

—बृहस्पतिस्मृति 11/52,

सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, माईनर लॉ बुक्स, पृ० 328, जूलियस जाली का अंग्रेजी अनुवाद।

से ही भुगतान की अपेक्षा करता है अतएव व्यवहारतः वह वारिस द्वारा ही देय होता है। सम्पत्ति को भारमुक्त कराने का दायित्व अन्ततोगत्वा वारिस का ही होता है। अन्तर इतना ही है कि वारिस की निजी सम्पत्ति से मृतक के ऋण का भुगतान नहीं कराया जा सकता। न्याय-प्रक्रिया में ऋण के भुगतान के लिए मात्र विरासत में प्राप्त सम्पत्ति का ही विक्रय डिक्री के निष्पादन में किया जा सकता है, वारिस की अन्य सम्पत्ति का नहीं और न ही उसे व्यक्तिगत रूप से दायी बनाया जा सकता है, चाहे वह पुत्र या पौत्र ही क्यों न हो।[1] शास्त्रीय विधि का भी आशय यही है।

इस संदर्भ में वारिस (दायाद) के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति आते हैं, जिनको मिताक्षरा सहदायिकी सम्पत्ति हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के प्रारंभ होने के उपरान्त निर्वसीयती या वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागति होती है जैसा कि इस अधिनियम की धारा 6 के परन्तुक में अधिकथित है। इस धारा में मृतक द्वारा उपगत उचित ऋण और अव्यावहारिक या अनैतिक ऋण में कोई अन्तर स्थापित नहीं किया गया है क्योंकि ऋण का भुगतान उसकी पृथक् या स्वार्जित सम्पत्ति से किया जाना है। ऋण की अवैधता या अव्यावहारिकता का प्रश्न अविभक्त कौटुम्बिक सम्पत्ति में ही उठता है।

(2) **ऋण के भुगतान हेतु सहदायिक की अविभक्त कौटुम्बिक सम्पत्ति का दायित्व**—कौटुम्बिक सम्पत्ति में सहदायिक के अविभक्त हित पर भी उसके ऋण के भुगतान का दायित्व होता है। यदि व्यक्ति अविभक्त कुटुम्ब का सदस्य हो और वह अपनी निजी आवश्यकताओं के लिए ऋण उपगत करे तो उसके ऋण के भुगतान का भार उसके अविभक्त अंश पर होता है, जिसे मिताक्षरा विधि के अनुसार उसके विरुद्ध हुई डिक्री के निष्पादन में उसके जीवन काल में कुर्क किया जा सकता है।[2] यदि सहदायिक का अविभक्त हित उसके जीवन काल में कुर्क हो गया हो तो उसका विक्रय सहदायिक की मृत्यु के उपरान्त भी हो सकता है चाहे विक्रयादेश उसके जीवनकाल[3] में हुआ हो अथवा मृत्यूपरान्त[4] किंतु सहदायिक के अविभक्त हित की कुर्की, उसके मृत्यूपरान्त नहीं हो सकती क्योंकि मृत्यु होते ही उसका अविभक्त हित अन्य सहदायिकों को उत्तरजीविता द्वारा प्राप्त हो जाता है।[5] किंतु यदि मृत सहदायिक पिता है, तो उसके अविभक्त हित की कुर्की उसके मृत्यूपरांत भी संभव है।[6] आगे यह विवेचन किया जाएगा कि पिता के ऋण के भुगतान हेतु पुत्र का

---

1 केवल **बनाम** गणपति, आई० एल० आर० (1884) 8 मुम्बई 220.

2 मुनेश्वरी **बनाम** युगलमोहिनी, ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 368; भारमप्पा **बनाम** रुद्रप्पा, ए० आई० आर० 1955 मैसूर 13.

3 सूर्यवंशीकुंअरि **बनाम** शिवप्रसाद, 6 आई० ए० 88.

4 फकीरचन्द **बनाम** संतलाल, ए० आई० आर० 1926 इलाहाबाद 157.

5 सूर्यवंशीकुंअरि **बनाम** शिवप्रसाद, 6 आई० ए० 88.

6 अत उर्ध्वं पितुः पुत्रा ऋणं दद्युर्यथांशतः।
अविभक्ता विभक्ता व यस्तां चोद्वहते धुरम्॥ नारद याज्ञ० 2/50 की
मिता० टीका में उद्धृत।

पवित्र दायित्व भी है और मृत पिता के अविभक्त हित के विरुद्ध कुर्की इसी आधार पर हो सकती है। अन्य मृत सहदायिक के अविभक्त हित और मृत पिता-सहदायिक के अविभक्त हित में यही मूलभूत अन्तर है।

इस विषय पर याज्ञवल्क्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'रिक्थ ग्रहण करने वाले को पुत्रहीन के ऋण का भी भुगतान करना चाहिए।'[1] पाण्डुरंग वामन काणे भी यही मानते हैं कि 'याज्ञवल्क्य के अनुसार जो विरासत पाता है, उसे मृतक के ऋण का भुगतान करना चाहिए और पिण्डदान देना चाहिए।'[2] मिताक्षरा भी यही कहती है कि 'पुत्रहीन के रिक्थ से ऋण के भुगतान का संबंध होता है।'[3] मृत पिता के ऋण के भुगतान हेतु पुत्र के दायित्व की चर्चा याज्ञवल्क्य ने इसके पूर्व के श्लोक में की है।[4] इस श्लोक में याज्ञवल्क्य ने पुत्रहीन के वारिस पर ऋण के भुगतान का दायित्व विरासत में प्राप्त सम्पत्ति के अनुरूप दिया है। किंतु इस व्यवस्था को मृतक की स्वार्जित या पृथक् सम्पत्ति तक ही सीमित रखा गया है। याज्ञवल्क्य का आशय पृथक् और संयुक्त दोनों प्रकार के साम्पत्तिक हित से है और उनकी यह व्यवस्था दोनों प्रकार के हितों पर लागू हो सकती है। न्यायालयों ने इस व्यवस्था को इस आधार पर अमान्य कर दिया कि उत्तरजीविता के सिद्धांत के अनुसार मृतक की संपत्ति मृत्यु होते ही उत्तरजीवियों को प्राप्त हो जाती है और ऋणदाता का उसके अविभक्त हित से कोई संबंध नहीं रह जाता। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उत्तर-जीवियों को भी मृतक का पिण्डदान करना चाहिए और उसके ऋण का भुगतान भी करना चाहिए क्योंकि सपिण्डता का मौलिक सिद्धांत ही यह है कि मृतक के पारलौकिक हित के लिए प्रयास किया जाए जो उक्त उपायों से ही संभव है।

जहां तक निर्णय के पहले कुर्की का संबंध है, ऐसे मामले में विधि सुस्थिर नहीं हो सकी है कि इससे उत्तरजीविता का अधिकार विफल होता है अथवा नहीं। मद्रास उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि निर्णय-पूर्व-कुर्की के पश्चात् ऋणी सदस्य के जीवन-काल में ही डिक्री नहीं हो जाती तो उत्तरजीवियों के अधिकार विफल नहीं हो जाते।[5] किन्तु उसी न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि उत्तरजीवियों के अधि-कार, ऋणी के जीवन-काल में डिक्री हो जाने पर निर्णय-पूर्व-कुर्की से विफल हो जाते हैं।[6] इस न्यायालय की व्याख्या यह है कि निर्णय-पूर्व-कुर्की ही डिक्री हो जाने पर प्रभावी रहती है और पुनःकुर्की की आवश्यकता नहीं होती किन्तु यदि कुर्की समाप्त हो गई हो, तो डिक्री

---

1 रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च। याज्ञ० 2/51.

2 धर्म० इति० भाग-2, पृ० 774.

3 पुत्रहीनस्य रिक्थिन ऋणं दाप्य इति संबंधः। याज्ञ० 2/51 पर मिता० टीका

4 पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम्॥ याज्ञ० 2/50.

5 कात्यायन गौड़न बनाम नासयप्पा गौड़न, ए० आई० आर० 1943, मद्रास 149.

6 शंकरलिंग बनाम शासकीय रिसीवर, ए० आई० आर० 1926 मद्रास 72

का निष्पादन ऋणी सदस्य के मृत्यूपरान्त उत्तरजीवी सहदायिकों के विरुद्ध नहीं हो सकता।[1] बम्बई[2] और पटना[3] उच्च न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि निर्णय-पूर्व-कुर्की के पश्चात् यदि ऋणी सहदायिक के जीवन-काल में डिक्री हो जाए तो उत्तरजीविता का अधिकार विफल नहीं होता।

(3) **पिता के व्यक्तिगत ऋण के भुगतान हेतु पुत्रों का दायित्व**—पिता के व्यक्तिगत ऋण का भुगतान करना पुत्र का पवित्र और धार्मिक दायित्व है।[4] याज्ञवल्क्य और मिताक्षरा ने स्पष्टत: पिता की मृत्यु होने पर या लम्बे काल तक विदेश रहने पर उसके ऋण का भुगतान किया जाना पुत्रों का दायित्व माना है।[5] याज्ञवल्क्य तो इस मत के भी हैं कि असाध्य व्याधि आदि से संकटग्रस्त जीवित पिता के ऋण का भुगतान पुत्र को कर्तव्य समझकर करना चाहिए।[5] पुत्र की धारणा में पौत्र आदि भी समाहित हैं। किन्तु उन्हीं पुत्रों या पौत्रों का पिता के ऋण के भुगतान का पवित्र दायित्व है जो पिता के साथ संयुक्त हैं। जो पुत्र पिता से पृथक् रहता है और ऋण उसके पृथक् होने के पश्चात् उपगत किया गया है तो ऐसे ऋण के भुगतान का दायित्व उस पुत्र का नहीं है।[6] यदि पृथक् हुआ पुत्र पिता की मृत्यु के उपरांत उसका हिस्सा विरासत या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त करे, तो वह पिता द्वारा विभाजनोपरांत उपगत ऋण का दायी है।[7] यदि पिता विभाजन-पूर्व उपगत ऋण का विभाजनोपरांत नवीकरण कर दे, तो पृथक् हुए पुत्र का दायित्व बना रहता है।[8]

मिताक्षरा विधि में पिता के ऋण के भुगतान का दायित्व मात्र उन्हीं ऋणों के प्रति हैं, जो अव्यावहारिक या अनैतिक नहीं है।[9] जो ऋण अव्यावहारिक या अनैतिक कार्यों के लिए पिता ने उपगत किये हैं उनके उन्मोचन का दायित्व पुत्र पर इसलिए नहीं है, कि उन

---

[1] रामासरे **बनाम** शासकीय रिसीवर, दक्षिणी कनाड़ा, आई० एल० आर० (1948) मद्रास 701.

[2] लक्ष्मण **बनाम** विनायक, ए० आई० आर० 1916 मुम्बई 262.

[3] सुन्दरलाल **बनाम** रघुनन्दन, ए० आई० आर० 1924 पटना 465.

[4] सिद्धेश्वर मुखर्जी भुवनेश्वरप्रतापनारायणसिंह, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 87.

[5] पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा।
पुत्रपौत्रेर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम्॥ याज्ञ० 2/50.
पिता यदि दातव्यमृणमदत्वा प्रेतो दूरदेशं गतोऽचिकित्सनीयव्याध्याद्यभिभूतोवा तदा तत्कृतमृणमाख्यापनेऽवश्यं देयं, पुत्रेण वा पित्रधनाभावेऽपि पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च मिता०.

[6] पन्नालाल **बनाम** नारायणी, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 170, हरद्वारीलाल **बनाम** द्वारिकाप्रसाद, ए० आई० आर० 1974, राजस्थान 101.

[7] पन्नालाल **बनाम** नारायणी, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 170, वृन्दावनचन्द्रदास **बनाम** उड़ीसा राज्य, ए० आई० आर० 1971 उड़ीसा 181.

[8] वृद्धचलम् पिल्लै **बनाम** चाइल्डियन सीरियन बैंक, त्रिचूर, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1425.

[9] हनुमानप्रसाद **बनाम** श्रीमती बबुईमुनराजकुंअरि, (1856) 6 एम० आई० ए० 343.

कृत्यों से पिता का न तो लौकिक हित होता है न ही पारलौकिक । कुकृत्य हेतु उपगत ऋण का उन्मोचन किसी भी दृष्टि से पुत्र का धार्मिक दायित्व नहीं माना जा सकता । यद्यपि यह सत्य है कि अपने पिता को नरक से मुक्ति दिलाने हेतु पुत्र को धार्मिक अनुष्ठान भी करना चाहिए तथापि इसका यह अर्थ नहीं है पुत्र को ऐसे ऋणदाता के हितों की रक्षा भी करनी चाहिए जिसने कुकृत्य हेतु धन से सहायता प्रदान की थी । किन्तु यदि पिता ने नैतिक और व्यावहारिक कार्य हेतु ऋण उपगत किया था तो कर्ता न होने और कुटुंब में पिता-पुत्र के अतिरिक्त पुरुष सदस्य होने पर भी ऋण उन्मोचन हेतु पुत्र का पवित्र और धार्मिक कर्त्तव्य अप्रभावित रहता है ।[1] पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र का पूर्वजों के ऋण के उन्मोचन का पवित्र दायित्व संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में उनके हितों तक ही सीमित रहता है और यह दायित्व हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों द्वारा भी निराकृत नहीं हुआ है ।[2]

पैतृक ऋण के उन्मोचन का पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र का दायित्व व्यक्तिगत नहीं है । कहने का तात्पर्य यह है कि पिता का लेनदार पुत्रों आदि के व्यक्तित्व अथवा उनकी संपत्ति के विरुद्ध कार्यवाही नहीं कर सकता ।[3] पुत्र का पवित्र दायित्व तभी तक रहता है, जब तक पिता का दायित्व अस्तित्वयुक्त रहता है । यदि ऋण कालबाधिता विधि के अधीन कालबाधित हो गया तो उस ऋण के भुगतान का दायित्व पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र पर नहीं है । किन्तु ऋण उन्मोचन हेतु पुत्र का धार्मिक या पवित्र दायित्व पिता के जीवनकाल में भी है ।[4] इस विषय पर न्यायालयों का मत मिताक्षरा पर ही आधृत है । मिताक्षरा का यह कथन कि "दूर देश में गये अथवा असाध्य व्याधि से ग्रसित पिता का ऋण पुत्र-पौत्र द्वारा अवश्य भुगतान कर दिया जाना चाहिए"[5] इस बात का द्योतक है कि पिता के जीवन-काल में भी उसके ऋण-उन्मोचन का दायित्व पुत्र के धार्मिक दायित्व के अन्तर्गत आता है । पुत्र का पवित्र दायित्व उसकी अवयस्कता में पिता द्वारा उपगत ऋण की बाबत भी विस्तीर्ण हो जाता है यदि पुत्र वयस्क होने पर उसके भुगतान हेतु सहमत हो जाता है[6] अथवा पिता ऋण का नवीकरण कर देता है ।[7]

---

1 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रताप, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487, सुरेन्द्रमोहन **बनाम** हरिप्रसाद, ए० आई० आर० 1925 पी० सी० 280.

2 नाथूभाई **बनाम** छोटूभाई, ए० आई० आर० 1962 गुजरात 68.

3 ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 177, एस० एम० जगाति **बनाम** बेकर, ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 282.

4 पन्नालाल **बनाम** नारायणी, ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 170, राजा वृजनारायणराय **बनाम** मंगलाप्रसादराय, 21 ए० एल० जे०, 934 (पी० सी०)

5 "दूरदेशं गतोऽचिकित्सनीयव्याध्यत्तिभूतोवा तथातत्कृतमृणमाख्यापनेऽवश्यं देयं पुत्रेण-पौत्रेण वा ।" याज्ञ 02/50 की मिता० टीका.

6 रामरत्न **बनाम** वसंतराय, 64 आई० सी० 12.

7 रामरत्न **बनाम** वसंतराय, ए० आई० आर० 1921 लाहौर 205 : 64 आई० सी० 12.

ऋण-उन्मोचन के दायित्व का पौत्र और प्रपौत्र तक विस्तार—पुत्र और पौत्र को मृत स्वामी के ऋण का भुगतान करना होगा।[1] पुत्र के इस दायित्व को मिताक्षरा ने ऋण के ब्याज तक विस्तीर्ण किया है। पर पौत्र को ब्याज से मुक्त रखा है।[2] किंतु प्रपौत्र को मिताक्षरा ने उक्त दायित्व से मुक्त रखा है।[3] न्यायालयों की भी पहले यही उपधारणा थी कि प्रपौत्र प्रपितामह के ऋण का देनदार नहीं है। आगे चलकर प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रपौत्र भी पैतृक ऋण के भुगतान के दायित्व की परिधि में आते हैं किंतु तभी जब उन्हें उत्तराधिकार में प्रपितामह की सम्पत्ति मिली हो। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पुत्र की अवधारणा में प्रपौत्र भी समाहित है जो सहदायिकी संबंध का अंतिम वंशज है।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि मिताक्षरा ने पौत्र को पितामह के ऋण के मूलधन का ही दायी माना है। उसे ब्याज से मुक्त कर दिया है पर प्रपौत्र के विषय में चुप है। बृहस्पति ने पुत्र और पौत्र के विषय में याज्ञवल्क्य की पुष्टि की है पर प्रपौत्र को स्पष्ट शब्दों में मुक्त रखा है।[4] आधुनिक न्यायालयों ने पितामह के ऋण में ब्याज से हुई वृद्धि के भुगतान का भी दायी पौत्र को माना। यही नहीं प्रपौत्र को भी पितामह के ऋण के भुगतान के लिए मूलधन और ब्याज दोनों का देनदार माना है। केवल कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि पौत्र पितामह के ऋण के ब्याज का भुगतान करने के लिए दायी नहीं है, किंतु जब डिक्री पितामह और पिता दोनों के विरुद्ध होती है, तब पिता ब्याज का दायी होने के नाते पुत्र का पुत्र भी ब्याज का दायी हो जाता है।

(4) **पति के ऋण के भुगतान हेतु पत्नी का दायित्व**—याज्ञवल्क्य ने मृत पति के ऋण के भुगतान का दायित्व पत्नी पर भी बताया है।[5] मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य की इस व्यवस्था की व्याख्या करते हुए कहा है कि "जो पति है, वही पत्नी है और यदि पति ने ऋण उपगत किया है तो पति और पुत्र के अभाव में पत्नी को ऋण का भुगतान कर देना चाहिए।"[6] किंतु पत्नी को प्रतिपन्न अर्थात् मूलतः प्राप्त राशि का ही दायित्व दिया गया है। याज्ञवल्क्य

---

1 पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् याज्ञ० 2/50.

2 अत्र च यद्यपि पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयमित्यविशेषेणोक्तं तथापि पुत्रेण यथा पिता सवृद्धिकं ददाति तथैव देयम्। पौत्रेण तुसमं मूल मेव दातामं, न वृद्धिरिति विशेषेणावगनोव्यम्/ याज्ञ० 2/50 की मिता० टीका।

3 लाडू **बनाम** गोवर्धनदास, ए० आई० आर० 1925 पटना 470; मसीतुल्लाह **बनाम** दामोदरदास, 53 आई० ए० 204.

4 ऋणामात्मीयवत्पित्रयं देयं पुत्रैर्विभावितम्।
पैतामहं समं देयमदेयं तत्सुतस्य तु 11-बृहस्पति, याज्ञ० 2/50 की मिता० टीका में उद्धृत।

5 रामदेव प्रसाद सिंह **बनाम** गोपी कुंअरि, 13 आई० सी० 349.

6 प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सहयत्कृतम्। याज्ञ० 2/49.
यच्च पत्या सहभार्यया ऋणं कृतं तदपि भर्त्रभावे भार्यया अपुत्रया देयम्। वही, मिता० टीका।

और मिताक्षरा ने पत्नी को पुत्र के अभाव में उत्तराधिकारी (रिक्थहर) माना है।[1] कथाचित इसीलिए उस पर पति के ऋण के भुगतान का भी दायित्व बताया है। किंतु पति के जीवन काल में उसके ऋण के भुगतान का दायित्व पत्नी पर नहीं होता; न ही पुत्र के रहते हुए उसका कोई दायित्व होता है। पटना उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि पति और पुत्रों में हुए विभाजन के समय पत्नी को यदि एक अंश प्राप्त होता है, तो भी वह पवित्र या धार्मिक दायित्व के सिद्धांत के आधार पर पति के लेनदार की दायी नहीं हो सकती।[2] यह अभिकथन उक्त सिद्धांत की पुष्टि करता है।

पुत्र के दायित्व की सीमाएं—पिता के वे ही ऋण या अन्य संक्रामण पुत्रों पर आबद्धकर हैं, जो अव्यावहारिक नहीं है अथवा किसी पूर्वगामी ऋण के उन्मोचन के लिए उपगत किए गए हैं। इनका विवेचन आगे किया जाता रहा है :—

अनैतिक अथवा अव्यावहारिक—यांज्ञवल्क्य के अनुसार सुरापान, कामवासना, द्यूत, दण्ड तथा शुल्क के अवशिष्ट (शेषांश), और व्यर्थदान हेतु लिए गए ऋण के भुगतान का दायित्व पुत्र पर नहीं होता।[3] मनु भी कहते हैं कि प्रातिभाव्य (प्रतिभूति दण्ड), व्यर्थदान आक्षिक (द्यूत संबंधी), सौरिक (मद्य संबंधी) दण्ड तथा शुल्क का अवशेष इन सबका भुगतान करने के लिए पुत्र बाध्य नहीं है।[4] गौतम भी इसी प्रकार की व्यवस्था देते हैं।[5] इन पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर कहते हैं—"सुरापान के निमित्त, स्त्री व्यसन के निमित्त, जुए में पराजय के निमित्त, दण्ड और शुल्क का अवशिष्ट, बन्दीजन आदि को देने की प्रतिज्ञा आदि के निमित्त पिता द्वारा कृत अर्थात् उपगत ऋण पुत्रादि न दें।"[6] स्मृतिकारों तथा सूत्रकारों में अव्यावहारिक ऋणों की जो सूची प्रस्तुत की है, वह निःशेष नहीं है अपितु दृष्टान्त स्वरूप है। इनमें वृद्धि की संभावना समय की गति के अनुसार बनी हुई है। हिंदू ऋण विधि का यह परन्तुक नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है। जो पिता ऐसे अनैतिक कृत्यों के लिए ऋण उपगत करता है, उसके भुगतान का वही दायी हो सकता है।

---

1 ऋणदाने यत्प्रतिपन्नं तत्पतिकृतमृणं देयम्। याज्ञ० 2/49 पर मिता० टीका।
पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। याज्ञ० 2/135। याज्ञवल्क्य ने पुत्रादि के अभाव में पत्नी को प्रथमश्रेणी का उत्तराधिकारी माना है। मिताक्षरा ने इसकी टीका करते हुए कहा है—"तत्र प्रथमं पत्नी धनभाक्।" विष्णु को उद्धृत करते हुए उसने कहा है—"अपुत्रधनं पत्नभिगामि" कात्यायन—पत्नी पत्युर्धनहरी।"

2 केशवनन्दन बनाम बिहार बैंक, ए० आई० आर० 1977 पटना 184.

3 सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम्।
वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम्॥ याज्ञ० 2/47.

4 प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति॥ मनु० 8/159.

5 प्रातिभाव्यवणिकशुल्कमद्यद्यूतदण्डान् पुत्रा न देया भवेयुः॥ गौ घ सू 12/38.

6 सुरापानेन यत्कृतमृणं, कामकृतं स्त्रीव्यसननिमित्तं, द्यूते पराजयनिमित्तं दण्डाशुल्केनावशिष्टं वृथादानं धूर्तवन्दिमल्लादिभ्यो यत्प्रतिज्ञातम्…। एतदृणं पित्रा कृतं पुत्रादिः शौण्डिकादिभ्यो न दद्यात्। याज्ञ० 2/47 की मिता० टीका।

अधार्मिक कार्यों के निमित्त लिए गए ऋण के भुगतान का दायित्व पुत्रादि के धार्मिक दायित्व का अंश नहीं हो सकता।

धर्मशास्त्रों के आधार पर आधुनिक न्यायालयों ने अव्यावहारिक ऋण के मूलभूत सिद्धांत को स्वीकार किया और आज भी यह विधिमान्य है कि पिता, पितामह अथवा प्रपितामह के अव्यावहारिक ऋण के भुगतान का दायित्व, पुत्र, पौत्र अथवा प्रपौत्र पर नहीं है। नैतिक आचार के विरुद्ध कृत्यों में वित्तीय व्यय हेतु उपगत ऋण के उन्मोचन का भार वंशजों के पवित्र अथवा धार्मिक दायित्व में समाहित करना न तो विधिसंगत है न ही नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप। यही कारण है न्यायजगत् में अव्यावहारिक ऋण की अदेयता का सिद्धांत स्वीकार किया गया जिससे वंशजों को आर्थिक संकट से मुक्त रखने में सहायता मिली। आज यह शास्त्रीय विधिक सिद्धांत मात्र न होकर न्यायिक विधिक सिद्धांत भी है, जिसका उपयोग पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र लेनदार के विरुद्ध प्रतिवाद अथवा विधिक उपचार के रूप में करते हैं। पवित्र अथवा धार्मिक दायित्व यह अपेक्षा करता है कि पवित्र अर्थात् सदाचार युक्त कृत्य के लिए वित्तीय व्यय हेतु उपगत पैतृक ऋण का उन्मोचन ही पुत्रों पर आबद्धकर रहे। हिंदू विधि का यह सिद्धांत विकसित विधिशास्त्र का द्योतक है।

सामान्यतया न्यायालयों ने उन सभी अव्यावहारिक ऋणों को मान्यता दी है, जिनका उल्लेख धर्मशास्त्र में हुआ है, जिनकी समेकित सूची निम्नलिखित है[1] :—

(1) सुरापान के लिए ऋण;

(2) द्यूत में पराजय संबंधी ऋण;

(3) अप्रतिफल संबंधी प्रतिज्ञा के लिए ऋण;

(4) कामवासना के लिए ऋण;

(5) न्यायालय में किसी की उपस्थिति अथवा सदाचार के लिए प्रतिभूति संबंधी ऋण;

(6) असंदत्त अर्थदण्ड;

(7) असंदत्त शुल्क; और

(8) कोई भी अन्य अव्यावहारिक ऋण जो नैतिक आधार के विरुद्ध कृत्यों में व्यय के लिए उपगत किया गया हो।

किसी भी ऋण को अव्यावहारिक अथवा अवैध सिद्ध करने का भार पुत्र अथवा वंशजों पर होता है।[2]

---

[1] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 298, पृष्ठ 417 : खलीलुंलरहमान बनाम गोविन्दप्रसाद, आई० एल० आर० (1893) 20 कलकत्ता 328.

[2] सीताराम बनाम राधाबाई, ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 535.

अव्यावहारिक का अर्थ—वह कृत्य, जो व्यावहारिक न हो, अव्यावहारिक है। व्यवहार शब्द का सामान्य अर्थ है, सामाजिक आचार। विधि जगत् में व्यवहार शब्द प्रक्रिया विधि अथवा सामाजिक जीवन संबंधी विधि के लिए भी प्रयुक्त होता है। भीष्म के अनुसार व्यवहार की परिभाषा निम्नलिखित है :—

"लोक में सतत सावधान रहने वाले व्यक्ति के धर्म का जिससे लोप न हो उसे व्यवहार कहते हैं।"[1]

स्पष्टतया किसी हिंदू की धर्मयुक्त क्रियाएँ ही व्यवहार शब्द से सम्बोधित होती हैं। अतएव व्यावहारिक ऋण वह है, जो धर्म के पालनार्थ लिया गया हो। ऐसा ऋण जो धर्म के पालनार्थ अथवा आचारयुक्त जीवनयापन में व्यय हेतु उपगत न किया गया हो, अव्यावहारिक है। यह आवश्यक नहीं है कि अव्यावहारिक ऋण मात्र उन्हीं कृत्यों तक सीमित रहे जिनकी सूची ऊपर दी गई है। गतिमान जगत् में अव्यावहारिक ऋण की सूची में वे नये कृत्य भी जुड़ सकते हैं जिनका प्रभाव नैतिक आचार पर पड़ता है।

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि पिता द्वारा उपगत वह ऋण, जिसका प्रयोजन असत् और पूर्णतया अनुचित हो, अव्यावहारिक ऋण है।[2] अव्यावहारिक ऋण वह ऋण है, जिसे कोई सम्माननीय और शिष्ट मनुष्य कदापि उपगत नहीं करता।[3] शिष्ट व्यक्ति का आचार ही वस्तुतः नैतिक आचार की परीक्षा की कसौटी है और व्यावहारिक अथवा अव्यावहारिक ऋण की परख इसी कसौटी पर की जा सकती है, यदि एतद्संबंधी वादपद का निर्णय किया जाना है। यदि पिता को ऋण की प्रकृति अवैध, असत् और अनैतिक है, तो वह अव्यावहारिक ऋण है।

समय की गति के साथ अब यह विधि सुस्थिर हो चुकी है कि पिता द्वारा प्रारंभ किए गए नये व्यापार के कारबार के अनुक्रम में उपगत ऋण अव्यावहारिक नहीं है और गौतम[4] की एतद्विषयक व्यवस्था बहुत पहले ही अप्रचलित हो गई है।[5] अतएव अव्यावहारिक ऋण की परीक्षा करते समय इन सभी पहलुओं पर विचार किया जाना आवश्यक है।

अब विविध अव्यावहारिक ऋणों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाएगा।

(1) **सुरापान हेतु उपगत ऋण (सौरिक ऋण)**—सुरापान हेतु उपगत ऋण को सौरिक ऋण कहते हैं। मद्यपान मानव समाज में निंद्य माना जाता है। यदि पिता सुरापान

---

[1] धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते।
तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेष्वऽवहितात्मनः॥ महा० युद्ध० अध्या० 121.

[2] एस० एम० जगति **बनाम** एस० एम० बोर्कर, ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 282.
श्यामसुन्दर भारतीय **बनाम** गौरीशंकर भारतीय, ए० आई० आर० 1980, कलकत्ता 230.

[4] प्रातिभाव्यवणिकशुल्कमद्य द्यूत दण्डान्—गौत० ध० सू० 12-38.
वणिग्वाणिज्यनिमितं चत्यर्थः। वणिक् पर मस्करीभाष्य।

[5] पन्नालाल जैन **बनाम** फर्म बाबूलाल राजेन्द्रकुमार जैन, ए० आई० आर० 1976 मध्य प्रदेश 187.

के लिए ऋण उपगत करके मर जाता है तो उसके भुगतान का दायित्व पुत्र पर नहीं होता और न ही ऐसे ऋण का उन्मोचन पुत्र के पवित्र दायित्व के अन्तर्गत आता है।[1] किंतु पुत्र को अपने प्रतिवाद में यह सिद्ध करना पड़ेगा कि प्रश्नगत ऋण पिता ने मद्यपान हेतु उपगत किया था उसके सामान्यतया मद्यपी होने का तथ्य सिद्ध करना यथेष्ट नहीं है।[2]

(2) **द्यूत में पराजय सम्बंधी ऋण—द्यूत-क्रीड़ा** को शास्त्रीय एवं संसदीय दोनों ही विधियों में अपराध माना गया है। मनु ने इसे अपराध माना है।[3] बाजी लगाकर खेला जाने वाला खेल द्यूत (जुआ) है।[4] यदि पिता ने बाजी लगाने के लिए कोई ऋण उपगत किया है अथवा भूमि आदि वस्तु की बाजी हार गया है तो इस पराजय के फलस्वरूप उसकी भूमि या वस्तु का ऋण के रूप में पुत्र देनदार नहीं है। जो कार्य आपराधिक है उसके निमित्त लिया गया ऋण आपराधिक कृत्य में सहायक होने के नाते अदेय है और पुत्र के पवित्र दायित्व की परिधि में नहीं आता। आधुनिक न्यायालयों ने भी द्यूत संबंधी ऋण को पुत्र के धार्मिक दायित्व का विषय नहीं माना।[5]

(3) **अप्रतिफल सम्बंधी प्रतिज्ञा हेतु ऋण**—बिना प्रतिफल के की गई प्रतिज्ञा को हिन्दूविधि में अव्यावहारिक ऋण माना गया है।[6] यह निरर्थक दान के अन्तर्गत आता है।[7] धूर्त बंदीजन, मल्ल, कुवैद्य (नीम हकीम), जुआड़ी, शठ, चार, चारण, चोर आदि को देने की प्रतिज्ञा निष्फल होती है।[8] मिताक्षरा ने धूर्त, बन्दी-जन, मल्ल आदि को देने की प्रतिज्ञा[9] को निरर्थक दान के अंतर्गत माना है। धनराशि देने की ऐसी प्रतिज्ञा जिसका कोई प्रतिफल दाता पिता को न मिलने वाला रहा हो 'बिना प्रतिफल की प्रतिज्ञा' अथवा 'निरर्थक दान' के अंतर्गत आता है और उसके भुगतान का दायित्व पुत्र पर नहीं है। पिता के विरुद्ध कालबाधित ऋण के उन्मोचन का दायित्व भी पुत्र का नहीं है।[10] किन्तु यदि पिता ने कालबाधित ऋण के उन्मोचन हेतु सम्पत्ति का कोई अन्यसंक्रामण किया हो तो उसे 'बिना

---

1 खलीलुर्रहमान **बनाम** गोविन्दप्रसाद, आई० एल० आर० (1893) 20 कलकत्ता 328.
2 नरेन्द्रबहादुर **बनाम** अब्दुलहक, 30 आई० सी० 216.
3 द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्। मनु० 9/221.
प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवन समाह्वयौ ।। मनु० 9/222.
4 अप्राणिभियीत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।। मनु० 9/223.
5 सुब्बाराव **बनाम** देवेन्द्र, आई० एल० आर० 7 मद्रास 30.
6 अर्जुन **बनाम** छग्गन लाल, आई० एल० आर० 1923 नागपुर 300.
7 'वृथादानं' याज्ञ० 2/47.
8 धूर्ते वन्दिनि मल्ले च कुवैद्ये कितवे शठे।
चारचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ।।
याज्ञ 2/47 की मिता० टीका में उद्धृत श्लोक।
9 'वृथादानं धूर्तबन्दिमल्लादिभ्यौ यत्प्रतिज्ञातम्'
—याज्ञ० 2/47. की मिता० टीका
10 अच्युतानन्द **बनाम** सूरजनारायण ए० आई० आर० 1926 पटना 427.

प्रतिफल का अन्यसंक्रामण' नहीं कहा जा सकता और ऐसा अन्यसंक्रामण पुत्रों पर आबद्धकर होगा ।[1]

(4) **कामवासना हेतु ऋण**—याज्ञवल्क्य के अनुसार पिता द्वारा वासना की तृप्ति हेतु उपगत ऋण अथवा इस प्रयोजन के लिए किसी स्त्री को धन देने की प्रतिज्ञा की पूर्ति का दायित्व पुत्र पर नहीं होता ।[2] पिता यदि इस प्रकार के ऋण का उन्मोचन या प्रतिज्ञानुसार बिना भुगतान किये ही मर जाए, तो इससे पुत्र भुगतान के लिए आबद्ध नहीं होंगे ।

(5) **प्रतिभूति संबंधी ऋण**—शास्त्रकारों ने प्रतिभू संबंधी ऋण के भुगतान का दायित्व पुत्र पर नहीं दिया । गौतम और याज्ञवल्क्य ने ऐसे ऋण को प्रातिभाव्य कहा है ।[3] प्रतिभू के निमित्त जो ऋण होता है, उसे प्रातिभाव्य कहते हैं ।[4] याज्ञवल्क्य के अनुसार तीन प्रकार के प्रातिभाव्य होते हैं—यथा, उपस्थिति, विश्वास तथा भुगतान हेतु ।[5] अब यह विधि सुस्थिर हो चुकी है कि यदि पिता किसी व्यक्ति के निश्चित समय पर एक नियत स्थान पर उपस्थित होने हेतु[6] तथा किसी व्यक्ति के सद्व्यवहार[7] रखने हेतु अथवा अवैध कार्य आदि न करने[8] हेतु प्रतिभू बना है, तो इनसे पिता के ऋणी होने पर पुत्र दायी नहीं होता । किंतु यदि पिता किसी ऋणी द्वारा भुगतान करने का प्रतिभू बना है, तो वह एक प्रकार का अप्रत्यक्ष ऋण है, जिसके भुगतान का दायित्व वह अपने ऊपर लेता है । ऐसे प्रतिभू के मामले में पुत्र दायी है ।[9] फिर भी पुत्र मात्र मूलधन के भुगतान का दायी है न कि ब्याज के भी ।[9] बृहस्पति ने चार प्रकार के प्रतिभूत्व का उल्लेख किया है, जिनमें तीन मिताक्षरों की ही भांति हैं और चौथा है पिता द्वारा ऋणी की सम्पत्ति को लेनदार को उपलब्ध कराना, जिससे कि वह अपने दावे की तुष्टि कर सके ।[10] पिता के इस प्रकार के प्रतिभूत्व में भी पुत्र दायी होते हैं, किंतु पुत्र का दायित्व मूलधन तक ही होता है, ब्याज का नहीं । मिताक्षरा विधि के अधीन प्रतिभू सम्बंधी पैतृक ऋण के दायित्व को पौत्रों तक विस्तीर्ण नहीं किया जा सकता । फलस्वरूप प्रतिभू के रूप में पितामह के इस संविदात्मक ऋण के भुगतान का दायित्व पौत्र का नहीं है ।[10]

---

1 गजाधर **बनाम** जगन्नाथ, ए० आई० आर० 1924 इलाहाबाद 551 (पूर्ण पीठ).

2 'सुराकामद्यूतकृतं' याज्ञ० 2/47, मिताक्षरा में 'कामकृतं' की व्याख्या करते हुए कहा है—'कामकृतं स्त्रीव्यसननिमित्तं' अर्थात् 'कामकृतं' का अर्थ है 'स्त्रीव्यसन निमित्त'

3 'प्रातिभाव्य वणिकशुल्क'-गौतम ध० सु० 12/38.
दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते । याज्ञ० 2/53.

4 प्रतिभूनिमित्तं यषदृणं तत्प्रातिभाव्यम् । गौ० ध० सू० 12/38 पर मस्करि-भाष्य.

5 दर्शाने प्रत्येय दाने प्रातिभाव्यं विधीयते । याज्ञ० 2/53.

6 द्वारिका **बनाम** कृष्णदास, ए० आई० आर० 1955 इलाहाबाद 675.

7 कोट्पल्ली लक्ष्मीनारायणन् **बनाम** कन्पार्ति हनुमंतराव, ए० आई० आर० 1935 मद्रास 144, कृष्ण **बनाम** राम, ए० आई० आर० 1964 इलाहाबाद 17.

8 सत्यचरण **बनाम** सतवीर, ए० आई० आर० 1919 पटना 422.

9 आदिलक्षमा **बनाम** रघुरामि, ए० आई० आर० 1970 आंध्र प्रदेश 158 (पूर्णपीठ).

10 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 298 पृ० 417,
"उपस्थिति, विश्वास, भुगतान तथा लेनदार की आस्तियों के परिदान हेतु : इन चार प्रयोजनों के लिए प्रातिभाव्य ऋषियों द्वारा व्यवहार में प्रतिपादित है।" बृह० स्मृ० 11/39 सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, माईनर लॉ बुक्स 1, जूलियस जाली का अंग्रेजी अनुवाद देखिये ।

(6) **असंदत्त अर्थ दण्ड**—सामान्यतया अर्थदण्ड जिस व्यक्ति पर लगता है उसी द्वारा देय होता है। दण्डित व्यक्ति की मृत्यु के उपरांत पुत्र से असंदत्त अर्थदण्ड का उन्मोचन नहीं कराया जा सकता। याज्ञावल्क्य आदि ने इसे पुत्र के पवित्र या धार्मिक दायित्व का विषय नहीं माना है। मिताक्षरा ने उशना का वचन उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि असंदत्त दण्ड या उसका शेष भाग पुत्र द्वारा देय नहीं है।[1] दण्ड वस्तुतः किसी अधार्मिक कृत्य अथवा अनाचार के फलस्वरूप लगता है जिसके उंमोचन का दायित्व संबंधित व्यक्ति पर ही होता है न कि पुत्र या पौत्र पर। यदि पिता ऐसे अर्थदण्ड को देने के लिए ऋण उपगत करता है, तो इस ऋण के उंमोचन का दायित्व पुत्र पर नहीं होता।[2]

(7) **असंदत्त शुल्क**—शुल्क शब्द का प्रयोग शास्त्रों में दो अर्थों में हुआ है—प्रथम स्त्रीधन का एक प्रकार[3] द्वितीय चुंगी।[4] वर्तमान काल में यदि शुल्क का अर्थ राजकीय कर होता है; यथा—आयकर, सम्पत्तिकर, कृषिकर, आदि तो पिता द्वारा ऐसे असंदत्त कर उसके सम्पत्ति के वारिसों से वसूल किया जा सकता है किंतु यह पवित्र दायित्व के सिद्धांत के अंतर्गत नहीं आता। असंदत्त आयकर को अव्यावहारिक ऋण नहीं माना जा सकता।[5] वस्तुतः धर्मशास्त्रीय विधि के अधीन असंदत्त शुल्क अव्यावहारिक ऋण माना गया है, जो अस्वीकृत विवाह प्रकारों में कन्या के पिता को देय होता था और पिता जिसका भुगतान किये बिना स्वर्गवासी हो जाता था। मनु ने विवाह में शुल्क लेने वाले कन्या के पिता की निंदा भी की है। क्योंकि इसके माध्यम से कन्या का विक्रय होता है।[6]

(8) **अन्य अव्यावहारिक ऋण**—ऐसे ऋण, जो अनैतिक कृत्यों में व्यय हेतु उपगत किये गए हों, पिता की मृत्यु के उपरांत पुत्रों के धार्मिक दायित्व के अंतर्गत नहीं आते। इसमें ऐसी धनराशि की उगाही भी सम्मिलित है, जिसे पिता ने अवैध ढंग से प्राप्त किया हो यदि कोई व्यक्ति पत्रों और पत्रिकाओं की कूट रचना द्वारा प्रच्छन्न और अवैध ढंग से धन ग्रहण कर लेता है, और अपने इस कृत्य के फलस्वरूप वह अभियोजित और सिद्ध-दोष होता है, और उक्त धनराशि का अंश पुत्र के पास उसकी सम्पदा से उगाहा जाता है, तो संबंधित व्यक्ति का कृत्य अवैध होने और ऋण आपराधिक कृत्य से संबंधित होने के कारण उसे सिविल

---

[1] दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा। न दातव्यं तु पुत्रेण यच्च न व्यावहारिकम्।
उशना, याज्ञ, 2147 की मिता० टीका में उद्धृत।

[2] गरुड़ संन्यासय्या बनाम नरिल्ला मुर्तिन्ना, ए० आई० आर० 1919 मद्रास 943.

[3] शुल्कमन्वाधेयकमेव च। याज्ञ० 2/144 (पूर्वार्ध)
शुल्कं यद्गृहीत्वा कन्या दीयते। इसी पर मिता० टीका।

[4] डी० एफ० मुल्ला, 2 प्रिंसिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ: उपबंध 298 (7), पृ० 417. याज्ञ० 2/53 पर विश्वरूप की 'बालक्रीड़ा' टीका में शुल्क का अर्थ चुंगी ही किया गया है।

[5] राधाकृष्णन् **बनाम** भारत संघ, ए० आई० आर० 1959 मद्रास 71, जे० डी० राव **बनाम** आयकर आयुक्त, ए० आई० आर० 1970 आन्ध्र प्रदेश 426 (पूर्णपीठ),.

[6] आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन्।
शुल्कं हि गृहणन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम्।। मनु० 9/98.

ऋण नहीं कहा जा सकता है और यह अव्यावहारिक ऋण है, जिसकी उगाही पुत्र से नहीं हो सकती ।[1]

पिता द्वारा पूर्वगामी ऋण के भुगतान हेतु उपगत ऋण—या अन्य संक्रामण—पुत्र का पवित्र दायित्व ऐसे ऋण के भुगतान हेतु भी है, जिसे पिता ने किसी पूर्वगामी ऋण के भुगतान हेतु उपगत किया हो।

पूर्वगामी ऋण—वह ऋण जो किसी सम्पत्ति के अन्यसंक्रमण अथवा विक्रय या बंधक रखने के पूर्व उपगत किया गया हो और उसके भुगतान हेतु प्रश्नगत सम्पत्ति का अंतरण किया गया हो, पूर्वगामी ऋण होता है। पूर्वगामी ऋण का अर्थ है, तथ्यतः काल की दृष्टि से पूर्ववर्ती होना। कहने का तात्पर्य है कि ऋण अधिक्षिप्त संव्यवहार से सच्चे रूप में स्वतंत्र होना चाहिए और उसका अंश नहीं होना चाहिए ।[2] पूर्वगामी ऋण वह ऋण है, जो अन्यसंक्रामण से काल की दृष्टि से ही पूर्ववर्ती न हो, अपितु संबंधित संयुक्त सम्पदा से उपलब्ध होने वाली प्रतिभूति या स्वामित्व से भी पूर्णतया पृथक् उपगत किया गया हो ।[3] यह आवश्यक नहीं है कि पूर्वगामी ऋण का लेनदार भी पृथक् व्यक्ति हो। यदि एक ही व्यक्ति पहले ऋण और प्रश्नगत ऋण का लेनदार है तो भी पहला ऋण पूर्वगामी हो सकता है। आवश्यकता मात्र इतनी ही है कि ऋण सम्बंधी दोनों संव्यवहार समय और तथ्य की दृष्टि से एक दूसरे से असम्बद्ध होने चाहिएं ।[4] अतएव यदि पूर्व बंधक पत्र उसी बंधकदार के पक्ष में नवीकृत कर दिया जाए और परवर्ती बंधक पत्र का प्रतिफल पूर्ववर्ती बंधक पत्र में देय धनराशि ही हो, तो भी यह अन्यसंक्रामण पूर्वगामी ऋण के लिए ही होगा ।[5] इसकी सही परीक्षा यह है कि भुगतान और अंतरण सचमुच एक ही संव्यवहार हैं या नहीं ।[6] यदि पहला ऋण पूर्णतया परवर्ती ऋण से असम्बंधित नहीं है तो वह पूर्वगामी ऋण इस कारण मात्र से नहीं हो सकता कि वह पश्चात्वर्ती ऋण से पूर्व का है ।[7] पहले अवध मुख्य न्यायालय का मत था कि कोई कालबाधित ऋण पूर्वगामी ऋण नहीं हो सकता[8] किंतु बाद में यह विधि सुस्थिर हो गई कि कालबाधित ऋण भी पूर्वगामी ऋण हो सकता है ।[9] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्वगामी ऋण के प्रत्याख्यान का प्रश्न तभी उठता है जब पुत्र अपने पिता के अन्यसंक्रामण का अधिक्षेप कर रहे हों न कि जब एक भाई दूसरे भाई के अन्यसंक्रामण पर आक्षेप कर रहा हो ।[10]

---

[1] व्रजेन्द्रपाल **बनाम** उत्तरप्रदेश राज्य 1975 ए० एल० जे० 232; वृद्धाचलम् पिल्लै **बनाम** चाइल्डियन सीरियन बैंक त्रिचूर, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1425.

[2] ब्रजनारायण **बनाम** मंगलाप्रसाद, ए० आई० आर० 1924 पी० सी० 50.

[3] चेताराम **बनाम** रामसिंह, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 247.

[4] कालप्पा **बनाम** वेंकटेश, ए० आई० आर० 1962 मैसूर 260.

[5] गोपालदास **बनाम** तपनदास, आई० एल० आर० (1935) 16 लाहौर 624.

[6] हीराराव **बनाम** उधईराव, 19 आई० सी० 861.

[7] रामनारायण **बनाम** लालताप्रसाद, 6 ओ० एल० जे० 504.

[8] देवनारायणसिंह **बनाम** लाला हरिहरशरणसिंह, 38 आई० सी० 82.

[9] गजाधर **बनाम** जगन्नाथ, ए० आई० आर० 1924 इलाहाबाद 551 (पूर्णपीठ), परमानंद मिश्र **बनाम** गुरुप्रसाद, ए० आई० आर० 1935 अवध 500.

[10] विंदाप्रसाद **बनाम** गयाप्रसादसिंह 13 आई० सी० 547.

लेनदार का वाद

किसी लेनदार को अपने दावे की तुष्टि के तीन प्रकार के उपचार विधि में उपलब्ध हैं, जिनमें से किसी भी एक उपचार के लिए वह वाद संस्थित कर सकता है। वे उपचार निम्नलिखित हैं :—

(1) पिता के विरुद्ध वाद,
(2) पिता और पुत्र दोनों के विरुद्ध वाद;
(3) पुत्र के विरुद्ध वाद।

(1) **पिता के विरुद्ध वाद**—लेनदार अपने दावे की तुष्टि के लिए केवल पिता के विरुद्ध वाद संस्थित करके डिक्री प्राप्त कर सकता है और उस डिक्री के निष्पादन में संयुक्त कौटुम्बिक सम्पत्ति में पिता और पुत्र के संपूर्ण हित को कुर्क कराके विक्रय करा सकता है। इस विक्रय से पुत्र भी आबद्ध होगा भले ही पुत्र को वाद में पक्षकार नहीं बनाया गया था। किंतु यदि ऋण अनैतिक प्रयोजन के लिए उपगत किया गया था, तो पुत्र आबद्ध नहीं होगा। उच्चतम न्यायालय ने यह मत बार-बार व्यक्त किया है कि पुत्र का दायित्व पूर्णतया पिता-पुत्र के सम्बन्धों पर आधृत है, न कि ऋण लेते समय अथवा बाध्यता को लागू करते समय कुटुम्ब के गठन पर। वह लेनदार, जिसने देनदार के विरुद्ध डिक्री प्राप्त करली हों, संयुक्त कौटुंबिक सम्पत्ति में उसके हित को कुर्क और विक्रय कराने का हकदार है और यदि ऋण अवैध या अनैतिक नहीं है तो कौटुंबिक सम्पत्ति में निर्णीत ऋणी के पुत्र का हित भी क्रेता को चला जायगा चाहे निर्णीत ऋणीकर्ता हो अथवा नहीं और कुटुंब में पिता-पुत्र के अतिरिक्त भी सहदायिक हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि पुत्र को वाद अथवा डिक्री के निष्पादन की कार्यवाही में पक्षकार बनाया ही जाय।[1]

(2) **पिता-पुत्र के विरुद्ध वाद**—लेनदार को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह अपने दावे की तुष्टि के लिए पिता और पुत्र दोनों के विरुद्ध वाद संस्थित करे।[2] ऐसे मामले में पुत्र को यह हक है कि वह यह प्रतिवाद प्रस्तुत करे कि पिता द्वारा उपगत ऋण अव्यावहारिक प्रयोजन के लिए था।[3] वह इस आधार पर अपने हिस्से की डिक्री का प्रतिरोध कर सकता है। यदि पुत्र इस अभिवाक् को लिखित कथन में नहीं प्रस्तुत करता तो उसे डिक्री की निष्पादन कार्यवाही में ऋण की अव्यावहारिकता का प्रश्न उठाने की अनुमति नहीं मिल सकती।[4] यह पुत्र के पास अपने हितों की रक्षा का सर्वोत्तम उपचार है, जिसका उपयोग उसे प्रथम अवसर पर ही करना चाहिए। यदि वह इसमें चूक जाए, तो डिक्री के निष्पादन में इस उपचार का लाभ नहीं उठा सकता।

(3) **पुत्र के विरुद्ध वाद**—पुत्र के विरुद्ध पिता के जीवन काल में या पिता के मृत्यूपरान्त वाद संस्थित हो सकता है। किंतु यदि पिता ने अपने व्यक्तिगत हित के लिए

---

1 सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रताप, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487, एस० एम० जगति **बनाम** एस० एम० बोर्कर, ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 282.

2 देवेन्द्र **बनाम** फैजाबाद बैंक ए० आई० आर० 1924 पटना 94.

3 सत्यनारायण **बनाम** बिहारीलाल, ए० आई० आर० 1925 पी० **सी०** 18.

4 कूलितल्ले बैंक लि० तिरुचिरापल्लि **बनाम** एस० सी० नागमणिकम्, ए० आई० आर० 1955 मद्रास 670.

ऋण लिया हो तो प्रथमतः वही उसके उंमोचन का दायी है। ऐसे मामले में अकेले पुत्र के विरुद्ध वाद नहीं संस्थित किया जा सकता।[1] और न ही उस समय पुत्र का कोई दायित्व होता है जब कि अन्यसंक्रामण से पिता के हित की कोई बाध्यता नहीं होती।[2] आज ऐसे अनेक मामले उठ सकते हैं जिनमें पिता से धन उगाही हेतु वाद संस्थित हो सकता है किंतु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मामले में संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में पिता के हित से उसके दायित्व का उंमोचन किया जा सके। गबन आदि आपराधिक मामले में पिता की पृथक् संपत्ति से ही धनराशि की उगाही की जा सकती है संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में उसके हित से नहीं।

यदि पिता ने अपने निजी प्रयोजन के लिए कोई ऋण उपगत किया हो और प्रयोजन अनैतिक या अव्यावहारिक नहीं हो, तो पिता कि मृत्यु के उपरांत पुत्र के विरुद्ध वाद संस्थित किया जा सकता है, और उसके विरुद्ध डिक्री प्राप्त करके निष्पादन की कार्यवाही द्वारा पिता के संपूर्ण हित को, जो पुत्र को विरासत में प्राप्त हुआ हो, विक्रय करके उससे प्राप्त धनराशि से ऋण की तुष्टि की जा सकती है। पुत्र का यह पवित्र और धार्मिक दायित्व होने के नाते वह उत्तरजीविता के लाभ का दावा नहीं प्रस्तुत कर सकता।

पुत्र के विरुद्ध ऐसे मामले भी उठ सकते हैं जिनमें वाद प्रथमतः पिता के विरुद्ध संस्थित किया गया हो और वाद के लंबित रहते पिता की मृत्यु हो गई हो और लेनदार ने पुत्र को विधिक प्रतिनिधि बनाया हो। यह भी हो सकता है कि निर्णीत लेनदार के डिक्री के निष्पादन की कार्यवाही के पूर्व पिता की मृत्यु हो जाय और पुत्र को निष्पादन की कार्यवाही में ही विधिक प्रतिनिधि बनाया जाय। उच्चतम न्यायालय ने पन्नालाल बनाम नारायणी[3] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि डिक्री-धारक पुत्र को उसके पिता के विरुद्ध हुई डिक्री के निष्पादन में विधिक प्रतिनिधि बना सकता है और उसे पुत्र के विरुद्ध पृथक् वाद संस्थित करने की आवश्यकता नहीं है। निष्पादन की कार्यवाही के ऐसे मामले में पुत्र यह सिद्ध करने के लिए स्वतन्त्र होगा कि पिता की संपत्ति, जो उसे विरासत में प्राप्त हुई है, अन्याय कारणों से पिता के ऋण के भुगतान के लिए दायी नहीं है और ये सभी प्रश्न निष्पादन न्यायालय द्वारा निर्णीत किए जाएंगे।

मात्र पिता के विरुद्ध हुई डिक्री के निष्पादन में सहदायिकी संपत्ति का विक्रय :— यदि डिक्री मात्र पिता के विरुद्ध हुई है और उसका निष्पादन पिता के जीवन काल में ही होता है, तो संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में पिता का हित दो प्रकार से लेनदार को संक्रांत हो सकता है—प्रथम, पूर्वगामी ऋण चुकाने के लिए या पूर्वगामी ऋण हेतु रकम जुटाने के लिए, और द्वितीय पिता के ऋण के लिए हुई डिक्री के निष्पादन में हुए विक्रय के अधीन। इन दोनों में से किसी भी मामले में पुत्र संपत्ति वापस नहीं करा सकता। उसके पास मात्र एक ही उपचार उपलब्ध है और वह है अव्यावहारिक प्रयोजन हेतु ऋण लिए जाने की सिद्धि, जिसकी सूचना क्रेता को भी होनी चाहिए। यदि निष्पादन विक्रय का क्रेता लेनदार

[1] पेरिस्वामी बनाम सीताराम, (1904) 27 मद्रास 243 (पूर्णपीठ).

[2] मणिस्वामी बनाम राममूर्ति, ए० आई० आर० 1970 मद्रास 406.

[3] ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 170.

अर्थात् निर्णीत लेनदार से भिन्न व्यक्ति है, और उसे यह सूचना नहीं है कि प्रश्नगत ऋण अव्यावहारिक प्रयोजन के लिए लिया गया था, तो वह क्रेता सामान्य जाँच से अधिक जांच करने के लिए आबद्ध नहीं है।[1]

निष्पादन-डिक्री-संबंधी पुत्र के उपचार का विवेचन आगे किया जा रहा है :—

निष्पादन विक्रय से पूर्व पुत्र के उपचार—अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पिता संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति को बंधक रखकर, प्रतिभूति करके अथवा बिना प्रतिभूति किए ही ऋण ले सकता है। इन दोनों में से किसी भी मामले में लेनदार सक्षम न्यायालय से धन की डिक्री प्राप्त कर सकता है। उसके निष्पादन की कार्यवाही में पुत्र के हित सहित संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति को कुर्क और विक्रय करा सकता है। पुत्र के पवित्र दायित्व के अंतर्गत पिता के ऋण के उन्मोचन के लिए आबद्ध होने के कारण निष्पादन विक्रय के विरुद्ध यह आपत्ति नहीं उठा सकते कि ऋण कुटुंब के फायदे के लिए नहीं लिया गया था और न ही वे इस आधार पर आपत्ति कर सकते हैं कि वे उस वाद के पक्षकार नहीं बनाये गये थे, जिसमें यह डिक्री हुई। सामान्यतया विधि का यह नियम है कि जिस व्यक्ति के विरुद्ध डिक्री होती है, संपत्ति में उसी का हित निष्पादन की कार्यवाही में कुर्क या विक्रय किया जा सकता है किंतु पुत्र की स्थिति संयुक्त हिंदू कुटुंब में भिन्न होती है, और पितृऋण के उन्मोचन के लिए उसकी धार्मिक दृष्टि से बाध्यता होती है, जो आज भी हिंदू विधि में विधिमान्य है।[2] किंतु पुत्र को यह अधिकार है कि वह निष्पादन विक्रय से पूर्व निष्पादन कार्यवाही में यह प्रश्न उठाए कि ऋण अव्यावहारिक प्रयोजन के लिए लिया गया था अथवा वह ऋण के अस्तित्व पर ही आक्षेप कर सकता है।[3] यदि पुत्रगण इसमें सफल हो जाएं तो डिक्री अपास्त हो जाएगी। डिक्री को अपास्त कराने के लिए पुत्र को पृथक् वाद संस्थित करना चाहिए जिसमें वह ऋण के औचित्य अथवा ऋण की अव्यावहारिकता आदि का प्रश्न उठा सकता है।[4]

निष्पादन विक्रय के पश्चात् पुत्र के उपचार—यदि पिता के विरुद्ध धन की डिक्री के निष्पादन में पिता के हित के साथ-साथ संयुक्त कौटुम्बिक सम्पत्ति में पुत्र का हित भी कुर्क करके विक्रय कर दिया जाता है और यदि क्रेता एक भिन्न व्यक्ति है, तो पुत्र को अपने अंश को वापस लेने के लिए सिद्ध करना पड़ेगा कि ऋण अव्यावहारिक प्रयोजन के लिए लिया गया था, जिसकी जानकारी क्रेता को थी। किंतु यदि डिक्री के निष्पादन की कार्यवाही में ऋण की अव्यावहारिकता का प्रश्न उठाया गया जिसकी सिद्धि सम्पत्ति की वापसी संबंधी वाद में हो जाती है, तो पुत्र को क्रेता की जानकारी अथवा सूचना स्वतंत्र रूप से

---

1 सूरजवंशी कुंअरि **बनाम** शिवप्रसाद, 6 आई० ए० 88.

2 फकीरचंद **बनाम** हरनाम कौर, ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 727, ब्रजनारायण **बनाम** मंगलाप्रसाद, ए० आई० आर० 1924 पी० सी० 50.

3 भगतराम **बनाम** अयोध्याप्रकाश, ए० आई० आर० 1960 पंजाब 261, सिद्धेश्वर मुखर्जी **बनाम** भुवनेश्वरप्रताप, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 487.

4 अब्दुलकरीम **बनाम** रामकिशोर ए० आई० आर० 1925 इलाहाबाद 327.

सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और यह मान लिया जाएगा कि क्रय से पूर्व उसे सूचना मिल गई थी, भले ही वह सूचना निष्पादन कार्यवाही में एक आपत्ति के रूप में ही रही हो। यदि निष्पादन विक्रय का क्रेता निर्णीत लेनदार स्वयं है, तो पुत्र को अपने हिस्से की सम्पत्ति की वापसी के वाद में मात्र इतना ही सिद्ध करना है कि ऋण, जिसकी तुष्टि हेतु डिक्री हुई थी और कौटुम्बिक संपत्ति की कुर्की और विक्रय हुआ था, अव्यावहारिक प्रयोजन के लिए उपगत किया गया था।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि निष्पादन विक्रय के पश्चात् पुत्र को पृथक् वाद के माध्यम से ही अपने हितों की रक्षा करनी है। ऐसे मामले में लेनदार-क्रेता यह प्रश्न नहीं उठा सकता है कि उसे यह सूचना नहीं थी कि ऋण अव्यावहारिक है क्योंकि उसे डिक्री के निष्पादन की कार्यवाही में ऋण के अव्यावहारिक होने की जानकारी पुत्र की आपत्तियों से हो जाती है और तब भी वह पुत्र के हित को क्रय करता है।[2]

पिता के ऋण उन्मोचन सम्बंधी दायित्व से पुत्र के बचाव के उपायों की समेकित सूची :—

लेनदार द्वारा ऋणी पिता की मृत्यु के उपराँत ऋण की वसूली के लिए कार्यवाही किए जाने पर पुत्र के सम्मुख निम्नलिखित चार तर्क उपलब्ध हैं :—

(1) ऋण अनैतिक अथवा अव्यावहारिक प्रयोजन के लिए उपगत किया गया था;

(2) ऋण पिता द्वारा लिया ही नहीं गया था;

(3) पिता ने यदि सम्पत्ति बंधक रखी है तो उन्हें ऐसा करने का अधिकार ही नहीं था; क्योंकि बंधक किसी पूर्वगामी ऋण को चुकाने के लिए नहीं रखा गया था,

(4) पैतृक सम्पत्ति को बंधक रखते समय पिता ने वयस्क पुत्रों से सहमति प्राप्त नहीं की थी।

उपरिलिखित तर्कों में से किसी भी तर्क के आधार पर पुत्र अपने को दायित्व मुक्त करने और संयुक्त कौटुंबिक सम्पत्ति में अपने हितों को सुरक्षित रखने का प्रयास डिक्री के निष्पादन की कार्यवाही में अथवा विफल होने पर पृथक् वाद संस्थिति द्वारा कर सकते हैं। पुत्र को यह अधिकार पिता के ऋण के उन्मोचन के लिए पवित्र अथवा धार्मिक दायित्व के अधीन भी प्राप्त है। लेनदार का यह उत्तरदायित्व है कि वह मृत पिता द्वारा उपगत ऋण के औचित्य या उसके अस्तित्व को लेखपत्र आदि प्रमाणों से सिद्ध करे।[3] किंतु यह सिद्ध करने का भार पुत्र पर है कि ऋण अव्यावहारिक प्रयोजन के लिए उपगत किया गया था।

---

[1] रामचन्द्र **बनाम** मुहम्मद, ए० आई० आर० 1923 इलाहाबाद 591.

[2] सूरजवंशीकुंअरि **बनाम** शिवप्रसाद, 6 आई० ए० 88.

[3] पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नव वे साक्षिभावितम् ॥ याज्ञ 2/50इसकी टीका करते हुए विज्ञानेश्वर कहते हैं कि 'इति पुत्रेण पौत्रेण वा निह्नवे कृते अर्थिना साक्ष्यादिभिर्भावितपूर्णं देयं पुत्रपौत्रैरित्यन्वयः 'अर्थात् पुत्र या पौत्र के मना करने पर अर्थी साक्ष्य आदि प्रमाणों से सिद्ध करे तब पुत्र और पौत्र भुगतान करें।उसी पर मिता० टीका

दायभाग की ऋण विधि

मिताक्षरा विधि की भांति दायभाग विधि में कोई हिंदू कौटुंबिक अथवा निजी प्रयोजनों के लिए ऋण उपगत कर सकता है। किंतु यहां किसी हिंदू द्वारा अपने निजी प्रयोजनों हेतु लिए गए ऋण के भुगतान संबंधी दायित्वों की विवेचना दायभाग विधि के अंतर्गत की जाएगी। दायभाग विधि में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र का पवित्र या धार्मिक दायित्व पितादि के ऋण के उंमोचन का नहीं है क्योंकि पुत्र या पौत्र आदि दायभाग विधि में जन्म से पैतृक संपत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं करते, जैसा कि दायभाग सहदायिकी विधि की विवेचना में देखा जा चुका है। प्रत्येक सहदायिक दायभाग विधि के अंतर्गत संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति में निश्चित हिस्सा प्राप्त करता है, जिसे वह अपनी इच्छानुसार उपभोग कर सकता है और मृत्यूपरांत कौटुंबिक संपत्ति में उसका भाग उसके वारिसों को न्यागत होता है, न कि उत्तरजीवियों को। निजी प्रयोजन के लिए उपगत ऋण के भुगतान का दायित्व निम्नलिखित है :—

(1) किसी हिंदू की पृथक् संपत्ति की ऋण के भुगतान की बाध्यता देनदार के जीवन काल में और मृत्यूपरांत भी होती है। मृत ऋणी के जिन वारिसों या उत्तराधिकारियों को उसकी पृथक् संपत्ति न्यागति होती है, उन्हें उस संपत्ति के मूल्य तक ऋण के भुगतान का दायित्व भी ग्रहण करना होता है। किंतु वारिस व्यक्तिगत रूप से ऋण के भुगतान के लिए दायी नहीं हैं चाहे वे पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र ही क्यों न हो।[1]

(2) दायभाग विधि में एक कुटुंब के सभी सहदायिकों का अंश कौटुंबिक संपत्ति या सहदायिकी संपत्ति में सुनिश्चित होने के कारण किसी सहदायिक द्वारा निजी प्रयोजन के लिए उपगत ऋण के भुगतान की बाध्यता उसके अंश पर ही होती है। ऋणी सहदायिक के जीवन काल में अथवा उसकी मृत्यु के उपरान्त संयुक्त कौटुंबिक सम्पत्ति में उसके अंश का विक्रय करके उसके ऋण का भुगतान हो सकता है। मृत सहदायिक के वारिस चाहे वे पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र ही क्यों न हों, व्यक्तिगत रूप से मृतक द्वारा उपगत ऋण के भुगतान के दायी नहीं होते।[2]

---

1 रिक्थभाज ऋणं प्रतिकुर्यः ।। गौतम ध० सू० 12/37 अर्थात् जों रिक्थ ग्रहण करता है ऋण के भुगतान का भी दायित्व प्राप्त करता है। 'यस्य धनं ये भजन्ति गृह्णन्ति त एव तद्दृणं दद्युरित्यर्थः। न दायादमात्रेण"। अर्थात् जो धन का भाग ग्रहण करता है, वह ऋण के भुगतान का भी दायी है, दायाद मात्र होने से नहीं,—उसी पर मस्करि-भाष्य ।।" पुत्राणां च मध्ये येषां रिक्थभावत्वं ऋणभावत्वं च विद्यते त एव ऋणं दद्युः नपुत्रमात्रेणेति द्रष्टव्यम् ।। अर्थात् जो पुत्र रिक्थ प्राप्त करता है वही ऋण का दायित्व भी लेता है। अतः वही ऋण चुकाता भी है, न कि पुत्र होने मात्र के कारण।—उसी में देखिये।

2 अब्दुलरहमान बनाम गजेन्द्रलाल, (1938) 1 कलकत्ता 132.

(3) संयुक्त कौटुंबिक सम्पत्ति में पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र जन्म से स्वत्वधारी न होने के कारण पिता का स्वत्व आत्यंतिक होता है और पिता अपने इस अधिकार के प्रयोग द्वारा कौटुंबिक सम्पत्ति का विक्रय करके अपने ऋण का उन्मोचन कर सकता है।[1] पुत्र पिता के इस अधिकार के प्रयोग में न तो हस्तक्षेप कर सकते हैं और न ही पिता द्वारा किए गए अन्यसंक्रामण को अपने किसी अधिकार के अन्तर्गत अपास्त करा सकते हैं क्योंकि पिता के जीवन काल में पैतृक सम्पत्ति पर भी उनके किसी स्वत्व का उदय नहीं होता है। पिता की मृत्यु के उपरान्त ही पैतृक सम्पत्ति पर उनके स्वत्व का उदय होता है।[2]

दामदुपट विधि

दामदुपट का अर्थ

दामदुपट का शब्दिक अर्थ है 'दाम का दुगुना होना' अर्थात् ब्याज मिलाकर मूलधन के दो गुना से अधिक न होना। मनु का मत है कि 'कुसीद अर्थात् व्याज की वृद्धि द्विगुण ही हो सकती है'।[3] गौतम भी दो गुणा वृद्धि के ही पक्षधर हैं।[4] ऋण लेने पर कितना ही समय क्यों न व्यतीत हो जाय किंतु ब्याज के साथ मूलधन दो गुणा से अधिक नहीं हो सकता।[5] दामदुपट का नियम हिंदू ऋण विधि की एक शाखा है, जिसका उद्देश्य ब्याज को नियंत्रित करना है, जिससे कि देनदार को लेनदार के शोषण से बचाया जा सके। वस्तुतः व्याज ऋण का सबसे महत्वपूर्ण अंश है, जो ऋणी की तबाही का कारण बनता है। ऋण विधि में वृद्धि (ब्याज) पर नियंत्रण एक विकसित विधि दर्शन का परिचायक है। आज जब कि सम्पूर्ण विश्व की अर्थ-व्यवस्था ऋण पर आधृत है इस प्रकार के नियंत्रण की नितांत आवश्यकता है। इसे बैंक आदि ऋणों पर भी लागू किया जाना चाहिए और किसी भी दशा में मूलधन से अधिक व्याज लेना संसदीय विधि द्वारा निषिद्ध किया जाना चाहिए। ब्रिटिशकालीन न्यायालयों ने इसके औचित्य को समझने की चेष्टा की और दामदुपट के नियम को मान्यता प्रदान करते हुए कहा कि एक समय में ब्याज की वसूली मूलधन से अधिक नहीं हो सकती।[6] किंतु राजस्थान उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि

---

[1] अतो जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति किंतूपरतयोरितिज्ञापनार्थं मन्वादिवचनम्। दाय० 1/30, मनु के वचन 'अनीशास्ते ही जीवतोः' (9/104) की व्याख्या है।

[2] पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते॥ देवल, दाय० 1/18 में उद्धृत। जीमूतवाहन का मत देवल मनु० पर ही आधारित है।

[3] कुसीदवृद्धिद्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता॥ मनु० 8/151.

[4] चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य॥ गौत० ध० सू० 12/28.

[5] वृद्ध्या यावता कालेन द्विगुणं भवति ततः परं न भवति॥ गौ० ध० सू० 12/28 पर मस्करि-भाष्य।

[6] हरिराम **बनाम** मदन गोपाल, ए० आई० आर० 1929 पी० सी० 77.
बापूराब **बनाम** काशीनाथ, आई० एल० आर० (1946) नागपुर 407,

दामदुपट का नियम भारतीय संविधान अनुच्छेद 14 से प्रभावित होता है।[1] फिर भी अन्य किसी उच्च न्यायालय ने दामदुपट के नियम को भारतीय संविधान के उपबंधों के आधार पर आक्षेपित नहीं किया।[2]

उल्लेखनीय है कि प्रिवीकौंसिल ने ऊंचे ब्याज-दर को सदैव निरुत्साहित किया है, और यह अभिनिर्धारित किया है कि जब तक नितान्त आवश्यकता न रही हो, उच्च ब्याज दर के मामले में न्यायालय को हस्तक्षेप करने की शक्ति है, जिसके अधीन वह समुचित ब्याज दर निर्धारित कर सकता है।[3] यदि हिंदू संयुक्त कुटुंब के कर्ता द्वारा निष्पादित बंधक में ऊंचा ब्याज दर अंकित हो तो बंधकदार को उस आवश्यकता को सिद्ध करना होगा। जिसके कारण इतने ऊंचे दर पर उधार लिया गया।[3] प्रतिवादी को यह अधिकार प्राप्त है, कि वह यह सिद्ध कर सके कि ऋण पर लिया जाने वाला ब्याज अत्यधिक है और सामान्य व्यापारिक ब्याज दर से कहीं ऊंची दर है; फलस्वरूप कुटुंब पर आबद्धकर नहीं है।[4] ब्याज की दामदुपट विधि इन सभी समस्याओं का समाधान है और न्यायालय को मात्र इतना ही देखना होगा कि संचित ब्याज मूलधन से अधिक है या नहीं। ध्यातव्य है कि हिंदू दामदुपट विधि का उद्देश्य अधिक समय से चल रहे ऋण पर प्रोद्भूत होने वाले ब्याज को नियंत्रित करना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दो-तीन वर्षों में ही ऋण पर प्रोद्भूत होने वाला ब्याज मूलधन के बराबर हो जायेगा। यह संचित ब्याज की अधिकतम सीमा है, जो लम्बे काल तक चलने वाले ऋण के मामले में अनुमोदित है। इसका लाभ देनदार को मिलता है न कि लेनदार को यदि सामान्य व्यापारिक ब्याज दर से ब्याज का कुल प्रोद्भवन मूलधन से कम होता है, तो देनदार को उतनी ही धनराशि ब्याज के रूप में देय है न कि दामदुपट विधि के अनुसार मूलधन के बराबर।

ब्याज के भुगतान में दामदुपट विधि का प्रभाव

हिंदू दामदुपट विधि निम्नलिखित ऋण-संबंधी मामलों में लागू होती है :—

(1) **मूलधन का आंशिक भुगतान**—यदि मूलधन के एक अंश का भुगतान हो गया हो तो शेष मूलधन ही दामदुपट विधि के अन्तर्गत मान्य है। संचित ब्याज मात्र शेष मूलधन के ही बराबर होना चाहिए न कि पूरी ऋण धनराशि के बराबर।[5]

(2) **मूलधन और ब्याज का नवीकरण**—यदि ऋणी ऋणदाता की अनुमति से मूलधन और ब्याज को जोड़कर एक नये ऋण का रूप दे दे तो ऋण का भुगतान करते

---

1 शिवकरणसिंह **बनाम** दौलतराम ए० आई० आर० 1955 राजस्थान 201.

2 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स आफ हिंदू ला, उपबंध 596, पृ० 680.

3 रामबुझावनप्रसाद सिंह **बनाम** नाथूराम, 1923 पी० सी० 37 (पी० सी०), नजीर **बनाम** राव रघुनाथसिंह, 46 आई० ए० 145.

4 1923 पी० सी०, 37 (पी० सी०).

5 नौशेरवानजी **बनाम** लक्ष्मण आई० एल० आर० (1906) 30 मुम्बई 452.

समय नवीकृत मूलधन के बराबर ब्याज प्रोद्भूत होने पर दामदुपट विधि के अंतर्गत देय है।[1] वस्तुतः दामदुपट विधि मात्र वर्तमान मूलधन को ही देखती है।

ब्याज के भुगतान में दामदुपट विधि की निष्प्रभाविता

वाद संस्थिति के पश्चात् दामदुपट विधि का नियम ब्याज की गणना में निष्प्रभावी हो जाता है। दामदुपट विधि मात्र उस समय तक की ब्याज की धनराशि दृष्टिगत रखती है, जब-तक कि वाद संस्थित नहीं हुआ था। वाद संस्थिति के दिन से उगाही तक जो ब्याज प्रोद्भूत होता है, वह दामदुपट विधि की परिधि से बाहर होता है। दूसरे शब्दों में वाद के लम्बित रहते जो ब्याज प्रोद्भूत होता है, उसको जोड़ने पर यदि कुल ब्याज की धनराशि मूलधन से अधिक हो जाती है, तो दामदुपट विधि इसमें बाधक नहीं होगी और लेनदार डिक्री के निष्पादन द्वारा उसकी उगाही कर सकता है।[2] न्यायालय की यह भी शक्ति है कि वह कोई भी समुचित ब्याजदर वाद के लम्बन काल में स्वीकृत कर सकता है।[3]

डिक्री के निष्पादन में भी दामदुपट का नियम लागू नहीं होता।[4] इसका कारण यह है कि डिक्री के दिन से उसके निष्पादन के दिन तक ऋण पर जो ब्याज लगता है, वह निष्पादन न्यायालय की विषय-वस्तु होती है। इस प्रकार वादसंस्थिति के दिन से उगाही के दिन तक मूलधन से अधिक ब्याज की धनराशि हो सकती है और ब्याज की कुल धनराशि जो वस्तुतः उगाही जानी है, वह मूलधन से कई गुना अधिक हो सकती है।

दामदुपट विधि के क्षेत्र

दामदुपट विधि भूतपूर्व बम्बई राज्य[5] क्षेत्र, में कलकत्ता नगर,[6] बरार क्षेत्र[7] और भूतपूर्व मारवाड़ राज्य[8] क्षेत्र में लागू है। संथाल परगना में भी दामदुपट विधि संथाल परगना विनियम की धारा 6 के उपबंधों के अनुसार लागू है।[9] बरार और मारवाड़ में उन्हीं मामलों में लागू है, जिनमें लेनदार और देनदार दोनों ही पक्ष हिंदू हैं। उत्तर प्रदेश में इस विधि को उत्तर प्रदेश भारग्रस्त संपदा अधिनियम, 1934 और उत्तर प्रदेश ऋण-मोचन अधिनियम, 1940 के उपबंधों के अंतर्गत लागू किया गया था।

---

1 नवनीतदास बनाम गुरुधनदास, ए० आई० आर० 1955 मध्य भारत 113.
2 मजमूनदार हीरालाल बनाम नरसीलाल, आई० एल० आर० (1913) 37 मुम्बई 326,
3 अच्युत बनाम रामचन्द्र, ए० आई० आर० 1925 मुम्बई 362.
4 बालकृष्ण बनाम गोपाल, आई० एल० आर० (1875) मुम्बई 73.
5 नारायण बनाम सत्यजी, (1872) 9 बॉम्बे हाई कोर्ट रिर्पोट्र्स 83.
6 नवीनचन्द बनाम रमेशचन्द्र, आई० एल० आर० (1887) 14 कलकत्ता 781.
7 बापूराव बनाम अनंत, आई० एल० आर० (1946) नागपुर 407.
8 शिवकरणसिंह बनाम दौलतराम, ए० आई० आर० 1955, राजस्थान 20.
9 कुंजबिहारी बनाम तारापद, ए० आई० आर० 1919 पटना 324.

दामदुपट विधि के लाभ के दावे के हकदार व्यक्ति

इस विषय पर विभिन्न उच्च न्यायालयों के मतों में अंतर है, और संबंधित उच्च न्यायालय के न्यायक्षेत्र में आने वाले पक्षकार उसी उच्च न्यायालय के मत के अनुसार अपना दावा प्रस्तुत कर सकते हैं। इनके मतों का विवेचन नीचे किया जाता है :—

(1) कलकत्ता उच्च न्यायालय के मतानुसार दामदुपट विधि उन्हीं मामलों में लागू होती है, जिनमें मूल लेनदार और देनदार हिंदू हों।[1]

(2) बम्बई उच्च न्यायालय के मतानुसार यदि मूल ऋणी (देनदार) हिंदू हो, तो दामदुपट विधि का नियम लागू होता है। फलस्वरूप, यदि मूल ऋणी मुसलमान था और बाद में उस ऋण का अंतरण एक हिंदू को हो गया तो दामदुपट विधि लागू नहीं होती।[2] यदि एक ही ऋण में दो ऋणी हैं, जिनमें एक हिंदू है और दूसरा मुसलमान तो दामदुपट विधि हिंदू ऋणी के मामले में लागू होगी किंतु मुसलमान ऋणी इसके लाभ के दावे का हकदार नहीं होगा। फिर भी अहिंदू ऋणी उस अंश के लाभ का दावा प्रस्तुत करने का हकदार है जो उसने हिंदू ऋणी की ओर से भी वस्तुतः ऋणदाता को भुगतान कर दिया है।[3] यदि ऋणी हिंदू है और ऋणदाता मुसलमान तो दामदुपट विधि लागू होगी।[4]

दामदुपट विधि के अधीन आने वाले संव्यवहार

दामदुपट विधि प्रतिभूत और अप्रतिभूत ऋणों में लागू होने के साथ ही साथ उन ऋणों में भी लागू होती है, जिनमें किसी स्थावर सम्पत्ति को बंधक रखा गया है।[5]

किंतु भोगबंधक के मामले में दो प्रकार की स्थितियां उत्पन्न होती हैं :—

(1) प्रथम, वह जिसमें वार्षिक किराया या लगान और लाभ पक्षकारों द्वारा सुनिश्चित है और उनमें यह तय पाया गया है कि वह निश्चित धनराशि बंधकदार को व्याज के रूप में प्राप्त होती रहेगी, भले ही बंधकदार से वास्तविक किराया या लगान की धनराशि वसूल की जा सकती हो। इस प्रकार के मामले में बंधकदार से किराये और लाभ का कोई लेखा-जोखा नहीं लिया जाता और केवल यही देखा जाता है कि बंधकदार को मूलधन और व्याज के रूप में सामान्य ऋण की भांति कितनी धनराशि देय है। इस मामले में दामदुपट

---

[1] उमा बनाम श्रीवर नाथ, (1897)। सी० डब्ल्यू० एन० (संक्षिप्त टिप्पण) 178. नवीन चन्द्र बनाम रमेशचन्द्र आई० एल० आर० (1887) 14 कलकत्ता 781.

[2] हरिलाल बनाम नागर, आई० एल० आर० (1897) 21 मुम्बई 38.

[3] महामाया दासी बनाम अब्दुर्रहीम, ए० आई० आर० 1937 कलकत्ता 752.

[4] अलीसाहब बनाम शाहजी, आई० एल० आर० (1897) 21 मुम्बई 85.

[5] नारायण बनाम सत्यजी, (1872) 9 बोम्बे हाई कोर्ट रिपोर्टस 83.

विधि का नियम सामान्य ऋण की भांति लागू होगा ।[1]

(2) यदि बंधकदार और बंधककर्ता के बीच कोई धनराशि लाभ आदि के रूप में सुनिश्चित नहीं हुई हो तो बंधदार को बंधक रखी गई सम्पत्ति से होने वाले लाभ का लेखा प्रस्तुत करना होगा कि वस्तुतः उसने उससे कितना लाभ अर्जित किया । इस प्रकार के मामले में बंधकदार लाभादि के प्रति बंधककर्ता को दायी होने के नाते दामदुपट विधि लागू नहीं होती ।[2]

□□□

[1] सुन्दरबाई **बनाम** जयवन्त, आई० एल० आर० (1900) 24 मुम्बई 114.

[2] गोपाल **बनाम** गंगाराम, आई० एल० आर० (1896) 20 मुम्बई 72.

अध्याय 12

दत्तक–ग्रहण

पुत्र के प्रयोजन

हिंदू विधि में पुत्र का स्थान अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पुत्र निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए प्राप्त किया जाता है—

(1) पितृ-ऋण का उंमोचन[1], (2) पुत् नामक नरक से त्राण[2], (3) पिता को अमरता प्रदान[3], (4) वंशक्रम की अक्षुण्णता[4], (5) लौकिक ऋण का उंमोचन[5], (6) पिंडदान[6], (7) स्वर्ग की प्राप्ति[7], (8) यज्ञ-याजन[8], (9) सामाजिक कार्य संपादन[9], (10) वृद्धावस्था में भरण-पोषण।[10]

इन प्रयोजनों में पिता को 'पुत्' नामक नरक से मुक्त करना अधिक महत्वपूर्ण है, जिससे सुत को पुत्र कहा जाता है। बमन पुराण के अनुसार पुत् वह नरक है जो पर-स्त्री की कामना, सत्य के प्रति ईर्ष्या, तथा निन्दित एवं उदंड व्यवहार करने से प्राप्त होता है।[11] पुत्र के यज्ञादि कर्मों से पिता के इन पापों का निवारण होता है।[12] पिता के पापों का निवारण

---

[1] पितृणामनृणश्चैव। मनु० 9/106.
यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते। मनु० 9/107.

[2] पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। मनु० 9/138.
पुन्नाम्नो नरकात् त्राति पुत्रस्तेनेहगीयते। वाम० पुरा० 60/77.

[3] प्रजामिग्ने अमृत्वमश्याम। ऋ० 5/4/10.

[4] ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः। मनु० 9/106.
सन्तानार्थं च मानवाः। मनु० 9/96.

[5] ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं देयं पुत्रैर्विभावितम्। बृह० याज्ञ० 2/50 की मिता० टीकामें उद्धृत।

[6] पितायस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः।
पितुः स नाम संकीर्त्यकीर्तयेपितामहम्॥ मनु० 3/221.

[7] पुत्रेण लोकान्नजयति। मनु० 9/137.

[8] पाञ्चयज्ञिकमन्वहम्। मनु० 3/281.

[9] दातारो नोऽभिवर्धन्ता वेदाः संततिरेव च। मनु० 3/259.

[10] वृद्धौ च माता पितरौ साध्वीभाषी शिशुः सुतः अप्यकर्मशर्तं कृत्वा भर्त्तव्याः मनुरब्रवीत्। मनु० 11/10. के पश्चात्

[11] इच्छा च परदारेषु नरकाय निगद्यते।
ईर्ष्याभावश्च सत्येषु उद्वृत्तं तु विर्गहितम्॥ वाम० पु० 61/17.

[12] पुन्नामनरकं घोरं विनाशयति सर्वतः॥ वाम० पु० 61/19.

औरस पुत्र से सम्भव है। औरस पुत्र के अभाव में प्रतिनिधि पुत्र की कल्पना भी की गई है। यह हिंदू विधि में एक ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था है जो विश्व का अन्य विधिशास्त्र नहीं कर सका। मनु के अनुसार यदि प्रतिनिधि पुत्र न बनाये जायें तो विद्वानों की क्रियाएं नष्ट हो जायेंगी।[1] बृहस्पति ने इसे अन्य प्रकार से समझाते हुए कहा है कि जिस प्रकार घी के अभाव में तेल का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार औरस पुत्र या पुत्रिका-पुत्र या पुत्रिका-पुत्र के अभाव की पूर्ति अन्य ग्यारह प्रकार के प्रतिनिधि पुत्रों से की जाती है।[2]

हिंदू विधि में मुख्यतया तीन प्रकार के पुत्रों को मान्यता दी गई है, यथा-औरस, क्षेत्रज और दत्तक। औरस सवर्ण या सजातीय विवाहित माता-पिता का पुत्र होता है, क्षेत्रज नियोग विधि से प्राप्त पुत्र होता है और दत्तक अन्य माता-पिता का औरस पुत्र होता है, जिसे दत्तक-ग्रहण द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस अध्याय का मूल विषय दत्तक-ग्रहण ही है। किंतु अध्ययन की दृष्टि से अन्य प्रतिनिधि पुत्रों की जानकारी आवश्यक होने के कारण उनके प्रकारों का संक्षिप्त विवेचन यहां किया जाएगा।

पुत्रों के प्रकार

शास्त्रों में क्षेत्रज और दत्तक पुत्रों की प्राप्ति के अनेक ढंग बताये गये हैं, जिनके परिणामस्वरूप वैकल्पिक पुत्रों की संख्या बारह हो गई है। शास्त्रीय हिंदू विधि द्वारा प्रतिपादित तेरह प्रकार के पुत्र निम्नलिखित हैं :—

(1) **औरस**—अपने वर्ण या जाति की विवाहिता पत्नी से स्वयं पति द्वारा उत्पन्न पुत्र औरस कहलाता है।[3]

(2) **क्षेत्रज**—मृत, नपुंसक या असाध्य रोगी पुरुष की पत्नी जब नियोग विधि द्वारा अर्थात् अन्य पुरुष से शास्त्रों में बतायी हुई विधि के अनुसार संपर्क करके अपने पति के लिए पुत्र प्राप्त करती है, तब ऐसे प्राप्त पुत्र को क्षेत्रज पुत्र कहते हैं।[4]

(3) **दत्तक पुत्र**—औरस पुत्र के जनक जब जल से संकल्प करके उसे किसी अन्य पुरुष को दान रूप में देते हैं, और वह पुरुष उसे ग्रहण करता है, तब उस पुत्र

---

1 पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः। मनु० 9/180.

2 आज्यं विना यथा तैलं सद्भिः प्रतिनिधि स्मृतः।
तथैकादशपुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना॥ बृह०, व्य० नि०, पृ० 439 में उद्धृत।

3 स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥ मनु० 9/166.
सवर्णा धर्मविवाहोढा धर्मपत्नी तस्यां जातः औरसः पुत्रो मुख्यः॥ याज्ञ० 2/128 की मिता० टीका।

4 यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीवस्य व्याधितस्य वा।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥ मनु० 9/167

को दत्तक अर्थात् दिया हुआ पुत्र कहते हैं ।[1]

(4) **पुत्रिका पुत्र**—औरस पुत्र के अभाव में वंश क्रम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पुत्री के पुत्र को ग्रहण करना पुत्रिका पुत्र कहलाता है ।[2] इसके लिए पुत्री के विवाह के समय ही पिता यह घोषित करता है कि इससे उत्पन्न प्रथम पुत्र मेरी (वधू के पिता की) संतति होगा ।[3]

(5) **कृत्रिम पुत्र**—जब कोई पुरुष किसी समान जाति या वर्ण के बालक को अपना पुत्र बना लेता है तब उसे कृत्रिम अर्थात् बनाया हुआ पुत्र कहते हैं ।[4]

(6) **क्रीत पुत्र**—किसी व्यक्ति को मूल्य देकर उसके औरस पुत्र को क्रय कर के प्राप्त पुत्र क्रीत पुत्र कहलाता है ।[5]

(7) **अपविद्ध पुत्र**—जनकों द्वारा त्याग दिए गए पुत्र का यदि कोई व्यक्ति पालन-पोषण करे तो उस पालक का वह अपविद्ध पुत्र कहलाता है ।[6]

(8) **स्वयंदत्त पुत्र**—कोई अनाथ बालक स्वयं जब किसी व्यक्ति का पुत्र बन जाता है, तब वह उस ग्रहणकर्त्ता व्यक्ति का स्वयंदत्त अर्थात् स्वयं दिया हुआ पुत्र कहलाता है ।[7]

(9) **कानीन पुत्र**—किसी कुमारी कन्या से उसी के घर में उत्पन्न पुत्र कानीन कहलाता है और वह अपनी माता से विवाह करने वाले पुरुष का पुत्र होता है ।[8]

---

1 माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ।। मनु० 9/168.

2 अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ।। मनु० 9/127.

3 अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ।। मनु० 9/127 के पश्चात् का श्लोक ।

4 सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषो विचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ।। मनु० 9/169.

5 क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ।। मनु० 9/174.

6 माता पितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ।। मनु० 9/171.

7 मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ।। मनु० 9/177.

8 पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ।। मनु० 9/172.

(10) **गूढ़ज पुत्र**—पतिगृह में ही जब किसी स्त्री को गूढ़ रूप से पुत्र उत्पन्न होता तब उसे गूढ़ज पुत्र कहते हैं और यह उसी व्यक्ति का पुत्र माना जाता है जिसकी पत्नी से उत्पन्न होता है ।[1]

(11) **सहोढ़ पुत्र**—गर्भवती कन्या से विवाह करने पर उससे उत्पन्न पुत्र उस व्यक्ति का सहोढ़ पुत्र कहलाता है, क्योंकि यह उसकी पत्नी द्वारा साथ लाया गया है ।[2]

(12) **पौनर्भव**—किसी स्त्री का पुर्नविवाह 'पुनर्भू' कहलाता है । पुनर्भू स्त्री से विवाह करने पर उससे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे पौनर्भव कहते हैं ।[3]

(13) **पारशव या शौद्र**—यदि कामवश ब्राह्मण शूद्रा पत्नी से पुत्र उत्पन्न करे तो उसे पारशव[4] या शौद्र कहते हैं । यह अनुलोम विवाह का परिणाम है ।

उपर्युक्त प्रकार के पुत्रों में से कानीन, गूढ़ज तथा सहोढ़ किसी न किसी रूप में क्षेत्रज पुत्र हैं और पुत्रिका-पुत्र, कृत्रिम, क्रीत, अपविद्ध तथा स्वयंदत्त विभिन्न परिस्थितियों में दत्तक पुत्र के सदृश है । पौनर्भव और पारशव माता-पिता के विधिमान्य विवाह के परिणाम स्वरूप उत्पन्न संतति होने के कारण औरस पुत्र की श्रेणी में आते हैं ।

संप्रति वर्तमान हिंदू विधि प्राचीन अथवा संहिताकृत में दो ही प्रकार के पुत्र अर्थात् औरस और दत्तक सामान्यतया मान्यताप्राप्त हैं । अपवाद-स्वरूप मिथिला में कृत्रिम पुत्र और मालाबार के नम्बूदिरीपाद ब्राह्मणों में पुत्रिका-पुत्र भी प्रचलित हैं ।

दत्तक-ग्रहण

दत्तक-ग्रहण का अर्थ—प्राचीन हिंदू विधि में दत्तक ग्रहण का अर्थ है किसी सगोत्र व्यक्ति के औरस पुत्र को अपने पुत्र के रूप में अंगीकार करना । दत्तक-ग्रहण के मूल तत्व हैं, दान तथा ग्रहण । 'दत्तक' का अर्थ है 'दिया हुआ' अर्थात् 'प्रदत्त' और 'ग्रहण' का अर्थ है अंगीकार करना । दत्तक-ग्रहण में दोनों ही तत्व विद्यमान होने चाहिए । औरस पुत्र के पिता द्वारा उसका दान इस आशय से किया जाना चाहिए कि वह ग्रहण करने वाले का पुत्र होगा और लेने वाले व्यक्ति द्वारा उसे पुत्र के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए । मनु ने दत्तक ग्रहण की परिभाषा इस प्रकार की है :—

---

[1] उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ मनु० 9/170.

[2] या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ मनु० 9/173.

[3] उत्पादयेत्पुनर्भुत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ मनु० 9/175.

[4] यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ मनु० 9/178.

"माता-पिता द्वारा हाथ में जल लेकर प्रीतिपूर्वक दिया हुआ जो बालक पिता के ही गोत्र का या सपिण्ड है, उसे दत्तक पुत्र जानना चाहिए[1] ।" मिताक्षरा ने दत्तक ग्रहण की परिभाषा इस प्रकार की है :—

यदि पिता या पिता की अनुमति से माता या पिता के विदेश में होने या मरने पर माता या माता पिता दोनों अपने पुत्र को किसी अपने सवर्ण को दे दें तो वह पाने वाले का दत्तक पुत्र कहलाता है[2] ।"

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 में दत्तक-ग्रहण की कोई परिभाषा न दिये जाने से प्राचीन विधि में दी गई परिभाषा आज भी महत्वपूर्ण है ।

दत्तक-ग्रहण का उद्देश्य

हिंदू विधि में औरस पुत्र से जो अपेक्षाएं की जाती हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । वे सभी अपेक्षाएँ दत्तक से भी की जाती हैं । पुत्र के प्रयोजनों को दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम, आध्यात्मिक लाभ, और द्वितीय, लौकिक लाभ । दत्तक-ग्रहण के भी यही दो प्रमुख उद्देश्य हैं । हिंदुओं में दत्तक-ग्रहण का उद्देश्य मात्र वंशपरंपरा की शाश्वतता ही नहीं है, अपितु दत्तक पिता और उसके पितरों के पारलौकिक हित की रक्षा करना भी है ।[3] प्रिवी कौंसिल ने भी दत्तक ग्रहण के उद्देश्यों में पारलौकिक-हित जिसमें दत्तक पिता और उसके पूर्वजों को जल-तर्पण और पिण्डदान सम्मिलित है और वारिस प्राप्त करना तथा दत्तक पिता के नाम को बनाये रखना अधिकथित किया है[4] । उच्चतम न्यायालय ने प्रिवी कौंसिल के निर्णयों से सहमति व्यक्त करते हुए यह अधिकथित किया है कि दत्तक-ग्रहण की विधिमान्यता का अवधारण पारलौकिक हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए न कि सम्पत्ति के न्यागमन जैसे ऐहिक तथा गौण महत्त्व के प्रतिफलों की दृष्टि से ।[5]

दत्तक-ग्रहण की प्रकृति

दत्तक एक प्रकार का दान है जिसमें पिता द्वारा पुत्र का दान एक ऐसे व्यक्ति को किया जाता है जिसे संतान का अभाव होता है और जो इसकी पूर्ति दत्तक-ग्रहण द्वारा करना चाहता है । यद्यपि कन्यादान और पुत्रदान दोनों ही समानस्तर के दान हैं और दोनों ही दान हाथ में जल लेकर किए जाते हैं तथापि पहला एक प्रकार का संस्कार है और दूसरा पुत्र-प्रतिग्रह की एक प्रक्रिया । यह एक प्रकार की विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से एक व्यक्ति अपने पुत्र को दूसरे का पुत्र बनाता है । पुत्रच्छाया तथा दत्तहोम आदि कर्म पुत्र को इस हेतु संस्कारित करने के लिए ही किये जाते हैं ।

---

[1] माता पिता गा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ।। मनु० 9/168.

[2] मात्रा भर्त्रनुज्ञया प्रोषिते प्रेते वा भर्तरिपित्रा वोभाभ्यां वा सवर्णाय यस्मै दीयते स तस्य दत्तकः पुत्रः । याज्ञ० 2/130 के उत्तरार्ध की मिता० टीका ।

[3] कुमुन्दबंधु शाह **बनाम** रमेशचंद्र शाहा, 49 आई० सी० 609.

[4] बाल गंगाधर तिलक **बनाम** श्रीनिवास, (1915) 42 आई० ए० 135.

[5] चंद्रशेखर **बनाम** कुलंदेवेलु, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 185.

विधिमान्य दत्तक संबंधी अपेक्षाएं

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 6 के अनुसार कोई भी दत्तक विधिमान्य नहीं होगा जब तक कि :—

(1) दत्तक लेने वाला व्यक्ति दत्तक लेने की सामर्थ्य और अधिकार न रखता हो,

(2) दत्तक देने वाला व्यक्ति ऐसा करने की सामर्थ्य न रखता हो,

(3) दत्तक व्यक्ति दत्तक लिये जाने योग्य न हो, और

(4) दत्तक इस अध्याय में वर्णित अन्य शर्तों के अनुवर्तन में न किया गया हो।

इस खण्ड का आशय इस अधिनियम की धारा 11 और 17 में उपबंधित शर्तों से है। धारा 11 के अनुसार हर दत्तक में निम्नलिखित शर्तें पूरी की जानी होंगी :—

(i) यदि पुत्र का दत्तक है तो दत्तक लेने वाले पिता या माता का, जिनके द्वारा दत्तक लिया जाए, कोई हिंदू पुत्र, पुत्र का पुत्र या पुत्र के पुत्र का पुत्र (चाहे धर्मज रक्त नातेदारी से हो या दत्तक से) दत्तक के समय जीवित न हो;

(ii) यदि पुत्री का दत्तक है तो दत्तक लेने वाले पिता या माता का, जिनके द्वारा दत्तक लिया जाय, कोई हिंदू पुत्री या पुत्र की पुत्री (चाहे धर्मज-रक्त नातेदारी से हो या दत्तक से) दत्तक के समय जीवित न हो,

(iii) यदि दत्तक किसी पुरुष द्वारा लिया जाना है और दत्तक में लिया जाने वाला व्यक्ति नारी है तो दत्तक पिता दत्तक लिए जाने वाले व्यक्ति से आयु में कम से कम इक्कीस वर्ष बड़ा हो,

(iv) यदि दत्तक किसी नारी द्वारा लिया जाना है और दत्तक लिया जाने वाला व्यक्ति पुरुष है, तो दत्तक माता दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति से आयु में कम से कम इक्कीस वर्ष बड़ी हो;

(v) एक ही अपत्य एक साथ दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा दत्तक नहीं लिया जा सकेगा;

(vi) दत्तक लिया जाने वाला अपत्य सम्पृक्त जनकों या संरक्षक द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन उस अपत्य के कुटुम्ब से जहां वह जन्मा हो अथवा परित्यक्त अपत्य की दशा में या ऐसे अपत्य की दशा में जिसकी जनकता ज्ञात न हो, उस स्थान या कुटुम्ब से जहाँ वह पला हो, उसका दत्तक लेने वाले कुटुम्ब में उसे अंतरित करने के आशय से वस्तुतः दिया या लिया जायगा।

धारा 17 की उपधारा (1) के अनुसार निम्नलिखित शर्तं पूरी होनी है :—

किसी व्यक्ति के दत्तक के प्रतिफल स्वरूप कोई भी व्यक्ति कोई संदाय या अन्य इनाम न तो प्राप्त करेगा और न प्राप्त करने के लिए, करार करेगा और न ही कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को कोई ऐसा संदाय करेगा या इनाम देगा या करने या देने के लिए करार करेगा जिसका प्राप्त करना इस धारा द्वारा प्रतिषिद्ध है।

दत्तक लेने वाले व्यक्ति की सामर्थ्य और अधिकार

(1) पुरुष—प्राचीन हिंदू विधि के अधीन पुरुष को ही दत्तक लेने की सामर्थ्य और अधिकार है। पत्नी को भी पति के लिए दत्तक लेने का अधिकार है किंतु उसे यह अधिकार पति से प्राप्त करना होता है। पत्नी को पति के जीवन काल में दत्तक लेने की सामर्थ्य नहीं है अपवाद स्वरूप वह पति की अनुमति से उसके लिए ही ऐसा कर सकती है।[1] उसे अपने लिए दत्तक लेने का कोई अधिकार पति की अनुमति से भी नहीं है। यदि कोई स्त्री प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार अपने लिए दत्तक लेती है तो वह अविधि मान्य है।[2] उच्चतम न्यायालय ने कस्तूरी बनाम पन्नाम्माल[3] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि 'पत्नी पति के लिए दत्तक ले सकती है और पति यदि अपने जीवन काल में दत्तक लेता है तो वह उसके साथ संयुक्त रही होगी। ऐसे मामले में पत्नी 'प्रतिग्रहीतृमाता' कहलाती है। यद्यपि साहित्यिक अर्थों में ऐसे दत्तक-ग्रहण को संयुक्त दत्तक कह सकते हैं तथापि पत्नी का यह दत्तक उसके अपने लिए न होकर पति के लिए होता है।' इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिंदू विधि में पुरुष ही दत्तक लेने के लिए समर्थ हैं।

प्राचीन हिंदू विधि के अधीन कोई हिंदू, जो स्वस्थ चित्त[4] और विवेक के प्रयोग की आयु प्राप्त कर चुका हो, जो सामान्यतया पंद्रह वर्ष है,[5] भले ही वह अवयस्क हो[6], दत्तक ले सकता है और उसके द्वारा किया गया दत्तक-ग्रहण विधिमान्य होगा, परंतु दत्तक लेते समय उसके कोई औरस या दत्तक पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र जीवित नहीं होने चाहिए।[7] यदि दत्तक लेने वाला पुरुष अविवाहित या विधुर है, या उसकी पत्नी (दत्तक-ग्रहण के लिए अपनी सम्मति नहीं देती या दत्तक-ग्रहण के समय पत्नी गर्भवती थी, जिसकी जानकारी उसे थी तो भी इससे उसके दत्तक-ग्रहण की शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता[8] किसी हिंदू पुरुष की यह निर्बाध शक्ति है कि वह अपने और अपने पूर्वजों के पारलौकिक लाभ हेतु पुरुष वंशज के अभाव में पुत्र प्रतिनिधि दत्तक पुत्र के रूप में प्राप्त कर सकता है।

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 7 के उपबंधों में भी प्राप्तवय और स्वस्थ चित्त हिंदू पुरुष की दत्तक-ग्रहण की उक्त शक्ति को संरक्षित रखा गया

---

[1] नारायण बनाम नान (1870) 7 बोम्बे हाई कोर्ट रिपोर्टस 153.
[2] चौधरी पद्मसिंह बनाम कुँअर उदयसिंह, (1869) 12 एम० आई० ए० 350.
[3] ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1302.
[4] तायाम्माल बनाम शेषाचला, (1865) 10 एम० आई० ए० 429.
[5] सत्तिराजु बनाम वेंकट स्वामी, ए० आई० आर० 1918 मद्रास 1072.
[6] यमुनादासी बनाम वामसुन्दरी, 3 आई० ए० 72.
[7] गोपीलाल बनाम चंद्रावली, (1872) आई० ए० (सप्लीमेंट) 131.
[8] गुरुम्मा बनाम मल्लपा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 510.

है, किंतु उस पर परंतुक द्वारा यह निर्बन्धन लगा दिया गया है कि यदि पत्नी जीवित हो तो जब तक कि पत्नी पूर्ण या अन्तिम रूप से संसार का त्याग न कर चुकी हो या वह हिंदू न रह गई हो या सक्षम अधिकारिता वाले किसी न्यायालय ने उसके बारे में यह घोषित न कर दिया हो कि वह विकृतचित्त की है तब तक वह अपनी पत्नी की सम्मति के बिना दत्तक नहीं लेगा। इस धारा के स्पष्टीकरण द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि किसी व्यक्ति की एक से अधिक पत्नियाँ दत्तक के समय जीवित हों तो जब तक कि पूर्ववर्ती परंतुक में विनिर्दिष्ट कारणों में से किसी के लिए उनमें से किसी की सम्मति अनावश्यक न हो, सब पत्नियों की संमति आवश्यक होगी।

इस प्रकार संहिताकृत दत्तक हिंदू विधि में अब पुरुष की दत्तक-ग्रहण की शक्ति निर्बाध नहीं रह गई है। उसे दत्तक लेते समय यथास्थिति पत्नी या पत्नियों की सम्मति लेनी आवश्यक हो गई है। दत्तक-ग्रहण तभी विधिमान्य होगा। धारा 7 के उपबंधों के अधीन पत्नी की सम्मति अभिव्यक्त या विवक्षित किसी भी प्रकार की हो सकती है। यदि दत्तक-ग्रहण दत्तहोम या अन्य गृह्यकर्म द्वारा अनुष्ठापित किया जाता है, जिसमें पत्नी पति के साथ बैठती है तो ऐसे मामलों में पत्नी की संमति की सामान्य विधि लागू होगी जो बल या कपट से प्राप्त नहीं होनी चाहिए।

दत्तक के मामले में वयः प्राप्ति की आयु हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 7 में सामान्य कर दी गई है। अब विवेकशीलता की आयु प्राप्त कर लेने पर भी अवयस्क होने पर दत्तक नहीं लिया जा सकता। दत्तक लेने वाले व्यक्ति को प्राप्तवय होना आवश्यक है जिसकी आयु हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम के उपबंधों के अनुसार 18 वर्ष है। इस प्रकार जिस व्यक्ति की आयु अठारह वर्ष पूरी हो चुकी है, वही दत्तक ले सकता है।

दत्तक लेने वाले पुरुष को अब यह शर्त भी इस अधिनियम की धारा 11 खंड (iii) के अधीन पूरी करनी होगी कि यदि वह पुत्री का दत्तक ले तो उसे कम से कम उससे इक्कीस वर्ष बड़ा होना चाहिए।

(2) **स्त्री द्वारा दत्तक-ग्रहण**—हिंदू विधि में तीन प्रकार की स्त्रियां अवस्था भेद के कारण होती हैं—विवाहिता, अविवाहिता और विधवा। दत्तक-ग्रहण के मामले में इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के सामर्थ्य और अधिकार भिन्न-भिन्न हैं। अतएव इनके सामर्थ्य और अधिकार का विवेचन पृथक्-पृथक् किया जाएगा।

(क) **विवाहिता स्त्री द्वारा दत्तक-ग्रहण**—प्राचीन हिंदू विधि के अधीन कोई विवाहिता स्त्री अपने पति के जीवन काल में बिना उसकी अभिव्यक्त सम्मति के पुत्र का दत्तक-ग्रहण नहीं कर सकती।[1] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिंदू दर्शन की यह एक विशिष्ट धारणा है कि पुत्र पति का ही प्रतिबिम्ब होता है।[2] इस धारणा के अनुसार बिम्ब

---

[1] नारायण **बनाम** नाना, (1970) 7 बोम्बे हाई कोट रिपोर्ट्स 153.

[2] यथैवात्मा तथा पुत्रः। मनु० 9/130.

अयं जायते स्वयं। याज्ञ० 1/56.

(पति) ही प्रतिबिम्ब का अधिकारी है और उसी में यह सामर्थ्य है कि वह अपना प्रतिनिधि प्राप्त कर सके। यही कारण है कि पत्नी पति का अर्धांश होते हुए भी हिंदू विधि में पुत्र प्राप्ति के लिए सामर्थ्यहीन मानी गई है। यदि पुत्र या अपत्य को पत्नी का प्रति बिम्ब माना गया होता तो पत्नी को भी यह स्वतंत्र अधिकार या सामर्थ्य प्राप्त हो गया होता।

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 8 के खण्ड (ग) के अनुसार विवाहिता स्त्री, दत्तक लेने की सामर्थ्य केवल तभी रखती है जब उसका पति जीवितन हो या जब विवाह विघटित हो गया हो, या उसका पति संसार का त्याग अंतिम रूप से कर चुका हो, या जब वह हिंदू न रह गया हो और या उसे किसी सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा विकृत चित्त घोषित किया गया हो, अन्यथा नहीं।[1] इस प्रकार प्राचीन हिंदू विधि में एक विवाहिता स्त्री को दत्तक लेने की जो सामर्थ्य पति की अभिव्यक्त सम्मति से पति के जीवन काल में प्राप्त थी वह अब समाप्त हो गयी है। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 8(ग) के अनुसार अब केवल वह स्त्री दत्तक ग्रहण कर सकती है जो स्वस्थ चित्त और प्राप्तवय होने के अतिरिक्त अविवाहित हो; यदि विवाहित रही हो तो विवाह विघटन हो गया हो। यदि विघटन न हुआ हो तो पति मर चुका हो, यदि पति जीवित हो तो अंतिम रूप से संसार का त्याग कर चुका हो या हिंदू ही न रह गया हो अथवा सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय ने उसके बारे में घोषित कर दिया हो कि वह विकृत चित्त है। इन शर्तों को पूरी किये बिना कोई नारी पुत्र या पुत्री का दत्तक-ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं रखती। यों एक ओर जहां उसकी सामर्थ्य में कमी आई है वहां उसकी सामर्थ्य में उसी धारा के अधीन वृद्धि भी हुई है और वह उक्त दशाओं में बिना पति की अनुमति के पुत्र या पुत्री दत्तक ले सकती है। जिन दशाओं में विवाहिता स्त्री को पति के जीवन काल में दत्तक लेने की सामर्थ्य धारा 8 के द्वारा प्रदान की गयी है वे दशाएं सामान्य अर्थों में विधवा के ही वर्ग की परिस्थितियों में मानी जा सकती हैं।

धारा 8 का पाठ धारा 6(1) के साथ किया जाना चाहिए क्योंकि उसमें दत्तक लेने वाले व्यक्ति के सामर्थ्य और अधिकार का उल्लेख है जो इस अधिनियम के विभिन्न उपबंधों द्वारा उसे प्रदत्त हैं। इस अधिनियम की धारा 11 के खण्ड (i) और (ii) के अनुसार भी कोई विवाहिता नारी जो धारा 8(ग) में वर्णित दशाओं में आती है, अपने सामर्थ्य और अधिकार से दत्तक ले सकती है। उसे उक्त दशाओं में दत्तक लेने के लिए पति की पूर्व अनुमति की आवश्यकता नहीं रह गई है।

(ख) **अविवाहिता स्त्री द्वारा दत्तक-ग्रहण**—प्राचीन हिंदू विधि के अधीन किसी अविवाहिता स्त्री को दत्तक लेने के लिए कोई सामर्थ्य या अधिकार नहीं है।[2] इसका कारण यह है कि दत्तक-ग्रहण पति के लिए ही होता है और जिस स्त्री का विवाह नहीं हुआ है वह

---

1 दशरथ **बनाम** पाण्डु (1976) 78 बाम्बे ला रिपोर्टर 426.

2 अशोक नायडु **बनाम** रेमण्ड एस० मुल्लु, ए० आई० आर० 1976 कलकत्ता 272.

अपवाद रूप में भी दत्तक नहीं ले सकती। जिन परिस्थितियों में विवाहिता स्त्री को पति के न रहने पर दत्तक लेने का अधिकार मिला है वह पति के द्वारा है, अपनी सामर्थ्य से नहीं। अतः जिस स्त्री के पति हुआ ही नहीं उसे यह अधिकार अंतरित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

पर अब हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 8 के खंड (ग) के अनुसार कोई स्वस्थचित्त और प्राप्तवय अविवाहिता हिंदू नारी पुत्र या पुत्री को दत्तक लेने की सामर्थ्य रखती है। इस प्रकार खंड (ग) के द्वारा अब अविवाहिता हिंदू स्त्री को पुत्र या पुत्री को दत्तक लेने की सामर्थ्य स्पष्टतः प्राप्त हो गयी है। अब वह अपनी सामर्थ्य से दत्तक ले सकती है। उसकी यह सामर्थ्य संपूर्ण है। उसके द्वारा लिया गया दत्तक पुत्र या ली गयी पुत्री उसी के लिए होंगे। इतना ही नहीं अविवाहिता हिंदू स्त्री को अब पुत्र और पुत्री, दोनों को दत्तक लेने की सामर्थ्य प्राप्त हो गयी है। परंतु उसे इस अधिनियम की धारा 11 के खंड (iv) की यह शर्त पूरी करनी होगी कि यदि दत्तक लिया जाने वाला व्यक्ति पुरुष है, तो दस्तक माता दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति से आयु में कम से कम इक्कीस वर्ष बड़ी हो। यदि वह पुत्री दत्तक लेती है, तो आयु में इक्कीस वर्ष बड़ा होना आवश्यक नहीं है। किंतु दत्तक विधि के सामान्य नियम के अनुसार किसी अविवाहिता स्त्री द्वारा जिस पुत्री को दत्तक लिया जा रहा है, उसकी आयु उससे इतनी कम होनी चाहिए कि दोनों परस्पर माता-पुत्री प्रतीत हों।

(ग) विधवा द्वारा दत्तक-ग्रहण—प्राचीन हिंदू विधि में विधवा द्वारा दत्तक-ग्रहण की अति जटिल विधि है। ब्रिटिश काल में दत्तक-ग्रहण के मामले में अधिक विवाद विधवा की सामर्थ्य से संबंधित ही उठते रहे। उस काल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में, शास्त्रों में मतैक्य न होने के कारण, विधवा के दत्तक-ग्रहण की विधि विकसित हुई।[1] विधवा में दत्तक लेने की सामर्थ्य पति से प्राप्त प्राधिकार के द्वारा आती थी जिसका विवेचन हिंदू विधि की शाखा के अनुसार नीचे किया जा रहा है :—

(1) **मिथिला शाखा**—मिथिला शाखा में विधवा हिंदू स्त्री पति से अभिव्यक्त प्राधिकार प्राप्त करने पर भी दत्तक नहीं ले सकती थी।[2]

(2) **बंगाल तथा वाराणसी शाखाएं**—इन दोनों ही शाखाओं में विधवा को पति से इस बारे में प्राप्त प्राधिकार के अधीन दत्तक लेने की सामर्थ्य थी।[3]

(3) **मद्रास शाखा**—हिंदू विधि की मद्रास शाखा में पति के अभिव्यक्त या

---

[1] जिलाधिकारी मदुरै **बनाम** मुत्तु रामलिंग, (1868) 12 एम० आई० ए० 397.

[2] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ, उपबंध 452 (1) पृष्ठ 571.

[3] अशोक नायडु **बनाम** रेमण्ड एस० मुल०, ए० आई० आर० 1976 कलकत्ता 272 (बंगाल), मोतीसिंह **बनाम** दुर्गाबाई, ए० आई० आर० 1929 मुम्बई 57 (वाराणसी).

विवक्षित प्राधिकार द्वारा हिंदू विधवा दत्तक ले सकती थी ।[1] किंतु यदि विधवा पति की मृत्यु के समय उससे पृथक् रहती थी तो वह सपिण्ड नातेदारों[2] की सम्मति से और यदि पति की मृत्यु के समय उसके साथ रहती थी तो अविभक्त सहदायिकों[3] की सम्मति से दत्तक ले सकती थी । किंतु यदि पति ने अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से दत्तक लेने के लिए पत्नी को प्रतिषिद्ध कर दिया था तो वह पति की मृत्यु के पश्चात् दत्तक नहीं ले सकती थी । सपिंड नातेदारों अथवा सहदायिकों की सम्मति पति के प्राधिकार का प्रतिस्थापन माना जाता था और हिंदू विधि अपेक्षा करती थी कि इस प्रकार की संमति विधवा के नैसर्गिक परामर्शदाताओं और संरक्षकों से प्राप्त की जाए । इसलिए प्रथम दृष्ट्या उनसे प्राप्त करने का प्रयास किया जाए जो उत्तराधिकारक्रम में निकटतम हैं । यदि निकटतम उत्तराधिकारी अनुचित हेतु से अनुमति विधारित कर ले तो विधवा दूरस्थ सपिण्डों की अनुमति प्राप्त कर सकती थी किंतु उसे ऐसा करने से पूर्व निकटतम सपिण्डों से परामर्श अवश्य करना चाहिए भले ही वे उससे शत्रुवत् व्यवहार करते हों ।[4]

यदि किसी हिंदू की निःसंतान मृत्यु होने पर उसकी एक से अधिक विधवाएं हों तो पति के किसी निदेश के अभाव में सर्वप्रथम ज्येष्ठ विधवा को ही दत्तक-ग्रहण का अधिकार था । यह नियम शूद्रों को भी लागू होता है । ज्येष्ठ विधवा पति से पृथक् निवास करने पर भी अपना अधिमानी अधिकार तब तक नहीं खो देती है जब तक कि कोई सबूत जारकर्म या अवचार का न हो ।[5] कनिष्ठ विधवा द्वारा लिया गया दत्तक, भले ही वह सपिण्डों की अनुमति से क्यों न हो, ज्येष्ठ विधवा की अनुमति के अभाव में अविधिमान्य होगा क्योंकि सह-विधवा एक सपिण्ड है, जिससे परामर्श करने के लिए कनिष्ठ विधवा आबद्ध है ।[6]

उच्चतम न्यायालय ने **तहसील नायडू बनाम कुल्लू नायडू** के[7] मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि एक हिंदू विधवा निकटतम सिपण्ड होते हुए भी सक्षम परामर्शदात्री नहीं है और परिणामतः उससे सम्मति प्राप्त करने की आवश्यकता दत्तक-ग्रहण की विधिमान्यता के लिए आवश्यक नहीं है । निकटतम पुरुष सपिंडों से सम्मति प्राप्त करना आवश्यक है । किंतु सह-विधवाएं होने की दशा में ज्येष्ठ विधवा को अधिमानी अधिकार होने से

[1] वल्लभलालजी **बनाम** महालक्ष्मी बाहुजी, ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 356. बालसुब्रमण्या पाण्ड्य लालेवाड़ **बनाम** सुब्वय्या तेवाड़, ए० आई० आर० 1938 पी० सी० 34.

[2] जिलाधिकारी, मदुरै **बनाम** मुत्तुरामलिंग, (1868) 12 एम० आई० ए० 397, अद्रुसामल्ली कृष्णय्या **बनाम** अद्रुसामल्ली लक्ष्मीपति, आई० एल० आर० 43 मद्रास 560 (पी० सी०)/

[3] (1868) 12 एम० आई० ए० 397.

[4] आई० एल० आर० 43 मद्रास 560 (पी० सी०)

[5] मुत्तुस्वामी जायकिन **बनाम** पुल वारतत्व, आई० एल० आर० 1922 मद्रास 106.

[6] राजा ब्रम्म कुमार वेंकटप्पा नारायणम् गुरु **बनाम** ब्रम्म कुमार वेनरंग राव गुरु, आई० एल० आर० 39 मद्रास 772.

[7] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1673.

स्थिति भिन्न होती है, जैसी कि ऊपर विवेचना की जा चुकी है। एक अन्य मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह भी सिद्धांत अभिकथित किया है कि सपिण्डों को सम्मति न देने या यह शर्त लगाने का अधिकार नहीं है कि विधवा दत्तक-ग्रहण में असपिण्ड की अपेक्षा सपिण्ड को अधिमान दे।[1] विधि मात्र उनसे परामर्श की ही अपेक्षा करती है।

(4) **महाराष्ट्र शाखा**—महाराष्ट्र शाखा में भी कोई विधवा बिना पति से प्राधिकार प्राप्त किए दत्तक ले सकती है।[2] किन्तु यदि पति ने अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से प्रतिसिद्ध कर दिया है, तो विधवा दत्तक नहीं ले सकती थी।[3] मृत्यु के समय यदि पति विधवा से पृथक् था और विधवा ने पति की संपदा को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, तो वह पति के सपिण्डों की सम्मति के बिना भी दत्तक ले सकती है।[4]

पति की मृत्यु एक अविभक्त सहदायिक के रूप में होने से विधवा के अधिकार दत्तकग्रहण के मामले में अवश्य प्रभावित होते थे। उसे सपिण्डों से सम्मति दत्तक ग्रहण के लिए लेनी चाहिए किंतु यदि किसी अवसर पर पति की मृत्यु के पश्चात् कुटुंब की अविभक्तावस्था समाप्त हो गई हो तो सहदायिकों से सम्मति लेनी आवश्यक नहीं थी और उनकी सम्मति के बिना भी विधवा द्वारा लिया गया दत्तक विधि मान्य होगा।[5]

अनेक विधवाएं होने की दशा में ज्येष्ठ विधवा कनिष्ठ विधवाओं की सम्मति के बिना भी दत्तक ले सकती थी।[6] किंतु कनिष्ठ विधवा ज्येष्ठ विधवा की सम्मति के बिना तब तक दत्तक नहीं ले सकती, जब तक कि पति ने अभिव्यक्त रूप से उसे प्राधिकृत न किया हो।[7] यदि ज्येष्ठ विधवा कनिष्ठ विधवा के पक्ष में अपना अधिकार त्याग देती है तो वह दत्तक ले सकती है।

प्राचीन विधि में विधवा द्वारा दत्तक ग्रहण के सामान्य नियम

(1) किसी हिंदू विधवा को दत्तक लेने की उतनी ही शक्ति प्राप्त है, जितनी उसके पति को जीवित रहने पर प्राप्त थी।[8] पर वह औरस या दत्तक पुत्र, पौत्र, या प्रपौत्र के जीवित रहते, दत्तक नहीं ले सकती। पुनर्विवाह कर लेने पर भी वह अपना अधिकार खो देती है।[9]

---

1 चंद्रशेखर **बनाम** कुलंदेवेलु, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 185.

2 जगन्नाथ राव दानी **बनाम** रामभरोस, ए० आई० आर० 1933 पी० सी० 33.

3 मालगौड़ **बनाम** बाबाजी, आई० एल० आर० (1913) 37 मुंबई 107.

4 जिलाधिकारी मदुरै **बनाम** मुत्तुरामलिंग, (1868) 12 एम० आई० ए० 397; पंजाबी **बनाम** शामराव, ए० आई० आर० 1955 नागपुर 293.

5 भीमाबाई **बनाम** गुरुनाथ गौड़, ए० आई० आर० 1933 पी० सी० 1 : विजयसंगजी **बनाम** शिवसंगजी, ए० आई० आर० 1935 पी० सी० 95.

6 इंदूबाई आनंदराव **बनाम** विट्ठलराव आनंदराव, ए० आई० आर० 1936 मुंबई 182.

7 वासप्पा **बनाम** सीतारामप्पा, आई० एल० आर० (1919) 43 मुंबई 481.

8 गोपी लाल **बनाम** चंद्रावली, (1873) 11 बंगाल लॉ रिपोर्ट्स 391 (पी० सी०).

9 कृष्णी **बनाम** रत्ना, ए० आई० आर० 1964 इलाहाबाद 17.

(2) भारतीय वयस्कता अधिनियम, 1875 के उपबंध दत्तक-ग्रहण के मामले में लागू न होने के कारण प्राचीन हिंदू विधि के अधीन पंद्रह वर्ष की आयु पूरी होने पर कोई विधवा दत्तक लेने के योग्य मानी गई है ।[1] यदि पति ने मृत्यु से पूर्व किसी बालक को नामित कर दिया हो, तो उसका दत्तक-ग्रहण विधवा विवेक की आयु न प्राप्त करने पर भी कर सकती है ।[2]

(3) असती विधवा पुत्र दत्तक लेने के योग्य नहीं है क्योंकि वह धार्मिक कर्म नहीं कर सकती ।[3] किंतु शूद्रों के मामले में धार्मिक कर्म करना अनिवार्य न होने से असती शूद्र विधवा भी दत्तक ले सकती है ।[4]

(4) एक दत्तक पुत्र की मृत्यु के पश्चात् वह अन्य पुत्र दत्तक ले सकती है जब तक कि उसकी इस शक्ति पर पति द्वारा कोई निर्बन्धन न लगाया गया हो[5] ।

(5) यदि कोई सपिण्ड नातेदार विधवा को दत्तक लेने की सम्मति देता है, या नहीं देता है, तो न्यायालय द्वारा उसी का हेतु देखा जायेगा[6] न कि विधवा का हेतु ।[7] उच्चतम न्यायालय[8] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सपिण्ड नातेदारों द्वारा विधवा को दत्तक लेने की सम्मति या अनुमति इस आधार पर न देना कि उसका हेतु अनुचित था, अनुचित रूप से अनुमति को विधारित किया जाना माना जायेगा ।

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के अधीन विधवा की दत्तक लेने की शक्ति और उससे संबंधित सामान्य नियम

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 8 के उपबंधों के अनुसार कोई भी स्वस्थ चित्त और प्राप्तवय विधवा दत्तक लेने की सामर्थ्य रखती है । इस अधिनियम की उक्त धारा के अधीन अब विधवा न केवल पुत्र दत्तक ले सकती है, अपितु उसे पुत्री को भी दत्तक लेने की सामर्थ्य प्राप्त हो गयी है । धारा 8 में आया "सामर्थ्य" पद यह स्पष्ट कर देता है कि अब विधवा को दत्तक लेते समय पति के नातेदारों की सम्मति या अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं रह गई है और विधवा द्वारा लिया गया दत्तक सपिण्ड नातेदारों की अनुमति के अभाव अथवा पति की अधिकारिता के अभाव में अविधिमान्य नहीं होगा ।

---

1 सत्ति राजु **बनाम** वेंकटस्वामी, आई० एल० आर० (1917) 40 मद्रास 925; वासप्पा **बनाम** सीतारामप्पा, आई० एल० आर० (1919) 43 मुंबई 481.

2 मंदाकिनी **बनाम** आदिनाथ, आई० एल० आर० (1891) 18 कलकत्ता 69.

3 श्यामलाल **बनाम** सौदामिनी, (1870) 5 बंगाल लॉ रिपोर्ट्स 362.

4 देवराव **बनाम** रायभान, ए० आई० आर० 1954 नागपुर 357.

5 यादव **बनाम** नामदेव, ए० आई० आर० 1921 पी० सी० 216.

6 वेलंकी **बनाम** वेंकट, (1876) 4 आई० ए० 1; कृष्णय्याराव **बनाम** राजा पिट्टपुर, ए० आई० आर० 1928 मद्रास 994.

7 सी० पी० सी० चेट्टि, **बनाम** पी० एल० डी० चेट्टि, ए० आई० आर० 1972 मद्रास 233.

8 अप्पास्वामी **बनाम** शार्ङ्गपाणि, ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 105.

विधवा द्वारा लिया गया दत्तक उसके स्वयं के लिए होता है न कि पति के लिए या उसके पूर्वजों के पारलौकिक हित के लिए। उसके दत्तक-ग्रहण का उद्देश्य मुख्यतया लौकिक हो गया है। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अनुसार विरासत में प्राप्त पति की संपदा की अब वह आत्यन्तिक स्वामिनी होती है, अतएव उसे वंश परंपरा को बनाये रखने का दायित्व भी प्राप्त हो गया है, जिससे कि उसकी संपदा का वारिस प्राप्त किया जा सके। प्राचीन हिंदू विधि के अधीन सपिण्ड नातेदारों की सम्मति उसे दत्तक-ग्रहण के लिए इसलिए लेनी पड़ती थी कि पति की संपत्ति पर वह सीमित वारिस होती थी और सपिण्ड नातेदार उसके उत्तरभोगी वारिस। इसलिए उन्हें विधवा द्वारा कोई स्थायी वारिस पुत्र प्रतिनिधि के रूप में प्राप्त करते समय हस्तक्षेप करने का अधिकार होता था। संहिताकृत हिंदू उत्तराधिकार विधि के उपबंधों द्वारा विधवा पूर्ण स्वामिनी हो जाने से सपिण्ड नातेदारों का हित उस संपदा पर से पूर्णतया समाप्त हो गया। जिस प्रकार पुरुष संपत्ति-धारक को पुत्र प्रतिनिधि के रूप में वारिस प्राप्त करने का हक है, उसी प्रकार स्त्री को भी समान हक प्राप्त हो गया है। इसी आधार पर न मात्र विधवा को अपितु अविवाहिता या ऐसी स्त्री को भी जिसका विवाह विघटित हो गया हो या जिसका पति पूर्ण और अन्तिम रूप से संसार त्याग चुका हो, अपने लिए दत्तक लेने की सामर्थ्य प्राप्त हो गयी है। इतना ही नहीं, हिंदू विधवा को अब पुत्री या पौत्री या प्रपौत्री (धर्मज रक्त नातेदारी से या दत्तक) के जीवित न रहने पर दत्तक लेने की सामर्थ्य हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 11 के खंड (ii) के अधीन है।

इस अधिनियम की धारा 11 के खंड (iv) के उपबंधों के अनुसार पुत्र दत्तक लेते समय विधवा को इस सामान्य नियम का अनुपालन करना होगा कि जिस पुत्र को वह दत्तक ले रही है, उससे उसकी अपनी आयु कम से कम इक्कीस वर्ष अधिक होनी चाहिए। पुत्री को दत्तक लेने में आयु संबंधी किसी सामान्य नियम का अनुपालन नहीं करना है किंतु यह अवश्य ध्यान में रखना है कि दत्तक ली जाने वाली कन्या आयु में उसकी पुत्री प्रतीत हो।

दत्तक लेने के लिए सक्षम व्यक्ति

प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार—पुत्र को दत्तक देने के लिए स्वस्थ चित्त पिता और माता ही सक्षम हैं।[1] मनु और याज्ञवल्क्य ने दोनों को पुत्र दत्तक देने के लिए अधिकारी माना है।[2] वसिष्ठ भी यही मानते हैं कि दत्तक देने के लिए माता-पिता ही सक्षम हैं।[3] पिता की अनुमति से ही माता को पुत्र दत्तक देने का अधिकार है।[4] मिताक्षरा के अनुसार माता तभी पुत्र को स्वतंत्र रूप से दत्तक देने के लिए सक्षम है, जब पिता की मृत्यु हो गई

---

1 पुतलीबाई बनाम महादेव, आई० एल० आर० (1909) 33 मुंबई 107.

2 माता पिता वा दद्यातां तमद्भिः पुत्रमापदि। मनु० 9/168.
दद्यान्माता पिता वायं स पुत्रो दत्तको भवेत्। याज्ञ० 2/130.

3 तस्य प्रदान-विक्रय-त्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः। वसि० ध० सू० 15/2.

4 मात्रा भर्त्रनुज्ञया। याज्ञ० 2/130 की मिता० टीका।
न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुः। वसि० ध० सू० 15/5.
व्य० नि० पृ० 288.
नाग बनाम शाक्य, ए० आई० आर० 1953 नागपुर 239.

हो, अथवा वह विदेश में रहता हो।[1] माता-पिता के अतिरिक्त कोई अन्य नातेदार सौतेली माता[2] या भाई दत्तक देने के लिए सक्षम नहीं है, जैसा कि मनु और याज्ञवल्क्य आदि शास्त्रकारों के उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है। विधवा माता भी पुनर्विवाह कर लेने के पश्चात् पूर्व पति के पुत्र को दत्तक देने के लिए सक्षम नहीं है।[3] जनकों में से कोई भी पुत्र को दत्तक देने की शक्ति का प्रत्यायोजन किसी अन्य व्यक्ति को नहीं कर सकता।[4] किंतु शारीरिक रूप से देने की शक्ति का प्रत्यायोजन किया जा सकता है क्योंकि इसमें देने वाले के विवेकाधिकार का प्रयोग न होकर मात्र उसके द्वारा देने की प्रक्रिया ही संपादित की जाती है।[5]

संहिताकृत विधि के अनुसार—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 9 की उपधारा (1) के अधीन अपत्य के पिता या माता या संरक्षक के सिवाय कोई व्यक्ति अपत्य को दत्तक देने की सामर्थ्य नहीं रखेगा।

पिता—इस धारा की उपधारा (2) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब तक पिता जीवित है तब तक केवल उसे ही दत्तक देने का अधिकार है, किंतु वह अपने अधिकार का प्रयोग करते समय अपत्य की माता की सम्मति लेगा। उनकी सम्मति के बिना पिता अपने दत्तक देने के अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता। यदि माता पूर्ण और अंतिम रूप से संसार का त्याग कर चुकी हो, अथवा हिंदू नहीं रह गई हो या किसी सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय ने उसके बारे में यह घोषित कर दिया हो कि वह विकृत-चित्त की है तो पिता माता की सम्मति के बिना भी दत्तक ले सकता है। यह उपधारा प्राचीन हिंदू विधि की धारणाओं को पूर्णतया सुरक्षित रखती है। किंतु धारा 9 के स्पष्टीकरण (i) के अनुसार दत्तक पिता अपने दत्तक पुत्र को दत्तक देने का अधिकारी नहीं है।

माता—धारा 9 की उपधारा (3) के अनुसार यदि पिता मर चुका हो या पूर्ण और अंतिम रूप से संसार का त्याग कर चुका हो या हिंदू न रह गया हो या सक्षम अधिकारिता वाले किसी न्यायालय ने उसके बारे में यह घोषित कर दिया हो कि वह विकृत चित्त का है, तो माता अपत्य को दत्तक दे सकेगी। यह उपबंध भी प्राचीन हिंदू विधि के ही अनुरूप है। किंतु पिता के जीवित रहते और उसके गृहस्थ रहते, हिंदू रहते या स्वस्थचित्त रहते माता को पिता की अनुमति या सम्मति से भी अपत्य को दत्तक देने का अधिकार नहीं है। इस धारा की उपधारा (2) का वाक्यांश "केवल उसे (पिता को) ही दत्तक देने का अधिकार होगा" इस बात का द्योतक है कि पिता का दत्तक देने का अधिकार आत्यन्तिक है और माता से सम्मति लेने का उपबंध केवल एक विधिक औपचारिकता है। अपत्य को दत्तक देने का माता का अधिकार पिता की भांति आत्यन्तिक नहीं है। उसे प्रदत्त अधिकार एक वैकल्पिक व्यवस्था है जो परिस्थिति विशेष में उसे सामर्थ्य प्रदान करता है। इस धारा के स्पष्टीकरण (i) के अनुसार दत्तक माता अपने दत्तक अपत्य को दत्तक नहीं दे सकती।

---

[1] मात्रा भर्त्रनुज्ञया, प्रोषिते, प्रेते, वा भर्तरि। याज्ञ० 2/130 की मिता० टीका।

[2] हरिभाऊ **बनाम** अगवराव, आई० एल० आर० (1946) नागपुर 978.

[3] कृष्णा **बनाम** रत्ना, ए० आई० आर० 1964 इलाहाबाद 17.

[4] वशतियप्पा **बनाम** शिवलिंगप्पा, (1873) 10 बोम्बे हाई कोर्ट रिपोर्ट्स 268.

[5] लक्ष्मणसिंह **बनाम** रूपकुंअरि, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1878.

संरक्षक—धारा 9 की उपधारा (1) के अधीन संरक्षक को भी अपत्य को दत्तक देने की सामर्थ्य प्राप्त हो गयी है। यह हिंदू विधि में एक नवीन उपबंध है, जो संहिताकरण के पूर्व नहीं था। संरक्षक अपने इस अधिकार का दुरुपयोग भी कर सकता है, जिसकी रोक-थाम के लिए दत्तक देने के पूर्व न्यायालय की अनुज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य किया गया है। धारा 9 की उपधारा (4) के अनुसार जहां माता और पिता दोनों मर चुके हों या पूर्ण और अंतिम रूप से संसार त्याग कर चुके हों या अपत्य को त्याग चुके हों या सक्षम अधिकारिता वाले किसी न्यायालय ने उनके बारे में यह घोषित कर दिया हो कि वे विकृत चित्त के हैं, या जहां कि अपत्य की जनकता ज्ञात न हो, वहां उस अपत्य का संरक्षक न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा से उस अपत्य को किसी भी व्यक्ति को, जिसके अन्तर्गत स्वयं वह संरक्षक भी आता है, दत्तक दे सकता है।

इस धारा के स्पष्टीकरण (ii) के अनुसार 'संरक्षक' से वह व्यक्ति अभिप्रेत है, जिसकी देख-रेख में किसी अपत्य का शरीर या उसका शरीर और संपत्ति दोनों हों, और उसके अंतर्गत आते हैं :—

(क) अपत्य के पिता या माता की विल द्वारा नियुक्त संरक्षक, तथा

(ख) किसी न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक।

धारा 9 के स्पष्टीकरण में संरक्षक की जो पभिाषा दी गई है, वह हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4 के खंड (ख) में परिभाषित संरक्षक के ही सदृश है। किंतु दत्तक-ग्रहण के मामले में संक्षक से मात्र वही व्यक्ति अभिप्रेत होंगे, जो पिता या माता की विल द्वारा या किसी न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित होंगे, अन्य प्रकार के संरक्षक इस मामले में दत्तक देने के लिए सक्षम व्यक्ति नहीं होंगे। संरक्षक को दत्तक देने से पूर्व न्यायालय की अनुज्ञा प्राप्त करनी आवश्यक है।

दत्तक देने की अनुज्ञा प्रदान करने वाला न्यायालय और उसकी शक्ति—धारा 9 के स्पष्टीकरण (iii) के अनुसार 'न्यायालय' से ऐसा नगर सिविल न्यायालय या जिला न्यायालय अभिप्रेत है, जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के अंदर दत्तक लिया जाने वाला अपत्य मामूली तौर पर निवास करता है।

न्यायालय की शक्ति और प्रक्रिया—सामान्यतया किसी संरक्षक को उसकी देखरेख में रह रहे अपत्य को दत्तक देने की अनुज्ञा प्रदान करते समय न्यायालय अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करेगा किंतु उपधारा (5) के अनुसार न्यायालय किसी संरक्षक को उपधारा (4) के अधीन अनुज्ञा देने से पूर्व इस बात को ध्यान में रखकर कि अपत्य की आयु और समझने की शक्ति कितनी है, दत्तक दिये जाने के संबंध में अपत्य की इच्छा पर सम्यक् विचार करके अपना इस बारे में समाधान कर लेगा कि दत्तक दिया जाना अपत्य के लिए कल्याण-कर होगा या नहीं और दत्तक देने के प्रतिफलस्वरूप कोई संदाय या इनाम ऐसे किसी संदाय या इनाम के सिवाय जैसा कि न्यायालय मंजूर करे, अनुज्ञा के लिए आवेदन करने वाले ने न तो प्राप्त करने का करार किया है और न किसी भी व्यक्ति ने आवेदन करने वाले को किया या दिया है और न ही करने या देने के लिए करार किया है।

विधायिका ने दत्तक के मामले में संरक्षक के अधिकार के दुरुपयोग की रोकथाम के लिए न्यायालय को वह शक्ति प्रदान कर दी है, जिसके अधीन वह ऐसे किसी भी मामले की जांच कर सकता है, जिसमें संरक्षक ने धन या संपत्ति संबंधी प्रतिफल प्राप्त किया हो या प्राप्त करने का करार किया हो। संरक्षक ऐसे व्यक्ति को भी अपत्य को दत्तक नहीं दे सकता, जिसने संरक्षक को कोई इनाम आदि दिया हो।

न्यायालय से अनुज्ञाप्राप्त करने के लिए अपत्य के संरक्षक को ही यह अधिकार है कि वह आवेदन उपस्थापित करे। किसी अन्य व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह संरक्षक की ओर से दत्तक देने के लिए न्यायालय में आवेदन उपस्थापित करे। इस अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (5) में दत्तक दिए जाने वाले अपत्य के कल्याण को सर्वोपरि माना गया है। यह कल्याण हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के उपबंधों के सदृश है। यदि दिया जाना अपत्य के हित में नहीं है, तो न्यायालय आवेदन को अस्वीकृत कर सकता है। न्यायालय अपने समाधान के लिए वे सभी कार्यवाहियां कर सकता है, जिनका उल्लेख हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (5) में अपत्य की संपत्ति के अंतरण संबंधी अनुज्ञा देने के पूर्व करने के लिए किया गया है। उस अधिनियम के उपबंधों में संरक्षक द्वारा अपत्य की संपत्ति के अन्तरण के लिए आवेदन उपस्थापित किया जाता है और इस अधिनियम के उपबंधों में अपत्य के शरीर के अन्तरण के लिए।

इस उपधारा की विशेषता यह है कि इसमें वही संरक्षक अपत्य को दत्तक देने का अधिकारी होगा, जो अपत्य के शरीर या शरीर और संपत्ति दोनों का संरक्षक है और उसकी इस बारे में उचित रूप से नियुक्ति हुई है। संपत्ति मात्र के संरक्षक को दत्तक देने का अधिकार नहीं है। न्यायालय को यह भी देखना है कि संरक्षक केवल अपत्य की संपत्ति का ही संरक्षक तो नहीं नियुक्त है। इन सभी तथ्यों का समाधान हो जाने पर ही न्यायालय संरक्षक को अपत्य को दत्तक देने की अनुज्ञा प्रदान कर सकेगा।

दत्तक लिए जा सकने वाले व्यक्ति

प्राचीन और संहिताकृत दोनों ही विधियों द्वारा दत्तक लिए जा सकने वाले व्यक्तियों पर अनेक शर्तें लगाई गई हैं, जिनके पूरी होने पर ही कोई व्यक्ति दत्तक लिए जाने के योग्य बनता है। इन शर्तों की विवेचना नीचे की जा रही है : —

(क) हिंदू होना—प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार दत्तक लिया जाने वाला अपत्य दत्तक लेने वाले के वर्ण या जाति का होना चाहिए अन्य जाति या वर्ण का नहीं।[1] इस प्रकार एक ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र का अपत्य दत्तक नहीं ले सकता। शौनक के अनुसार ब्राह्मणों में दत्तक अपत्य को सपिण्ड नातेदारी का भी होना चाहिए[2] सपिण्ड

---

[1] सवर्णाय तस्मै दीयते स यस्य दत्तक: पुत्र:। याज्ञ० 2/130 की मिता० टीका. शिवदेव बनाम रामप्रसाद, ए० आई० आर० 1925 इलाहाबाद 79.

[2] ब्राह्मणानां सपिंडेषु कर्त्तव्य: पुत्रसंग्रह:। तदभावेऽसपिण्डे वा अन्यत्र तु न कारयेत्। क्षत्रियाणां स्वजातौ वा गुरुगोत्र समेऽपि वा।। शौनक: व्य० मयू० पृ० 67 पर उद्धृत.

नातेदारी के अभाव में ही असपिण्ड नातेदारी से दत्तक लिया जा सकता है। किंतु क्षत्रियों में सजातीय या गुरुगोत्र से भी पुत्र दत्तक लिया जा सकता है। मेधातिथि के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय पुत्र को भी दत्तक ले सकता है।[1] इसकी विवेचना वायु पुराण में मिलती है जहां यह उल्लिखित है कि दुष्यन्तपुत्र भरत ने बृहस्पति पुत्र भरद्वाज को दत्तक लिया जो क्षत्रिय बन गया।[2] सपिण्डता और सवर्णता की शर्त सामान्य परिस्थितियों में ही लागू होती है, विशिष्ट परिस्थितियों में इसे शिथिल किया गया है और मात्र हिंदू होना ही उचित माना गया है।

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 10 के खण्ड (i) के अनुसार दत्तक लिए जाने वाले व्यक्ति का केवल हिंदू होना आवश्यक है। सवर्णता, सजातीयता तथा सपिण्डता की प्राचीन शर्तें अब समाप्त हो गई हैं। कोई हिंदू इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार किसी भी जाति या वर्ण के अपत्य को दत्तक ले सकता है। इस प्रकार प्राचीन हिंदू विधि में जिसे अपवाद नियम माना गया था, उसे संहिताकृत विधि में सामान्य विधि के रूप में अधिकथित कर दिया गया है। इससे इस विषय में एकरूपता आ गई है। यदि यह शर्त अधिनियम की धारा 10 के खंड (i) में नहीं भी लगाई गई होती, तो भी हिंदू दत्तक विधि मात्र हिन्दुओं पर ही लागू होने के कारण दत्तक लिए जाने वाला व्यक्ति हिंदू ही होना चाहिए।

(ख) पुरुष होना प्राचीन हिंदू विधि में यह एक प्रमुख शर्त थी कि दत्तक लिया जाने वाला व्यक्ति पुरुष ही होना चाहिए न कि पुत्री। मनु और याज्ञवल्क्य ने दत्तक पुत्र का ही उल्लेख किया है[3] न कि दत्तक पुत्री का। अतएव संहिताकरण से पूर्व न्यायालयों ने भी दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति का लड़का होना ही आवश्यक माना है।[4] इतना ही नहीं हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 7 के अधीन केवल दत्तक पुत्र की, जो अप्राप्तवय हो, नैसर्गिक संरक्षकता दत्तक-ग्रहण पर दत्तक पिता या माता को संक्रांत होना अधिकथित है न कि दत्तक पुत्री की। इससे भी स्पष्ट है कि इस अधिनियम के अधिनियमित होने तक हिंदू विधि में दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति का पुत्र होना आवश्यक माना जाता रहा। किंतु हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अनुसार अब दत्तक लिए जाने वाले व्यक्ति का पुत्र या पुरुष होना अनिवार्य नहीं है, पुत्री भी दत्तक ली जा सकती है। यह हिंदुओं के लिए कोई नवीन उपबंध नहीं है। अपवाद रूप में कन्याएं भी दत्तक ली जाती रहीं।[5] वस्तुतः हिंदुओं में पुत्र को दत्तक लेना इसलिए रुढ़िगत हो गया कि इसी के द्वारा

[1] क्षत्रियादपि ब्राह्मणस्य दत्तको युज्यते। मनु० 9/168 पर मेधातिथि की टीका.

[2] तस्माद् दिव्यो भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्। वायुपु० 99/157.

[3] स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः तथा 'पुत्रमापदि' मनु० 9/168.
स पुत्रो दत्तको भवेत्। याज्ञ० 2/130, स तस्य दत्तकः पुत्रः। उसी पर मिता० टीका.

[4] गंगाबाई बनाम अनन्त, आई० एल० आर० (1889) 13 बाम्बे 690; गांगुली बनाम सरकार, ए० आई० आर० 1961 मध्य प्रदेश 173.

[5] कन्यां दशरथो राजा शांता नाम व्यजीजनत्।
अपुत्रकृतिके राज्ञे रोमपादाय तां ददौ॥ —उत्तर० राम०

पारलौकिक हित की कामना की गई है। लौकिक दृष्टि से भी दत्तक पुत्र ही वंश परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखता है न कि दत्तक पुत्री। विवाहोपरांत दत्तक पुत्री अपने पति के कुटुंब में चली जाती है। किंतु संहिताकृत दत्तक विधि के अधीन, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, पुत्री भी दत्तक ली जा सकती है और उसका दत्तक-ग्रहण विधिमान्य है। इससे यह विवाद समाप्त हो गया कि दत्तक लिया जाने वाला व्यक्ति पुरुष है अथवा स्त्री। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के द्वारा विधायिका ने हिंदू विधि की उस रुढ़ि या प्रथा को भी संहिताकृत कर दिया जिसके अधीन पुत्री भी दत्तक ली जा सकती थी और अब हिंदू विधि का यह सामान्य नियम हो गया। फिर भी यह विवादास्पद बना हुआ है कि कोई व्यक्ति पुत्री को दत्तक किस प्रयोजन हेतु लेता है। मुंबई उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि नायकिनों में, जो नर्तकियां होती हैं, कन्या का दत्तक-ग्रहण रुढ़िगत होते हुए भी अविधिमान्य इस अर्थ में है कि उसका दत्तक-ग्रहण अनैतिक प्रयोजन हेतु किया जाता है।[1] यह निर्णय अभी भी उसी रूप में महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि कोई व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री अनैतिक व्यापार हेतु पुत्री को दत्तक लेता है तो ऐसे दत्तक-ग्रहण को विधिमान्य नहीं माना जाना चाहिए और यह विधि अब परिवर्तित परिस्थितियों में सुस्थिर की जानी है। मद्रास उच्च न्यायालय[2] ने 1953 तक अपने समवर्ती निर्णयों में यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि 'एक वेश्या ने विवाह करके वैवाहिक जीवन में प्रवेश कर लिया है तो भी उसके द्वारा किया गया अवयस्क पुत्री का दत्तक-ग्रहण अवैध है। यह तभी विधिमान्य है जब कि लड़की को अनैतिक प्रयोजन हेतु दत्तक न लिया गया हो।' हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के उपबंधों में पुत्री का दत्तक-ग्रहण नैतिक प्रयोजनों हेतु विधिमान्य है न कि अनैतिक प्रयोजन हेतु लिया गया दत्तक भी।

(ग) **पहले से दत्तक नहीं लिया गया होना** : हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 10 के खंड (ii) के अनुसार जिस व्यक्ति का दत्तक-ग्रहण किया जाना है वह पहले से किसी व्यक्ति द्वारा दत्तक लिया हुआ नहीं होना चाहिए। यह उपखंड हिंदू विधि की उस विचार-धारा को सुस्पष्ट करता है कि दत्तक-ग्रहण अर्थात् पुत्रदान भी एक ही बार हो सकता है दुबारा नहीं। दो या अधिक व्यक्तियों द्वारा एक ही व्यक्ति का दत्तक-ग्रहण प्राचीन हिंदू विधि में प्रत्येक के लिए अविधिमान्य है।[3]

द्वयामुष्यायण—अपवाद स्वरूप द्वयामुष्यायण की विधि प्राचीन हिंदू विधि में विधिमान्य रही है। द्वयामुष्यायण का अर्थ है दो पिताओं का पुत्र। व्यवहारमयूख के अनुसार जब पिता अपने पुत्र को इस समझौते के अधीन अपना पुत्र दूसरे को दत्तक देता

---

[1] हीरा **बनाम** राधा, आई० एल० आर० (1913) 37 बाम्बे 116.

[2] गद्दाती रेड्डि **बनाम** गणपति कण्डन्ना, 23 एम० एल० जे० 493; वेंकेट चेल्लम्मा **बनाम** चीकटि, ए० आई० आर० 1953 मद्रास 571.

[3] राजकुमार **बनाम** विश्वेश्वर, आई० एल० आर० (1884) 10 कलकत्ता 688 : सुरेन्द्र केशव **बनाम** दुर्गासुंदर, आई० एल० आर० (1892) 19 कलकत्ता 513 (पी० सी०).

है कि यह दोनों का पुत्र रहेगा, तो इस प्रकार के दत्तक-ग्रहण को द्वयामुष्यायण कहते हैं।[1] मिताक्षरा और व्यवहारनिर्णय के अनुसार निःसंतान होने पर जब देवरादि से अपनी स्त्री के नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न कराया जाता है तब वह दो पिताओं का पुत्र होने से द्वयामुष्यायण कहलाता है जो वस्तुतः क्षेत्रज है।[2] कात्यायन के अनुसार दत्तक, क्रीत और पुत्र का पुत्र दो गोत्रों, अर्थात् अपने जनक-पिता तथा दत्तक पिता के गोत्रों, से संबद्ध होने के कारण द्वयामुष्यायण कहलाते हैं।[3] किंतु मिताक्षरा, व्यवहार निर्णय और कात्यायन की व्यवस्थाएं विधि जगत् में मान्य नहीं हुई। व्यवहार-मयूख की परिभाषा को ही न्यायालयों उचित माना। राजस्थान उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि द्वयामुष्यायण प्रकार के दत्तक-ग्रहण में इस प्रकार का करार सिद्ध करना आवश्यक है कि वह दोनों पिताओं का पुत्र होगा तथा यह भी सिद्ध होना चाहिए कि दत्तकपुत्र के देने और लेने के कर्म किये गये थे।[4]

(ग) **विवाहित न होना** :—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 10 के खंड (iii) के अनुसार दत्तक लिया जाने वाला व्यक्ति विवाहित नहीं होना चाहिए तब के सिवाय जब कि पक्षकारों को लागू होने वाली कोई ऐसी रूढ़ि या प्रथा हो जो विवाहित व्यक्तियों का दत्तक लिया जाना अनुज्ञात करती हो। प्राचीन हिंदू विधि की बंगाल शाखा,[5] मद्रास शाखा[6] और वाराणसी[7] शाखा में विवाहित व्यक्ति का दत्तक-ग्रहण विधिमान्य नहीं है। इन शाखाओं में शूद्रों में भी विवाहित व्यक्तियों का दत्तक-ग्रहण विधिमान्य नहीं है। उत्तरी कन्नड़क्षेत्र के लिंगायतों में भी विवाहित व्यक्ति का दत्तक-ग्रहण अविधिमान्य है।[8] किंतु उत्तरी कन्नड़क्षेत्र के गौड़-सारस्वत ब्राह्मणों और दैवन्य ब्राह्मणों में

---

[1] अयं च दत्तको द्विविधः केवलो द्वयामुष्यायणश्च। संविदा बिना दत्त आद्यः। आवयोरसाविति संविदादत्तस्त्वान्यः। व्य० मयू० पृ० 71.

[2] यदाम्‌ नियुक्तो देवरादिः स्वयमप्यपुत्रोऽपुत्रस्य क्षेत्रे स्वपरपुत्रार्थं प्रवृत्तो यं जनयति स द्विवपितृको द्वयामुष्यायणो द्वयोरपि रिक्यहारी पिंडदाता च। याज्ञ० 2/127 की मिता० टीका। द्वामुष्यातणोऽयम् बीजजस्य स्वांशसंभवात् क्षेत्रजादुत्कृष्टत्वं द्रष्टव्यम्। व्य० नि० पृ० 432.

[3] दत्तक-क्रीत-पुत्रिकापुत्राः परपरिग्रहेणानार्षेयास्ते द्वयामुष्यायणा भवन्ति। कात्यायन : व्य० मयू पृ० 71 पर उद्धृत।

[4] धानीबाई **बनाम** नीमकुंअरि, ए० आई० आर० 1972 राजस्थान 9.

[5] सुरबाला देवी **बनाम** सुधीरकुमार मुखर्जी, आई० एल० आर० (1944) 1 कलकत्ता 566.

[6] मुत्तुस्वामी तेवाड़ **बनाम** चिदम्बर तेवाड़, ए० आई० आर० 1949 पी० सी० 18.

[7] गंगासहाय **बनाम** लेखराज, आई० एल० आर० (1887) 9 इलाहाबाद 253.
सुखदेव **बनाम** कपिलदेव, ए० आई० आर० 1960 कलकत्ता 597 (वाराणसी शाखा का मामला).
झूंथा **बनाम** नाथू, आई० एल० आर० (1913) 35 इलाहाबाद 263.

[8] दत्तात्रेय मारुति **बनाम** लक्ष्मण, ए० आई० आर० 1942 मुंबई 260.

विवाहित व्यक्ति का दत्तक-ग्रहण रूढ़ि के अनुसार विधिमान्य है[1] क्योंकि ये जातियां महाराष्ट्र शाखा की विधि से शासित होती है और महाराष्ट्र शाखा में विवाहित व्यक्तियों को दत्तक लेने की विधि है ।[2] धारा 10 के खंड (iii) में अपवादस्वरूप विवाहित व्यक्ति के दत्तक लेने की रूढ़ि या प्रथा के उल्लेख से वस्तुतः इन्हीं क्षेत्रों की ओर संकेत है ।

(घ) **दत्तक अपत्य की आयु**—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 10 खंड (iv) के अनुसार वही व्यक्ति दत्तक लिए जाने के योग्य है, जिसने पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी नहीं की है तब के सिवाय जब कि पक्षकारों को लागू होने वाली कोई रूढ़ि या प्रथा हो जो ऐसे व्यक्तियों का, जिन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी कर ली हो, दत्तक लिया जाना अनुज्ञात करती हो ।

प्रचीन हिंदू विधि में भी दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति की आयु पर विचार हुआ है और सामान्य मत यह रहा है कि उपनयन संस्कार के पूर्व अपत्य को दत्तक लिया जा सकता है ।[3] यह विधि उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल और उड़ीसा में लागू रही ।[3] शास्त्रों में उपनयन संस्कार के लिए विभिन्न आयु निर्धारित है । मनु ने वर्णानुसार ब्राह्मण के लिए पांच से सोलह वर्ष[4] तक क्षत्रिय के लिए छह से बाईस वर्ष[5] तक और वैश्य के लिए आठ से चौबीस वर्ष[5] तक की आयु निर्धारित की है । किंतु याज्ञवल्क्य ने मनु द्वारा दी गई उपनयन की अंतिम आयु सीमा को मान्यता दी और यह घोषित किया कि ब्राह्मण का उपनयन संस्कार सोलह वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय का बाईस वर्ष की आयु तक और वैश्य का चौबीस वर्ष की आयु तक हो सकता है ।[6] इस प्रकार मनु और याज्ञवल्क्य दोनों महान स्मृतिकारों के अनुसार पुत्र का दत्तक-ग्रहण ब्राह्मणों में सोलहवें वर्ष की आयु तक, क्षत्रियों में बाईस वर्ष की आयु तक और वैश्यों में चौबीस वर्ष की आयु तक हो सकता है । उपनयन की यह आयु ही मिताक्षरा[7] द्वारा मान्य होने के कारण दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति की भी यह आयु ही वर्णानुसार मान्य हैं । शूद्रों में उपनयन संस्कार न होने से विवाह के पूर्व तक

---

1 शांताराम **बनाम** महाबलेश्वर, आई० एल० आर० (1947) मुंबई 798.

2 बालाबाई **बनाम** महादेव, ए० आई० आर० 1924 बाम्बे 349.

3 गंगासहाय **बनाम** लखराज, आई० एल० आर० (1887) 9 इलाहाबाद 253; राजा मुकुंददेव **बनाम** श्री जगन्नाथ, आई० एल० आर, (1923) 2 पटना 469; देवकीनंदन **बनाम** मदनलाल, ए० आई० आर० 1958 आंध्र प्रदेश 693.

4 ब्रह्मवर्चस्व कामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे । मनु० 2/37.
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । मनु 2/36.
आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते । मनु० 2/38.

5 राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।। मनु० 2/37.
गर्भादिकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः । मनु, 2/36.
आद्वाविंशात्क्षत्रबंधोराचतुर्विंशतेर्विशः ।। मनु० 2/38.

6 आषोडशादाद्वादाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात् ।
ब्रह्मक्षत्रविशां काल उपनयनसंबंधी परः ।। याज्ञ० 1/37.

7 आषोडशाद्वर्षात्षोडशवर्षं यावत्, आद्वाविंशादाचतुर्विंशाद्वर्षाद् ब्रह्मक्षत्रविशां औपनायनिकः उपनयनसंबंधी परः कालः ।। याज्ञ० 2/37-38 पर मिता० टीका ।

व्यक्ति का दत्तक-ग्रहण किया जा सकता है।[1] बंबई क्षेत्र में दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति की कोई आयु निर्धारित नहीं है और विवाहित, संतानयुक्त तथा अपने से अधिक आयु का व्यक्ति भी दत्तक लिया जा सकता है।[2] इसका आधार व्यवहारमयूख की व्यवस्था है।[3] यद्यपि व्यवहार मयूख की यह व्यवस्था किसी स्मृतिवचन पर आधृत नहीं है तथापि न्यायालयों ने इसे मिताक्षरा से अधिक प्रामाणिक माना और इसे बंबई क्षेत्र की विधि के रूप में मान्यता दे दी।

एक ओर हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के उपबंधों में जहां दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति की आयु पन्द्रह वर्ष निश्चित की गई वहीं दूसरी ओर यह रूढ़ि या प्रथा के आधार पर शिथिल कर दी गई, जिससे बंबई क्षेत्र में प्राचीन विचित्र, रूढ़ि, जिसके अधीन अपने से अधिक आयु के व्यक्ति को दत्तक लिया जा सकता है, प्रचलन में बनी रहेगी। यह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता कि कोई व्यक्ति अपने से अधिक आयु के व्यक्ति को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण करे। व्यवहार मयूख की यह व्यवस्था नैसर्गिक नियमों के भी विरुद्ध है। जब यह सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया कि संतति के अभाव में पुत्र प्रतिनिधि बनाया जाता है, तो यह आवश्यक है कि संतति के प्रतिनिधि रूप में ग्रहण किया जाने वाला व्यक्ति भी संतति के रूप में ही प्रतीत हो। इस नैसर्गिक विधि को ध्यान में रखा जाना ऐसे मामलों के अभिनिर्धारण में आवश्यक है।

(ङ) **अनाथ व्यक्ति**—प्राचीन[4] और संहिताकृत दोनों ही हिंदू विधियों में दत्तक लिया जाने वाला व्यक्ति यदि अनाथ है तो उसको भी रूढ़ि के अनुसार दत्तक लिया जा सकता है। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 9 की उपधारा (1) के अधीन अनाथ अपत्य को उसका संरक्षक दत्तक देने के लिए सक्षम है। किंतु इसके लिए जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा आवश्यक है। किंतु सामान्यतया अनाथ व्यक्ति प्राचीन हिंदू विधि के अधीन दत्तक लिये जाने के योग्य नहीं था और उसका दत्तक-ग्रहण अविधिमान्य था।[5] किंतु दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम के उपबंधों के अधीन हिंदू होने मात्र से व्यक्ति दत्तक लिये जाने के योग्य हो जाता है और इस उपबंध के अंतर्गत अनाथ व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। अब ऐसे व्यक्तियों का भी दत्तक लिया जाना संभव है जो हिंदू हैं और अनाथालयों में रहते हैं। इसके लिए शर्त यही है कि उसके संरक्षक द्वारा उसे वस्तुतः दत्तक लेने वाले कुटुंब में अंतरित करने के आशय से दिया और लिया जाना चाहिए। ऐसे अनाथ अपत्य का भी जिसकी जनकता ज्ञात न हो, दत्तक ग्रहण इस अधिनियम की धारा 11 के खंड (vi) के अधीन संभव है जिसे उसके पालक द्वारा दत्तक लेने वाले व्यक्ति के कुटुंब में अंतरित करने के आशय से वस्तुतः दिया और लिया जाना चाहिए।

दत्तक-ग्रहण संबंधी गृह्यकर्म

---

[1] डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ उपबंध 480 (5), पृष्ठ 598.

[2] बालाबाई बनाम महादेव, आई० एल० आर० (1924) 48 मुंबई 387.

[3] दत्तकस्तु परिणीत उत्पन्नत्रोऽपि च भवतीत तातचरणाः ॥ व्य० मयू० पृ० 71.

[4] रामकिशोर बनाम जयनारायण, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 2.

[5] मैरय्या बनाम रामलक्ष्मी, ए० आई० आर० 1921 मद्रास 331.

प्राचीन हिंदू विधि में दत्तकग्रहण की विधिमान्यता के लिए निम्नलिखित कृत्य आवश्यक माने गये हैं—

(1) **शारीरिक रूप से देना और लेना**—जिस व्यक्ति को दत्तक लिया जाना है, उसको जनक कुटुंब से दत्तक कुटुंब में अंतरित करने के उद्देश्य से वस्तुतः अर्थात् शारीरिक रूप से दिया और लिया जाना आवश्यक है।[1] यह कर्म द्विजों और शूद्रों दोनों में ही आवश्यक है।[2] हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 11 के खंड (iv) के अनुसार भी दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति को अंतरित करने के आशय से वस्तुतः दिया और लिया जाना आवश्यक है।[3] यद्यपि संहिताकृत विधि ने कोई विशेष प्रकार या ढंग देने और लेने के लिए विहित नहीं किया है, तथापि मनु ने उसे हाथ में जल लेकर देने की व्यवस्था दी है।[4] हिंदू विधि में दान की यह सामान्य विधि है कि देने की क्रिया जल[5] द्वारा संपन्न की जाती है और वही विधि मनु ने यहां भी उचित मानी है। किंतु वामनपुराण के अनुसार सनत्कुमार को उसके माता-पिता ने प्रजापति को मौखिक रूप से दत्तक दिया था। इससे भी यह स्पष्ट है कि दत्तक के लिए किसी गृह्यकर्म की आवश्यकता नहीं है[6]।

(2) **दत्तहोम**—दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति के दान और ग्रहण के पश्चात् दत्त-होम करने का नियम है। दत्तहोम द्विजातियों के लिए आवश्यक है और दत्तक मीमांसा के अनुसार दत्तहोम के अभाव में दत्तकग्रहण विधिमान्य नहीं है।[7] शूद्रों और स्त्रियों द्वारा दत्तहोम किसी अन्य व्यक्ति से कराया जा सकता है। किंतु न्यायालयों ने दत्तहोम को द्विजों में भी ऐसे मामले में जिसमें दत्तक पुत्र और दत्तक पिता एक ही गोत्र के हैं, आवश्यक नहीं माना।[8]

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 11 के खंड (vi) के परंतुक के अनुसार दत्तहोमम् का किया जाना किसी दत्तक की विधिमान्यता के लिए आवश्यक नहीं होगा। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि पक्षकार दत्तहोमम् दत्तकग्रहण के मामले में करते हैं, तो संहिताकृत विधि इसमें बाधक होगी। इस परंतुक का आशय मात्र इतना ही है कि कोई भी दत्तकग्रहण इस आधार पर अविधिमान्य नहीं होगा कि उसमें दत्तहोमम् कर्म अनुष्ठापित नहीं हुआ था। परंतुक का वाक्यांश "दत्तक की विधि मान्यता के

---

1 रंगनायकम्मा बनाम आलवार, आई० एल० आर० (1890) 13 मद्रास 214.
वीरेश्वर बनाम अदार्ध, आई० एल० आर० (1892) 19 कलकत्ता 452 (पी० सी०).

2 लक्ष्मणसिंह बनाम रूपकुंअर ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1378.

3 देवीप्रसाद बनाम त्रिवेणीदेवी, ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1286.

4 अद्भिः पुत्रमापदि। मनु० 9/168.

5 पाणौ तु पतिते तोये दिव्यं रूपं चकार ह। वाम० पुरा० 91/18.

6 तावेवमुक्तौ पुत्रेण योगाचार्यं पितामहम्।
उक्तवंतौ प्रभो यं हि आवयोस्तनयस्तव॥
अद्यप्रभृत्ययं पुत्रस्तव ब्रह्मन् भविष्यति। वाम० पुराध 61/51-52.

7 दानप्रतिग्रहहोमादन्यतमाभावे तु पुत्रत्वाभाव एवेति। दत्त० मीमा० पृ० 161.
स्विष्ट कृदादि होमं च कृत्वा शेषं समापयेत्। शौवक, व्य० मयू० पृष्ठ 67, में उद्धृत।

8 बालगंगाधर तिलक बनाम श्रीनिवास पण्डित, (1915) 42 आई० ए० 135.

के लिए आवश्यक न होगा" इस बात का द्योतक है कि दत्तहोमम् विधि की दृष्टि में दत्तक की विधिमान्यता के लिए कोई आवश्यक गृह्यकर्म नहीं है पर यह वाक्यांश दत्तकग्रहण में दत्तकहोमम् को प्रतिषिद्ध नहीं करता।

दत्तक के परिणाम

विधिमान्य दत्तक-ग्रहण के निम्नलिखित परिणाम होते हैं :—

जन्म के कुटुंब से संबंध-विच्छेद : हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 12 के अनुसार दत्तक अपत्य दत्तक की तारीख से समस्त प्रयोजनों के लिए अपने दत्तक पिता या माता का अपत्य समझा जाएगा और ऐसी तारीख से यह समझा जाएगा कि उस अपत्य के अपने जन्म के कुटुंब के साथ समस्त बंधन टूट गये हैं और उनका स्थान उन बंधनों ने ले लिया है जो दत्तक कुटुंब में दत्तक के कारण सृजित हुए हों। मनु भी यही मानते हैं कि दत्तक अपने जनक का गोत्र और रिक्थ प्राप्त नहीं करता और पुत्र देने वाले को उससे प्राप्त होने वाली सुविधा समाप्त हो जाती है।[1] इसका यह अर्थ नहीं है कि दत्तक पुत्र के अपने जन्म के कुटुंब से समस्त बंधन टूट जाते हैं और उनका स्थान वे बंधन ले लेते हैं जो दत्तक कुटुंब में दत्तक के कारण सृजित होते हैं। वस्तुतः दत्तक अपत्य के समस्त अधिकार और कर्त्तव्य दत्तक कुटुंब में औरस अपत्य के सदृश तो हो जाते हैं क्योंकि वह औरस पुत्र का प्रतिनिधि होता है।[2] किंतु कुछ मामलों में उसका संबंध अपने जनक कुटुंब से बना रहता है, जिनका विवेचन नीचे किया जाएगा। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि जनक कुटुंब से उसकी मृत्यु हो जाती है और दत्तक कुटुंब में उसकी उत्पत्ति होती है।

(2) **सपिण्डता और प्रतिषिद्ध नातेदारी**—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 12 के परंतुक (क) के अनुसार दत्तक अपत्य किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह नहीं कर सकेगा जिससे यदि वह अपने जन्म के कुटुंब में बना रहा होता तो वह विवाह न कर सकता था। इस परंतुक के उपबंधों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिंदू विधि का यह सिद्धांत कि दत्तक दे दिये जाने के पश्चात् भी दत्तक पुत्र की सपिंड और प्रतिषिद्ध नातेदारी बनी रहती है,[3] सुरक्षित है। दत्तक अपत्य दत्तक-ग्रहण के पश्चात् जन्म के कुटुंब और दत्तक कुटुंब दोनों में ही सपिंड नातेदार होता है।

(3) **दत्तक अपत्य में दत्तकग्रहण से पूर्व निहित संपत्ति पर अधिकार**—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 12 के परंतुक (ख) के अनुसार, कोई भी संपत्ति, जो दत्तक अपत्य में दत्तक के पूर्वनिहित थी, ऐसी संपत्ति के स्वामित्व से संलग्न बाध्यताओं के, यदि कोई हों, अध्यधीन, जिनके अंतर्गत उसके जन्म के कुटुंब में के, नातेदारों को भरण-पोषण करने की बाध्यता भी आती है ऐसे व्यक्ति (दत्तक) में निहित बनी रहेगी।

---

[1] गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्द्त्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थानुगः पिंडो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ मनु० 9/142.

[2] पुत्रप्रतिनिधीनाहुः : क्रियालोपान्मनीषिणः। मनु० 9/180.

[3] मूत्तिय बनाम उप्पन, (1858) मद्रास सदरे दीवानी 117.

इस परंतुक का आशय यह है कि दत्तक-ग्रहण के पूर्व अपत्य में जन्म कुटुंब की जो संपत्ति या सांपत्तिक अंश उसमें विधि के अधीन निहित हो चुकी थी या हो चुका था वह इसलिए नहीं निर्निहित हो जाएगा कि उसके दत्तक-ग्रहण के कारण इस कुटुंब से समस्त बंधन धारा 12 के उपबंधों के अनुसार टूट चुके हैं। "अपने जन्म के कुटुम्ब के साथ समस्त बंधन टूट गये हैं" का तात्पर्य या आशय यही है कि भविष्य में दत्तक अपत्य में जन्म के कुटुंब के साथ विरासत में संपत्ति प्राप्त करने का हक नहीं होगा। किंतु जो हक वह दत्तक से पूर्व प्राप्त कर चुका है, वह उसमें निहित बना रहेगा। इसी हक को स्पष्ट करने के लिए परंतुक की विरचना हुई है।

प्राचीन हिंदू विधि की दायभाग शाखा के अधीन दत्तक के पूर्व दत्तक अपत्य में जो संपत्ति निहित रहती थी, चाहे वह संपत्ति विरासत या दान द्वारा प्राप्त थी, उसमें निहित बनी रहती है, अपत्य उससे निर्निहित नहीं होता।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि विधायिका ने इस मामले में दाय भाग विधि के उपबंधों को ही संहिताकृत किया है जिससे यह विधि मिताक्षरा शासित क्षेत्रों में भी लागू हो गई। किंतु संहिताकरण से पूर्व मिताक्षरा विधि में इस विषय पर विभिन्न उच्च न्यायालयों में मतान्तर था। मद्रास उच्च न्यायालय का मत था कि दत्तक के कारण कोई संपत्ति, जो दत्तक अपत्य में दत्तक जाने से पूर्व निहित थी, निर्निहित नहीं होती।[2] इस सिद्धांत के आधार पर यदि सहदायिकी संपत्ति एक व्यक्ति में उत्तरजीवी सहदायिकी के रूप में निहित है, और वह व्यक्ति तत्पश्चात् अन्य कुटुम्ब द्वारा दत्तक ले लिया जाता है, तो दत्तक के कारण उस संपत्ति में उसका अधिकार निर्निहित नहीं होता।[2] बम्बई उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यदि एक व्यक्ति में पिता के वारिस के रूप में कोई संपत्ति निहित होती है और तत्पश्चात् वह अन्य व्यक्ति या कुटुंब द्वारा दत्तक ले लिया जाता है तो दत्तक के कारण उसके अधिकार उस संपत्ति में से समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि 'वह संपदा उसके नैसर्गिक पिता की होती है।[3] पंजाब[4] और उड़ीसा[5] उच्च न्यायालयों ने भी यही मत व्यक्त किया है। किंतु यदि व्यक्ति विभाजन में कोई अंश पिता[6] या पितामह[7] से प्राप्त कर चुकता है और तत्पश्चात् उसको दत्तक ले लिया जाता है तो वह अपनी इस सम्पत्ति के हक से रहित नहीं हो जाता।

(4) **दत्तकग्रहण का अन्य व्यक्तियों के सांपत्तिक अधिकारों पर प्रभाव**— हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 12 के परन्तुक (ग) के अनुसार दत्तक अपत्य किसी व्यक्ति को संपदा से निर्निहित नहीं करेगा जो उस व्यक्ति में

---

1 राखलराज बनाम देवेन्द्र, ए० आई० आर० 1948 कलकत्ता 356.

2 श्री राजावेंकट नरसिंह बनाम श्री राजारंगय्या, आई० एल० आर० (1906) 29 मद्रास 437.

3 दत्तात्रेय बनाम गोविंद, ए० आई० आर० 1916 मुंबई 210.

4 हरलाल बनाम गंगाराम, ए० आई० आर० 1951 पंजाब 142.

5 माधव शाहु बनाम हरकिशोरशाहु, ए० आई० आर० 1975 उड़ीसा 48.

6 मणिकाबाई बनाम गोकुलदास, ए० आई० आर० 1925 मुंबई 363.

7 बहिनाबाई बनाम कृष्णलाल, ए० आई० आर० 1950 मुंबई 47.

दत्तक से पूर्व निहित हो गई है । इस परन्तुक से जहां अनेक विरासत संबंधी समस्याओं का समाधान हो जाता है, वहीं दत्तक अपत्य के लिए अनेक समस्याएं भी उठती हैं।

(क) यदि पति की निःसंतान मृत्यु होने पर विधवा में उसकी संपत्ति हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 के उपबंधों एवं अनुसूची 1 के वर्ग 1 के उत्तराधिकारी के रूप में निहित हो जाती है और तत्पश्चात् विधवा दत्तक लेती है तो दत्तक अपत्य या पुत्र को दत्तक पिता की संपत्ति प्राप्त नहीं होगी और वह विरासत के इस अधिकार से वंचित रहेगा। किंतु प्राचीन मिताक्षरा विधि के अधीन वह दत्तक पिता की संपत्ति या संपदा का पूर्ण वारिस होता है और दत्तक माता, जो जिसको मृत दत्तक पिता की संपत्ति पर सीमित अधिकार प्राप्त था, उसकी संपत्ति से निर्निहित हो जाती। इसका कारण यह है कि प्राचीन हिंदू विधि के अनुसार विधवा मृत पति के लिए दत्तक लेती है न कि अपने लिए। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन अब कोई व्यक्ति सीमित वारिस नहीं रह गया है; अतएव अनेक मामलों में इस परंतुक की आवश्यकता नहीं रह गई है। इतना ही नहीं दत्तक विधवा माता अपने पूर्ण स्वामित्व के फलस्वरूप अपनी संपत्ति को दत्तक के पश्चात् भी विक्रय कर सकती है, जिसे दत्तक पुत्र चुनौती नहीं दे सकता है। किंतु यदि विधवा दान करती है तो उसको दत्तक पुत्र चुनौती दे सकता है।[1]

(ख) यदि दत्तक पिता अविभक्त हिंदू कुटुंब का सदस्य है और एक मात्र उत्तरजीवी है तो दत्तक लेने के पश्चात् दत्तक पुत्र और दत्तक पिता में सहदायिकी की रचना होगी और दत्तक पिता में निहित संयुक्त संपत्ति दत्तक पुत्र के अंश तक निर्निहित हो जाएगी। माता-पुत्र में सहदायिकी की रचना न होने से दत्तक लेने के पश्चात् दत्तक माता द्वारा संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति को विरासत में प्राप्त करने पर भी दत्तक पुत्र का हक उसके जीवन काल में नहीं होगा और यही विधि दत्तक पुत्री के विषय में लागू होगी। दत्तक पुत्र केवल मिताक्षरा संयुक्त कुटुंब में ही पिता को निर्निहित करता है न कि दायभाग संयुक्त कुटुंब में क्योंकि इस शाखा में पिता-पुत्र में सहदायिकी नहीं होती। सहदायिकी की धारणा हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 6 के उपबंधों के अनुसार मिताक्षरा शाखा में विधिमान्य है।

(ग) दत्तक व्यक्ति अपने दत्तक पिता के पृथक् संपत्ति के अधिकारों को प्रभावित नहीं करता। दत्तक पिता अपनी पृथक् संपत्ति को दत्तक लेने के पश्चात् भी दान, विल या विक्रय द्वारा व्ययन कर सकता है। दत्तक अपत्य पृथक् संपत्ति के मामले में औरस अपत्य से अधिक अच्छी स्थिति में नहीं होता और हिंदू विधि में ऐसा कोई नियम नहीं है, जो पिता को पृथक् संपत्ति का किसी प्रकार से व्ययन करने से निवारित कर सके जिससे कि उसके विरासत या दायाधिकार पर प्रभाव पड़ता हो।[2] किंतु यदि दत्तक पिता और दत्तक अपत्य के जन्मदाता पिता में कोई एतद्विषयक करार या संविदा हुए हों तो दत्तक पिता अपनी पृथक् या स्वार्जित संपत्ति का व्ययन दत्तक अपत्य के हितों के प्रतिकूल नहीं कर

---

1 मुकुंदसिंह बनाम वजीरसिंह, (1972) 4 एस० सी० सी० 178.

2 सुब्बारेड्डि बनाम दुरैस्वामी, आई० एल० आर० (1907) 30 मद्रास 369.

सकता है ।[1] हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 13 के उपबंधों में यह अधिकथित है कि तत्प्रतिकूल करार के अध्यधीन यह है कि कोई दत्तक किसी दत्तक पिता या माता को अपनी संपत्ति जीवाभ्यन्तर इन्टरवाइव्स अंतरण द्वारा या विल द्वारा व्ययित करने की शक्ति से वंचित नहीं करता । इस धारा के वाक्यांश 'तत्प्रतिकूल करार के अध्यधीन यह हैकि' से यह स्पष्ट है कि दत्तक अपत्य के जन्मदाता पिता और दत्तक पिता में एतद्विषयक करार हो सकता है कि दत्तक पिता अपनी संपत्ति का व्ययन दत्तक के हितों के प्रतिकूल नहीं करेगा । ऐसा करार या संविदा आज भी विधिमान्य है ।

पूर्व संबंध का सिद्धांत—प्राचीन हिंदू विधि के अधीन विधवा द्वारा दत्तक लिया गया पुत्र विधिक कल्पना द्वारा उसके पति की मृत्यु के दिनांक से दत्तक मान लिया जाता है ।[2] **कृष्ण मूर्ति बनाम ध्रुवराज**[3] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस विषय पर निम्नलिखित सिद्धांत अधिकथित किए हैं —

(अ) दत्तक पुत्र की स्थिति मरणोत्तर अपत्य की है और यह विधि की दृष्टि में विधिक कल्पना द्वारा पूर्व संबंध प्राप्त करता है अर्थात् दत्तक-ग्रहण पिता की मृत्यु से प्रभावी होता है जिसके फलस्वरूप दत्तक से पूर्व के भी अधिकार उसे प्राप्त हो जाते हैं ।

(आ) दत्तक पुत्र मृत दत्तक पिता की संपत्ति से जो दत्तक माता में निहित हो गई थी माता को निर्निहित करेगा और यदि दत्तक माता ने दत्तक पिता की मृत्यु के उपरांत औरस पुत्र की मृत्यु होने पर उसकी संपत्ति विरासत में प्राप्त की हो, तो उसे उस संपदा से भी निर्निहित करेगा ।

(इ) दत्तक लेने में सक्षम विधवा के जीवित रहते सहदायिकी चालू रहती है और ज्योंही विधवा दत्तक लेती है, दत्तक पुत्र के अधिकार वही हो जाते हैं जो दत्तक पिता की मृत्यु के समय उसके रहते यदि वह अस्तित्व में रहता और सहदायिकी में उसका हक उन व्यक्तियों के हक के विरुद्ध भी हो जाता है जो अंतिम सहदायिक के वारिस के रूप में दावा करते हैं ।

(ई) पूर्व संबंध का सिद्धांत मात्र उस समय लागू होता है जब दत्तक पुत्र अपने दत्तक पिता की संपदा के लिए दावा करता है न कि सांपार्श्विकों की संपदा के लिए किए गये दावे के समय पिता की संपदा के लिए दावा करने पर उसे वही हक प्राप्त हो सकता है जो उसके दत्तक पिता को मृत्यु के समय प्राप्त था और जो अंश उसे सहदायिकी संपत्ति में मिलता । साम्पार्श्विकों की संपदा के बारे में विरासत का यह नियम लागू होता है कि विरासत या दायाधिकार प्रास्थगन की स्थिति में नहीं रखा जा सकता और वह निकटतम दायादों को न्यागत हो जाता है । तत्पश्चात् संपदा निर्निहित नहीं की जा सकती । यही कारण है कि ऐसे मामलों में पूर्व संबंध का सिद्धांत नहीं लागू होता ।

(उ) दत्तक पिता की संपदा, जिस किसी के हाथों में हो, उसकी बनी रहेगी

---

[1] सुरेन्द्र केशव बनाम दुर्गा सुंदरी, (1892) 19 आई॰ ए॰ 108 (पी॰ सी॰); नंदकृष्ण बनाम भूपेन्द्र, ए॰ आई॰ आर॰ 1966 कलकत्ता 181.

[2] श्रीपाद गुंजन बनाम दत्ताराम काशीनाथ, ए॰ आई॰ आर॰ 1974 एस॰ सी॰ 878.

[3] ए॰ आई॰ आर॰ 1962, एस॰ सी॰ 59.

चाहे वह आत्यंतिक स्वामी के पास हो अथवा सीमित स्वामी के, दायाधिकार के संक्रांत होने का विचार किये बिना कि संपदा अनेक व्यक्तियों के द्वारा उसे न्यागत हुई है।

पूर्व संबंध के सिद्धांत पर उच्चतम न्यायालय ने **श्रीपाद** बनाम **दत्तराम**[1] के मामले में विचार किया और यह अभिनिर्धारित किया कि विधिक कल्पना विधिक सीमांत रखती है और इसे उन मामलों में नहीं लागू किया जा सकता, जिनमें दत्तक पिता के हितों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों का हित भी अंतर्ग्रस्त होता है और जहां उत्तराधिकार का मामला अंतर्ग्रस्त होता है।[2] किंतु यदि दत्तक पिता की मृत्यु कुटुंब के विभाजन से अनेक वर्ष पूर्व हो गई हो, और विभाजन दत्तक पिता के पिता और उसके चाचा (दत्तक पिता के भाई) के बीच हुआ तो दत्तक पुत्र एक तिहाई भाग ही कौटुंबिक संपदा में प्राप्त करेगा क्योंकि यदि उसका दत्तक पिता विभाजन के समय जीवित होता तो वह भी इतने ही भाग का हकदार होता।[2] ऐसे मामले में विभाजन को छोड़कर विचार किया जाएगा और पूर्व संबंध का सिद्धांत लागू होगा।[2]

पूर्व संबंध के सिद्धांत के विषय में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि विधवा संहिताकृत विधि के अधीन अपने लिए भी दत्तक लेती है तथापि उसका मृत पति दत्तक पुत्र का दत्तक पिता होता है और वह औरस पुत्र की स्थिति में होता है। औरस पुत्र के अधिकार ऐसे हैं, जिनके द्वारा वह जन्म पूर्व विभाजन को अकृत कराने का दावा कर सकता है। यह धारणा कि दत्तक पुत्र दत्तक-ग्रहण के दिनांक से हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 12 के अधीन दत्तक कुटुंब का सदस्य बनने के कारण उसके अधिकारों का इस कुटुंब में उसी दिन से उदय होता है, उचित नहीं होगी। जिस प्रकार मरणोत्तर पुत्र के अधिकार का पिता की मृत्यु के दिन से ही उदय हो जाता है, इस विचार के बिना कि वह मृत्यु के दिन कुटुंब का सदस्य नहीं था, उसी प्रकार दत्तक पुत्र के अधिकार का भी दत्तक पिता की मृत्यु के दिन से ही उदय हो जाता है यद्यपि उसे दत्तक कुटुंब की सदस्यता तत्पश्चात् दत्तक के दिन से प्राप्त होती है।

(2) **दत्तक अपत्य की नातेदारी**—हिंदू धारणा के अनुसार दत्तक लेने वाले व्यक्ति की पत्नी दत्तक पुत्र या पुत्री की दत्तक माता होती है। दत्तक कुटुंब के अन्य सदस्य उसके उसी प्रकार नातेदार होते हैं जिस प्रकार एक औरस पुत्र या पुत्री के होते हैं। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 14 के उपबंधों के अनुसार हिंदुओं की इस धारणा को सुरक्षित रखा गया है।

धारा 14 की उपधारा (1) में यह परिभाषित किया गया है कि 'जहां कोई हिंदू, जिसकी पत्नी जीवित है, किसी अपत्य को दत्तक लेता है, वहां वह दत्तक माता समझी जाएगी।'

किंतु उपधारा (2) के अनुसार जहां दत्तक एक से अधिक पत्नियों की सम्मति से लिया गया है वहां उनमें से सबसे पूर्व विवाहिता दत्तक माता समझी जाएगी और अन्य

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 876.

[2] गोविंद हनुमंत **बनाम** नागप्पा, ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1401.

सौतेली माताएं समझी जाएंगी।

उपधारा (3) के अनुसार जहां कोई विधुर या कुंवारा किसी अपत्य को दत्तक लेता है वहां ऐसी कोई पत्नी, जिससे वह तत्पश्चात् विवाह करे, दत्तक अपत्य की सौतेली माता समझी जाएगी।

उपधारा (4) के अनुसार जहां कोई विधवा या अविवाहिता किसी अपत्य को दत्तक लेती है, वहां ऐसा कोई पति, जिससे यह तत्पश्चात् विवाह करे, दत्तक अपत्य का सौतेला पिता समझा जाएगा।

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 14 के उपबंधों में यद्यपि मृत पति और कुटंब के अन्य सदस्यों से दत्तक अपत्य की नातेदारी के बारे में कुछ नहीं कहा गया है तथापि इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उक्त व्यक्तियों से उसका कोई संबंध होता ही नहीं। दत्तक माता का मृतपति ही दत्तक पिता होगा। यह इससे भी स्पष्ट है कि उपधारा (4) में विधवा यदि दत्तक लेने के पश्चात् किसी व्यक्ति से विवाह करती है तो उसका यह पति दत्तक अपत्य का सौतेला पिता समझा जाएगा।

जहां तक अविवाहिता स्त्री द्वारा किसी अपत्य को दत्तक लेने का संबंध है वह कानीन पुत्र की स्थिति में होता है। दत्तक लेने के पश्चात् जिस पति से वह विवाह करती है वह उपधारा (4) के अनुसार दत्तक अपत्य का सौतेला पिता होता है। इस स्थिति में उसका पितृत्व इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार अज्ञात ही माना जाएगा जब कि प्राचीन हिंदू विधि में कानीन पुत्र का पितृत्व उसी व्यक्ति का माना जाता है, जिससे उसकी अविवाहिता माता उसके जन्म के पश्चात् विवाह करती है। इस प्रकार संहिताकृत विधि में अविवाहिता स्त्री के दत्तक अपत्य की स्थिति पितृत्व के बिना दयनीय है जो युक्तियुक्त नहीं है। विधायिका को इस बारे में पुनर्विचार करना चाहिए और दत्तक-ग्रहण के पश्चात् कुंवारा व्यक्ति यदि विवाह करता है तो उसकी पत्नी दत्तक अपत्य की दत्तक माता मानी जानी चाहिए और इसी प्रकार अविवाहिता स्त्री यदि दत्तक लेने के पश्चात् विवाह करती है तो उसका पति दत्तक अपत्य का दत्तक पिता माना जाना चाहिए। इन मामलों में उसी सिद्धांत का विस्तार किया जाना युक्तियुक्त होगा, जिसके अनुसार विधवा द्वारा दत्तक लेने पर उसका मृत पति दत्तक अपत्य का दत्तक पिता होता है।

दत्तक के सामान्य उपबंध

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के और प्राचीन हिंदू विधि के सामान्य उपबंधों की विवेचना आगे की जा रही है।

(1) **विधिमान्य दत्तक को रद्द न किया जाना**—इस अधिनियम की धारा 15 के अनुसार कोई भी दत्तक जो विधिमान्यत: किया गया है, दत्तक पिता या माता द्वारा या किसी व्यक्ति द्वारा रद्द न किया जा सकेगा और न दत्तक अपनी ऐसी हैसियत का त्याग कर सकेगा और न वह अपने जन्म के कुटुंब में वापस जा सकेगा। यह धारा केवल विधिमान्य दत्तक-ग्रहण को आत्यंतिक मानती है जिसके फलस्वरूप उसे रद्द नहीं किया जा सकता। किंतु कोई दत्तक अपत्य (पुत्र या पुत्री) दत्तक लेने वाले कुटुंब में अपने दायाधिकार

या विरासत का त्याग कर सकता है। ऐसी दशा में उस कुटुंब की संपत्ति अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त होगी।[1]

(2) **दत्तक से संबंधित रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों के बारे में उपधारणा**—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 15 के अनुसार जब कभी भी तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन रजिस्ट्रीकृत कोई ऐसा दस्तावेज जिसमें किसी किए गए दत्तक का अभिलिखित होना तात्पर्यित हो और जो अपत्य को दत्तक देने और लेने वाले व्यक्तियों द्वारा हस्ताक्षरित हो, किसी न्यायालय के समक्ष पेश किया जाए तब जब तक कि और यदि उसे नासाबित न कर दिया जाए, न्यायालय यह उपधारणा करेगा कि वह दत्तक इस अधिनियम के उपबंधों के अनुपालन में किया गया है।

दत्तक का रजिस्ट्रीकरण इस धारा में अनिवार्य नहीं है। प्राचीन हिंदू विधि के नियमों में भी रजिस्ट्रीकरण अनिवार्य नहीं माना गया। इस धारा के उपबंधों के अनुसार न्यायालय तभी दत्तक-ग्रहण किसी रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के आधार पर उपधारित करेगा, जब वह दत्तक लेने और देने वाले पक्षकारों द्वारा हस्ताक्षरित हो अन्यथा नहीं।[2]

यदि दत्तक से संबंधित रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज को कपटपूर्ण या अनुचित प्रभाव के आधार पर चुनौती दी जाए तो यह चुनौती देने वाले व्यक्ति को सिद्ध करना पड़ेगा और कपट या अनुचित प्रभाव सिद्ध हो जाने पर ही दत्तक अविधिमान्य होगा अन्यथा नहीं।[3]

(3) **इकलौते पुत्र का दत्तक ग्रहण** - धर्मशास्त्रीय विधि के अनुसार इकलौते पुत्र को दत्तक देना प्रतिषिद्ध है। वशिष्ठ के अनुसार इकलौता पुत्र पूर्वजों की वंशपरंपरा की अक्षुण्णता के लिए होता है, अतएव उसका दान नहीं होना चाहिए।[4] मिताक्षरा के अनुसार भी इकलौते और ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक देना प्रतिषिद्ध है क्योंकि वही मुख्यतया पुत्र का कृत्य करता है।[5] किंतु न्यायालयों ने एकमात्र पुत्र का दत्तक लेना और देना दोनों ही विधिमान्य माना।[6] इस विषय पर हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 में कोई उपबंध न होने से यह सुस्थिर विधि लागू है।

(4) **दत्तक-ग्रहण के पश्चात् उत्पन्न पुत्र**—यद्यपि दत्तक-ग्रहण के पश्चात् दत्तक पुत्र की दत्तक कुटुंब में वही स्थिति होती है जो एक औरस पुत्र की तथापि दत्तक ग्रहण के बाद औरस पुत्र उत्पन्न होने से उसके अधिकारों में कमी आ जाती है। दत्तक लेने के

---

1 **गुलकंदी बनाम** प्रह्लाद, ए० आई० आर० 1968 राजस्थान 51.

2 **गोलकचंद्र बनाम** कृत्तिवास, ए० आई० आर० 1979 उड़ीसा, 205.

3 **सुशीलचंद्र बनाम** भूपकुमार, ए० आई० 1977 इलाहाबाद, 441.

4 न त्वेवैकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि संतानाय पूर्वेषाम्। वसि० ध० सू० 15/3. याज्ञ० 2/130 की मिता० टीका भी देखिये।

5 एकपुत्रो न देयः।······तथाऽनेकपुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठो न देयः।···तस्यैव पुत्रकार्यकरणे मुख्यत्वात्। याज्ञ० 2/130 की मिता० टीका।

6 श्री बालुसुगुरुलिंगस्वामी **बनाम** श्री बालुसु रामलक्ष्मा, (1899) 26 आई० ए० 113.

पश्चात् यदि दत्तक पिता को औरस पुत्र उत्पन्न हो जाए तो पिता पुत्र में विभाजन होने पर हिंदू विधि की विभिन्न शाखाओं के अनुसार उसके सांपत्तिक अंश भिन्न होंगे जिनका विवेचन इस प्रकार है :—

(क) बंगाल शाखा में दत्तक पुत्र दत्तक पिता की संपदा का तृतीय अंश प्राप्त करेगा।[1]

(ख) वाराणसी शाखा में दत्तक पुत्र दत्तक पिता की संपदा का चतुर्थांश प्राप्त करेगा।[2]

(ग) महाराष्ट्र और मद्रास शाखाओं में दत्तक पिता की संपदा का पंचमांश प्राप्त करेगा।[3]

यदि संपदा अविभाज्य है तो पश्चात्वर्ती उत्पन्न औरस पुत्र ही दायाधिकारी होगा।[4]

शूद्रों में बंगाल और मद्रास शाखाओं में दत्तक पुत्र औरस पुत्र के बराबर ही अंश प्राप्त करेगा।[5] बंबई शाखा में उसे दत्तक पिता की संपदा का पंचमांश ही प्राप्त होगा[6] और वाराणसी शाखा में उसे संपदा का चतुर्थांश ही प्राप्त होगा।[7]

अविधिमान्य दत्तक-ग्रहण का प्रभाव

अविधिमान्य दत्तक-ग्रहण विधि की दृष्टि में दत्तक होता ही नहीं, चाहे वह तथ्यतः दत्तक क्यों न हो। अविधिमान्य दत्तक के परिणामस्वरूप दत्तक अपत्य न तो दत्तक कुटुंब में कोई अधिकार प्राप्त करता है, न उसके अधिकार जन्म के कुटुंब से समाप्त होते हैं।[8]

किंतु यदि अविधिमान्य दत्तकग्रहण में दत्तक अपत्य को कोई दान या बिल किया गया हो तो दाता या बिलकर्त्ता के आशय के बारे में विलेख की भाषा से और परिस्थितियों

---

1 उत्पन्ने त्वौत्यौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः। कात्यायन दाय० (पृ० 58) 18/13 पर उद्धृत (दत्तक) ते औरस पुत्रभागस्यतृतीयांशभागिनः। दाय० (पृ० 58) 10/7.

2 तस्मिंश्चेत्प्रतिग्रहीत औरसः पुत्र उत्पद्येत चतुर्थभागभागी स्याद्दत्तकः। वसि० ध० सू० 15/9. तस्मिंश्चेत्प्रतिग्रहीत औरस उत्पद्येत स चतुर्भाग्। व्य० नि० पृ० 438 भी देखिए.

3 मेलप्पा बनाम गुरम्मा, ए० आई० आर० 1956 मुंबई 129.
अय्यु बनाम नीलदाच्ची, (1862)। मद्रास हाई कोर्ट रिपोर्ट्स 45.

4 साहब गौड़ बनाम शिद्दन गौड़, आई० एल० आर० (1939) मुंबई 314.

5 पीराजु बनाम सुब्बरायडु, ए० आई० आर० 1922 पी० सी० 71.

6 गुरुम्मा बनाम माल्लप्पा, ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 510.

7 अनन्दीलाल बनाम ओंकार, ए० आई० आर० 1960 राजस्थान 251.

8 वयतिलिंगम् बनाम नटेश, ए० आई० आर० 1914 मद्रास 460; वामन बनाम बंकाजी, ए० आई० आर० 1921 मुंबई 55; हरिदास चटर्जी बनाम मन्मथनाथ मालिक, ए० आई० आर० 1936 कलकत्ता 1.

से यह निष्कर्ष निकाला जाएगा कि दान या विल ऐसी दशा में विधिमान्य है अथवा नहीं ।[1]

कृत्रिम प्रकार का दत्तक-ग्रहण

प्राचीन हिंदू विधि में कृत्रिम पुत्र की मान्यता रही है जो एक प्रकार का दत्तक ग्रहण है और मिथिला क्षेत्र तथा उसके निकटवर्ती जनपदों में प्रचलित है । इस प्रकार के दत्तकग्रहण का अधिकार पुरुष और स्त्री दोनों को ही है । न तो विवाहिता स्त्री, न ही विधवा अपने पति के लिए कृत्रिम पुत्र दत्तक लेती है चाहे वह अभिव्यक्त रूप से ही इसके लिए पति द्वारा प्राधिकृत हो । पत्नी जब अपने लिए कृत्रिम पुत्र को दत्तक लेती है, तब उसे पति की अनुज्ञा या सम्मति लेने की आवश्यकता नहीं है । विधवा को भी मृत पति के पूर्व प्राधिकार या उसके सपिंडों की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती । कृत्रिम प्रकार के दत्तक की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

(क) यदि अपत्य समझने की क्षमता रखता है तो कृत्रिम प्रकार के दत्तक में उसकी सम्मति आवश्यक है और यदि वह अप्राप्तावय है तथा विवेक की आयु प्राप्त नहीं की है, तो जनकों की अनुमति आवश्यक है ।[2]

(ख) कृत्रिम पुत्र दत्तक पिता की ही जाति का होना चाहिए ।[3] उसकी आयु और दत्तक पिता से उसके रक्त की निकटता अनावश्यक हैं ।

(ग) इस प्रकार के दत्तक की विधिमान्यता के लिए किसी गृह्यकर्म की आवश्यकता नहीं है, न ही किसी विलेख की ।[4]

(घ) पति और पत्नी अपने-अपने लिए पृथक्-पृथक् कृत्रिम पुत्रों को दत्तक ले सकते हैं ।[5]

(ङ) कृत्रिम पुत्र के दायाधिकार या विरासत के अधिकार नैसर्गिक कुटुंब से समाप्त नहीं होते । इस प्रकार वह दत्तक कुटुंब और जन्म के कुटुंब दोनों की संपत्तियों का वारिस होता है । किंतु दत्तक कुटुंब में वह उसी व्यक्ति की संपदा को विरासत में प्राप्त करता है जिसका वह कृत्रिम पुत्र होता है ।[6]

---

1 पंकाक्षरम्मा बनाम चिन्नाबबाई, ए० आई० आर० 1967, एस० सी० 207.

2 उमेशभक्त बनाम रामकुमारी देवी, ए० आई० आर० 1963 पटना 362.

3 सदृशं यं सकामं स्वयं कुर्यात्स कृत्रिमः । बौधा० ध० सू० 2/2/3/21.
सदृशं जात्यादिना अर्थात् सदृश शब्द जाति का बोधक है । उसी पर गोविंदस्वामी कृत टीका.

4 कमलाप्रसाद मुरलीमनोहर, ए० आई० आर० 1934 पटना 398.

5 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ उपबंध 515 (4), पृष्ठ 621.

6 गोकुलरास बनाम जानकीकुंअरि, ए० आई० आर० 1955 पटना 687; लक्ष्मी रेड्डि, बनाम लक्ष्मी रेड्डि ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 314 .

इल्लातोम प्रकार का दत्तक

मद्रास की रेड्डी और कम्मा जातियों में कौटुंबिक संपत्ति के प्रबंध आदि के सहायतार्थ जामाता को पुत्र के रूप में दत्तक लेने की रूढ़ि या प्रथा इल्लातोम कहलाती है। यह रूढ़ि या प्रथा पर आधृत दत्तक है, जिसे न्यायिक मान्यता प्रदान की गई है[1]।

इस प्रकार के दत्तक की अनिवार्य शर्त यह है कि दत्तक उस व्यक्ति की पुत्री से अवश्य विवाह करे जो उसको दत्तक लेता है और दत्तक को दत्तक लेने वाला व्यक्ति अपनी संपत्ति में से अंश देने का करार करे। दोनों शर्तें अवश्य पूरी होनी चाहिएं तभी इल्लातोम प्रकार का दत्तक ग्रहण बिधिमान्य होगा। विनिर्दिष्ट करार इल्लातोम दत्तक का आधार है।[2] इल्लातोम दत्तक की निम्नलिखित प्रसंगतियां हैं :—

(1) जामाता सर्वथा दत्तक पुत्र नहीं माना जाता और न ही उसका जन्म के कुटुंब में दायाधिकार समाप्त होता है।[3]

(2) न तो जामाता, न ही उसके वंशज, दत्तक कुटुंब में किसी सहदायिकी की रचना करते हैं।[4] दत्तक लेने वाले श्वशुर की मृत्यु के उपरांत वह किसी पश्चात् उत्पन्न औरस या दत्तक पुत्र के विरुद्ध भी वही सांपत्तिक अधिकार रखता है, जो करार के अधीन उसे प्राप्त था।[5]

(3) इल्लातोम प्रकार का दत्तक पुत्र अपने श्वशुर के विरुद्ध उसके जीवन काल में विभाजन का वाद संस्थित नहीं कर सकता, और न ही उसे संयुक्त हिंदू कुटुंब की उत्तरजीविता का अधिकार प्राप्त होता है। वह, जो भी साम्पत्तिक भाग अपने श्वशुर की मृत्यूपरांत पाता है, वह उसकी स्वार्जित और पृथक् संपत्ति होती है।[6]

पंजाब क्षेत्र में रूढ़िगत दत्तक-ग्रहण

पंजाब में एक प्रकार का रूढ़िगत दत्तक-ग्रहण प्रचलित है, जिसके माध्यम से दत्ताक पिता और दत्ताक अपत्य में व्यक्तिगत नातेदारी की विरचना उसकी संपदा के या दायाद या उत्तराधिकारी के रूप में होती है। इस प्रकार के दत्ताक द्वारा नियुक्त उत्तराधिकारी और दत्ताक पिता के सांपार्श्विकों में कोई रक्त संबंध की विरचना नहीं होती और

---

1 कृष्णाम्मा बनाम वेंकटसुब्बय्या, आई० एल० आर० (1919) पी० सी० 162; वेंकटय्या बनाम सत्यनारायण, ए० आई० आर० 1959 आंध्र प्रदेश 360.

2 नरसय्या बनाम रामचंद्रय्या, आई० एल० आर० (1956) आंध्र प्रदेश 209.

3 रामकृष्ण बनाम सुब्बक्का, आई० एल० आर० (1889) 12 मद्रास 442.

4 मुत्तल बनाम शंकरप्पा, ए० आई० आर० 1935 मद्रास 3.

5 हनुमंतय्या बनाम रामी रेड्डि, आई० एल० आर० (1881) 4 मद्रास 272.

6 मल्ल रेड्डि बनाम पद्मामम्मा, आई० एल० आर० (1894) 17 मद्रास 48.

न ही वह औरस पुत्र का प्रतिनिधि होता है।[1] वस्तुत: इस प्रकार का दत्तक-ग्रहण हिंदू विधि की पंजाब शाखा की उन रूढ़ियों या प्रथाओं का अंग है, जिन्हें इस क्षेत्र में शास्त्रीय हिंदू विधि के स्थान पर न्यायालय की विधि के रूप में मान्यता दी गई।

कोई हिंदू जो पंजाब की रूढ़िगत विधि से शासित होता है, हिंदू गृह्यकर्मों और कृत्यों द्वारा अथवा वस्तुत: लेने और देने की प्रक्रिया द्वारा दत्तक-ग्रहण करने से हक नहीं खो देता है।[2] किंतु पंजाब का रूढ़िगत दत्तक-ग्रहण हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 5 की उपधारा (1) के उपबंधों के अनुसार निरसित हो चुका है।[3]

□□□

[1] केहरसिंह बनाम दीवानसिंह, ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1555.

[2] मुकुंदसिंह बनाम वजीरसिंह, (1972) 4 एस० सी० सी० 178.

[3] करतारसिंह बनाम सुजानसिंह, (1974) 2 एस० सी० सी० 59.

अध्याय 13

भरण–पोषण

भरण-पोषण का अर्थ

शरीर के रक्षण हेतु जो कुछ ग्रहण किया जाता है उसे भरण-पोषण कहते हैं मूलतः भरण-पोषण के अंतर्गत भोजन ही आता है जैसा कि ऋग्वेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है। 'इंद्र यजमान का भोजन दाता है, अतः मनुष्य उसका उसी प्रकार आह्वान करते हैं, जिस प्रकार अन्नदाता पिता का।[1] इस ऋचा से यह स्पष्ट है कि जीवन के लिए भोजन परमावश्यक तत्व है। मात्र भोजन से भरण तो संभव है, किंतु पोषण के लिए औषध और आवरण की भी आवश्यकता होती है। वेदों में ओषधि को भी एक आवश्यक पोषक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] आवरण अर्थात् वस्त्र के अभाव में शरीर का बाह्य पोषण नहीं होता। शरीर की रक्षार्थ बाह्य पोषण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि आंतरिक पोषण। बाह्य पोषण के लिए आवास की भी आवश्यकता है, जिससे प्रकृतिक कुप्रभावों से रक्षा होती है। इस शरीर में उदर की भांति ही एक अत्यावश्यक अंग है मस्तिष्क, जिसका पोषण ज्ञानार्जन से होता है और ज्ञान का उदय व्यक्ति में गर्भावस्था में ही हो जाता है।[3] यद्यपि इसे सभ्य समाज की वस्तु माना जाता है तथापि भारतीय दर्शन में इसे मानव जाति से संबद्ध माना जाता है। इस प्रकार भरण-पोषण के अंतर्गत भोजन, ओषधि, वस्त्र, आवास एवं शिक्षा सम्मिलित हैं। इसी आधार पर हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 3(ख) में भरण-पोषण की परिभाषा की गयी है।

भरण-पोषण की परिभाषा

"भरण-पोषण के अंतर्गत—

(i) सब दशाओं में भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा और चिकित्सीय परिचर्या और इलाज के लिए उपबंध आता है,

(ii) अविवाहित पुत्री की दशा में उसके विवाह के युक्तियुक्त और प्रासंगिक व्यय भी आते हैं।"

धारा 3(ख) उपखंड (i) सामान्य भरण-पोषण को परिभाषित करता है, किंतु उपखंड (ii) भरण-पोषण का विस्तार करके इसके अंतर्गत अविवाहित पुत्री के विवाह का

---

[1] मां हवन्ते पितरं वन्जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्। ऋ० 10/48/1.

[2] करम्भ ओषधे भव पीवो वृक्क उदारथिः।
वातये पीव इदूभव। ऋ० 1/187/10.

[3] गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। ऋ० 4/27/1.
अर्थात् गर्भ में ही मैंने (ऋषि ने) देवताओं के जन्म को जान लिया।

युक्तियुक्त और प्रासंगिक व्यय भी सम्मिलित करता है। यही इस अधिनियम की विशेषता है और यह हिंदू धारणाओं के सर्वथा अनुकूल है। मनु आदि शास्त्रकारों ने ऐसे पिता को निन्द्य माना है जो विवाहयोग्य पुत्री का समय से विवाह नहीं करता।[1] इस उपखंड का यह अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता कि अविवाहित पुत्री का विवाहार्थ व्यय ही भरण-पोषण में आता है, वस्तुतः, यह उपखंड सामान्य भरण-पोषण की अतिरिक्त व्यवस्था का उल्लेख करता है और विवाहार्थ व्यय को भी भरण-पोषण का अंग मानता है। हिंदू धारणाओं के अनुसार पुरुष वंशजों के उपनयन और विवाह के व्यय भी भरण-पोषण के अंतर्गत सम्मिलित है। किंतु इस उपखंड में पुत्रों के विवाह-व्यय को भरण-पोषण में सम्मिलित नहीं किया गया है। फिर भी हिंदू विधि में सामान्यतया पुत्रों के विवाह का युक्तियुक्त प्रासंगिक व्यय भी भरण-पोषण में सम्मिलित होगा।

भरण-पोषण की प्रकृति

मनु के अनुसार भरण-पोषण का दायित्व परलोकार्थ दानादि से भी अधिक महत्वपूर्ण है।[2] जो व्यक्ति भरण-पोषण के दायित्व का निर्वाह नहीं करता, उसके इहलोक और परलोक दोनों ही कष्टप्रद होते हैं।[3] पति को स्त्री का भरण करने के कारण भर्त्ता और पोषण करने के कारण पति कहते हैं।[4] किंतु जो व्यक्ति अपनी पत्नी का भरण-पोषण नहीं करता है, वह न तो भर्ता कहलाने योग्य है और न पति ही।[5] इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि व्यक्ति पत्नी के ही भरण-पोषण के प्रति अधिक दायी है। संतति के प्रति भी उसका दायित्व उतना ही सुस्पष्ट है। पिता शब्द भी 'पालन' का ही वाचक है। ऋग्वेद में इन्द्र को इसलिए पिता माना है कि वह सबका पोषण वैसे ही करता है जैसे पिता पुत्र का।[6] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू विधि में भरण-पोषण का दायित्व व्यक्तिगत है। यह एक ऐसा दायित्व है, जिसे अनेक धार्मिक कृत्यों से भी उच्च माना गया है। व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ धार्मिक कृत्य अपने आश्रितों का भरण-पोषण करना है। कुछ अर्थों में भरण-पोषण का संबंध विरासत में प्राप्त होने वाली संपत्ति तक ही सीमित नहीं होता। यह संबंध विशेष पर निर्भर है[7] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। व्यक्ति को अपने पिता, अपत्यों और पत्नी का भरण-पोषण संपत्ति न रहने पर भी उसी प्रकार करना होगा जिस प्रकार वह अपना करता है। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 18, 19 और 20 में भी संबंधों पर आधृत भरण-पोषण के दायित्व को उपबंधित किया गया है, जिसमें हिंदू विधि की धारणाओं को मूल रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

---

[1] कालेऽदाता पिता वाच्यो—मनु० 19/4

[2] भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्। मनु० 11/10 का (पूर्वार्ध).

[3] तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ उसीका उत्तरार्ध.

[4] भार्याया: भरणाद् भर्त्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः। महा० 1/104/31.
भरणाद्धि स्त्रिये भर्त्ता पालनाच्च स्त्रियः पतिः। महा० 12/266/36 (पूर्वार्ध).

[5] गुणस्यास्य निवृत्तौ स न भर्त्ता न पुन पतिः ॥ उसीका उत्तरार्ध.

[6] इंद्र ऋतुं न अभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। ऋ० 7/32/26.

[7] साविन्नीबाई बनाम लक्ष्मीबाई, आई० एल० आर० (1878) 2 मुंबई 573 (पूर्णपीठ).
कमलाअम्माल बनाम वेंकटलक्ष्मी अम्माल ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1348.

अब यह दायित्व केवल धार्मिक प्रकृति का ही न होकर कानूनी विधि की प्रकृति का भी हो गया है ।

यही बात नीचे दी गयी भरण-पोषण के अधिकार की परिभाषाओं से भी परिलक्षित होती है :—

> "पत्नी, माता-पिता और शिशु अपत्य, जिनके अंतर्गत पौत्र भी आते हैं; भरण-पोषण के हकदार है और उनके भरण-पोषण की बाध्यता व्यक्ति से संलग्न है और पैतृक अथवा संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति से स्वतंत्र है ।"[1]
>
> — लार्ड ड्यूनेडिन

> "भरण-पोषण का अधिकार दिन प्रतिदिन प्रोद्भूत होने वाला एक आवर्ती अधिकार है जो परिस्थितियों के परिवर्तन से निर्वापित (समाप्त) या उपांतरित (संशोधित) हो सकता है" ।[2]
>
> —मुखर्जी और पौण्टन

ऊपर की दो परिभाषाओं में से प्रथम परिभाषा उन आश्रितों के भरण-पोषण के अधिकार को व्यक्तिगत बाध्यता के रूप में स्वीकार करती है जो संबंध विशेष के नाते आश्रित होते हैं, जिनमें मात्र पत्नी, माता-पिता, और शिशु अपत्य आते हैं अत: यह व्यक्ति से संलग्न है । व्यक्ति से संलग्न बाध्यता कौटुंबिक संपत्ति से स्वतंत्र होती है । किंतु द्वितीय परिभाषा के अनुसार यह व्यक्तिगत बाध्यता भी परिस्थितियों पर आधृत है जो परिस्थितियों के परिवर्तन से निर्वापित या उपांतरित हो सकती है और हिंदू विधि भरण-पोषण के अधिकार में किये गये उपांतरण या निर्वापन को न्यायोचित मानती है जो आज भी विधि-मान्य है । भरण-पोषण पाने का अधिकार ऐसा अधिकार नहीं है जो एक बार प्रोद्भूत हो जाने पर संबंधित व्यक्ति के जीवनपर्यन्त चलता रहे । यह प्रोद्भूत होने के कुछ ही समयोपरांत परिस्थितियों के परिवर्तन से परिवर्तित या समाप्त हो सकता है । इस प्रकार भरण-पोषण पाने के अधिकार की प्रकृति लचीली या उतार-चढ़ाव की है ।

भरण-पोषण के अधिकार की प्रकृति से संबंधित तत्वों की विवेचना आगे की जाएगी :—

ऋणों को पूर्विकता—हिंदू धारणा में ऋण-मुक्ति को पारलौकिक हित से संबद्ध किया गया है । इसलिए प्राचीन हिंदू विधि में ऋणमोचन को भरण-पोषण से पूर्विकता दी जाती है ।[3] हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 26 के उपबंधों के अनुसार मृतक द्वारा हर प्रकार के संविदाकृत या संदेय ऋणों को इस अधिनियम के अधीन उसके अपने आश्रितों के भरण-पोषण के दावों पर पूर्विकता दी जायगी जब तक कि इस अधिनियम की धारा 27 के उपबंधों के अनुसार मृतक की संपदा या उसके किसी प्रभाग पर मृतक की विल द्वारा, न्यायालय की डिक्री द्वारा आश्रित और संपदा या उसके

---

[1] गंगाधर रामाराव **बनाम** राजापिट्टपुर, 45 आई० ए० 148 (पी० सी०).

[2] रत्नमाला दासी **बनाम** रामाश्रयनाथ सेन, 57 आई० सी० 9 (कलकत्ता).

[3] लक्ष्मण **बनाम** सत्यभामाबाई, आई० एल० आर० (1878) 2 मुंबई 494.

प्रभाग के स्वामी के बीच के करार द्वारा या अन्यथा ऐसा कोई भार सृष्ट न किया गया हो। धारा 26 में मात्र मृतक के ऋणों और उसके आश्रितों के भरण-पोषण के दावों के बीच पूर्विकता की बात कही गई और उससे पूर्व वाक्यांश "धारा 27 में अंतर्विष्ट उपबंधों के अध्यधीन यह है कि" जोड़ कर यह स्पष्ट किया गया है कि ऋणों को पूर्विकता तभी दी जायगी जब कि मृतक की संपदा पर उपर्युक्त प्रकार का कोई भार न सृष्ट किया गया हो। ऋणों को पूर्विकता न मात्र आश्रितों के भरण-पोषण के दावों पर दी जायगी अपितु इस अधिनियम की धारा 18 से 20 तक वर्णित पत्नी, विधवा पुत्र वधू, अप्राप्तवय अपत्य या वृद्ध जनकों के भरण-पोषण के दावों पर भी दी जायगी जब तक कि उनके दावों को बिल आदि विधिमान्य भार द्वारा सुरक्षित न कर दिया गया हो ।

भरण-पोषण कब भार होगा—प्राचीन हिंदू विधि में यह विधि बहुत पहले ही सुस्थिर हो गई है कि भरण-पोषण संपत्ति या संपदा पर भार होता है और जो व्यक्ति मृतक की संपदा को विरासत में प्राप्त करता है, वह ऐसे भरण-पोषण को देने के लिए आबद्ध होता है।[1] संपदा पर भरण-पोषण के भार का विस्तार यहां तक है कि यदि शासन संपदा को राजगामित्व द्वारा या समयहरण द्वारा ग्रहण करता है तो यह भी उसी प्रकार आबद्ध है[2] जिस प्रकार अन्य वारिस या ग्रहणकर्त्ता। किंतु किसी आश्रित के भरण-पोषण का दावा मृतक की संपदा पर हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 27 के उपबंधों के अधीन तभी भार होगा जब मृतक की बिल द्वारा, न्यायालय की डिक्री द्वारा, आश्रित और संपदा या उसके प्रभाग के स्वामी के बीच के करार द्वारा या अन्यथा ऐसा कोई भार सृष्ट किया गया हो; अन्यथा नहीं। अन्य दायित्वों के सदृश यह दायित्व भी विधि के अनुसार सृष्ट होना चाहिए। जब तक भरण-पोषण का दायित्व निश्चयात्मक ढंग से सृष्ट नहीं हो, तब तक वह संपदा पर भार नहीं हो सकता।

भरण-पोषण के अधिकार पर संपत्ति के अंतरण का प्रभाव— विधि का यह सामान्य नियम है कि भार संपत्ति का अनुगामी होता है। किंतु यह तभी जब कि अंतरिती को भार की सूचना हो। भरण-पोषण के अधिकार का भार भी सामान्य भार की श्रेणी में उस समय आ जाता है जब यह निश्चयात्मक ढंग से सृष्ट हो और संपत्ति से संबद्ध हो। भरण-पोषण के अधिकार को संपत्ति की सहचरी होने की मान्यता संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1888 की धारा 39 के उपबंधों के अधीन भी दी गई है। इस प्रकार भरण-पोषण का अधिकार संहिताकृत विधि के रूप में 'उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में स्वीकृत और मान्य हो गया था। हिंदुओं के इस अधिकार को विधि जगत् में महत्व देने के लिए हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 28 में उपबंध कर दिया गया है, धारा 28, जो संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1888 की धारा 39 से बहुत कुछ समता रखती है, इस प्रकार अधिकथित करती है—'जहां कि आश्रित को किसी संपदा में से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार है और ऐसी संपदा या उसका कोई भाग अंतरित किया जाता है तो यदि अंतरिती को अधिकार की सूचना है या यदि वह अंतरण आनुग्रहिक है तो भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार का प्रवर्तन अंतरिती के विरुद्ध कराया जा सकेगा

---

1 क्षेत्रमणि **बनाम** काशीनाथ, (1869) 2 बंगाल लॉ रिपोर्ट्स 15 (पूर्णपीठ).

2 अम्माकन्नु **बनाम** अप्पु, आई० एल० आर० (1888) 11 मद्रास 91; भूपतिनाथ चक्रवर्ती **बनाम** वसंतकुमारी देवी, ए० आई० आर० 1936 कलकत्ता 556.

किंतु ऐसे अंतरिती के विरुद्ध नहीं जो सप्रतिफल अंतरिती है और जिसे उस अधिकार की सूचना नहीं है।'

धारा 28 का आशय स्पष्ट है। इस धारा के अधीन पत्नी, विधवा पुत्र-वधू, अप्राप्तवय अपत्यों, वृद्ध या शिथिलांग जनकों, या आश्रितों के, जिनमें अधर्मज[1] संतति भी सम्मिलित हैं, भरण-पोषण के दावों का ऐसे अंतरिती के विरुद्ध प्रवर्तन कराया जा सकता है जिसे इस अधिकार की सूचना है।[2] यह न्यायालय की अधिकारिता में आता है कि वह पत्नी के भरण-पोषण के अधिकार को पति की उस संपत्ति पर भारित होने की बात स्पष्ट कर दे जिसे किसी अंतरिती ने क्रय किया है यदि उस क्रेता को उस अधिकार की सूचना थी।[2] आनुग्रहिक अंतरण से भरण-पोषण का अधिकार प्रभावित या समाप्त नहीं होता और वह उस संपत्ति पर भार बना रहता है जिससे वह प्राप्त किया जाता है।[3]

भरण-पोषण के अधिकार पर संपत्ति के अन्तरण के प्रभाव को दो उपशीर्षकों में विभक्त करके विवेचना करना अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी होगा, यथा; कौटुम्बिक संपत्ति के अन्तरण का भरण-पोषण के अधिकार पर प्रभाव और आवासिक गृह के अन्तरण का उसमें निवास करने के अधिकार पर प्रभाव।

(क) कौटुम्बिक संपत्ति के अन्तरण का भरण-पोषण के अधिकार पर प्रभाव—वह कौटुम्बिक संपत्ति, जिसमें से पत्नी, अपत्यों, वृद्धजनकों या आश्रितों का भरण-पोषण होता है, अन्तरित होने पर उनके भरण-पोषण के अधिकार पर स्वाभाविक रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि साम्या या नैसर्गिक विधि के अधीन संपत्ति के स्वामी के अन्तरण संबंधी अधिकार की समीक्षा की जाये तो उसे कौटुम्बिक संपत्ति के अन्तरण का पूर्ण या आत्यन्तिक अधिकार तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक उस संपत्ति से कोई नातेदार या आश्रित भरण-पोषण पाता है। नातेदारों या आश्रितों के इसी नैसर्गिक अधिकार को ध्यान में रखते हुए प्राचीन हिन्दू विधि के अधीन कौटुंबिक संपत्ति के अंतरण पर निर्बन्धन था। कौटुंबिक संपदा में न केवल धारक का हित निहित होता है अपितु कुटुंब के सभी सदस्यों का हित होता है जो विवाह, जन्म या दत्तक-ग्रहण द्वारा कुटुंब की सदस्यता प्राप्त करते हैं। कुटुंब के सदस्यों या आश्रितों का हित नैसर्गिक विधि के अनुसार कौटुंबिक संपदा के धारक से किसी भी अर्थ में कम नहीं होता। किन्तु उनके इस अधिकार में संसदीय विधियों द्वारा हस्तक्षेप किया गया है। फलस्वरूप, उनका नैसर्गिक हित प्रभावित हुआ है और मात्र भरण-पोषण पाने के अधिकार तक सीमित रह गया है। प्रमुखता कौटुंबिक संपत्ति के धारक या स्वामी के अधिकार को दी गयी है जिससे उसे संपदा के अन्तरण का आत्यन्तिक अधिकार प्राप्त हो गया है। यहां संपदा के अन्तरण से प्रभावित होने वाले भरण-पोषण के अधिकार की विवेचना की जाएगी। अन्तरण दो प्रकार का होता है; यथा—सप्रतिफल और आनुग्रहिक।

---

[1] कृष्णकुमारी बनाम वनलक्ष्मी, ए० आई० आर० 1976 आंध्र प्रदेश 365.

[2] रामस्वामी बनाम बाध्यम्माल, ए० आई० आर० 1969 मद्रास 457; राघवन बनाम नागम्माल, ए० आई० आर० 1969 मद्रास 200.

[3] रामप्पा बनाम गौरव्वा, ए० आई० आर० 1968 मैसूर 270.

इस प्रकार के भेद के कारण भरण-पोषण के अधिकार पर अन्तरण का प्रभाव भी भिन्न हो जाता है।

सप्रतिफल अन्तरण—यदि संपदा का स्वामी अपनी संपत्ति किसी व्यक्ति को सप्रतिफल अन्तरित करता है तो इस अन्तरण से संबंधित संपत्ति में से उसके नातेदारों या आश्रितों का भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 27 और 28 के उपबन्धों के अधीन समाप्त हो जाएगा। धारा 28 के उपबन्धों में सप्रतिफल अन्तरण के बारे में एक ही अपवाद है और वह है "अन्तरिती को अन्तरित संपत्ति में से आश्रित या नातेदार के भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार की सूचना"। यदि सप्रतिफल अन्तरिती को अन्तरित संपत्ति में से किसी नातेदार या आश्रित के भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार की सूचना है तो उस अधिकार का प्रवर्तन अन्तरिती के विरुद्ध सप्रतिफल अन्तरण होने पर भी, हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 28 और संपत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 39 के उपबंधों के अधीन कराया जा सकेगा। अन्तरिती को भरण-पोषण के अधिकार की सूचना अभिव्यक्त या विवक्षित हो सकती है। प्रिवी कौंसिल ने दान **बनाम** सरला देवी[1] के मामले में यह सिद्धांत स्पष्टत: अधिकथित किया है कि कौटुंबिक संपत्ति पर कुटुंब की विधवाओं के भरण-पोषण की बाध्यता है। यदि कोई व्यक्ति यह जानते हुये अविभक्त हिंदू कुटुंब की कौटुंबिक संपदा या उसका कोई प्रभाग क्रय करता है कि उस कुटुंब में ऐसे सदस्य हैं जिनका भरण-पोषण उसमें से होता है तो उन सदस्यों के भरण-पोषण का अधिकार अप्रभावित रहेगा और न्यायालय संपत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 39 के उपबन्धों के अधीन अन्तरित संपदा पर भार सृष्ट कर सकता है।[2] क्योंकि यह धारा अभी भी हिन्दुओं के मामले में पूर्ववत् लागू है। भरण-पोषण पाने के अधिकार के अन्तर्गत वर्धित भरण-पोषण का दावा भी आता है[3] जिसकी डिक्री न्यायालय दे सकता है।

आनुग्रहिक अन्तरण—आनुग्रहिक अन्तरण के मामले में हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 28 और संपत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 39 के उपबन्धों के अधीन अन्तरिती को अन्तरित संपदा में से भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार की सूचना न होने पर भी उस अधिकार का प्रवर्तन उसके विरुद्ध कराया जा सकता है। ऐसे अन्तरण में अन्तरिती से अन्तरक को कोई प्रतिफल प्राप्त नहीं हुआ होता है। अन्तरिती बिना कोई प्रतिफल या मूल्य दिये आनुग्रहिक अन्तरण में संपदा प्राप्त करता है। इसमें अन्तरक का अनुग्रह ही प्रमुख होता है जिसके कारण अंतरिती संपदा में स्वामित्व या कब्जा प्राप्त करता है। ऐसे अन्तरण के माध्यम से संपदा स्वीकार करने के साथ-साथ अन्तरिती अन्तरक के उन दायित्वों या बाध्यताओं को भी ग्रहण करता है जो अन्तरित संपदा से संलग्न होते हैं। आश्रितों आदि के भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार अन्तरक के उन दायित्वों में से एक है जो संपदा के साथ-साथ चलते रहते हैं। जो व्यक्ति अन्तरक

---

1 (1946) 13 आई० ए० 208.

2 राघवन् **बनाम** नागम्माल, ए० आई० आर० 1978 मद्रास 200.

3 कावेरी अम्मा **बनाम** परमेश्वरी अम्मा, ए० आई० आर० 1971 केरल 216.

के अनुग्रह से उसकी संपदा या उसका प्रयोग, जिसमें से आश्रितों का भरण-पोषण होता है, प्राप्त करता है उसके विरुद्ध भरण-पोषण के अधिकार का प्रवर्तन कराया जा सकता है। यह अधिकार हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 28 और संपत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 39 के उपबन्धों के अधीन आनुग्रहिक अन्तरण के मामले में अप्रभावित रहेगा।[1] इस प्रकार से अन्तरित संपदा पर न्यायालय द्वारा भरण-पोषण के अधिकार का भार सृष्ट कराया जा सकता है इसमें भरण-पोषण के अधिकारी व्यक्ति को यह स्थापित नहीं करना होगा कि अन्तरिती को इस अधिकार की सूचना थी। उसे मात्र इतना ही स्थापित करना है कि अन्तरण आनुग्रहिक है और अन्तरिती ने संपत्ति प्राप्त करने के लिए कोई प्रतिफल या मूल्य नहीं दिया है।

(ख) **आवासिक गृह के अन्तरण का उसमें निवास करने के अधिकार पर प्रभाव**—आवासिक गृह में निवास करने का अधिकार भी हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 3 (ख) (i) के अनुसार भरण-पोषण के अधिकार का एक अंग है। आवासविहीन भरण-पोषण की व्यवस्था का कोई अर्थ ही नहीं है। यदि अविभक्त हिंदू कुटुम्ब का कोई पुरुष सदस्य मर जाए तो उसकी विधवा या अविवाहिता पुत्री उस गृह में निवास करने की यथास्थिति जीवनपर्यन्त अथवा अविवाहितावस्था तक अधिकारिणी है जिसमें वह अपने पति अथवा पिता के साथ उसकी मृत्यु से पूर्व निवास कर रही थी।[2] किन्तु विधवा का आवासिक अधिकार केवल साम्यापूर्ण है, न कि विधिक अधिकार, जिसका अर्थ है आवासिक व्यवस्था।[2] आवासिक अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि विधवा या अविवाहिता पुत्री आवास के जिस खण्ड या प्रभाग में रह रही थी उसी को कब्जे में रखने का अधिकार उसे है क्योंकि सहदायिक आवास के ढांचे को सुविधानुसार परिवर्तित—परिवर्धित कर सकते हैं और उसके रहने के लिए पृथक् आवास या खण्ड की व्यवस्था कर स कते हैं।[2]

आवासिक गृह के अन्तरण से उसमें निवास करने के अधिकार पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस विषय पर न्यायपालिका द्वारा लम्बे काल से विचार किया जाता रहा जिसकी विवेचना इस उपशीर्षक में की जाएगी।

कोई हिंदू विधवा (या अविवाहिता पुत्री) कौटुंबिक गृह में निवास करने की हकदार है और उसका यह अधिकार उस क्रेता द्वारा अस्वीकृत नहीं किया जा सकता जिसे उसके इस अधिकार की सूचना थी। सूचना-रहित क्रेता द्वारा भी उसे तब तक निष्कासित नहीं किया जा सकता जब तक उसके लिए अन्य गृह की व्यवस्था नहीं कर दी जाती।[3]

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 23 में निवास गृह के बारे में विशेष उपबन्ध का उल्लेख है। हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 में इस

---

[1] रामप्पा बनाम गौरव्वा, ए० आई० आर० 1968 मैसूर 270; कपूरकौर बनाम कृष्णसिंह, ए० आई० आर० 1970 पंजाब-हरियाणा 270.

[2] बाईदेव कुंअरि बनाम सन्मुखराम, आई० एल० आर० (1889) 13 मुम्बई 101.

[3] भक्तसिंह बनाम रामप्रकाश, 69 आई० सी० 602.

विषय में कोई उपबन्ध न होने से हमें उक्त अधिनियम के उपबन्धों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 23 का पाठ इस प्रकार है—

"जहां कि निर्वसीयत हिंदू ने अनुसूची के वर्ग (1) में विनिर्दिष्ट पुरुष और नारी दोनों वारिस अपने पीछे उत्तर जीवी छोड़े हों और उसकी संपत्ति के अन्तर्गत उसके अपने कुटुंब के सदस्यों के पूर्णतः अधिभोग में कोई निवास गृह हो, वहां इस अधिनियम में किसी बात के अन्तर्विष्ट होते हुए भी, किसी ऐसी नारी वारिस का निवास गृह के विभाजन कराने के दावे का अधिकार तब तक उद्‌भूत न होगा जब तक कि पुरुष वारिस उसमें अपने-अपने अंशों का विभाजन करना पसन्द न करें, किन्तु नारी वारिस उसमें निवास करने की हकदार होगी।

परन्तु जहां कि ऐसी नारी वारिस पुत्री हो वहां वह निवास-गृह में निवास करने के अधिकार की हकदार तभी होगी जबकि वह अविवाहिता हो या अपने पति द्वारा अभित्यक्ता हो या उससे पृथक् हो गयी हो या विधवा हो।"

धारा 23 के परन्तुक द्वारा किसी नारी वारिस को, जिसमें विधवा और अविवाहिता, या अभित्यक्ता या पृथक् की गयी या विधवा पुत्री भी सम्मिलित है, मृतक के निवास गृह में निवास करने की हकदार है। निवास गृह पद की परिभाषा न तो इस धारा में दी गयी है, न इस अधिनियम में अन्यत्र। इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता किकिसी भी गृह को निवास-गृह कहा जा सकता है जिसे मृतक अपनी संपदा के अंग के रूप में छोड़ कर मरा हो। इस धारा में आये निवास-गृह पद का अर्थ उस ग्रह से होगा, जहां सामान्यतया मृतक अपने कुटुंब के सदस्यों के साथ जिस गृह में अपने जीवन काल में निवास करता रहा और उसकी मृत्यूपरांत उसकी नारी वारिस उसके अपने कुटुंब के सदस्यों के साथ पूर्णतः अधिभोग कर रही हो। फलस्वरूप, नारी वारिस चाहे वह उसकी विधवा हो, या अन्य बातों के अध्यधीन रहते हुए पुत्री, मृतक के उसी गृह में निवास करने की हकदार होगी जिसमें वह उसके जीवन काल में निवास करती रहीं न कि किसी अन्य निवास-गृह में जिसे वह उसकी मृत्यूपरान्त सुविधाजनक समझती हो। नारी वारिस या वारिसों का आवासिक अधिकार हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 23 के उपबन्धों के अधीन विरासत का हक हो चुका है न कि मात्र भरण-पोषण के अधिकार का एक अंग। यद्यपि नारी वारिसों का आवासिक अधिकार हिन्दू विधि के सुस्थिर सिद्धान्तों पर ही आधृत है तथापि विरासत या उत्तराधिकार का अंग बन जाने से उनके इस अधिकार में वृद्धि हुई है। अब किसी पुरुष हिस्सेदार द्वारा उनके अंश का विक्रय नहीं किया जा सकता चाहे अन्तरण कौटुम्बिक आवश्यकता के लिये ही क्यों न हो जब तक कि उसमें उनके अश भी अन्तर्ग्रस्त न हों। परन्तु मृत पति या पिता के ऋण के उन्मोचन हेतु अन्तरण हो सकता है और उनका आवासिक अधिकार इसमें बाधक नहीं हो सकता। किन्तु यदि उत्तरजीवी सहदायिक बिना विधिक आवश्यकता के आवासिक गृह का विक्रय कर दे जिसमें विधवा अपने पति के साथ उसके जीवन काल में रह रही थी तो विक्रय उस पर आबद्धकर नहीं होगा। इससे उसका आवासिक अधिकार प्रभावित नहीं होगा और क्रेता आवास की समुचित व्यवस्था होने तक

उसे निष्कासित नहीं कर सकता ।[1] यदि क्रेता को इस बात की सूचना थी कि गृह में विधवा या अविवाहिता पुत्री रह रही है और उससे उसका भरण-पोषण होता है तो क्रेता अन्य संपदा होने की स्थिति में भी उसे उसमें से निष्कासित नहीं कर सकता ।[2]

परंतु यदि विक्रय कौटुंबिक आवश्यकता अथवा विधिक आवश्यकता के लिये किया जाता है तो उसके आवासिक अधिकार की सूचना क्रेता को होने पर भी उसे निष्कासित किया जा सकता है ।[3] उसके मृत पति के ऋणों के उन्मोचन हेतु भी उसके आवासिक गृह का अंतरण किया जा सकता है ।[4] कौटुंबिक या विधिक आवश्यकता या पति के ऋणों का उन्मोचन ऐसे विषय हैं जिन्हें किसी विधवा या अविवाहिता पुत्री के आवासिक हक की अपेक्षा पूर्विकता दी जाती है । पति या पिता के ऋण का उन्मोचन धार्मिक दायित्व भी है । अतएव इस प्रकार के अंतरणों का प्रभाव आवासिक अधिकार पर पड़ता है जिसका कोई विकल्प विधि में उपलब्ध नहीं है । इन अन्तरणों के लिये आवास के अधिकारी व्यक्ति को अपने परिश्रम और साधनों से विकल्प की खोज करनी चाहिए ।

सहदायिकी संपत्ति के विरुद्ध भरण-पोषण का अधिकार

मिताक्षरा हिंदू विधि में अविभक्त हिंदू कुटुंब के सभी पुरुष सदस्य या सहदायिक, उनकी पत्नियां और उनके अपत्य कौटुंबिक संपत्ति से भरण-पोषण प्राप्त करने के हकदार हैं और कुटुंब का कर्ता उनके भरण-पोषण के लिए आबद्ध है ।[5] इतना ही नहीं किसी सहदायिक की मृत्यूपरांत उनकी विधवा पत्नी और अपत्यों के भरण-पोषण के लिये भी कर्ता आबद्ध है[6] अविभक्त हिंदू कुटुंब के सदस्यों के भरण-पोषण का अधिकार सहदायिकी संपत्ति या कौटुंबिक संपत्ति के विरुद्ध होता है । कर्ता के विरुद्ध इस अधिकार का विस्तार इसलिए होता है, कि वह इसका प्रबंधक होता है ।

हिंदू विधि की दायभाग शाखा में भी सहदायिकों और उनकी पत्नियों तथा अपत्यों का भरण-पोषण पाने का अधिकार सहदायिकी संपत्ति में से है । किंतु इस शाखा में पुत्र पिता के विरुद्ध भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार का प्रवर्तन सहदायिक के रूप में नहीं कर सकता, क्योंकि इस विधि में सहदायिकी की रचना पिता पुत्र में नहीं होती । दायभाग प्रभावित क्षेत्र में पुत्र पिता के विरुद्ध भरण-पोषण पाने का अधिकारी सामान्य हिंदू विधि के अधीन है ।

मृत सहदायिक की विधवा का सहदायिकी संपत्ति से भरण-पोषण पाने का अधिकार कुटुंब की सदस्या होने के नाते आत्यंतिक है और यह उनके आलंब के अन्य साधन न होने

---

1 गंगादेवी बनाम जगन्नाथ, आई० एल० आर० (1947) 22 लखनऊ 518.

2 दलसुखराम बनाम लालूभाई, आई० एल० आर० (1883) 7 बाम्बे 282.

3 श्रीमती चम्पा बनाम शासकीय अनुदेशिती, कराची, आई० एल० आर० (1934) 15 लाहौर 9.

4 जामियतराज बनाम श्रीमती मालन, ए० आई० आर० 1931 लाहौर 718.

5 चेरट्टि बनाम संगमपरम्बिलराव, ए० आई० आर० 1940 मद्रास 664.

6 भगवानसिंह बनाम श्रीमती केवलकौर, ए० आई० आर० 1927 लाहौर 280.

पर निर्भर नहीं है।[1] इस तथ्य के आधार पर, कि कौटुंबिक संपत्ति कम है, भरण-पोषण का दावा पूर्णतया अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है।[1] विधवा के भरण-पोषण पाने का अधिकार पश्चात्वर्ती विभाजन से प्रभावित नहीं होता और इसका प्रवर्तन पूर्ण अविभक्त कुटुंब के विरुद्ध कराया जा सकता है, अर्थात् उन सभी सहदायिकों के विरुद्ध, जो एक ही पूर्वज के वंशजहैं न कि मात्र विधवा के पति की शाखा के सहदायिकों के विरुद्ध।[2] विधवा मृत पति की पृथक संपदा विरासत में प्राप्त करने पर भी संयुक्त कौटुंबिक संपदा में से भरण-पोषण पाने के लिये वाद प्रस्तुत कर सकती है क्योंकि उसमें उसके पति का हित था।[3] यह सुस्थिर विधि आज भी इसलिए विधिमान्य है कि जिस अविभक्त कुटुंब में अधिकांश संपदा कृषि भूमि के रूप में हो उसकी वारिस पुत्र के साथ विधवा नहीं होती। उसे भरण-पोषण पाने का दावा पुत्र के विरुद्ध इसी सुस्थिर सामान्य हिंदू विधि के अधीन तथा हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 22 के उपबंधों के अधीन करना पड़ेगा। भरण-पोषण पाने का विधवा का अधिकार हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन असफल या निरर्थक नहीं हो गया है।

विधवा के असतीत्व का उसके भरण-पोषण के अधिकार पर प्रभाव

विधवा को भरण-पोषण पाने का अधिकार इस शर्त पर मिला है कि वे एक सती या शीलवती नारी का जीवन व्यतीत करेगी। असती या शीलभ्रष्टा होने की दशा में वह अपने भरण-पोषण के अधिकार को खो देती है, चाहे उसे यह अधिकार न्यायालय की डिक्री[4] द्वारा प्राप्त हुआ हो अथवा किसी करार[5] द्वारा। किंतु असतीत्व या शीलभ्रष्टता को स्थापित करने के सबूत का भार विरोधी पक्ष पर या उस पक्ष पर होगा, जो विधवा पर इस प्रकार का आरोप भरण-पोषण की बाध्यता से मुक्त होने के लिए लगाता है। यह एक ऐसा आरोप है जो व्यक्ति के चरित्र से संबंधित होता है। अत: शीलभ्रष्टता का आरोप प्रारंभ में विशिष्ट रूप से अभिवचनों में ही उठाया जाना चाहिए।[6] यदि असती विधवा ने वाद संस्थित करने से पूर्व सती जीवन व्यतीत करना प्रारंभ कर दिया हो और वह वाद संस्थिति के दिन सती हो तो कोरे भरण-पोषण के लिए ही हकदार है।[7] यहां कोरे भरण-पोषण का अर्थ है केवल जीवन निर्वाह हेतु पर्याप्त मात्रा में। यदि करार द्वारा उसे भरण-पोषण का अधिकार मिला हो और वाद संस्थिति के दिन शीलभ्रष्टता सिद्ध हो तो वह किसी भी भरण-पोषण की हकदार नहीं होगी।[8] किंतु विल द्वारा भरण-पोषण प्राप्त करने पर उसका यह अधिकार उसके असतीत्व के कारण तब तक

---

1 धर्मलिंगय्या बनाम दर्भ कनकम्मा, 38 मद्रास 153 वाराहलु बनाम सीतम्मा, ए० आई० आर० 1961 आंध्र प्रदेश 272(यू० पी०).

2 सुब्बारायुडु शेट्टि बनाम कमलावल्ली तायरम्मा, आई० एल० आर० 35 मद्रास 147.

3 डी० राघवम्मा बनाम डी० चिंताबबाई, ए० आई० आर० 1957 आंध्र प्रदेश 598.

4 रणमल संगजी बनाम कुंदनकुंअरि, आई० एल० आर० (1902) 26 मुंबई 707.

5 नागम्मा बनाम वीरभद्र, आई० एल० आर० (1894) 17 मद्रास 392.

6 हाजी सब्बू सिद्दीकी बनाम आयशाबाई, 30 आई० ए० 127.

7 भीखूबाई बनाम हरीबा, ए० आई० आर० 1925 मुंबई 153.

8 शिवलाल बनाम बाई सांकली, ए० आई० आर० 1931 मुंबई 297.

प्रभावित नहीं होता है, जब तक विल में इसका अभिव्यक्त उल्लेख न हो।[1] इसका कारण यह है कि विल मृतक की इच्छा के अनुसार प्रभावी होता है न कि विधवा के चरित्र के आधार पर। किंतु यदि मृतक अपने विल में इस बात का अभिव्यक्त रूप से उल्लेख कर दे कि उसकी विधवा तभी विल के अधीन भरण-पोषण की हकदार होगी जब वह सती रहेगी तो विधवा शीलभ्रष्टा हो जाने पर अपना उक्त अधिकार उसी विल के अनुसार खो देगी।

भरण-पोषण संबंधी दायित्व के प्रकार

किसी हिंदू के भरण-पोषण संबंधी दायित्व दो प्रकार के हैं—प्रथम, व्यक्तिगत दायित्व जो मात्र पक्षकारों में नातेदारी के कारण उत्पन्न होते हैं और संपत्ति से संबद्ध होते हैं, और द्वितीय, संपति से पूर्णतया संबद्ध दायित्व जिन्हें सीमित दायित्व कहते हैं।[2]

(1) **व्यक्तिगत दायित्व**—जब किसी हिंदू का भरण-पोषण करने का दायित्व नातेदारों या पक्षकारों की किसी विशेष नातेदारी के कारण उदित होता है, तब इसे व्यक्तिगत दायित्व कहते हैं। किसी हिंदू पर अपनी पत्नी, अप्राप्तवय अपत्यों, अविवाहिता पुत्रियों और वृद्ध वा शिथिलांग जनकों के भरण-पोषण की विधिक आबद्धता है, चाहे उसके पास कोई संपत्ति हो अथवा नहीं। मनु के अनुसार एक सौ अपकर्म करके भी वृद्ध माता-पिता, साध्वी पत्नी, अवयस्क पुत्र का भरण-पोषण करना चाहिए।[3] बौधायन और आपस्तंब भी यही मानते हैं कि पतित माता-पिता का भी भरण-पोषण करना पुत्र का कर्तव्य है।[4] भरण-पोषण के अंतर्गत चिकित्सा भी सम्मिलित है।[5] अब वह दायित्व संहिताबद्ध हो चुका है और जिन नातेदारों को नातेदारी के आधार पर भरण-पोषण पाने का अधिकारी माना गया है, उनका पृथक्-पृथक् विवेचन आगे किया जा रहा है :

वृद्ध जनक—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 20 की उपधारा (1) के उपबंधों के अनुसार इस धारा के उपबंधों के अध्यधीन रहते हुए यह है कि कोई हिंदू अपने जीवन काल के दौरान अपने वृद्ध या शिथिलांग जनकों का भरण-पोषण करने के लिए आबद्ध है। धारा 20 की उपधारा (1) के वाक्यांश 'इस धारा के उपबंधों के अध्यधीन रहते हुए' का अर्थ यह है कि उपधारा (3) के अनुसार किसी व्यक्ति को अपने वृद्ध या शिथिलांग जनकों का भरण-पोषण करने की बाध्यता का विस्तार वहां तक होगा,

---

[1] परमी **बनाम** महादेवी, आई० एल० आर० (1910) 34 बाम्बे 278.

[2] कमलाम्माल **बनाम** वेंकटलक्ष्मी, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1348.

[3] वृद्धौ च माता पितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अपकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥ मनु० 11/10 के पश्चात् का श्लोक।

[4] पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः। बौधा० ध० सू० 2/2/3/43.
माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि॥
आप० ध० सू० 1/10/28/9.

[5] ननु भार्यायाः पुत्रस्य च रक्षण-पोषण-चिकित्सादि सर्वं क्षेत्रिणैव क्रियते।
—बौधा० ध० सू० 2/2/3/36 पर गोविंद स्वामीकृत भाष्य।

जहां तक कि जनक स्वयं अपने उपार्जनों या अन्य संपत्ति से अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हों। इस धारा के स्पष्टीकरण के अनुसार जनक के अंतर्गत निः संतान सौतेली माता भी आती है। किसी हिंदू पर निः सन्तान सौतेली माता का भी भरण-पोषण और चिकित्सा आदि करने का दायित्व उसी प्रकार है जिस प्रकार अपनी माता के भरण-पोषण का। सामान्य हिंदू विधि के अनुसार जनकों के अंतर्गत दत्तक पिता और माता भी सम्मिलित हैं। किंतु जनकों को अपने पुत्र-पुत्री से भरण-पोषण का हक उसी दशा में प्राप्त है जब वे अपना भरण-पोषण अपनी आय या अपनी संपत्ति की आय से कर सकने में असमर्थ हों। पुत्र का यह व्यक्तिगत दायित्व है कि वह अपने पिता का भरण-पोषण करे और पिता से कोई संपत्ति उत्तराधिकार में न प्राप्त करने पर भी माता का भरण-पोषण करे।[1]

धारा 20 के उपबंधों के अनुसार अब भरण-पोषण का व्यक्तिगत दायित्व मात्र पुरुषों तक ही सीमित नहीं रह गया है और इसके अंतर्गत स्त्रियां भी सम्मिलित कर ली गई हैं। हिंदू स्त्री को अब अपने वृद्ध या शिथिलांग जनकों का भी भरण-पोषण उसी प्रकार करना है, जिस प्रकार हिंदू पुरुष को। स्त्री का भी यह दायित्व व्यक्तिगत है और आर्थिक असमर्थता होने पर भी उसे इसका वहन उपधारा (1) के अधीन करना है। निःसंतान सौतेली माता होने की दशा में भी हिंदू स्त्री को उसका भरण-पोषण और चिकित्सा आदि अपनी माता के सदृश करना है। इस प्रकार प्राचीन हिंदू विधि में जो स्त्री जाति ऐसे व्यक्तिगत दायित्वों से पूर्णतया मुक्त थी, अब उसे पुरुषों की बराबरी का सांपत्तिक अधिकार प्राप्त होने के नाते बराबरी का दायित्व भी प्राप्त हो गया है। किंतु इस धारा के अधीन एक सौतेला हिंदू पिता अपनी सौतेली हिंदू संतति से भरण-पोषण पाने का हकदार नहीं है। उस दशा में जबकि सौतेला हिंदू पिता अपनी सौतेली हिंदू संतति को अप्राप्तवयता में भरण-पोषण कर चुका हो और उसके प्राप्तवय हो जाने पर वह वृद्ध या शिथिलांग हो गया हो तो उसे उससे भरण-पोषण पाने का हक न होना न्यायोचित नहीं लगता, और उसे हकरहित करना नैसर्गिक नियमों के सिद्धांतों के प्रतिकूल है।

पत्नी का भरण-पोषण—पति का सर्वप्रथम और महत्वपूर्ण दायित्व पत्नी का भरण-पोषण है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पति शब्द रक्षण और पोषणवाची है।[2] अथर्ववेद के एक मंत्र में, जिसका पाठ पाणिग्रहण के समय होता है, पति यह प्रतिज्ञा करता है कि पत्नी उसके द्वारा पोषणीय है।[3] मनु ने भी साध्वी पत्नी के भरण-पोषण पर बल दिया है।[4] किंतु मूल श्लोक में आये "साध्वी" शब्द का यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि प्राचीन हिंदू विधि में पति दुश्चरित्रा पत्नी के भरण-पोषण से मुक्त है। याज्ञवल्क्य व्यभिचारिणी पत्नी को भी भरण-पोषण का अधिकारी मानते हैं।[5] मिताक्षरा का भी

1 सत्यनारायणमूर्ति बनाम रामसुब्बाम्मा, ए० आई० आर० 1964 आंध्र प्रदेश 105.

2 पालनाच्चैव स्त्रियः पति। महा० 12/266/36.

3 ममेयमस्तुपोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। अथर्व० 14/1/51.

4 तां साध्वी विभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन्॥ मनु० 9/95.

5 हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम्।
परिभूतामधः शय्यां वासये व्यभिचारिणीम्॥ याज्ञ 1/70.

यह मत है कि व्यभिचारिणी पत्नी को भरण-पोषण का हक है।[1] पति को यह दायित्व इसलिए दिया गया है कि विवाह एक संस्कार है और पति इस संस्कार के माध्यम से उसके आजीवन भरण-पोषण का भार ग्रहण करता है।

हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 18 की उपधारा (1) के उपबंधों के अध्यधीन 'यह है कि हिंदू पत्नी, चाहे वह इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् विवाहित हो अपने जीवन काल में अपने पति से भरण-पोषण पाने की हकदार होगी। इस उपधारा की विशेषता यह है कि हिंदू पत्नी ही अपने पति से अपने जीवन-काल में भरण-पोषण पाने की हकदार है, अहिंदू पत्नी नहीं। यह बात इस धारा की उपधारा (3) से भी स्पष्ट है जिसमें यह अधिकथित है कि यदि कोई हिंदू पत्नी किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तित होने के कारण हिंदू नहीं रह गई हो, तो वह अपने पति से भरण-पोषण प्राप्त करने की हकदार नहीं होगी। यदि किसी हिंदू ने अन्य धर्मावलम्बी पत्नी से विवाह किया है और उसने हिंदू धर्म ग्रहण नहीं किया है और अपने मूल धर्म की अनुयायी बनी हुई है, तो उसे अपने हिंदू पति से इस धारा के उपबंधों के अधीन पृथक् निवास और भरण-पोषण पाने का हक प्राप्त नहीं है। उल्लेखनीय है कि हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13(1)(ii) में पत्नी का धर्म संपरिवर्तन विवाह-विच्छेद का एक कारण है।

इस अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (3) के उपबंधों के अनुसार असती अर्थात् शीलभ्रष्टा पत्नी को भी अपने पति से भरण-पोषण पाने का हक नहीं रह गया है जब कि प्राचीन हिंदू विधि में उसे यह हक प्राप्त था। किंतु इसका यह अर्थान्वियन नहीं किया जा सकता कि असती पत्नी को अपने पति से किसी भी प्रकार का भरण-पोषण पाने का हक नहीं है। इस उपधारा के अनुसार ऐसी असती पत्नी को भरण-पोषण पाने का हक नहीं है, जो पृथक् निवास करते हुए भरण-पोषण का दावा करती है। ऐसी दशा में पति उसे भरण-पोषण हेतु धनराशि देने का दायी नहीं है। किन्तु यदि वह असती होते हुए भी अपने पति के साहचर्य में रहती है, तो वह भरण-पोषण प्राप्त करने की हकदार है। किंतु पत्नी का यह आचरण हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (1) के उपखण्ड (i) के उपबंधों के अधीन विवाह-विच्छेद का एक कारण है और इस आधार पर अथवा उसके धर्म संपरिवर्तन कर लेने पर पति विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा विवाह भंग करा सकता है और तब उसे भरण-पोषण पाने का हक नहीं रह जाएगा। किंतु विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा विवाह विघटित होने तक पत्नी को भरण-पोषण पाने और पृथक् निवास करने का हक है, जो हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25 के उपबंधों के अधीन न्यायालय के विवेकाधिकार पर निर्भर है।

पत्नी को पृथक् निवास तथा भरण-पोषण का अधिकार—कुछ दशाओं में हिंदू विधि में पत्नी को पति से पृथक् निवास करने का अधिकार प्राप्त है और उस स्थिति में उसे भरण-पोषण पाने का भी हक है। पत्नी का यह अधिकार हिंदू विवाह अधिनियम,

---

[1] या व्यभिचरति यां हृताधिकारां भृत्यभरणाद्यधिकाररहिताम् ।...पिण्डमात्रोपजीविनी प्राणयात्रामात्रभोनम् । उसी पर मिता० टीका।

1955 की धारा 10 के साथ पूर्णतया संबद्ध है, जिसमें कि न्यायिक पृथक्करण की डिक्री दी जा सकती है। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 18 की उपधारा(2)का, जिसमें पत्नी को पति से पृथक् रहने पर भी भरण-पोषण का हकदार माना गया है, पाठ हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 10 के साथ किया जाना चाहिए जिसमें न्यायिक पृथक्करण की डिक्री प्राप्त करके उसे पृथक् निवास करने का हक प्राप्त है। पत्नी जब तक किसी सक्षम न्यायालय से पति से पृथक् निवास करने की डिक्री नहीं प्राप्त कर लेती तब तक उसे इस दशा में भरण-पोषण पाने का हक नहीं है। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (2) का पाठ इस प्रकार है :

"हिंदू पत्नी अपने भरण-पोषण के दावे को समपहृत किए बिना अपने पति से पृथक् रहने के लिए निम्नलिखित किसी भी दशा में हकदार होगी—

(क) यदि उसका पति अभित्यजन, अर्थात् युक्तियुक्त कारण के बिना या उसकी सम्मति के बिना या उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका परित्याग करने का या जानबूझ कर उसकी उपेक्षा करने का दोषी है;

(ख) यदि उसका पति उसके साथ ऐसी क्रूरता का व्यवहार करे, जिससे उसके मन में इस बात की युक्तियुक्त आशंका पैदा हो कि उसके पति के साथ रहना अपहानिकर या क्षतिकारक होगा;

(ग) यदि उसका पति उग्र कुष्ठ से पीड़ित है;

(घ) यदि उसके पति की कोई अन्य पत्नी जीवित है;

(ङ) यदि उसका पति उसी गृह में जिसमें उसकी पत्नी निवास करती है, कोई उपपत्नी रखता है या किसी उपपत्नी के साथ अन्य किसी स्थान में अभ्यासतः निवास करता है;

(च) यदि उसका पति किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तित होने के कारण हिंदू नहीं रह गया है; और

(छ) यदि उसके पृथक् होकर रहने का कोई अन्य न्यायोचित कारण है।"

इस प्रकार किसी हिंदू पत्नी को पति से पृथक् निवास करने के लिए ऐसे सात आधार हो सकते हैं, जिन पर उसे पति से भरण पोषण पाने का हक है :—

(1) **अभित्यजन**—अभित्यजन के मामले में पति द्वारा किसी युक्तियुक्त कारण के बिना या पत्नी की इच्छा के विरुद्ध पत्नी का परित्याग सिद्ध किया जाना आवश्यक है। फिर भी यदि केवल इतना ही सिद्ध हो जाए कि पति जानबूझ कर पत्नी की उपेक्षा करता है तो अभित्यजन का मामला बनता है और पत्नी पति से पृथक् निवास करने और भरण-पोषण की हकदार हो जाती है। किंतु संबंधित अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (2) के उपखण्ड (क) का हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 की उपधारा (1) के उपखंड (i ख) के साथ पाठ अभित्यजन की कालावधि सिद्ध करने के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि उसमें दो बर्षों की कालावधि तक अभित्यजन के पश्चात् ही न्यायिक पृथक्करण हो सकता है। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम के

उपबन्धों के अनुसार पृथक् निवास करने का हक सिद्ध करने के लिए किसी कालावधि तक अभित्यजन या जानबूझकर उपेक्षा आवश्यक नहीं है। किंतु अभित्यजन या उपेक्षा पत्नी की इच्छा के विरुद्ध अथवा उसकी सम्मति के बिना होनी चाहिए। यदि वह स्वेच्छया पति से पृथक् रहती है तो उससे भरण-पोषण पाने की हकदार नहीं रह जाती। फिर भी अभित्यजन को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त कालावधि अवश्य दर्शानी पड़ेगी क्योंकि बिना पर्याप्त कालावधि दर्शाए अभित्यजन सिद्ध हो ही नहीं सकता। यही स्थिति उपेक्षा की भी है। इसके लिए भी पर्याप्त कालावधि का दर्शाया जाना आवश्यक है। जहां कोई कालावधि विहित नहीं हो वहां उतनी कालावधि दर्शायी जानी चाहिए जो न्यायालय की दृष्टि में युक्तियुक्त हो।

(2) **क्रूरता**—इस अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (2) के उपखंड (**ख**) में क्रूरता को उसी प्रकार परिभाषित किया गया है, जिस प्रकार हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 10 में क्रूरता को न्यायिक पृथक्करण के लिए विवाह (संशोधन) अधिनियम 1976 से पूर्व परिभाषित किया गया था। इस क्रूरता और उस क्रूरता में कोई अन्तर सिद्ध नहीं किया गया है। पति से पृथक् निवास और उससे भरण-पोषण का हक पत्नी को तभी प्राप्त होता है, जब वह यह सिद्ध करे कि पति उसके साथ क्रूरता का व्यवहार करता है और पति के इस व्यवहार से उसके मस्तिष्क में या मन में यह आशंका उत्पन्न होती है कि उसके साथ रहना अपहानिकर या क्षतिकारक होगा। आशंका युक्तियुक्त होनी चाहिए। किन्तु इतने मात्र से ही वह पति से पृथक् निवास करने और भरण-पोषण की हकदार नहीं हो जाती। उसे यह भी सिद्ध करना पड़ेगा कि पति का कौन सा ऐसा व्यवहार है जो क्रूरता की कोटि में आता है तथा उसके इस व्यवहार से किस प्रकार की हानि या क्षति होने की आशंका है। साथ ही उसे यह भी सिद्ध करना होगा कि क्रूरता की कोटि में आने वाले व्यवहार पति कितने समय से करता आ रहा है। इसके अतिरिक्त उसे यह भी सिद्ध करना होगा कि इस बीच पति के प्रति उसका अपना व्यवहार सौहार्दपूर्ण रहा है। उसे स्वयं क्रूर व्यवहार का सिद्धदोष नहीं होना चाहिए।

(3) **उग्र कुष्ठ**—पति का उग्र कुष्ठ इस अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (1) के उपखंड (ग) में पत्नी को पृथक् निवास और भरण-पोषण का हकदार बनाता है और हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 की उपधारा (1) के उपखंड (iv) में न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद का अधिकारी बनाता है। न्यायालय के सम्मुख यह एक जटिल प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि उग्र कुष्ठ स्थापित हो जाने पर वह अर्जीदार के लिए भरण-पोषण की डिक्री पारित करे अथवा न्यायिक पृथक्करण की अथवा विवाह विच्छेद की। ऐसे मामले में न्यायालय को यह विवेकाधिकार प्राप्त है कि किसी भी धारा में डिक्री पारित कर सकता है। उग्र कुष्ठ के लिए किसी कालावधि का उल्लेख इस धारा में नहीं है जिससे यह अर्थ निकलता है कि यदि पति को उग्र कुष्ठ रोग भरण-पोषण की याचिका उपस्थापित करने के दिन था तो मात्र इतना ही स्थापित हो जाना भरण-पोषण की डिक्री के लिए पर्याप्त माना जा सकता है।

(4) अन्य पत्नी का जीवित रहना—यदि पति की कोई अन्य पत्नी जीवित है तो

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के लागू हो जाने के पश्चात् किया गया अन्य विवाह उसकी धारा 11 के अधीन शून्य है। अतः इस आधार के सिद्ध होते ही परवर्ती विवाह की अकृतता की डिक्री दी जा सकती है और यदि न्यायालय ऐसा करता है, तो पत्नी भरण-पोषण पाने की और पृथक् निवास की हकदार नहीं रह जाएगी। अतः धारा 18 (2) का उपखंड (घ) केवल उन्हीं मामलों में प्रभावी होगा जिनमें दोनों ही विवाह हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के पारित और लागू होने से पूर्व हुए हों और उनमें से कोई पत्नी अपने पति से पृथक् निवास और भरण-पोषण पाने का दावा करती हो।

(5) **पति द्वारा उपपत्नी रखा जाना**—उपपत्नी का अर्थान्वयन सामान्यतया रखैल के लिए किया जाता है। पति द्वारा उपपत्नी रखा जाना विवाहिता पत्नी को असह्य होता है। ऐसी स्थिति में वह पति के साहचर्य से दूर होने लगती है। धारा 18 की उपधारा (2)का उपखण्ड (ङ) पत्नी की इस मानसिकता को मान्यता देता है और उसे पृथक् निवास करने तथा भरण-पोषण पाने का हकदार घोषित करता है। इस उपखण्ड के अधीन भरण-पोषण का दावा करने के लिए पत्नी को मात्र यह सिद्ध करना होगा कि उसका पति अभ्यासतः उपपत्नी रखता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह उपपत्नी के साथ उसी गृह में निवास करे जिसमें कि वह अपनी पत्नी के साथ सामान्यतया निवास करता है। किसी अन्य गृह में भी उपपत्नी के साथ निवास करना सिद्ध हो जाने पर पत्नी पति से पृथक् निवास करने और भरण-पोषण पाने की हकदार होगी। मुम्बई उच्च न्यायालय[1] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी विवाहित पुरुष के लिए, जो अभ्यासतः रखैल के साथ रहता है, आवश्यक नहीं है कि वह अपना सामान्य निवास परिवर्तित करे। इस उपधारणा के लिए कि पति उपपत्नी के साथ अभ्यासतः रहता है अथवा नहीं, न्यायालय को विशेष अवधि के भीतर उसके आचरण उपपत्नी के गृह जाने में उसकी मानसिक अभिवृत्ति, उसके कथन, उसके व्यवहार आदि बातों पर विचार करना होगा। यद्यपि उपपत्नी रखने के मामले में भी कालावधि विहित नहीं है तथापि मुम्बई उच्च न्यायालय ने उक्त मामले में विशेष कालावधि में पति के आचरण और क्रिया-कलाप की परीक्षा करने पर बल दिया है। यह इसलिए है कि इसके बिना अभ्यासतः उपपत्नी रखने का मामला इस उपखण्ड में सिद्ध नहीं हो सकता। 'अभ्यासतः' पद कालावधि की अपेक्षा करता है।

(6) **पति द्वारा धर्मसंपरिवर्तन**—यदि पति कोई अन्य धर्म में संपरिवर्तित होने के कारण हिंदू नहीं रह गया हो, तो पत्नी इस अधिनियम की धारा 18 की (2) के उपखण्ड (च) के अधीन पृथक निवास करने और भरण-पोषण पाने की हकदार है। यहां धर्म संपरिवर्तन से उस धर्म में संपरिवर्तन का अर्थ लिया जाना चाहिए जो हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं है, यथाः इस्लाम, ईसाई धर्म आदि, न कि जैन या बौद्ध धर्म जो हिंदू धर्म के अंगभूत हैं। यदि पति जैन या बौद्ध है या सिक्ख धर्म में संपरिवर्तित हो गया हो तो यह संपरिवर्तन इस अधिनियम की धारा 2 के उपखण्ड (ख) के उपबन्धों के अधीन हिन्दू न रहने का द्योतक नहीं है और उस पर हिन्दू विधि लागू होने से पत्नी पृथक् निवास और भरण-पोषण पाने की हकदार नहीं है। किन्तु इसके लिए मात्र

---

1 केसरबाई बनाम हरिभाई, ए० आई० आर० 1975 बाम्बे 115.

इतना ही सिद्ध करना पर्याप्त नहीं होगा कि पति अन्य धर्म विशेष के अनुसार पूजा-पाठ करता है। धर्म संपरिवर्तन के आधार पर भरण-पोषण और पृथक् निवास का दावा करने पर पत्नी को यह सिद्ध करना होगा कि उसका पति हिंदू धर्म अन्तिम रूप से त्याग चुका है और हिंदू धर्म के अंगभूत धर्मों से भिन्न किसी अन्य धर्म को आवश्यक संस्कार के साथ ग्रहण कर चुका है। किसी अन्य धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष में विश्वास रखना धर्म संपरिवर्तन नहीं है।

(7) **अन्य न्यायोचित कारण**—इस अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (2) का उपखंड (छ) न्यायालय को यह शक्ति प्रदत्त करता है कि वह उपर्युक्त छह आधारों के अतिरिक्त भी ऐसे आधार पर, जो उसकी दृष्टि में युक्तियुक्त या न्यायोचित हो, पत्नी को पति से पृथक् निवास करने और भरण-पोषण पाने की डिक्री दे सकता है। यद्यपि यह पूर्णतया न्यायालय के विवेकाधिकार का विषय है कि वह पति के किस आचरण को इस रूप में लेता है कि जो उसे पत्नी के साहचर्य से वंचित करने योग्य है और पत्नी को भरण-पोषण का हक देता है, यदि पति और पत्नी से मिलने जुलने से सामान्यता बचता रहता है, और किसी न किसी बहाने से उससे दूर रहता है और एक युक्तियुक्त कालावधि में वह पत्नी से मिला ही नहीं तो उसका यह आचरण पत्नी को पृथक् निवास और भरण-पोषण पाने का हकदार बनायेगा। पति इस सीमा तक मद्यपी हो, जिससे पत्नी सभ्य जीवन नहीं व्यतीत कर पा रही हो, अथवा अपनी आय का अधिकांश भाग मद्यपान में व्यय कर देता हो, जिससे उसके भरण-पोषण की कोई उचित व्यवस्था नहीं हो पाती हो, तो पति का यह आचरण पत्नी के पृथक् निवास और भरण-पोषण पाने का न्यायोचित कारण होगा।

पत्नी के भरण-पोषण और पृथक् निवास के हक को प्रभावित करने वाले तत्व—पत्नी निम्नलिखित परिस्थितियों में इस अधिनियम की धारा 18 की उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन अपने पति से पृथक् निवास करने और भरण-पोषण पाने की हकदार नहीं होगी :—

(क) यदि वह असती है; अथवा

(ख) यदि वह किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तित होने के कारण हिन्दू नहीं रह गई है।

यह उपधारा इस सिद्धांत पर आधृत है कि जो व्यक्ति अन्य व्यक्ति के दोषपूर्ण आचरण का लाभ उठाना चाहता है, उसे अपना आचरण अदोषपूर्ण रखना चाहिए। यदि पत्नी स्वयं दोषपूर्ण आचरण वाली है तो उसे पति के दोषपूर्ण आचरण के आधार पर भरण-पोषण के दावे का हक नहीं प्राप्त हो सकता। धर्म संपरिवर्तन यद्यपि दोषपूर्ण आचरण नहीं माना जा सकता, तथापि यह व्यक्ति के आचरण में परिवर्तन लाता है, जिससे दूसरे पक्ष के जीवन यापन में व्यतिक्रम की आशंका की जा सकती है। यही वह आधार है जिस पर पत्नी को पति के धर्म संपरिवर्तन कर लेने पर उससे पृथक् आवास और भरण-पोषण का हक प्राप्त हो जाता है और यदि पत्नी स्वयं धर्म संपरिवर्तन कर लेने के कारण हिन्दू नहीं रह गई है तो वह अपना उक्त हक उपधारा (3) के उपबन्धों के अधीन खो देती है।

विधवा पुत्रवधू का भरण-पोषण

अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब में किसी सहदायिक की विधवा को प्राचीन हिन्दू विधि में संपत्ति में पति की विरासत का हक नहीं था। किन्तु हिन्दू विधि में हिन्दू विधवा को भरण-पोषण पाने का हक प्राचीनतम काल से ही प्राप्त था।[1] कुटुम्ब के विभाजन के समय

---

1 रजनीकान्त पाल बनाम सजनी सुन्दरी दास, ए० आई० आर० 1934 पी० सी० 29.

कौटुम्बिक संपत्ति से विधवाओं के भरण-पोषण हेतु पृथक् संपत्ति की व्यवस्था अनिवार्य थी ।[1] हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 19 अंशतः प्राचीन हिन्दू विधि की एतद्विषयक व्यवस्थाओं को संहिताबद्ध करती है, क्योंकि इसमें केवल विधवा पुत्रवधू के भरण-पोषण की व्यवस्था है । धारा 19 के उपबंधों के अनुसार विधवा पुत्रवधू चाहे उसका विवाह इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व हुआ हो, या उसके पश्चात् अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने श्वशुर से भरण-पोषण प्राप्त करने की हकदार होगी यदि वह अपनी पृथक् संपत्ति या आय या अपनी पति या पिता या माता या पुत्री या पुत्र से प्राप्त संपदा से अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हो । हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 19 की उपधारा (1) के अनुसार विधवा पुत्रवधू के भरण-पोषण के अधिकार का परन्तुक इस प्रकार है:—

"परन्तु यह तब जब कि, और इस विस्तार तक जहां कि, वह स्वयं अपने अर्जन या अन्य संपत्ति से अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हो, या उस दशा में जहां उसके पास अपनी स्वयं कोई भी संपत्ति नहीं है, वह निम्नलिखित में किसी से अपना भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ हो—

(क) अपने पति या अपने पिता या माता की संपदा से; या

(ख) अपने पुत्र या पुत्री से, यदि कोई हो, या उसकी संपदा से ।"

यह परंतुक श्वशुर को एक प्रकार से राहत देने हेतु इस अधिनियम की धारा 19 की उपधारा (1) में जोड़ा गया है । इससे यह भी स्पष्ट है कि श्वशुर तभी अपनी पुत्रवधू के भरण-पोषण का दायी है, जब उक्त परंतुक में गिनाये गये उसके सभी नातेदार या तो मृत हों, या उनके पास ऐसी कोई आय या संपदा न हो, जिससे कि दावेदार विधवा पुत्र-वधू अपना भरण-पोषण अभिप्राप्त कर सके । वाक्यांश "निम्नलिखित में से किसी से अपना भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ हो" का आशय यही है कि जब परन्तुक के उपखंड (क) और (ख) में गिनाये गये नातेदार या उनमें से किसी की संपदा से विधवा पुत्र-वधू का भरण-पोषण नहीं हो सकता है, तभी वह अपने श्वशुर से व्यक्तिगत दायित्व के रूप में भरण-पोषण प्राप्त करने की हकदार होगी ।

इस अधिनियम की धारा 19 की उपधारा (2) के उपबंधों के अनुसार यदि श्वशुर के अपने कब्जे में की ऐसी सहदायिकी संपत्ति से, जिसमें से पुत्र-वधू को कोई अंश अभिप्राप्त नहीं हुआ है, श्वशुर के लिए ऐसा करना साध्य नहीं है, तो उपधारा (1) के अधीन किसी बाध्यता का प्रवर्तन नहीं कराया जा सकेगा और ऐसी बाध्यता का पुत्रवधू के पुनर्विवाह पर अंत हो जाएगा यह उपधारा वस्तुतः विधवा पुत्र-वधू के सहदायिकी संपत्ति से भरण-पोषण पाने का हक उपबन्धित करती है । प्राचीन हिंदू विधि में भी विधवा पुत्र-वधू को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति से भरण-पोषण अभिप्राप्त करने का हक है । किंतु यदि श्वशुर को सहदायिकी संपत्ति में से कोई अंश नहीं प्राप्त हुआ है तो इस उपधारा के अनुसार विधवा अपने श्वशुर से उपधारा (1) के उपबंधों के अधीन भी कोई भरण-पोषण पाने की हकदार नहीं है । उल्लेखनीय है कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 में पुत्रवधू सहदायिकी की संपत्ति में वारिस है और उसे यदि इस उत्तराधिकार के हक द्वारा कोई अंश प्राप्त हुआ है तो उसे श्वशुर से इस

[1] भरणं चास्य कुर्वीरन् स्त्रीणामा जीवनक्षयात् । नारद, व्य० मयू०, पृ० 86, में उद्धृत.

धारा के अधीन भरण पोषण प्राप्त करने का हक नहीं होगा । यद्यपि यह उपधारा सामान्य सहदायिकी संपत्ति का उल्लेख करती है तथापि कलकत्ता उच्च न्यायालय[1] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि इस अधिनियम की धारा 19 की उपधारा (2) मिताक्षरा शाखा के पक्षकारों को ही लागू होती है न कि दायभाग शाखा के पक्षकारों को। मिताक्षरा हिंदू विधि में यदि श्वशुर अविभक्त हिंदू कौटुम्बिक संपत्ति को धारण करता है तो वह विधवा के भरण पोषण का दायी है।[2] इतना ही नहीं श्वशुर विधवा पुत्र-वधू के निबास की भी व्यवस्था करने का दायी है क्योंकि इस अधिनियम की धारा 3 के अनुसार भरण-पोषण में निवास भी सम्मिलित है और यदि वह विधवा पुत्र-वधू के लिए निवास की व्यवस्था करता है तो वह ऐसा कर सकता है।[3]

विधवा पुत्र-वधू के भरण पोषण के दायित्व की परिसमाप्ति—श्वशुर का विधवा पुत्र-वधू के भरण-पोषण का दायित्व इस अधिनियम की धारा 19 की उपधारा (2) के द्वितीय अंश के अनुसार विधवा के पुनर्विवाह कर लेने पर स्वतः समाप्त हो जाता है। इस प्रकार उस के हक की समाप्ति उसके अपने कृत्यों से हो जाती है। इसके अतिरिक्त यदि वह हिंदू नहीं रह जाती है, तो इस अधिनियम की धारा 24 के उपबंधों के अधीन उसका भरण पोषण पाने का हक समाप्त हो जाता है। क्योंकि वह अन्य धर्म में संपरिवर्तित होने के कारण हिंदू नहीं रह गयी है, अतः इस अध्याय के अधीन भरण-पोषण का दावा करने की हकदार नहीं होगी । इसलिए इस धारा में भरण-पोषण प्राप्त करने के लिए विधवा पुत्र-वधू का हिंदू बने रहना अनिवार्य है। यदि वह भरण-पोषण प्राप्त करने की न्यायालय की डिक्री के पश्चात् धर्मसंपरिवर्तन करके हिंदू नहीं रह जाए, तो जिस दिन वह ऐसा करे उसी दिन से भरण-पोषण पाने का हक खो देगी।

अप्राप्तवय अपत्यों का भरण-पोषण

हिंदू विधि में अप्राप्तवय अपत्यों के भरण-पोषण का दायित्व प्राचीनतम काल से ही माना जाता रहा है। मनु आदि शास्त्रकारों ने सुत के भरण-पोषण का दायित्व पिता का माना है।[4] "सुत" पद में सुता[5] भी सम्मिलित है। पिता का व्यक्तिगत दायित्व पुत्र और पुत्री दोनों के भरण-पोषण का है।[5] किंतु 'सुता' या "अपत्य" पद केवल एक ही पीढ़ी के वंशजों तक सीमित नहीं है। इस पद में निचली किसी भी पीढ़ी के वंशज आते हैं । पूर्वमृत पुत्र के अपत्य, और पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र के अपत्य या पूर्वमृतपुत्र के पूर्वमृतपुत्र के पूर्वमृत पुत्र के अपत्य भी "अपत्य" पद या 'सुत' पद में आते हैं। यदि कोई पूर्वज इतनी लम्बी आयु तक जीवित है और दुर्भाग्यवश उसके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र पूर्वमृत हैं और प्रपौत्र का अपत्य अप्राप्तवय है और उसकी माता भी जीवित नहीं है तो हिंदू धारणाओं के अनुसार पूर्वज

---

[1] कन्हैयालाल प्रामाणिक **बनाम** पुष्पारानी प्रामाणिक, ए० आई० आर० 1979 कलकत्ता 172.

[2] जलकौर **बनाम** पालासिंह ए० आई० आर० 1961 पंजाब 391.

[3] जगदीशसिंह **बनाम** अतिरिक्त जिला तथा सत्र न्यायाधीश, ए० आई० आर० 1979 इलाहाबाद 24.

[4] भार्या सुतः शिशुः······भर्तव्या :। मनु० 11/10 के पश्चात् का श्लोक।

[5] सुता दुहितरः प्रभर्तव्याः। यावद्विवाह-संस्कार-संस्कृता भवन्ति तावद्भरणीयाः। वरदराज, व्य० नि० पृ० 421.

अर्थात् पितामह का पितामह उसके भरण-पोषण के लिए आबद्ध है जैसा कि हिंदू दत्तक तथा भरण पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 21 (iv) से स्पष्ट है। यह आबद्धता इससे भी स्पष्ट है कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 में पूर्वमृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र के अपत्य (पुत्र-पुत्री) अर्थात् पौत्र के अपत्य अन्य वारिसों के साथ वारिस हैं। इस प्रकार हिंदू दत्तक तथा भरण पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 20 के उपबंधों में आये "अप्राप्तवय धर्मज अपत्य" पद का विस्तार निचली किसी भी पीढ़ी के अप्राप्तवय अपत्य के लिए उस दशा में किया जा सकता है जिस दशा में अपत्य के पिता-माता और पितामह आदि मृत हैं और मात्र संबंधित पूर्वज ही जीवित हैं। किंतु "अप्राप्तवय अधर्मज अपत्य" के मामले में मात्र पिता या माता ही भरण-पोषण करने के लिए उसकी अप्राप्तवयता तक आबद्ध है।

हिंदू विधि की धारणा में अप्राप्तवय अपत्य धर्मज हो अथवा अधर्मज उसे अपने पिता से भरण-पोषण प्राप्त करने का नैसर्गिक अधिकार है। इस धारणा को ध्यान में रखते हुए हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 20 की उपधारा (1) में यह उपबंधित कर दिया गया है कि कोई हिंदू अपने जीवन काल में अपने धर्मज या अधर्मज अपत्यों का भरण पोषण करने के लिए आबद्ध है। धारा 20 की उपधारा (2) के अनुसार जब तक कि कोई धर्मज या अधर्मज अपत्य अप्राप्तवय रहे यह अपने पिता या माता से भरण-पोषण पाने के लिए दावा कर सकेगा। इस प्रकार पिता या माता की यह आबद्धता केवल सामाजिक या धार्मिक न रह कर अब कानूनी रूप ग्रहण कर चुकी है और कौटुम्बिक संपत्ति से संलग्न न होकर उसका व्यक्तिगत दायित्व हो गयी है[1] प्राचीनतम हिंदू विधि में जहां एक ओर अपत्यों के भरण-पोषण का धार्मिक या सामाजिक दायित्व पिता पर था वहीं उसे अपने पुत्र को त्यागने का भी अधिकार था।[2] जिसके अनुसार पिता अपने दायित्व से वच निकल सकता था। किंतु धारा 20 के उपबंधों में हिंदू धारणा की व्यापकता को ही ध्यान में रखा गया है न कि परिस्थिति विशेष में उत्पन्न होने वाले पिता के उन अधिकारों को जिनके अनुसार वह अपत्य के भरण पोषण के दायित्व से मुक्त हो सकता था उल्लेखनीय है कि आधुनिक न्याय पद्धति में न्यायालय की विधि के रूप में अप्राप्तवय अपत्य के भरण पोषण की हिंदू पिता की व्यक्तिगत आबद्धता उन्नीसवीं शती के मध्य से ही मान्यता प्राप्त हो गई थी।[3] तब से कोई हिंदू अपने अप्राप्तवय अपत्य का पृथक् संपत्ति या स्वार्जित संपत्ति में से भी भरण पोषण करने के लिए आबद्ध माना जाता रहा है।[3] इसी सुस्थिर विधि को उक्त धारा 20 में अधिनियमित विधि का रूप दिया गया है।

धारा 20 की उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन यह आवश्यक नहीं है कि धर्मज या अधर्मज अपत्य पहले पिता से भरण-पोषण पाने के लिए दावा करे और असफल होने पर माता से इसका दावा करे। इस उपधारा में आए "पिता या माता" पद से यह बात स्पष्ट है

---

1 गंगाधर रामराव बनाम राजा पिट्टपुर, 45 आई० ए० (पी० सी०).

2 मातृपितृविहीनो यः त्यक्तो वा स्यादकारणात्। कात्यायन, व्य० नि० पृ० 434 में उद्धृत। (यहां पुत्र को त्यागने का उल्लेख है)

3 प्रेमचंद बनाम हुलाशचंद, (1869) 4 बंगाल लॉ रिपोर्ट्‌र 23.

कि अप्राप्तवय धर्मज या अधर्मज को ही यह चुनाव करना है कि भरण पोषण पाने के लिए पिता से दावा करना युक्तियुक्त और उचित है अथवा माता से। यदि धर्मज या अधर्मज अप्राप्तवय अपत्य माता से भरण-पोषण पाने का दावा न्यायालय में करता है तो माता अपनी आय में से अथवा अपनी स्वार्जित या पृथक् संपत्ति या स्त्री धन में से भरण-पोषण करने के लिए उसी प्रकार आबद्ध होगी जिस प्रकार पिता व्यक्तिगत रूप से आबद्ध हो सकता है। माता यह अभिवाक् नहीं ले सकती कि उसके पास कोई कौटुंबिक संपत्ति न होने से उसकी आबद्धता व्यक्तिगत नहीं है। संहिताकरण से पूर्व माता अवयस्क अपत्य के भरण-पोषण के लिए तभी आबद्ध होती थी जब वह अपने मृत पति की संपदा को उत्तराधिकार में प्राप्त करती थी। उस दशा में माता का दायित्व व्यक्तिगत न होकर पति की संपदा से संलग्न होता था। धारा 20 के उपबंधों के अध्यधीन रहते हुए माता की संपदा पर इस अधिनियम की धारा 27 के उपबंधों के अधीन न्यायालय की डिक्री द्वारा भार स्पष्ट किया जा सकता है।

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (3) के अधीन अविवाहिता पुत्री की दशा में पिता या माता की बाध्यता का विस्तार वहां तक होगा जहां तक कि वह, यथास्थिति, स्वयं अपने उपार्जनों या अन्य संपत्ति से अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हो। यदि अविवाहिता पुत्री के पास वय प्राप्त कर लेने पर इतनी संपत्ति हो अथवा वह स्वयं अपने उपार्जनों से अपना भरण-पोषण करने में समर्थ हो तो वह इसके लिए अपने पिता या माता से दावा नहीं कर सकती। पुत्री का उक्त हक तभी तक है जब तक उसका विवाह नहीं होता। विवाह होते ही माता या पिता से भरण-पोषण पाने का उसका हक समाप्त हो जाता है और पति से भरण-पोषण पाने का हक प्रोद्भूत हो जाता है। धारा 20 की उपधारा (3) में आए "अविवाहिता पुत्री" पद का विस्तार पूर्व मृत पुत्र की पुत्री और पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र की पुत्री अर्थात् पौत्री और प्रपौत्री तक है जैसा कि धारा 21 के खंड (v) से स्पष्ट है। किंतु अविवाहिता पौत्री या प्रपौत्री की दशा में कोई हिंदू तभी उसके भरण-पोषण के लिए आबद्ध है जब कि पौत्री अपने पिता या माता की संपदा से और प्रपौत्री अपने पिता या माता या पिता या पिता के पिता की माता की संपदा में से भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ हो। यदि अविवाहित पौत्री अपने पूर्व मृत पिता या माता की संपदा में और प्रपौत्री अपने पूर्व मृत पिता या माता या पूर्वमृत पितामह या पितामही की संपदा से भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में समर्थ है तो न तो पौत्री, और न ही प्रपौत्री अविवाहिता रहने तक यथास्थिति अपने पितामह या प्रपितामह से भरण-पोषण पाने की हकदार होगी।

सीमित दायित्व

सीमित दायित्व का अर्थ—वह दायित्व सीमित दायित्व है, जो किसी व्यक्ति द्वारा विरासत में प्राप्त संपत्ति के मूल्यों तक ही सीमित रहे और उससे भिन्न संपत्ति से उस दायित्व का कोई संबंध न रहे और वह व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से उसके लिए दायी न रहे। किसी मृतक की संपदा का वारिस या दायाद उसके उन आश्रितों के भरण-भोषण की व्यवस्था उत्तराधिकार में प्राप्त संपदा से करने के लिए विधितः आबद्ध होता है, जिनके भरण-पोषण के लिए मृत स्वामी विधिक अथवा नैतिक रूप से आबद्ध था। संपदा किसी

व्यक्ति को इस बाध्यता के अध्यधीन उत्तराधिकार में प्राप्त होती है, कि वह इस प्रकार के भरण-पोषण की व्यवस्था करता रहेगा।[1] उत्तराधिकारियों का यह दायित्व हिंदू विधि की इस धारणा पर निर्भर है कि जो व्यक्ति मृतक की संपदा को प्राप्त करता है, वह उसको तथा उसके पूर्वजों को पिंड देता है तथा उसे ऋण मुक्त करता है।[2] मृत स्वामी के आश्रितों के भरण-पोषण की व्यवस्था उसकी संपदा से किया जाना एक-प्रकार की ऋण-मुक्ति है।

हिंदुओं की इस धारणा को हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 में स्वीकार करते हुए, इसकी धारा 22 में ऐसे व्यक्तियों के भरण-पोषण की व्यवस्था की गई है।

आश्रितों का भरण-पोषण—इस अधिनियम की धारा 22 की उपधारा (1) के अनुसार उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन यह है कि मृत हिंदू के वारिस, मृतक से विरासत में प्राप्त संपदा से, मृतक के आश्रितों का भरण-पोषण करने के लिए आबद्ध हैं। इस धारा की उपधारा (2) आश्रितों के हक को सुस्पष्ट करते हुए अधिकथित करती है कि 'जहां कि किसी आश्रित ने, इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् मृत हिंदू की संपदा में कोई अंश वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा अभिप्राप्त नहीं किया है वहां इस अधिनियम के उपबंधों के अध्यधीन यह है कि वह आश्रित उन व्यक्तियों से भरण-पोषण प्राप्त करने का हकदार होगा जो उस संपदा को लेते हैं।' यदि किसी आश्रित ने वसीयती अथवा निर्वसीयती उतराधिकार द्वारा मृतक की संपदा का कोई अंश प्राप्त किया हो, तो उसे उस संपदा के अधिक भाग के उत्तराधिकारी से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार इस उपधारा के अधीन इस आधार पर नहीं होगा कि उसे उससे कम अंश प्राप्त हुआ है। वस्तुतः यह उपधारा निर्हित नातेदारों के भरण-पोषण की दृष्टि से विरचित की गई है।

इतना ही नहीं धारा 22 की उपधारा (3) में यह भी उपबंधित कर दिया गया है कि जो व्यक्ति (संपदा) लेते हैं उनमें से हर एक का दायित्व अपने द्वारा ली गई संपदा के अंश या भाग के मूल्य के अनुपात में होगा। तात्पर्य यह है कि वारिस का दायित्व विरासत में प्राप्त संपदा के मूल्य के अनुसार ही किसी आश्रित का भरण-पोषण करने के लिए होगा उससे अधिक नहीं। 'अनुपात' पद का इस उपधारा में यह अर्थ है कि जहां अनेक व्यक्ति वारिस हैं और उनमें किसी का अंश कम है और किसी का अधिक तो प्रत्येक का दायित्व अपने ही अंश के मूल्य के अनुसार होगा। सभी वारिसों का दायित्व एक समान नहीं होगा।

---

1 श्रीमती रूपा बनाम श्रीमती सावित्रीदेवी, ए० आई० आर० 1955 उड़ीसा 28; कामिनी बनाम चंद्रा, आई० एल० आर० (1890) 17 कलकत्ता 373.

2 'गोत्ररिक्थानुगः पिंडो' मनु० 9/142.
दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत्।
स एवद्दयाद्द्वौपिंडौ पित्रे मातामहाय च ।। मनु० 9/132.
"पिंडदान देने के कारण ही दौहित्र पिता और मातामह का धन प्राप्त करता है।

धारा 22 की उपधारा (4) इसी धारा की उपधारा (2) और (3) की अपवाद है। इसमें उन आश्रितों के हितों की संरक्षा की गई है जो स्वयं भरण-पोषण अभिप्राप्त करने के हकदार हैं किंतु उन्हें वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा मृतक की संपदा से कोई अंश या भाग अभिप्राप्त होता है। यदि विरासत में प्राप्त अंश या भाग भरण-पोषण के रूप में इस अधिनियम के अधीन अधिनिर्णीत होने वाली रकम से कम मूल्य का है या यदि उससे अन्य आश्रित या आश्रितों को कोई रकम भरण-पोषण के रूप में अभिदेय करायी जाय तो उसका मूल्य कम हो जाएगा; तो वह अन्य आश्रितों के भरण-पोषण करने के लिए अभिदाय करने का दायी नहीं होगा। ऐसे मामलों में न्यायालय को आश्रित को भरण-पोषण में मिल सकने वाली उस रकम की गणना करनी पड़ेगी, जो उसे मृतक की संपत्ति में अंश न प्राप्त करने पर भरण-पोषण के रूप में इस अधिनियम के अधीन अधिनिर्णीत होती और उस संपत्ति के मूल्य की संगणना रकम में करनी पड़ेगी जो उसे विरासत में प्राप्त हुई है। इस प्रकार से गणना की गई दोनों रकमों में यह देखना पड़ेगा कि यदि उससे, भरण-पोषण के रूप में कोई रकम अन्यों को अभिदत्त करायी जाती है, तो उसे भरण-पोषण के रूप में मिल सकने वाली रकम से उसके पास शेष रह जाने वाली रकम कम नहीं होनी चाहिए। यदि शेष रह जाने वाली रकम कम होती है तो वह तो आश्रित अन्यों के भरण-पोषण के लिए अभिदाय करने का दायी नहीं होगा। यदि यह उपधारा न विरचित की गई होती तो उपधारा (2) और (3) के उपबंधों के अधीन अन्यों के भरण-पोषण के लिए अभिदाय करने का दायी होने के नाते किसी आश्रित की आर्थिक दशा बिगड़ सकती थी और उत्तराधिकार में प्राप्त अंश उसके लिए अभिशाप सिद्ध हो सकता था।

भरण-पोषण के हकदार मृतक के आश्रित—हिंदू विधि में ऐसे नातेदारों की लम्बी सूची है, जो किसी व्यक्ति से भरण-पोषण अभिप्राप्त करने के अधिकारी न होने पर भी उसके द्वारा मृतक की संपत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करने के कारण भरण-पोषण प्राप्त करने के हकदार हो जाते हैं। इन आश्रितों में वे सभी मृतक के वंशज या नातेदार या संबंधी आते हैं, जिन्हें उत्तराधिकार द्वारा मृतक की संपत्ति में कोई अंश प्राप्त नहीं हो सकता किंतु जिन्हें मृतक भरण-पोषण का अभिदाय करने का दायी था। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के माध्यम से इस हक को भी संहिताबद्ध किया गया और धारा 21 में उन सभी व्यक्तियों अथवा नातेदारों की सूची दी गई है, जिनके भरण-पोषण का दायित्व मृतक पर था और वह वस्तुत: अपने दायित्व का निर्वहन करता था किंतु उसकी संपदा उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो जाने के कारण उन्हें अपने भरण-पोषण के लिए अधिक संकट का सामना करना पड़ सकता है। धारा 21 की आश्रितों की परिभाषा के अनुसार भरण पोषण के प्रयोजनों के लिए 'आश्रितों' से मृतक के निम्नलिखित नातेदार अभिप्रेत हैं :—

(1) उसका पिता;

(2) उसकी माता;

(3) उसकी विधवा; जब तक वह पुनर्विवाह न कर ले;

(4) उसका पुत्र (अप्राप्तवय), या

(क) उसके पूर्व मृत पुत्र का पुत्र ; या

(ख) उसके पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र का पुत्र

(5) उसकी अविवाहित पुत्री; या

(क) उसके पूर्व मृत पुत्र की अविवाहिता पुत्री; या

(ख) उसके पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्री की अविवाहिता पुत्री

(6) उसकी विधवा पुत्री;

(7) उसके पुत्र या पूर्व मृत पुत्र के पुत्र की कोई विधवा; जब तक कि वह पुनर्विवाह न कर ले,

(8) उसका अप्राप्तवय अधर्मज; (जब-तक कि वह अप्राप्तवय रहे)

(9) उसकी अधर्मज पुत्री; जब तक कि वह अविवाहिता रहे ।

उपर्युक्त सूची में जिन आश्रितों को गिनाया गया है उनमें माता, विधवा पत्नी, पुत्र पौत्र, प्रपौत्र, पुत्री, पूर्वमृत पुत्र की पुत्री, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की पुत्री, पुत्र की विधवा पूर्वमृत पुत्र की विधवा हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 8 की अनुसूची के वर्ग 1 के उत्तराधिकारी हैं और इन्हें मृतक की वह संपदा, जो हिंदू विधि से शासित होती है, उत्तराधिकार में साथ-साथ प्राप्त होती है । इस लिए इनके भरण-पोषण का दायित्व वारिसों या दायादों पर नहीं होता । किंतु अब किसी हिंदू के पास दो प्रकार की संपत्ति हो सकती है, प्रथम, वह जो हिंदू विधि से शासित होती है और द्वितीय, वह जो अभिधारण विधि से शासित होती है । जो भू-संपत्ति अभिधारण विधि (टेनेंसी लॉ) से शासित होती है, उसका न्यागमन उससे संबंधित राज्य अधिनियमिति से होता है । अभिधारण विधि (टेनेंसी लॉ) की दृष्टि से आश्रितों की यह सूची और परिभाषा अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि अधिकांश आश्रित उस विधि के अनुसार उत्तराधिकार में मृतक की संपदा में कोई अंश प्राप्त नहीं कर पाते । फलस्वरूप उनके भरण-पोषण की समस्या बनी रहती है । इनमें से पुत्र ही ऐसा आश्रित है, जो उत्तराधिकारमें अभिधारण विधि में कृष्य भूमि का प्रथमतः वारिस होता है ।

वंशज—यदि पौत्र, प्रपौत्र, अविवाहिता पौत्री और अविवाहिता प्रपौत्री क्रमशः अपने पिता या माता, पितामह या पितामही, प्रपितामह या प्रपितामही की संपदा से भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में समर्थ हों तभी मृतक के उत्तराधिकारी से भरण-पोषण प्राप्त करने के हकदार होंगे । किंतु धारा 21 (iv) और 21 (v) के परंतुक क्रमशः पुत्र और अविवाहिता पुत्री के मामले में लागू नहीं होते, क्योंकि ये अपने पिता की संपदा के प्रथम उत्तराधिकारी होते हैं और इनके रहते हुए कोई अन्य उत्तराधिकारी नहीं हो सकता ।

विधवा पुत्री—इस अधिनियम की धारा 21 (vi) के परंतुक के अनुसार मृतक की विधवा पुत्री तभी विरासत में मृतक की संपदा प्राप्त करने वाले वारिस से भरण-पोषण प्राप्त करने की हकदार होगी जबकि, और उस विस्तार तक जहां तक कि, वह अपना

भरण-पोषण (क) अपने पति की संपदा से या (ख) अपने पुत्र या पुत्री से, यदि कोई हो, या उसकी संपदा से, या (ग) अपने श्वशुर या उसके पिता से, या उन दोनों में से किसी की संपदा से अभिप्राप्त करने में असमर्थ हो।

विधवाएं—इस अधिनियम की धारा 21 (vii) के परंतुक के अनुसार मृतक की विधवा पुत्रवधू या पूर्वमृत पुत्र की विधवा पुत्रवधू तभी मृतक के ऐसे वारिस से जिन्हें विरासत में उसकी संपदा प्राप्त हुई है, भरण-पोषण पाने की हकदार होगी जब कि और उस विस्तार तक जहां तक कि, वह अपने पति की संपदा से, या अपने पुत्र या पुत्री से, यदि कोई हो, या उसकी संपदा से या पौत्र की विधवा की दशा में अपने श्वशुर की संपदा से भी भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ हो।

अधर्मज संतति—अधर्मज पुत्र प्राचीन हिंदू विधि में अपने पिता से भरण पोषण पाने के हकदार हैं। शास्त्रों में अधर्मज पुत्र, जिसके भरण-पोषण का दायित्व पिता का माना गया है, वस्तुतः 'दासी पुत्र, है।[1] ब्रिटिश काल में 'दासीपुत्र' का अर्थ रखैल-पुत्र किया गया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि एक स्थायी रखैल के पुत्र के भरण पोषण का दायित्व उसके ख्यात पिता का है। 'दासी पुत्र' पद का यह अर्थान्वयन शास्त्रीय आशय के अनुकूल नहीं है वास्तविक स्थिति यह है कि धनी कुटुंबों तथा राजघरानों में पत्नी की अनेक दासियां होती थीं।[2] इन दासियों या दासी के सम्पर्क से जो पुत्र होता था, उसे ही 'दासीपुत्र' कहा जाता था। दासी का भरण-पोषण जिसकी वह दासी होती थी, उसका पति करता था और जब उसके संपर्क से पुत्र हो जाता था, तब वह उसके पुत्र का भी भरण-पोषण करता था।

मिताक्षरा ने द्विजों के 'दासीपुत्र' के भरण-पोषण का दायित्व ही पिता पर दिया है[3] अन्य 'रखैल पुत्र' का नहीं। कालान्तर में इस पद का विस्तार हो गया और स्थायी रखैल पुत्र या अधर्मज पुत्र के लिए भी यह हक स्वीकार कर लिया गया।[4] द्विजों में सर्व प्रथम ख्यात-पिता का यह व्यक्तिगत दायित्व है और दासी पुत्र को संपत्ति में विरासत या उत्तराधिकार का हक नहीं है।[5] फलस्वरूप, ख्यात पिता की मृत्यु के पश्चात् दासी पुत्र या अधर्मज पुत्र के भरण-पोषण का अधिकार उसकी पृथक् संपत्ति से संबद्ध होने लगा।[6] पिता की कोई पृथक् संपत्ति न होने की दशा में यह अधिकार कौटुम्बिक संपत्ति में उसके अंश

---

1 तत्सद्भावे त्वर्धभागिक एव दासीपुत्रः। याज्ञ० 2/133-134 की मिता० टीका।

2 वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठामासुरायणीम्। मत्स्यपुरा० 31/3.

3 अत्र च शूद्रग्रहणाद् द्विजातिना दास्यामुत्पन्नः पितुरिच्छयाप्यंशं न लभते, नाप्यर्धं, दूरत एव कृत्स्नम। किंत्वनुकूलश्चेज्जीवनमात्रं लभते।
याज्ञ० 2/133-134 की मिता० टीका।

4 मुत्तुस्वामी जगवीर **बनाम** वेंकटेश्वर, (1868) 12 एम० आई० ए० 203.

5 शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमंतेवासिविधिना।
गौ० ध० सू० 28/40.

6 चातुर्य **बनाम** प्रह्लाद, (1857) 7 एम० आई० ए० 18.

से हो जाता है।[1] यदि पिता अविभाज्य संपदा का धारक है तो अधर्मजपुत्र को भरण-पोषण का कोई विधिक हक नहीं है। वह मात्र कुलाचार के रूप में ही भरण-पोषण प्राप्त करता है[2] क्योंकि कुटुंब के सदस्यों को भी कुलाचार के द्वारा ही ऐसे मामले में भरण पोषण मिलता है। मिताक्षरा विधि में अधर्मज पुत्र को आजीवन भरण-पोषण का हक द्विजों में कुटुंब का सदस्य माने जाने पर भी सांपत्तिक उत्तराधिकार से हक रहित होने के कारण प्राप्त है न कि अनुकम्पा भत्ते के रूप में।[3] आचार्य मस्करी ने गौतम धर्म सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि दासी-पुत्र को भरण-पोषण इसलिए मिलता है कि वह भी कुटुम्ब के सस्दयों की भांति कृषि आदि कार्यों में सहयोग देता है।[4] किंतु दासी-पुत्री या अधर्मज पुत्री को प्राचीन हिंदू विधि में भरण-पोषण का कोई हक प्राप्त नहीं है।[5] मिताक्षरा विधि में दासीपुत्र या अधर्मज हिंदू पुत्र को यह हक आजीवन प्राप्त है[6] किंतु दायभाग विधि में केवल अवयस्कावस्था तक है।[7]

हिंदू विधि के अधीन किसी अहिन्दू अधर्मज पुत्र को भरण-पोषण का हक प्राप्त नहीं है, पर वह दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों के अधीन भरण-पोषण का हकदार है किंतु वह हक पिता के जीवन काल तक ही है, उसकी मृत्यु के पश्चात् नहीं।[8]

शूद्रों में हिंदू स्त्री से उत्पन्न दासी-पुत्र या अधर्मज पुत्र को पिता की पृथक् संपत्ति में उत्तराधिकार प्राप्त है।[9] किंतु यदि पिता संयुक्त अविभक्त कुटुम्ब का सदस्य है तो दासी पुत्र या अधर्मज पुत्र विभाजन की मांग नहीं कर सकता वह अन्य सदस्यों से अपने पिता के अंश से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकारी हैं जो उसे आजीवन देय हैं।[10]

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 21 के खण्ड (viii) और (ix) के अधीन अब प्राचीन हिंदू विधि के सभी विभेद समाप्त हो गये हैं और

---

[1] रोशनसिंह **बनाम** बलवंतसिंह, आई० एल० आर० (1900) 22 इलाहाबाद 191 (पी० सी०); (1868) 12 एम० आई० ए० 203.

[2] हीरालाल **बनाम** मेघराज भीखचंद, आई० एल० आर० (1938) मुंबई 779.

[3] हरिसिंह जी **बनाम** अजीतसिंह जी, आई० एल० आर० (1949) मुंबई 342.

[4] मैथ्यु अंजुरत्न **बनाम** कोंणी नारायण राव, ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 433. अविद्यमानद्विजातिपुत्रस्य ब्राह्मणस्यापि शूद्रयोन्यामुत्पन्नः यावता कृष्यादि कर्मानुष्ठानसमर्थो भवति तावन्मात्रं लभेत। स यदि शिष्यवच्छुश्रूषापरो भवति। गौ० ध० सू० 28/40 पर मस्करीकृत भाष्य।

[5] पांडुरंग **बनाम** सोनाबाई, आई० एल० आर० (1948) नागपुर, 653; पद्मावती **बनाम** रामचंद्र, ए० आई० आर० 1951 उड़ीसा 248.

[6] नीलमणिसिंह **बनाम** वनेश्वर, आई० एल० आर० (1879) 4 कलकत्ता 91; हरगोविंद **बनाम** धर्मसिंह, आई० एल० आर० (1884) 6 इलाहाबाद 329.

[7] आई० एल० आर० (1879) 4 कलकत्ता 91.

[8] सीताराम **बनाम** गणपत, ए० आई० आर० 1923 मुंबई 384 (मुस्लिम स्त्री).

[9] जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत्। याज्ञ० 2/133.
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम्। या० 2/134.

[10] वेल्लय्यप्पा चेट्टि **बनाम** नटराजन्, ए० आई० आर० 1931 पी० सी० 214.

अधर्मज पुत्र को प्राप्तवय होने तथा अधर्मज पुत्री को अविवाहिता रहने तक भरण-पोषण का हक प्राप्त हो गया है। यद्यपि संहिताकरण द्वारा अधर्मज पुत्र के अधिकारों को सुरक्षित रखा गया है और मान्यता दी गई है तथापि उसमें कटौती कर दी गई है। जहां प्राचीन हिंदू विधि में वह आजीवन भरण पोषण का अधिकारी था, वहां अब इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन केवल प्राप्तवय होने तक ही रह गया है। हां, अब अधर्मज पुत्री के अधिकारों को संहिताकरण द्वारा मान्यता दी गई है और उसे भी अविवाहिता अवस्था तक भरण-पोषण का हकदार बना दिया गया है।

अन्य व्यक्तियों का भरण-पोषण

प्राचीन हिंदू विधि के अधीन कुछ ऐसे भी व्यक्तियों को भरण पोषण प्राप्त करने का हक था, जिन्हें हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 21 में दी गई आश्रितों की सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है; किंतु वे अभी भी भरण-पोषण पाने के हकदार हैं। ऐसे व्यक्ति हिंदू विधि में हिंदू संयुक्त कुटुंब पद्धति के अधीन अपने भरण-पोषण का दावा करने का हकदार माने जाते हैं।

(1) **सहदायिक तथा अन्य पुरुष वंशज**—किसी अविभक्त कुटुंब के सहदायिक संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति से भरण पोषण प्राप्त करने के हकदार हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे पुरुष वंशज जो सहदायिकी सीमा से नीचे की पीढ़ी के हैं, सहदायिक न होते हुए भी कौटुंबिक संपत्ति से भरण-पोषण प्राप्त करने के हकदार हैं।

(2) **सहदायिकों की पत्नियां, विधवाएं तथा विवाहिता पुत्रियां**—यद्यपि हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 18 के अधीन पत्नी अपने पति से भरण-पोषण पाने की हकदार है तथापि मिताक्षरा सहदायिकी कुटुंब में यह अधिकार अविभक्त कुटुंब के कर्ता के विरुद्ध होता है और यह कर्ता का दायित्व है कि वह कौटुंबिक संपत्ति से प्रत्येक सहदायिकी की पत्नियों तथा मृत सहदायिक की विधवा और अविवाहिता पुत्रियों का भरण पोषण करता रहे। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वे उसके विरुद्ध भरण-पोषण के लिए वाद संस्थित कर सकती हैं। इस अधिनियम के पारित हो जाने पर भी हिंदू विधि का यह सामान्य नियम समाप्त नहीं हुआ है।[1] किंतु मृतक के आश्रितों की सूची में विधवा पुत्र वधू, पौत्र वधू तथा अविवाहिता पुत्री को भी सम्मिलित किया गया है। धारा 21 में आश्रितों की सूची मृतक के वारिसों को ध्यान में रख कर विरासत में प्राप्त उसकी संपदा से भरण-पोषण के लिए बनाई गई है। एक सहदायिकी कुटुंब में यह हक सहदायिकी विधि के अधीन उदित होता है, जो आज भी विधिमान्य है।

(3) **बहिन**—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 21 की आश्रितों की सूची में बहिन को सम्मिलित नहीं किया गया है फिर भी अविवाहिता होने की दशा में उसे भाई से भरण-पोषण प्राप्त करने का हक है। कृषि भू-संपत्ति में बहिन को उत्तराधिकार प्राप्त नहीं है और यदि पिता अपनी मृत्यु के पश्चात् ऐसी ही संपत्ति छोड़कर गया है तो अविवाहिता बहिन अपने भाई से, जो उसके पिता की संपत्ति विरासत में

[1] गोवर्धन बनाम गंगाबाई, ए० आई० आर० 1964 मध्य प्रदेश 168.

प्राप्त करता है, भरण-पोषण प्राप्त करने की हकदार हिंदू विधि के सामान्य नियम के अधीन है।[1]

(4) **निर्हंकित वारिस या दायाद**—प्राचीन हिंदू विधि में, क्लीव, जन्मांध उन्मत्त आदि संपत्ति धारण करने के योग्य नहीं माने जाते हैं, फलस्वरूप उन्हे विरासत का हक प्राप्त नहीं है।[2] ऐसे व्यक्ति अपना तथा अपनी पत्नी और संतति का भरण-पोषण कौटुंबिक संपत्ति के उस अंश से प्राप्त करने के हकदार हैं, जो यदि वे निर्योग्य न होते तो विरासत में प्राप्त करते। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 28 के उपबंधों के अनुसार अब इस प्रकार की निरर्हता समाप्त हो गई है। फिर भी एक अविभक्त हिंदू कुटुंब में ऐसी स्थिति आ सकती है कि ऐसे व्यक्तिक संपति के रख-रखाव तथा कृषि आदि कार्यों में पूर्ण सहयोग न कर पाने के कारण उन्हें उचित रूप में भरण-पोषण न मिलता हो। ऐसी दशा में विभाजन की मांग करने के स्थान पर निर्योग्य व्यक्ति अपने उचित भरण-पोषण की मांग कर्त्ता से कर सकते हैं। इनका भी यह हक सहदायिकी विधि के अधीन उत्पन्न होता है।

(5) **अवरुद्ध स्त्री या रखैल**—कोई हिंदू अवरुद्ध स्त्री या रखैल को भरण-पोषण देने के लिए आबद्ध नहीं है। वह उसे किसी भी क्षण त्याग सकता है। अवरुद्ध स्त्री उस पुरुष को, जिसकी वह रखेल है, रखने के लिए न तो विवश कर सकती है, न ही भरण-पोषण देने के लिए।[3] किंतु यदि वह एक ही पुरुष की अनन्य रखैल उसकी मृत्यु तक रहती है तो उसकी संपदा से, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके वारिसों को प्राप्त होती है, भरण-पोषण की हकदार है।[4] किंतु अवरुद्ध स्त्री का भरण-पोषण का अधिकार उसके शील पर निर्भर है।[5] उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 ने अवरुद्ध स्त्री में पूर्व निहित अधिकारों को समाप्त नहीं किया है।[6]

किंतु कोई अवरुद्ध स्त्री हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन जार की मृत्यु के पश्चात् उसकी संपत्ति से भरण-पोषण पाने की हकदार नहीं है। इसका कारण यह है कि उसे आश्रितों की सूची में सम्मलित नहीं किया गया है। किंतु यदि किसी अवरुद्ध स्त्री को इस अधिनियम के पहले से कोई हक प्राप्त है, तो वह हक इससे प्रभावित नहीं होगा।

भरण पोषण की रकम

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 23 के उपबंधों के

---

[1] रामबाई बनाम मीराबाई, ए० आई० आर० 1967 मध्य प्रदेश 86.

[2] क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः ।
अंधोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्तव्याः स्युर्निरंशकाः ॥ याज्ञ० 2/140.

[3] रामानरेसु बनाम बच्चम्मा, आई० एल० आर० (1900) 23 मद्रास 282.

[4] शिवकुमारी बनाम उदयप्रताप, आई० एल० आर० (1947) इलाहाबाद 642.

[5] यशवंत बनाम काशीबाई, आई० एल० आर० (1888) 12 मुंबई 26.

[6] गोपालराव बनाम सीतारामम्मा, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1970.

अनुसार इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन भरण-पोषण की रकम अवधारित करना न्यायालय के विवेकाधिकार का विषय है । इस धारा की उपधारा (2) और (3) में न्यायालय के लिए कुछ मार्गदर्शक सिद्धांत दिये गये हैं, जिन्हें न्यायालय को अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते समय, जहां तक कि वे लागू हों, सम्यक् रूप से ध्यान में रखना होगा । इस अधिनियम की धारा 23 भरण-पोषण की रकम अवधारित करने के लिए तीन प्रकार के नियम अधिकथित करती है ।

(1) **भरण-पोषण का औचित्य** : न्यायालय को इस अधिनियम की धारा 23 की उपधारा (1) के अधीन व्यापक विवेकाधिकार दिया गया है । उसे यह देखना है कि क्या इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन भरण-पोषण दिलवाया जाय और यदि दिलवाया जाय तो कितना । इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन आने वाले व्यक्ति दो वर्गों में विभक्त हैं, जिन्हें भरण-पोषण दिलवाया जा सकता है :—

(क) पत्नी, विधवा पुत्र-वधू, अप्राप्तवय पुत्र, अविवाहित पुत्री और वृद्ध या शिथिलांग जनक जो धारा 18 से 20 तक उल्लखित हैं ।

(ख) मृत हिंदू पुरुष अथवा स्त्री के आश्रित जो धारा 21 और 22 में उल्लखित हैं ।

न्यायालय को यह अवधारित करना होगा कि उपर्युक्त व्यक्तियों या आश्रितों में से कौन व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें भरण-पोषण की आवश्यकता है और जिन्हें मृतक की संपदा में से कोई अंश या भाग नहीं मिला है । भरण-पोषण की रकम अवधारित करते समय न्यायालय को मामले की परिस्थितियों तथा तथ्यों पर भी विचार करना होगा और यह भी ध्यान में रखना होगा कि दावेदार की अपनी आय या आर्थिक स्थिति क्या है, और मृतक से उसके संबंध कैसे रहे थे । इस प्रकार भरण-पोषण के औचित्य या रकम के अवधारण में न्यायालय को इस उपधारा में जो विवेकाधिकार प्राप्त है वह पूर्णतया न्यायिक है, न कि मनमाना ।

(2) **पत्नी, अपत्यों और जनकों के भरण-पोषण पर प्रभाव डालने वाले तत्व**— इस अधिनियम की धारा 23 की उपधारा (2) के अनुसार पत्नी, अपत्यों, वृद्ध या शिथिलांग जनकों को यदि कोई भरण-पोषण की रकम इस अधिनियम के अधीन दी जानी है, तो उसका अवधारण करने में न्यायालय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखेगा :

(क) पक्षकारों की स्थिति या प्रास्थिति को;

(ख) दावेदार की युक्तियुक्त आवश्यकता को;

(ग) यदि दावेदार पृथकत: निवास कर रहा है तो इस बात को कि क्या दावेदार का ऐसा करना न्यायोचित है;

(घ) दावेदार की संपत्ति के मूल्य को, और ऐसी संपत्ति से दावेदार के निजी उपार्जनों से या किसी अन्य स्रोत से व्युत्पन्न किसी आय को;

(ङ) इस अधिनियम के अधीन भरण-पोषण के हकदार व्यक्तियों की संख्या को ।

इस उपधारा का आशय स्पष्ट है। पत्नी, अपत्य, या शिथिलांग या वृद्ध जनक अपने पति, पिता या माता, या पुत्र-पुत्री से यथास्थिति नातेदारी या शारीरिक अक्षमता के कारण ही भरण-पोषण के स्वतः दावेदार नहीं हो सकते। उनके लिए न्यायालय ही भरण-पोषण की रकम अवधारित कर सकेगा। उपधारा (2) के उपखंड (क) के अनुसार न केवल दावेदार की स्थिति और प्रास्थिति को ध्यान में रखा जाना है, अपितु प्रतिपक्ष की स्थिति और प्रास्थिति का भी विचार किया जाना है। दावेदार के दावे पर विचार करते समय उसकी युक्तियुक्त आवश्यकताओं, उसके निवास, संपत्ति के मूल्य, उपार्जन और आय के स्रोत आदि को भी दृष्टिगत रखना है। इतना ही नहीं, यह भी विचारणीय है कि भरण-पोषण के दावेदारों की संख्या कितनी है। इन सबके ऊपर, प्रतिपक्ष की आर्थिक स्थिति और उसकी अपनी कौटुंबिक प्रास्थिति का भी मूल्यांकन किया जाना है कि वह दावेदारों में से किसी को या सबको भरण-पोषण की रकम जो न्यायालय द्वारा अवधारित की जाए, देने की क्षमता रखता है अथवा नहीं।

प्रिवी कौंसिल[1] ने भी न्यायालय द्वारा भरण-पोषण की रकम के अवधारण के लिए कुछ मार्गदर्शक सिद्धांत सुझाये हैं, जो इस प्रकार हैं—'स्थिति, मुक्त संपदा की मात्रा विवाहित पक्षकारों का विगत जीवन और उनका कुटुंब, सदस्यों की दशा, आवश्यकताएं और अधिकारों का सर्वेक्षण, जहां तक संभव हो भविष्य में परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन पर युक्तियुक्त दृष्टिपात, परिमाण, रहन-सहन के ढंग, आयु, आदत आवश्यकताएं और पक्षकारों की जीवनचर्या, आदि सभी तथ्यों पर के सम्मिलित रूप से भरण-पोषण की रकम निर्भर होगी, उच्चतम न्यायालय ने **कुलभूषण** बनाम **राजकुमारी**[2] के मामले में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के उक्त विचारों से पूर्ण सहमति अभिव्यक्त करते हुए अधिकथित किया है कि इस उपधारा ने उसमें व्यक्त सिद्धांतों से कोई पृथक् सिद्धांत नहीं घोषित किया है, सिवाय उपखंड (घ) और (ङ) में परिकल्पित सिद्धांतों के।

(3) **आश्रितों के भरण-पोषण पर प्रभाव डालने वाले तत्व** : इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन आश्रितों के भरण-पोषण की रकम के अवधारण करने में न्यायालय द्वारा निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाएगा जो उपधारा (3) में उल्लिखित हैं :—

(क) मृतक के ऋणों के संदाय का उपबंध करने के पश्चात् उसकी संपदा के शुद्ध मूल्य को;

(ख) मृतक के विल के अधीन उस आश्रित के बारे में किये गये उपबंध को; यदि कोई हो,

(ग) दोनों के बीच के नातेदारी की डिग्रियों (निकटता) को,

(घ) उस आश्रित की युक्तियुक्त आवश्यकताओं को;

(ङ) उस आश्रित और मृतक के बीच के भूतपूर्व संबंधों को;

(च) उस आश्रित की संपत्ति के मूल्य को और ऐसी संपत्ति से, या उस

[1] एकरादेश्वरी बनाम होमेश्वर, (1929) 56 आई० ए० 182.

[2] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 234.

आश्रित के निजी उपार्जन से या किसी अन्य स्रोत से व्युत्पन्न किसी आय को;

(छ) इस अधिनियम के अधीन भरण-पोषण के हकदार आश्रितों की संख्या को।

उपधारा (3) में भी वैसे ही मार्गदर्शक सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है, जो ऊपर उपधारा (2) में दिये गये हैं। इसमें मृतक के ऋणों के संदाय के उपबंध, मृतक की विल, यदि कोई हो, के अधीन दावेदार आश्रित के बारे में किये गये उपबंध और मृतक तथा दावेदार आश्रित की नातेदारी की निकटता उपधारा (2) में अधिकथित सिद्धांतों से पृथक् सिद्धांत है, जिनमें से उपखंड (ख) और (ग) में परिकल्पित सिद्धांत आश्रित के लिए ही उपयोगी है। उपखंड (क) में परिकल्पित सिद्धांत मृतक के ऋणों के संदाय का उपबंध सर्वथा नया है और इसका उपबंध किसी आश्रित के भरण-पोषण की रकम का अवधारण करने से पूर्व किया जाना है।

भरण-पोषण की बकाया रकम : हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम में भरण-पोषण की बकाया रकम को दिलाने का कोई उपबंध नहीं है। फिर भी हिंदू विधि का यह स्थापित सिद्धांत है कि न्यायालय द्वारा बकाया रकम भरण-पोषण के दायी व्यक्ति से सामान्यतः उस दर से कम दर पर दिलाई जानी चाहिए जो रकम इस हेतु अवधारित की जाती है; विशेषतया उस मामले में जिसमें दावा अधिक कालावधि का हो।[1]

भरण-पोषण की रकम में परिवर्तन—हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 25 के अनुसार यदि परिस्थितियों में कोई ऐसा परिवर्तन हो जाय जिससे भरण-पोषण की रकम में परिवर्तन करना न्यायोचित हो तो भरण-पोषण की रकम चाहे वह इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् न्यायालय की डिक्री द्वारा या करार द्वारा निश्चित की गई हो, तत्पश्चात् परिवर्तित की जा सकेगी।

इस धारा में 'रकम में परिवर्तन' पद का तात्पर्य रकम में वृद्धि और कमी दोनों से है, जो मामले की परिस्थितियों पर निर्भर होगा। यदि परिस्थितियां भरण-पोषण की वृद्धि के पक्ष में अनुकूल हैं तो न्यायालय वृद्धि की डिक्री कर सकता है।[2] किंतु जहां परिस्थितियां वर्तमान रकम देने योग्य नहीं रह गई हैं, वहां न्यायालय रकम की कमी की डिक्री पारित कर सकता है।[3] भरण-पोषण की रकम में परिवर्तन न्यायालय की डिक्री द्वारा ही संभव है जिसके लिए वाद संस्थित किया जाना चाहिए,[3] जब तक डिक्री में ऐसा कोई उपबंध न हो कि भरण-पोषण की रकम में परिवर्तन के लिए आवेदन यथेष्ट नहीं है।[3]

भरण-पोषण के दावेदार का हिंदू होना

हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 24 के उपबंधों के अनुसार अब हिंदू से भरण-पोषण पाने का हकदार वहीं आश्रित या नातेदार अपने संबंध विशेष के

---

[1] लक्ष्मी बनाम कृष्ण, ए० आई० आर० 1968 मैसूर 288 (आधा दर) किरणबाला बनाम बंकिम, ए० आई० आर० 1967 कलकत्ता 603(दो तिहाही दर).

[2] शशिअम्माल बनाम तेयुअम्माल, ए० आई० आर० 1964 मद्रास 217.

[3] मेनकाबाला बनाम पंचानन, ए० आई० आर० 1966 कलकत्ता 228.

नाते है जो हिंदू है। जो हिंदू धर्म का परित्याग कर किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तित हो गया है वह इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन भरण-पोषण पाने का अधिकारी नहीं है। धारा 24 का पाठ इस प्रकार है :—

> "कोई भी व्यक्ति यदि वह किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तित होने के कारण हिन्दू न रह गया हो इस अध्याय के अधीन भरण-पोषण का दावा करने का हकदार न होगा।"

इस धारा द्वारा यद्यपि भरण-पोषण के पाने के अधिकार को मात्र हिंदुओं तक सीमित रखने हेतु विशिष्ट उपबंध किया गया है तथापि इसके बिना भी इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन हिंदू व्यक्ति ही भरण-पोषण पाने का हकदार है। जब तक वादी हिंदू नहीं है तब तक वह इस अधिनियम या हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 या हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अधीन भरण-पोषण पाने का दावा करने का हकदार नहीं है क्योंकि ये अधिनियम हिंदुओं और उन धर्मों के सदस्यों को लागू है, जिन्हें हिंदू धर्म के अन्तर्गत माना गया है—यथा, सिक्ख, बौद्ध या जैन आदि। उपर्युक्त धारा 24 मात्र हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के उस अध्याय को ही ध्यान में रखती है जिस अध्याय में भरण-पोषण का उपबंध है। किंतु इस धारा में भरण-पोषण के अधिकारी उन व्यक्तियों को दृष्टिगत नहीं रखा गया है जिनके अधिकार हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन उत्पन्न होते हैं और जो उन्हीं अधिनियमों के अधीन भरण-पोषण पाने का दावा करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उक्त अधिनियमों के उपबंधों के अधीन हिंदू धर्म का परित्याग कर अन्य धर्म में संपरिवर्तित हुआ व्यक्ति भरण-पोषण पाने का हकदार है। हिंदू धर्म का परित्याग करके अन्य धर्म ग्रहण करने वाला व्यक्ति अब इनमें से किसी भी अधिनियम के उपबंधों का लाभ उठाने का अधिकारी नहीं रह गया है।

यदि किसी मामले में न्यायालय की डिक्री द्वारा हिंदू होने के नाते भरण-पोषण प्राप्त कर रहा है और बाद में हिंदू धर्म अथवा हिंदू धर्म के अन्तर्गत आने वाले अन्य धर्म में से किसी धर्म का अनुयायी नहीं रह जाता है और कोई भिन्न धर्म ग्रहण कर लेता है तो धर्म-संपरिवर्तन के दिन से वह डिक्री अप्रभावी हो जाती है। डिक्री को अपास्त कराने हेतु भरण-पोषण देने वाला व्यक्ति न्यायालय में वाद संस्थित कर सकता है। यदि भरण-पोषण के वाद के लंबित रहते हुए वादी धर्म संपरिवर्तन द्वारा हिंदू नहीं रह गया है तो वह उसी दिन तक भरण-पोषण पाने का हकदार है जिस दिन तक हिंदू था।[1]

□□□

---

[1] सुन्दरम्बाला बनाम सुप्पिया, ए० आई० आर० 1963 मद्रास 260.

अध्याय 14

अप्राप्तवयता और संरक्षकता

अप्राप्तवयता अथवा अवयस्कता का अर्थ

वय या वयस् कहते हैं आयु या अवस्था को। इस अध्याय में वय या वयस् शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त है। प्राप्त वयता या वयस्कता उस अवस्था का वाचक है, जो विधि द्वारा निर्धारित है। निर्धारित वय या वयस् से कम आयु या अवस्था अप्राप्तवयता या अवयस्कता कहलाती है। तात्पर्य यह है कि जब-तक व्यक्ति विधि द्वारा निर्धारित आयु का नहीं हो जाता है, अप्राप्तवय या अवयस्क रहता है।

सामान्यतया अवयस्कता व्यक्ति की उस अवस्था का वाचक है, जिसमें उसकी चेतना शक्ति अविकसित रहती है। दक्ष ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि बालक सोलह वर्ष की आयु तक अप्राप्तव्यवहार रहता है।[1] दूसरे शब्दों में सोलह वर्ष की आयु तक बालक संव्यवहार के योग्य नहीं होता। संव्यवहार की अयोग्यता ही वस्तुतः अप्राप्तवयता है। इस अध्याय में विवेचित अप्राप्तवयता का तात्पर्य इसी से है। इसका आधार मानसिक चेतना है। जिस अवस्था तक व्यक्ति की मासिक चेतना इतनी विकसित नहीं होती, कि वह अपने हित-अहित का बिनिश्चय कर सके, वह अवस्था अप्राप्तवयता कही जाती है। व्यवहार में यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक चेतना एक आयु विशेष में ही विकसित हो और वह संव्यवहार के योग्य हो जाय। किन्तु एकरूपता लाने के लिए यह आवश्यक है कि मानसिक अथवा बौद्धिक विकास को ध्यान में रखते हुए एक आयु सीमा निर्धारित की जाए। हिन्दू विधि में प्रायः सभी संस्कारों के लिए आयु निर्धारित है जो इस तथ्य का सूचक है कि इसमें अवस्था पर प्रारंभ से ही बल दिया जाता रहा और यह विधिक विकास की देन न होकर विधिक धारणा की देन है। शास्त्रीय विधि ने जहां यह अवस्था पन्द्रह या सोलह वर्ष की आयु के पूरा होने से पूर्व की मानी है,[2] वहीं संहिताबद्ध विधि में अठारह वर्ष की आयु पूरी होने से पूर्व की।[3] शास्त्रों में अप्राप्तवय के लिए 'पौगण्ड' शब्द का भी

---

[1] 'अप्राप्त व्यवहारोऽसौ यावत् षोडशवार्षिकः।' दक्ष० 1/6.

[2] पुंसां च षोडशे वर्षे जायते व्यवहारिता। कात्यायन, काणेकृत ध० शा० इ०, भा० 2, पृ० 852 में उद्धृत। 'यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। 'हरदत्त, गौ० ध० सू० 10/48 की टीका। कात्यायन और हरदत्त 15 वर्ष की आयु पूरी होने पर प्राप्तवय मानते हैं। 'षोडशवार्षिकस्य व्यवहारज्ञत्वमाह' मित्रमिश्र, वी० मि० व्यवहार अ०, पृ० 341 'बाल आषोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति शब्द्यते'। नारद, व्य० नि०, पृ० 296, में उद्धृत। मित्रमिश्र और नारद 16 वर्ष की आयु पूरी होने पर प्राप्तवय मानते हैं।

[3] हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4(क).

प्रयोग हुआ है।[1]

अप्राप्तवय की परिभाषा

हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4 (क) में अप्राप्तवय की परिभाषा इस प्रकार की गई है :

"अप्राप्तवय" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है, जिसने अठारह वर्ष की आयु पूरी न की हो।'

शास्त्रों में अप्राप्तवय की परिभाषा के स्थान पर प्राप्तवय की परिभाषाएं हुई हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) "सोलहवें वर्ष में पुरुष व्यवहार के योग्य होता है"[2]

—कात्यायन।

(2) "सोलह वर्ष की आयु तक बालक पौगण्डावस्था में अर्थात् अप्राप्तवय रहता है, सोलहवां वर्ष पूरा करने पर प्राप्तवय होता है, यही विधि है।"[2]

—नारद।

(3) "सोलह वर्ष की आयु व्यवहारज्ञता की आयु है।"

—मित्र-मिश्र।

अप्राप्तव्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है :—

"सोलह वर्ष की आयु तक बालक अप्राप्तव्यवहार रहता है।"[3]

इन परिभाषाओं की विशेषता यह है कि ये आधुनिक काल जैसी हैं और संव्यवहार संबंधी अयोग्यता की द्योतक हैं।

प्राप्तवयता या वयस्कता की आयु

हिंदू शास्त्रों में इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है कि प्राप्तवय होने की आयु पन्द्रह वर्ष है या सोलहवर्ष। यह विवाद इस प्रश्न को लेकर उठा कि वयस्कता सोलहवें वर्ष में होती है अथवा सोलह वर्ष की आयु पूरी होने पर। कुछ शास्त्रकार यह मानते है कि वयस्कता सोलहवें वर्ष में प्राप्त की जाती है और कुछ सोलह वर्ष की आयु पूरी करने पर मानते हैं कात्यायन और हरदत्त पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी होने पर प्राप्तवय मानते हैं किन्तु मित्रमिश्र, नारद और गोविन्द स्वामी सोलह वर्ष की आयु पूरी होने पर प्राप्तवय मानते हैं। इन मत मतान्तरों के आधार पर प्राचीन हिंदू विधि में बंगाल[3] में पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी होने पर और शेष भारत[4] में सोलह वर्ष की आयु पूरी होने पर प्राप्तवय माना जाता

---

1 'बाल आषोडशाज्ज्ञेयः पौगण्डश्चेति शब्द्यते' बौधा० ध० सू० 2/2/3/37 की गोविंद-स्वामीकृत टीका में उद्धृत एक श्लोक। व्य० नि०, पृ० 296, में नारद के नाम से उद्धृत.

2 अप्राप्तव्यवहाराश्च बाला आषोडशाद्वर्षात्। बौ० ध० सू० 2/2/3/37 की गोविंदस्वामी कृत टीका।

3 कालीचरण बनाम भगवती, (1873) 10 बंगाल लॉ रिपोर्टर 231 (पूर्ण पीठ).

4 रेड्डि बनाम कृष्ण, आई० एल० आर० (1886) 9 मद्रास 39.

था। भारतीय वयस्कता अधिनियम, 1875 के अधिनियमित हो जाने के पश्चात् यह मतभेद समाप्त हो गया और प्राप्तवय होने की आयु 18 वर्ष हो गई। किन्तु विवाह, विवाह-विच्छेद और दत्तक-ग्रहण के मामलों में यह अधिनियम लागू नहीं था। हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4 (क) के अनुसार प्रत्येक मामले में प्राप्तवय होने की आयु अब 18 वर्ष हो गई है। विवाह के मामले में लड़कियों के लिए हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के उपबन्धों में पहले 15 वर्ष की आयु उचित मानी गई थी, किन्तु इसे भी विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा संशोधित करके 18 वर्ष कर दिया गया है।

भारतीय वयस्कता अधिनियम, 1875 की धारा 3 के उपबन्धों के अनुसार निम्नलिखित दशाओं में व्यक्ति 21 वर्ष की आयु पूरी करने पर ही वयस्क होता है :

(क) प्रत्येक अवयस्क जिसके शरीर के लिए न्यायालय द्वारा संरक्षक नियुक्त किया गया है।

(ख) प्रत्येक अवयस्क जिसकी संपत्ति के लिए न्यायालय द्वारा संरक्षक नियुक्त किया गया है।

(ग) प्रत्येक अवयस्क जिसकी संपत्ति की देखरेख के लिए प्रतिपाल्य अधिकरण नियुक्त किया गया है।

किन्तु भारतीय वयस्कता अधिनियम के ये उपबन्ध हिन्दुओं के मामले में अप्रभावी हो गये हैं, क्योंकि हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 4(क) के अनुसार अठारह वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर व्यक्ति प्राप्तवय हो जायेगा चाहे उसका संरक्षक न्यायालय द्वारा ही क्यों न नियुक्त किया गया हो अथवा संपत्ति की देखरेख के लिए प्रतिपाल्य अधिकरण क्यों न हो।

संरक्षक

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4 (ख) के अनुसार संरक्षक की परिभाषा इस प्रकार है :—

'संरक्षक से वह व्यक्ति अभिप्रेत है, जिसकी देख-रेख में किसी अप्राप्तवय का शरीर या उसकी संपत्ति या उसका शरीर और संपत्ति दोनों हों और उसके अन्तर्गत आते हैं :—

(1) नैसर्गिक संरक्षक,

(2) अप्राप्तवय के पिता या माता की विल द्वारा नियुक्त संरक्षक;

(3) न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक तथा किसी प्रतिपाल्य; अधिकरण से संबंध रखने वाली किसी अधिनियमिति के द्वारा; या अधीन संरक्षक की हैसियत में कार्य करने सशक्त व्यक्ति।

इनके अतिरिक्त भी निम्नलिखित तीन संरक्षक होते हैं :—

(4) वस्तुतः संरक्षक;

(5) तदर्थ संरक्षक;

(6) विवाहित अप्राप्तवय बालिका या विधवा अप्राप्तवय बालिका का संरक्षक।

नैसर्गिक संरक्षक

'नैसर्गिक संरक्षक' पद का अर्थ है वह संरक्षक, जिसे स्वाभाविक रूप से अवयस्क व्यक्ति के शरीर और उसकी संपत्ति के बारे में उसकी ओर से कार्य करने का हक हो। संतति पिता का ही अन्य रूप है, जो उसके अंग और हृदय के अंशों से उत्पन्न होती है।[1] इस वैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि संतति पर प्रथम अधिकार पिता का है। इस अधिकार के अधीन पिता को संतति की अभिरक्षा और उसकी संपत्ति की रक्षा की शक्ति प्राप्त है। किन्तु शिशु के पालन और अभिरक्षा का अधिकार पिता से अधिक माता को है।[2] माता के शरीर में दूध का निर्माण होने से शिशु की अभिरक्षा का माता का अधिकार स्वतः सिद्ध है। इसे स्वीकार करते हुए हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6(क) में यह परन्तुक जोड़ दिया गया है कि जिस अप्राप्तवय ने पांच वर्ष की आयु पूरी न कर ली हो, उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी। पिता और माता की संरक्षकता की यह शक्ति प्रकृति प्रदत्त है। किन्तु उपर्युक्त कारण से पिता में यह शक्ति अधिक है। पिता की इस शक्ति में विधि तब-तक हस्तक्षेप नहीं कर सकती, जब-तक वह अवयस्क संतति के अहित में कोई कार्य नहीं करता हो।[3]

हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 के अनुसार, हिन्दू अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक अप्राप्तवय के शरीर के बारे में और (अविभक्त कुटुंब की संपत्ति में उसके अविभक्त हित को छोड़कर) उसकी संपत्ति के बारे में भी, निम्न-लिखित हैं :

(क) किसी लड़के या अविवाहिता लड़की की दशा में—पिता और उसके पश्चात् माता; परन्तु जिस अप्राप्तवय ने पांच वर्ष की आयु पूरी न कर ली हो—उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी;

(ख) अधर्मज लड़के या अधर्मज अविवाहिता लड़की की दशा में—माता और उसके पश्चात् पिता,

(ग) विवाहिता लड़की की दशा में-पति,

---

1 नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्—याज्ञ० 1/56.
अंगादंगात्मवसि हृदयादभिजायते—निरु० 3/4.

2 'उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्' मनु० 9/27.

3 नानाभाई बनाम जनार्दन, आई०० एल० आर (1888) 12, बाम्बे 110.

परन्तु कोई भी व्यक्ति, जो—

(क) हिन्दू नहीं रह गया है; या

(ख) वह वाणप्रस्थ या यति या संन्यासी होकर संसार को पूर्णतः और अन्तिम रूप से त्याग चुका है,

इस धारा के उपबंधों के अधीन अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने का हकदार न होगा।

स्पष्टीकरण—इस धारा में 'पिता' और 'माता' पदों के अन्तर्गत सौतेला पिता और सौतेली माता नहीं आते।

अवयस्क के शरीर और पृथक् संपत्ति की संरक्षकता—अवयस्क अपत्यों के शरीर और पृथक् संपत्ति का नैसर्गिक संरक्षक पिता होता है।[1] प्रिवी कौंसिल ने **एनीबेसेन्ट** बनाम **नारायय्या**[2] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि इंग्लैण्ड की भांति हिन्दुओं में भी अपने बच्चों की अवयस्कता के समय पिता नैसर्गिक संरक्षक होता है, किन्तु यह संरक्षकता पवित्र न्यास की प्रकृति की होती है और इसलिए वह अपने जीवन काल में अपने स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को प्रतिस्थापित नहीं कर सकता। यह सत्य है कि वह स्वविवेक के प्रयोग में अपने बच्चों की शिक्षा और अभिरक्षा किसी अन्य व्यक्ति को सौंप सकता है, किन्तु यह प्राधिकार जो वह इस प्रकार प्रदान करता है, अवश्य ही प्रति-संहरणीय प्राधिकार है और यदि उसके अपत्यों का कल्याण यह अपेक्षा करता हो तो वह किसी प्रतिकूल संविदा के होते हुए भी अपने अपत्यों की अभिरक्षा और शिक्षा एक बार पुनः अपने हाथों में ले सकता है।'

अवयस्क की नैसर्गिक संरक्षकता का हक केवल माता-पिता को ही प्राप्त है अन्य नातेदार साधिकार इसके हकदार नहीं हो सकते।[3] हिन्दू शास्त्र माता को संतति के परि-पालन का पूर्ण हक प्रदान करते हैं क्योंकि वही संतान उत्पन्न करती हैं।[4] शास्त्रों में दिए गये तर्क को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं में पिता की अपनी संतति की अवयस्कता की अवधि में नैसर्गिक संरक्षकता मात्र पवित्र न्यास की ही प्रकृति की नहीं होती अपितु उसकी संरक्षकता इस प्रकृति की भी होती है कि संतति उसी का अन्य रूप होती है।[5] इस सिद्धांत के अनुसार पिता किसी अन्य व्यक्ति की अभिरक्षा या संरक्षकता नहीं करता, प्रत्युत् अपने ही अन्यरूप की संरक्षकता करता है, जिस पर उसका पूर्ण अधिकार है। पवित्र न्यास की प्रकृति धार्मिक सिद्धांतों पर आधृत है, जब कि अन्यरूपता की प्रकृति

---

[1] नानाभाई **बनाम** जनार्दन, आई० एल० आर० (1888) 12 बाम्बे 110.

[2] (1914) 41 आई० ए० 314.

[3] इतिलावुलु **बनाम** पीतक्कल ए० आई० आर० 1950 मद्रास 390; कालिपद **बनाम** पूर्णबाला ए० आई० आर० 1948 कलकत्ता 269.

[4] उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यक्षं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबंधनम् ॥ मनु० 9/27.

[5] 'पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते'। मनु० 9/8.

वैज्ञानिक सिद्धांतों पर। व्यक्ति अपने शरीर की रक्षा या संरक्षा स्वविवेक से करने में उस सीमा तक स्वतंत्र है, जहां तक वह दूसरों का अहित नहीं करता। यही स्थिति संतति की संरक्षकता में पिता की है। वह संरक्षक के रूप में अपनी अवयस्क संतति की पृथक् संपत्ति या शरीर की हानि करने का हकदार नहीं होता। अपवाद रूप में पिता को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी अवयस्क संतति को किसी अन्य व्यक्ति को दत्तक या दान दे सकता है। संतति का दत्तक देने या दान करने का अधिकार उसी वैज्ञानिक सिद्धांत पर आधृत है कि संतति पिता का ही अंश है।

धारा 6 के परंतुक के अनुसार पिता की नैसर्गिक संरक्षकता का हक उस समय समाप्त हो जाता है, जब वह हिंदू नहीं रह जाता, अथवा वाणप्रस्थी या यति या सन्यासी होकर संसार को पूर्णतः और अंतिम रूप से त्याग चुका होता है। हिंदू शास्त्रों में धर्मच्युत व्यक्ति को अनेक अधिकारों से वंचित माना गया है। मनु स्पष्टतया यह घोषित करते हैं कि 'अपवित्रजन विधिवत् प्रायश्चित्तादि कर लें तब भी ब्राह्मणों को उनसे किसी प्रकार संबंध नहीं रखना चाहिए।[1] हिंदू विधि के अनुसार अपने धर्म का परित्याग करने वाला व्यक्ति कुटुंब का सदस्य नहीं रह जाता।[2] इसी कारण अवयस्क संतति की नैसर्गिक संरक्षकता का उसका हक भी समाप्त हो जाता है। किंतु जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम, 1850 के द्वारा इसे समाप्त कर दिया गया था। पुनः इसे धारा 6 के अधीन स्थापित किया गया जो हिंदू धारणा के अनुकूल है। संसार का पूर्णतः और अंतिम रूप से त्याग व्यक्ति की सांसारिक मृत्यु माना जाता है, और जो व्यक्ति संन्यास ग्रहण करता है, वह अपने प्राकृतिक कुटुंब से अपना संबंध-विच्छेद कर लेता है।[3] तात्पर्य यह है कि संतति पर से भी उसका अधिकार समाप्त हो जाता है।

कुछ दशाओं में पिता के स्थान पर माता को प्राथमिकता दी जाती है और उसे ही नैसर्गिक संरक्षक का हक प्राप्त होता है। ये दशाएं हैं अवयस्क का पांच वर्ष से कम आयु का होना और अधर्मज अवयस्क पुत्र तथा अधर्मज अविवाहिता पुत्री की अभिरक्षा। पांच वर्ष से कम आयु के अवयस्क की अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में इसलिए होती है कि इस अवस्था तक व्यक्ति इतना अबोध होता है कि माता के बिना उसका पालन-पोषण सुचारु रूप से हो पाना कठिन होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इस आयु तक के बच्चों का पालन-पोषण सामान्यतया माता द्वारा किया जाना प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है। हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 का यह उपबंध पूर्णतया प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। अधर्मज संतति के विषय में विधि बहुत पहले ही सुस्थिर हो चुकी है कि माता ही उसकी नैसर्गिक संरक्षक है।[4] इस अधिनियम की धारा 6(ख) का

---

1 नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मांयौनांश्च संबंधानाचरेद् ब्राह्मणः सह॥ मनु० 2/40.

2 डी० एफ० मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ उपबंध 524, पृष्ठ 626.

3 मन्हत शीतलदास बनाम संतराम, ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 606.

4 वेंकम्मा बनाम सावित्रम्मा, आई० एल० आर० (1889) 12 मद्रास 67; राजलक्ष्मी बनाम रामचंद्रन, ए० आई० आर० 1967 मद्रास 113.

उपबंध मात्र उसी सुस्थिर विधि की अधिनियमिति है। ब्रिटिश काल में यह सिद्धांत इस आधार पर भारत में लागू किया गया कि इंग्लैण्ड में साम्या न्यायालय[1] अधर्मज संतति का संरक्षक माता को मानता है।

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 6 का स्पष्टीकरण विधि की दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण है, जिसमें इस धारा में आएं 'माता' और 'पिता' पदों के अंतर्गत सौतेला पिता और सौतेली माता को सम्मिलित नहीं किया गया है। इस धारा के स्पष्टीकरण का मूल उद्देश्य यह दर्शाना है कि नैसर्गिक संरक्षकता का स्वत: हक सौतेले पिता या सौतेली माता को नहीं होता। अन्यों की अपेक्षा उसे अधिमान दिया जा सकता है, किंतु नैसर्गिक संरक्षक नहीं माना जा सकता।

दत्तक पुत्र की नैसर्गिक संरक्षकता—सामान्यतया दत्तक-ग्रहण अवयस्क पुत्र का ही होता है। अपवाद रूप में रूढ़ि या प्रथा के अनुसार वयस्क पुत्र का भी दत्तक-ग्रहण-हो सकता है, किंतु इसके लिए रूढ़ि या प्रथा साबित की जानी चाहिए। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम की धारा 10 (iv) के उपबंधों के अनुसार वही व्यक्ति दत्तक लिये जाने के योग्य है, जिसने पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी न की हो, तब के सिवाय जब कि पक्षकारों को लागू होने वाली कोई ऐसी रूढ़ि या प्रथा हो जो ऐसे व्यक्तियों का, जिन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी करली हो, दत्तक लिया जाना अनुज्ञात करती हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य स्थिति यही है कि दत्तक पुत्र या पुत्री को दत्तक ग्रहण के पश्चात् एक संरक्षक की आवश्यकता होती है। दत्तक-ग्रहण के पश्चात् अवयस्क दत्तक पुत्र का नैसर्गिक संरक्षक दत्तक पिता होता है, क्योंकि प्राकृतिक पिता की संरक्षकता समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर दत्तक पिता का प्रत्यास्थापन होता है। हिंदू अप्राप्तवयत और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 7 के उपबंधों के अनुसार अप्राप्तवय दत्तका पुत्र की नैसर्गिक संरक्षकता दत्तक-ग्रहण पर दत्तक माता को संक्रांत होती है। इस धारा में दत्तक पुत्री की, जो अप्राप्तवय हो, नैसर्गिक संरक्षकता के विषय में कोई उल्लेख नहीं है किंतु यह धारा पुत्री के विषय में भी समान रूप से लागू होती है। दत्तक पिता दत्तक पुत्री का नैसर्गिक संरक्षक उसके अविवाहिता रहने तक इस अधिनियम की धारा 6 (क) के उपबंधों के अनुसार होता है। प्राचीन हिंदू विधि में यद्यपि पुत्री के दत्तक-ग्रहण की कोई व्यवस्था नहीं है तथापि दत्तक विधि के संहिताकरण के पश्चात् पुत्री के दत्तक-ग्रहण की व्यवस्था हो गई और उसके भी परिणाम दत्तकग्रहण के पश्चात् वही होते हैं, जो दत्तक पुत्र के। इस सामान्य विधि के आधार पर दत्तक पुत्री का नैसर्गिक संरक्षक दत्तक पिता ही होगा।

नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियां

(1) **नैसर्गिक संरक्षक की सामान्य शक्तियां**—नैसर्गिक संरक्षक को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अवयस्क हिंदू की संपदा का प्रबंध करे और विधिक आवश्यकता तथा संपदा के फायदे या लाभ के लिए संपत्ति को बंधक रख सके या विक्रय कर सके[2]; किंतु

---

[1] माम्या बनाम फैली स्लीम, 17 आई० सी० 926 (रंगून).

[2] हनुमानप्रसाद बनाम बबुई मुनराजकुंअरि, (1856) 6 एम० आई० ए० 393.

नैसर्गिक संरक्षक द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक अन्यसंक्रामण में उक्त दोनों तत्वों में से किसी एक तत्व का अथवा दोनों का साबित होना आवश्यक है। यदि अन्यसंक्रांती इनमें से कोई तत्व साबित नहीं कर पाता अथवा युक्तियुक्त जांच किया जाना सिद्ध नहीं कर पाता तो नैसर्गिक संरक्षक द्वारा किया गया अवयस्क की संपत्ति का अन्यसंकामण अविभ्रमान्य होगा।[1] वयस्कता प्राप्त कर लेने पर प्रतिपाल्य को यह अधिकार या हक होता है कि वह नैसर्गिक संरक्षक द्वारा किए गए अन्यसंक्रामण को चुनौती दे सके अथवा अवयस्कता अवस्था में भी अन्य मित्र या वाद मित्र द्वारा ऐसे अन्यसंक्रामण को चुनौती दे सके किंतु जिस सीमा तक उसकी संपदा को या उसे लाभ मिला है, उतनी धनराशि उसे क्रेता को भुगतान करनी होगी। अवयस्क का यह दायित्व साम्या के इस सिद्धांत पर आधृत है कि जितने से वह लाभान्वित होता है, उतने की प्रतिपूर्ति उसे क्रेता को करनी चाहिए।[2]

(2) **हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के अधीन शक्तियां**—इस अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (1) के अध्यधीन किसी भी हिंदू अप्राप्तवय का नैसर्गिक संरक्षक उन सब कार्यों को करने की शक्ति रखता है जो उस अप्राप्तवय के फायदे के लिए या उस अप्राप्तवय की संपदा के आपन, संरक्षण या फायदे के लिए आवश्यक हैं, किंतु नैसर्गिक संरक्षक अप्राप्तवय को वैयक्तिक प्रसंविदा के द्वारा आबद्ध नहीं कर सकता। इस उपधारा में अवयस्क की संपदा या स्थावर संपत्ति के बारे में नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियों का उल्लेख किया गया है। यह धारा उन संपत्तियों के विषय में लागू होती है, जिनका कि वह स्वामी है। किंतु यह धारा संयुक्त हिंदू कौटुंबिक संपत्ति में अवयस्क के एक सहदायिक के रूप में उसके अविभक्त हित के विषय में नहीं लागू होती। यह धारा कर्त्ता की शक्तियों को प्रभावित नहीं करती, जिसके अधीन वह संयुक्त कौटुंबिक संपत्ति को विधिक आवश्यकता पड़ने पर या संपदा के फायदे के लिए अवयस्क के हितों को आबद्ध करते हुए अन्यसंक्रान्त कर सकता है।[3] इस धारा की विशेषता यह है कि इसमें यह स्पष्टतया उपबंधित कर दिया गया है कि नैसर्गिक संरक्षक भी अवयस्क को वैयक्तिक प्रसंविदा द्वारा संपदा के आपन, संरक्षण या फायदे के लिए भी आबद्ध नहीं कर सकता,[4] भले ही वास्तविक कब्जे का परिदान क्यों न कर दिया गया हो।

नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियों की सीमा—हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (2) द्वारा नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियों को सीमित कर दिया गया है और उसे अब अवयस्क संतति की स्थावर संपत्ति के विषय में संव्यवहार करने की केवल वे ही शक्तियां अनुज्ञात हैं, जो इस उपधारा के उपबंधों के अध्यधीन हैं। धारा 8 की उपधारा (2) के अनुसार नैसर्गिक संरक्षक न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के बिना, (क) न तो अप्राप्तवय की स्थावर संपत्ति के किसी भाग को बंधक रखेगा या भारित अथवा विक्रय, दान या विनिमय द्वारा या अन्यथा अन्तरित करेगा, और (ख) न

---

[1] पुण्डरीनाथ **बनाम** रामचंद्र, ए० आई० आर० 1931 बाम्बे 157.

[2] रामनाथ **बनाम** देवराज, ए० आई० आर० 1957 पंजाब 495.

[3] सुब्रह्मण्यम् **बनाम** कृष्णस्वामी, ए० आई० आर० 1972 मद्रास 377.

[4] दरबारासिंह **बनाम** कामेन्द्रसिंह, (1979) 81 पी० एल० आर० 367.

ऐसी संपत्ति के किसी भी भाग की पांच वर्ष से अधिक की अवधि के लिए या जिस तारीख को अप्राप्तवय प्राप्तवय होगा उस तारीख से एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए पट्टे पर देगा। इस उपधारा का मूल उद्देश्य उपधारा (1) द्वारा अनुज्ञात नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियों को इस सीमा तक सीमित करना है कि उसे स्थावर संपत्ति के विषय में न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के बिना कोई ऐसा संव्यवहार करने का अधिकार ही नहीं रह गया है जिससे अवयस्क का सांपत्तिक हित स्थायी रूप से प्रभावित होता हो। संपत्ति के अन्तरण के मामले में धारा 8 की उपधारा (4) के साथ पठित उसकी उपधारा (2) के अधीन न्यायालय की अनुमति के बिना उसे कोई संव्यवहार करने की शक्ति नहीं रह गई है। नैसर्गिक संरक्षक अवयस्क की स्थावर संपत्ति को पांच वर्ष की अवधि तक अथवा वयस्क होने के दिन से एक वर्ष तक की अवधि तक, जो भी कम हो, न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के बिना पट्टे पर दे सकता है।

न्यायालय की अनुज्ञा—हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (4) यह अधिकथित करती है कि न्यायालय उन्हीं परिस्थितियों में नैसर्गिक संरक्षक को इस धारा की उपधारा (2) में वर्णित कार्यों—यथा, बंधक, भारिता, विक्रय, दान, विनिमय या अन्तरण या पांच वर्ष से अधिक अवधि के लिए पट्टे पर देने के लिए अनुज्ञा तभी देगा जब वह 'आवश्यक हो' या अप्राप्तवय की 'सुव्यक्त भलाई के लिए हो'। इस प्रकार इस उपधारा द्वारा न्यायालय की अनुज्ञा देने संबंधी शक्ति को भी सीमित कर दिया गया है। 'आवश्यक' पद सामान्यतया 'विधिक आवश्यकता' के अर्थ में लिया जा सकता है, फिर भी यहां इस पद से 'विधिक' पद हटा होने से यह स्पष्ट है कि इसका अर्थान्वयन व्यापक अर्थों में किया जा सकता है। किंतु आवश्यकता स्पष्ट होनी चाहिए और नैसर्गिक संरक्षक द्वारा दिए गए आवेदन में यह दर्शाया जाना चाहिए कि कथित अन्तरण के बिना उस आवश्यकता की पूर्ति नहीं की जा सकती थी और उसकी पूर्ति का कोई अन्य साधन उपलब्ध नहीं था। यदि अवयस्क संयुक्त हिंदू कुटुंब का सहदायिक है और संयुक्त कौटुम्बिक संपत्ति इतनी है कि उसकी आय से, या नैसर्गिक संरक्षक यदि पिता है और उसकी आय इतनी है कि प्रश्नगत आवश्यकता की पूर्ति उससे की जा सकती है तो ऐसी दशा में न्यायालय अवयस्क की पृथक् संपत्ति के व्ययन या अन्तरण की अनुज्ञा नहीं दे सकता। पिता पर अवयस्क संतति के भरण-पोषण या शिक्षा आदि का वैयक्तिक दायित्व भी है, जिसका निर्वाह उसे करना है। वह केवल इस आधार पर दायित्व मुक्त नहीं हो सकता कि अवयस्क संतति के पास पृथक् संपत्ति है। 'अप्राप्तवय की सुव्यक्त भलाई' पद इस बात की ओर संकेत करता है कि न्यायालय को यह भी ध्यान में रखना है कि अप्राप्तवय की पृथक् संपत्ति के व्ययन या अन्तरण से उसकी कोई भलाई स्पष्टतः सिद्ध या स्थापित है अथवा नहीं। यदि अन्तरण से होने वाली भलाई दूरगामी परिणाम से संबंधित है तो इसे सुव्यक्त भलाई नहीं माना जा सकता। 'सुव्यक्त भलाई' पद का अर्थान्वयन इस अर्थ में किया जाना चाहिए कि भलाई तत्काल होने वाली हो। भलाई जोखिमपूर्ण कार्य का परिणाम भी नहीं होनी चाहिए। इस धारा को संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 29 और 31 के साथ पढ़ा जाना चाहिए। न्यायालय केवल आवश्यकता या अवयस्क की भलाई के मामले में ही अनुज्ञा प्रदान कर सकता है।[1] किंतु यदि अनुज्ञा प्रदान करने के

---

[1] प्रह्लादचंद्र चौधरी बनाम रामशरण चौधरी, 38 सी० एल० जे० 213.

उपरांत यह पाया जाय कि विक्रय प्रतिपाल्य या अवयस्क के हितों के लिए हानिकर है तो न्यायालय को उसमें हस्तक्षेप करने की शक्ति है और वह विक्रय को रोक सकता है।[1]

न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के लिए आवेदनकर्त्ता—अवयस्क की संपत्ति के व्ययन या अंतरण के लिए न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा हेतु मात्र नैसर्गिक संरक्षक ही आवेदन कर सकता है[2] जैसा कि इस अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (4) के उपवाक्य 'कोई भी न्यायालय नैसर्गिक संरक्षक को उपधारा (2) में वर्णित कार्यों में से किसी भी कार्य को करने की अनुज्ञा न देगा' से स्पष्ट है। इस उपधारा में यह अधिकथित है कि अनुज्ञा नैसर्गिक संरक्षक के आवेदन पर उसी को दी जा सकती है, किसी आशयित क्रेता या अन्य संक्रांती के आवेदन पर नहीं।[2] आवेदन उस नगर सिविल न्यायालय या जिला न्यायालय में दिया जा सकता है जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वह स्थावर संपत्ति, जिसके बारे में आवेदन किया गया है, स्थित हो और जहां कि स्थावर संपत्ति ऐसे एक से अधिक न्यायालयों की अधिकारिता के भीतर स्थित हो वहां उस न्यायालय में जिसकी स्थानीय सीमाओं के भीतर कोई भी प्रभाग स्थित हो।

नैसर्गिक संरक्षक के आवेदन पर कार्यवाही- नैसर्गिक संरक्षक हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (2) के अधीन अनुज्ञा अभिप्राप्त करने के लिए जो आवेदन न्यायालय में उपस्थापित करेगा उसको और उसके बारे में संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 सर्वथा ऐसे लागू होगा मानो वह आवेदन उस अधिनियम की धारा 29 के अधीन आवेदन हो।

किंतु इस अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (5) में कुछ विशिष्ट कार्यवाहियों का उल्लेख है, जो निम्नलिखित हैं—

(क) आवेदन से संबंधित कार्यवाहियां उस अधिनियम के अधीन उसकी धारा 4-क के अर्थ के भीतर कार्यवाहियां समझी जाएंगी ;

(ख) न्यायालय उस प्रक्रिया का अनुपालन करेगा और उसे वे शक्तियां प्राप्त होंगी, जो उस 1890 के अधिनियम की धारा 31 की उपधाराओं (2), (3) और (4) में विनिर्दिष्ट हैं ; तथा

(ग) न्यायालय में ऐसे आदेश की अपील, जो नैसर्गिक संरक्षक को इस धारा की उपधारा (2) में वर्णित कार्यों में से किसी कार्य को करने की अनुज्ञा देने से इनकार करे, उस न्यायालय में होगी, जिसमें उस न्यायालय के विनिश्चयों की अपीलें मामूली तौर पर होती हैं।

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 2 के उपबंधों के अनुसार यह अधिनियम संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 का अनुपूरक है और उसके अतिरिक्त कुछ उपबंधों की अभिव्यक्ति करता है। उपर्युक्त विशिष्टताएं उसी

---

[1] सुल्तानसिंह बनाम हसमतुल्लाह, 29 इण्डियन केसेज़ आई० सी० 804 (पंजाब).

[2] शिवमूर्ति बनाम विजयसिंह, ए० आई० आर० 1972 बाम्बे 152.

उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। इस अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (5) (क) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि न्यायालय नैसर्गिक संरक्षक के आवेदन पर उसी प्रकार से कार्यवाही करेगा, जिस प्रकार से वह संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 4-क के अधीन करता। संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 4-क यह उपबंधित करती है कि उच्च न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अधीनस्थ न्यायालयों को यह अधिकारिता प्रदान कर सके कि वे उस अधिनियम के अधीन किसी भी कार्यवाही का निपटारा कर सकें। तात्पर्य यह है कि हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (2) के अधीन अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए नैसर्गिक संरक्षक द्वारा जो आवेदन न्यायालय में उपस्थापित किये जाएंगे उनका निपटारा न्यायालय यह समझ कर करेगा कि उसे उन्हें निपटाने की अधिकारिता प्राप्त है और इन आवेदनों पर कार्यवाहियां हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के उपबंधों के अधीन न होकर संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 4-क के भीतर की जा रही हैं।

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (5) का उपखंड (ख) संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 31 की जिन उपधाराओं (2), (3) और (4) का उल्लेख करता है, वे इस प्रकार हैं :—

"(2) अनुज्ञा प्रदान करने वाले आदेश में आवश्यकता या लाभ, जैसी स्थिति हो, लिखा जाएगा, उस संपत्ति का विवरण दिया जाएगा, जिसकी बाबत अनुमति प्राप्त करके कार्य किया जाना है, और वे शर्तें,—यदि न्यायालय अनुज्ञा के साथ कोई लगाना उचित समझता है,—विनिर्दिष्ट की जाएंगी, और अनुज्ञा न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा स्वयं अपने हाथ से लिखी, दिनांकित और हस्ताक्षरित की जाएँगी या जब किसी कारणवश वह अनुज्ञा अपने अपने हाथ से नहीं लिख सकता है तो उसके द्वारा बोलकर लिखवाया जाएगा और उसके द्वारा दिनांकित और हस्ताक्षरित किया जाएगा।

(3) न्यायालय, अपने स्वविवेक से, अनुज्ञा में अन्य शर्तों के साथ निम्नलिखित शर्तों को भी संलग्न कर सकता है—

(क) विक्रय न्यायालय की स्वीकृति के बिना संपूर्ण नहीं होगा ;

(ख) उच्च न्यायालय द्वारा इस अधिनियम के अधीन विरचित नियमों के अध्यधीन यह कि न्यायालय या न्यायालय द्वारा इस प्रयोजन हेतु विशेष रूप से नियुक्त व्यक्ति के समक्ष न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट समय और स्थान पर जैसा कि न्यायालय निर्देश देता है, आशयित विक्रय की घोषणा के पश्चात् सार्वजनिक नीलामी द्वारा सबसे अधिक बोली लगाने वाले को विक्रय किया जाएगा ;

(ग) पट्टा प्रीमियम के प्रतिफल में नहीं किया जाएगा अथवा वर्षों के उन निर्बन्धनों के लिए होगा और ऐसे किराये और प्रसंविदाओं के अध्यधीन होगा, जैसा कि न्यायालय निर्देश देता है ;

(घ) अनुज्ञा-प्रदत्त कार्य के आगम की सम्पूर्ण या आंशिक राशि संरक्षक द्वारा न्यायालय में जमा की जाएगी, जिससे कि उसमें से विहित प्रतिभूतियों पर या

जैसा कि न्यायालय अन्यथा व्ययन करने के लिए निर्देश दे, न्यायालय द्वारा संवितरित या विनिहित किया जा सके।

(4) धारा 29 में उल्लिखित किसी कार्य को करने के लिए संरक्षक को अनुज्ञा प्रदान करने से पहले, न्यायालय अवयस्क के किसी नातेदार या मित्र को जिसे, उसकी राय में सूचना मिलनी चाहिए, अनुज्ञा के लिए आवेदन की सूचना कारित करेगा और आवेदन के विरुद्ध उपस्थित होने वाले व्यक्ति को सुनेगा और उसका कथन लिखेगा।"

संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 31 की उपधाराएं (2) और (4) में न्यायालय द्वारा अनुज्ञा देने से पूर्व की जाने वाली उन कार्यवाहियों का उल्लेख है, जो उसे करनी है। किंतु उपधारा (3) के अनुसार जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विक्रय के मामले में उन शर्तों को संलग्न करना है, जो संरक्षक या न्यायालय का मार्गदर्शन विक्रय के समय करेगी और यह भी विनिर्दिष्ट करना है कि विक्रय-आगम का उपयोग किस प्रकार किया जाना है। यद्यपि उपधारा (3) में उल्लिखित शर्तें न्यायालय के विवेकाधिकार पर निर्भर हैं तथापि न्यायालय को अवयस्क के हितार्थ इन्हें अनुज्ञा के साथ संलग्न करना उचित और युक्तियुक्त है। विक्रय को इन शर्तों से नियंत्रित कर देने से संरक्षक पर यह आबद्धता आ जाती है, कि वह तदनुरूप कार्य करे। विक्रय-आगम को न्यायालय में जमा कराने से उसका दुरुपयोग रोका जा सकेगा।

कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 31 यह अपेक्षा करती है कि धारा 29 में उल्लिखित कार्य को करने की अनुज्ञा केवल आवश्यकता या प्रतिपाल्य के लाभार्थ ही प्रदान की जा सकती है और अनुज्ञा के आदेश में आवश्यकता या लाभ का उल्लेख होना चाहिए।[1]

अपील—हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (5) के खण्ड (ग) के उपबन्धों के अनुसार नैसर्गिक संरक्षक को अवयस्क की स्थावर सम्पत्ति का बन्धक, विक्रय, दान या विनिमय आदि कार्यों में से किसी कार्य को करने की अनुज्ञा देने से इनकार करने वाले न्यायालय के आदेशों की अपील उस न्यायालय में हो सकती है जिसमें संबंधित न्यायालय के अन्य विनिश्चयों की अपीलें होती हैं अपील का अधिकार इस तथ्य का द्योतक है कि विधायिका का आशय यह है कि न्यायालय द्वारा स्वविवेकाधिकार का प्रयोग करते समय उन परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है, जिनका उल्लेख आवेदन पत्र में किया गया है और अनुज्ञा देने की अस्वीकृति के कारणों का उल्लेख भी आदेश में किया जाना चाहिए।

वसीयती संरक्षक और उनकी शक्तियां

प्राचीनतम हिन्दू विधि में विल या इच्छा-पत्र का प्रत्येक शाखा में अभाव है। कोई भी हिन्दू अपनी अवयस्क संतति की अभिरक्षा या पालन-पोषण के लिए कोई वसीयत नहीं कर सकता था। इसका कारण यह है कि संयुक्त कौटुम्बिक पद्धति में पिता-विहीन या माता-पिता-विहीन अपत्यों (बच्चों) की अभिरक्षा और संरक्षकता कुटुम्ब के अन्य सदस्य करते रहते

---

[1] प्रह्लादचंद्र चौधरी बनाम रामशरण चौधरी, (1924) 38 सी० एल० जे० 213.

थे और सामान्यतया आज भी यही व्यवस्था प्रचलन में है। बहुत ही कम ऐसे लोग हैं, जो अपनी अवयस्क संतति की अभिरक्षा आदि के लिए कोई इच्छा-पत्र या विल करते हों। अनेक अंग्रेजी विधियों के साथ विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की विधि भी हिन्दू विधि में प्रविष्ट हुई।[1] यहां उसी बिल का विवेचन किया जाएगा। किन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि जब कोई पिता या माता मरणासन्न होते हैं तो अपने अबोध शिशु या शिशुओं अथवा अवयस्क संतति की अभिरक्षा और संरक्षकता के प्रति अधिक चिन्तित हो जाते हैं। उस समय यह चिन्ता स्वभावत: अधिक होती है जब पिता से पूर्व माता या माता से पूर्व पिता की मृत्यु हो चुकी रहती है। प्राय: ऐसी स्थिति में ही व्यक्ति अपनी अवयस्क संतति की अभिरक्षा और संरक्षकता किसी नातेदार को सौंप जाता है। ऐसी नियुक्ति सामान्यतया मौखिक ही होती है। किन्तु संपत्ति होने की दशा में लिखित विल भी की जाती है। मनु जब यह कहते हैं कि 'गृहस्थ जब यह देखे कि शरीर पर झुर्रियां पड़ गई हैं और केश श्वेत हो गये है, पुत्र-पौत्रादि हो गये हैं, तो सब कुछ त्याग कर स्त्री को पुत्र की अभिरक्षा में सौंप कर वन गमन करे अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करे[2] तब यह संरक्षक की एक प्रकार की वसीयती नियुक्ति ही है, जिसके द्वारा वयस्क पुत्र को पत्नी और अवयस्क पुत्र का संरक्षक नियुक्त किया जा सकता है। संसार का परित्याग हिन्दू विधि में मृत्यु तुल्य है। यदि कोई व्यक्ति मरने से पूर्व इस प्रकार की व्यवस्था कर देता है तो यह उसकी वसीयत या बिल ही मानी जाएगी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की विधि हिन्दुओं के लिए कोई नई नहीं है चाहे यह मौखिक रूप में ही क्यों न व्यवहृत होती रही हो।

विल द्वारा संरक्षक की नियुक्ति—संहिताकरण से पूर्व भी हिन्दू विधि में किसी हिंदू पिता को मौखिक या लिखित रूप में अपनी अवयस्क संतति के लिए संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति थी और वह ऐसी नियुक्ति के द्वारा माता को संरक्षकता से बहिष्कृत कर सकता था।[3] किन्तु माता को विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति नहीं थी।[4] फिर भी न्यायालय को वसीयत में माता द्वारा अभिव्यक्त इच्छा का आदर करना होता था। पिता न केवल अवयस्क पुत्र के लिए अपितु अवयस्क अविवाहिता पुत्री के शरीर और संपत्ति के लिए विल द्वारा संरक्षक नियुक्त कर सकता था। अवयस्क पुत्री का विवाह हो जाने पर उसके शरीर का संरक्षक पति हो जाता था।[5] किन्तु वसीयती संरक्षक उसकी संपत्ति का संरक्षक उसकी अवयस्कता तक बना रहता था।[6] हिन्दू विल्स अधिनियम, 1870 के उपबन्धों के अनुसार पिता द्वारा नियुक्त वसीयती संरक्षक को विस्तृत अधिकार प्राप्त थे।

---

[1] हिंदू विल अधिनियम, 1870.

[2] गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा।। (मनु० 6/2-3)

[3] देवानंद बनाम आनंदमणि, ए० आई० आर० 1921 इलाहाबाद 346.

[4] वेंकय्या बनाम वेंकट, आई० एल० आर० (1898) 29 मद्रास 40.

[5] पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। मनु० 9/3.

[6] राजराजेश्वरी बनाम शंकर नारायणन् आई० एल० आर० (1948) मद्रास 35.

विल में उसके अधिकारों पर निर्बन्धन न होने की दशा में उसे अवयस्क की संपत्ति को न्यायालय की अनुज्ञा के बिना विक्रय, बन्धक, अथवा अन्यथा अन्तरण की शक्ति होती है।

हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 9 के उपबंधों के अधीन अब हिन्दू माता को भी पिता के न रहने पर अपने अप्राप्तवय धर्मज अपत्यों के शरीर और संपत्ति के लिए संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति प्राप्त हो गई है। विल द्वारा नियुक्त संरक्षकों से संबंधित विवादों का विनिश्चय अब इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार ही किया जा सकता है। इस अधिनियम के अधीन पिता, विधवा माता और माता को विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति प्राप्त है, जिसका पृथक्-पृथक् विवेचन इस प्रकार है।

विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की पिता की शक्ति—हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 9 की उपधारा (1) के अधीन ऐसा हिन्दू पिता जो अपने अप्राप्तवय धर्मज अपत्यों के नैसर्गिक संरक्षक के तौर पर कार्य करने का हकदार हो, उनमें से किसी के लिए भी उस अप्राप्तवय के शरीर के या उस अप्राप्तवय की संपत्ति के या दोनों के बारे में विल द्वारा संरक्षक नियुक्त कर सकेगा। किन्तु इस अधिनियम की उपधारा (1) के अधीन की गई नियुक्ति प्रभावी नहीं होगी यदि पिता माता से पूर्व मर जाए किन्तु यदि माता विल द्वारा किसी व्यक्ति को संरक्षक नियुक्त किये बिना मर जाए तो वह नियुक्ति पुनरुजीवित हो जाएगी। तात्पर्य यह है कि यदि पिता अपने अवयस्क अपत्य के लिए कोई वसीयती संरक्षक माता से भिन्न व्यक्ति को नियुक्त करके मर जाए तो इस सिद्धांत पर कि नैसर्गिक संरक्षक अर्थात् माता के जीवित रहते कोई अन्य व्यक्ति अवयस्क का संरक्षक नहीं हो सकता है विल इस मामले में प्रभावहीन होगी। किन्तु यदि माता विल द्वारा किसी व्यक्ति को अवयस्क संतति का संरक्षक नियुक्ति किये बिना ही मर जाए तो पिता द्वारा की गई संरक्षक की वसीयती नियुक्ति पुनरुजीवित हो जाएगी अर्थात् प्रभावी हो जाएगी।

विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की विधवा माता की शक्ति—हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 के खण्ड (क) के उपबन्धों के अधीन पिता के पश्चात् माता अप्राप्तवय धर्मज अपत्य के नैसर्गिक संरक्षक के तौर पर कार्य करने की हकदार होती है। इस हक के अधीन उसे दोनों के बारे में विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 9 की उपधारा (3) के उपबन्धों के अधीन प्राप्त है। किन्तु हिन्दू विधवा माता अपने अप्राप्तवय धर्मज अपत्यों की नैसर्गिक संरक्षक के तौर पर कार्य करने की हकदार है। वही विल द्वारा अप्राप्तवय के शरीर या संपत्ति या दोनों के बारे में संरक्षक नियुक्त कर सकती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यदि पिता किसी विल द्वारा अपने अप्राप्तवय धर्मज अपत्य के लिए वसीयती संरक्षक नियुक्त करके माता से पूर्व ही मर जाए, तो माता के जीवन काल में उसकी एतत्संबंधी विल प्रभावी नहीं होगी और माता को अपने अप्राप्तवय धर्मज अपत्य के नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने का पूर्ण हक इस अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन होगा। अपने इसी नैसर्गिक संरक्षक के हक के अंतर्गत उसे अपने अप्राप्तवय धर्मज अपत्य के लिए विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति प्राप्त

है। यदि माता अपनी इस शक्ति का प्रयोग करके अपने अप्राप्तवय धर्मज अपत्य के लिए विल द्वारा संरक्षक नियुक्त कर देती है तो उसकी यही विल उसकी मृत्यु के उपरांत प्रभावी होगी न कि पिता की पूर्ववर्ती विल। तात्पर्य यह है कि विधवा माता की विल द्वारा नियुक्त वसीयती संरक्षक ही अवयस्क के शरीर या सम्पत्ति या दोनों के लिए, जैसा कि विल में उल्लिखित हो, संरक्षकता का अधिकार या शक्ति प्राप्त करेगा।

विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की माता की शक्ति—किसी हिंदू माता को पिता के जीवन काल में धर्मज अप्राप्तवय अपत्य के शरीर या सम्पत्ति या दोनों के बारे में विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति इस अधिनियम की धारा 9 उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन दो परिस्थितियों में है—

(क) यदि पिता इस अधिनियम की धारा 6 के परंतुक के अनुसार धर्म-संपरिवर्तन या संसार का अंतिम रूप से परित्याग करने के कारण नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने का हकदार नहीं रह गया है, या

(ख) यदि पिता इस अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (3) के अनुसार नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए हक खो चुका है।

किसी हिंदू माता की विल संरक्षक की नियुक्ति के मामले में उसी प्रकार प्रभावी होगी, जिस प्रकार पिता द्वारा अवयस्क या अप्राप्तवय धर्मज अपत्य के लिए प्रभावी होती किंतु आपत्ति की दशा में यह साबित करने का भार माता की विल द्वारा नियुक्त वसीयती संरक्षक पर होगा कि पिता के जीवित रहते माता को उक्त दोनों परिस्थितियों में से किसी एक परिस्थिति में नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने का हक प्राप्त था। जहां तक पिता के निर्हंकित होने का प्रश्न है, वह किसी सक्षम न्यायालल की घोषणात्मक डिक्री द्वारा निर्हंक्ति किया गया होना चाहिए। प्रिवी कौंसिल ने **एनीबेसेण्ड** बनाम **नारायणय्या**[1] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि पिता के जीवन काल में न्यायालय तब तक अन्य संरक्षक नियुक्त नहीं कर सकता, जब तक कि उसकी राय में वह अयोग्य न हो। मद्रास उच्च न्यायालय का भी यही मत है।[2] पिता के धर्म-संपविर्तन अथवा उसके अंतिम रूप से संसार के त्याग के बारे में विवाद उठने पर भी वसीयती संरक्षक को ही यह साबित करना होगा कि पिता ने अपना धर्म संपरिवर्तित कर लिया है और हिंदू नहीं रह गया है अथवा उसने अंतिम रूप से संसार का परित्याग कर दिया है और उसके स्थान पर माता को नैसर्गिक संरक्षक के रूप में अवयस्क संतति के लिए कार्य करने का हक प्राप्त था। माता को उसी हक के अधीन यह शक्ति प्राप्त थी कि वह विल द्वारा धर्मज अवयस्क संतति के लिए संरक्षक नियुक्त कर सके। बिल द्वारा संरक्षक की नियुक्ति के माता के हक या शक्ति को पिता ही यदि जीवित है तो इस आधार पर चुनौती दे सकता है कि न तो उसने धर्म-संपरिवर्तन करके हिंदू धर्म छोड़ दिया है और न उसने संसार का पूर्णतः और अंतिम रूप से परित्याग ही किया है। यदि कोई पिता धर्म से परिवर्तन करके कोई अन्य धर्मग्रहण कर ले और वह पुनः हिंदू धर्म में प्रतिसंपरिवर्तित हो जाए है और इस बीच में माता को अपने अप्रात्तवय धर्मज अपत्य के नैसर्गिक संरक्षक का हक प्राप्त हो जाए तथा वह विल द्वारा

---

[1] 41 आई० ए० 314 (पी० सी०).

[2] सुब्रह्मण्य पिल्लै **बनाम** अम्मा अम्माल, 29 आई० सी० 740.

वसीयती संरक्षक नियुक्त कर दे तो उसकी मृत्यु के उपरांत यह विल इसलिए प्रभावी नहीं होगी कि पिता विल के प्रभावी होने के दिन हिंदू था और उस पर हिंदू विधि[1] लागू थी। इस अधिनियम की धारा 3 की उपधारा (1) के स्पष्टीकरण (iii) के अधीन प्रति-संपरिवर्तित हिंदू भी हिंदू है और उस पर हिंदू विधि लागू है।

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 के खंड (ख) के उपबंधों के अधीन अधर्मज अवयस्क पुत्र और अधर्मज अविवाहिता पुत्री की नैसर्गिक संरक्षक माता होने से उसे इनके लिए या इनमें से किसी के लिए विल द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति इसी अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (4) के उपबंधों के अधीन प्राप्त है। किंतु धारा 6 के खंड (ख) के अनुसार माता की मृत्यु हो जाने पर पिता अधर्मज अवयस्क संतति के नैसर्गिक संरक्षक का हक प्राप्त करता है। यह विधि माता की मृत्यु होते ही प्रभावी हो जाती है और पिता अधर्मज अवयस्क संतति का नैसर्गिक संरक्षक हो जाता है, जिससे माता की विल द्वारा वसीयती संरक्षक की नियुक्ति उसी प्रकार प्रभावहीन होगी जिस प्रकार इस अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (2) के उपबंधों के अनुसार पिता की विल द्वारा वसीयती संरक्षक की नियुक्ति माता के जीवन काल में अप्रभावी होती है। किंतु यदि पिता बिना कोई विल किये ही मर जाए तो माता द्वारा की गई वसीयती संरक्षक की नियुक्ति उसके अप्राप्तवय अधर्मज अपत्यों के शरीर के या उस अप्राप्तवय की संपत्ति या दोनों के बारे में, जैसी स्थिति हो, धारा 9 की उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन पुनरुज्जीवित हो जाएगी।

वसीयती संरक्षक की शक्तियां : हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 9 की उपधारा (5) के अनुसार विल द्वारा नियुक्त किए गए संरक्षक को अधिकार है कि वह अप्राप्तवय के यथास्थिति पिता या माता की मृत्यु के पश्चात् अप्राप्तवय के संरक्षक के तौर पर कार्य करे और इस अधिनियम के अधीन नैसर्गिक संरक्षक के सब अधिकारों का प्रयोग, उस विस्तार तक और उन निर्बंधनों के अध्यधीन, यदि कोई हो, जो इस अधिनियम और उस विल में विनिर्दिष्ट हों, करे। इस उपधारा में एक ओर वसीयती संरक्षक को वे सभी अधिकार प्रदान किये गये हैं जो एक नैसर्गिक संरक्षक को प्राप्त हैं किंतु दूसरी ओर उसके अधिकारों को इस अधिनियम और विल में विनिर्दिष्ट निर्बंधनों के अध्यधीन सीमित किया गया है। मद्रास उच्च न्यायालय[2] ने यह अभिनिर्धारित किया है कि वसीयती संरक्षक नैसर्गिक संरक्षक के अधिकारों का प्रयोग उसी सीमा तक कर सकता है, जहां तक इस अधिनियम और विल के निर्बंधनों द्वारा अनुदत है। वसीयती संरक्षक को नैसर्गिक संरक्षक के सदृश अवयस्क की स्थावर संपत्ति का विक्रय या अन्यथा अन्तरण या बंधक रखने की शक्ति न्यायालय की अनुज्ञा के बिना इस अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (2) के खण्ड (क) और (ख) के अधीन नहीं है। यदि वह इस कानूनी निर्बन्धन का उल्लंघन करके कोई अन्तरण करे तो उसके द्वारा अवयस्क की स्थावर संपत्ति

---

1 दुर्गाप्रसाद बनाम सुदर्शन स्वामी, आई० एल० आर० 1940 मद्रास 513 (प्रतिसंपरिवर्तित हिंदू है) : एस० राजगोपाल बनाम सी० आरुमुगम्, ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 1101 (प्रतिसंपरिवर्तन द्वारा हिंदू)

2 टी० वी० दुरैस्वामी बनाम ई० बालसुब्रमणियम्, ए० आई० आर० 1970 मद्रास 305.

का व्ययन या अन्तरण अप्राप्तवय की ओर से व्युत्पन्न अधिकार के अधीन दावा करने वाले किसी भी व्यक्ति की प्रेरणा पर शून्यकरणीय होगा। क्रेता द्वारा साबित की गई विधिक आवश्यकता या संपत्ति या अवयस्क के हित से उसे लाभ नहीं मिल पाएगा क्योंकि संरक्षक के एतत्संबंधी अधिकार अधिनियमिति द्वारा ही निर्बन्धित हैं।

वसीयती संरक्षक के अधिकारों की समाप्ति—इस अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (6) के अधीन विल द्वारा नियुक्त किए गए वसीयती संरक्षक के अधिकार जहां अप्राप्तवय लड़की हो, उसके विवाह हो जाने पर समाप्त हो जाएंगे। किंतु यह उपबंध अवयस्क लड़के के बारे में मौन है। अप्राप्तवय लड़के के मामले में धारा 4 के खंड (क) की अप्राप्तवय की परिभाषा लागू होगी, जिसमें परिभाषित है कि 'अप्राप्तवय' से वह व्यक्ति अभिप्रेत है, जिसने अठारह वर्ष की आयु पूरी न की हो। तात्पर्य यह है कि लड़का ज्यों ही अठारह वर्ष की आयु पूरी कर लेता है, त्योंही उसकी अवयस्कता समाप्त हो जाती है और वह प्राप्तवय हो जाता है और उसी के साथ वसीयती संरक्षक के अधिकार भी स्वतः समाप्त हो जाते हैं यदि इस आयु के पूरी करने पर लड़की अविवाहिता रहती है, तो उसके वयस्क हो जाने पर उसकी अविवाहितावस्था तक वसीयती संरक्षक के अधिकार बने नहीं रहते अर्थात् लड़की के मामले में भी वसीयती संरक्षक के अधिकार उसके वयस्क होते ही समाप्त हो जाते हैं क्योंकि उसके अधिकार अप्राप्तवयता तक ही रहते हैं। धारा 9 की उपधारा (6) अब इस अर्थ में प्रभावहीन हो गई है कि किसी हिंदू कन्या का विवाह अठारह वर्ष से पूर्व नहीं हो सकता है और अठारह वर्ष पूरा होते ही वह वयस्क हो जाती है।

न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक

न्यायालय की संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति—संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 7 के उपबंधों के अधीन न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि जब यह समाधान हो जाए कि अप्राप्तवय के कल्याणार्थ उसके शरीर या पृथक् संपत्ति या दोनों के लिए संरक्षक नियुक्त किया जाना चाहिए तो न्यायालय संरक्षक नियुक्त करने का आदेश दे सकता है। किंतु यदि पिता ने विल द्वारा वसीयती संरक्षक नियुक्त कर दिया हो तो न्यायालय को संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 7 के अधीन संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति नहीं है।[1] न्यायालय पिता को अवयस्क संतति के कल्याणार्थ संरक्षक नहीं नियुक्त कर सकता, क्योंकि वह नैसर्गिक संरक्षक है।[2] हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 12 के परंतुक में उच्च न्यायालय की संरक्षक नियुक्त करने की अधिकारिता को सुरक्षित रखा गया है और इस प्रकार अधिकथित किया गया है— "परंतु इस धारा की कोई भी बात ऐसे हित के बारे में संरक्षक नियुक्त करने की उच्च न्यायालय की अधिकारिता पर प्रभाव डालने वाली न समझी जाएगी।' यद्यपि इस अधिनियम की धारा 12 अविभक्त हिंदू कुटुंब की संपत्ति में अप्राप्तवय के अविभक्त हित के लिए संरक्षक की नियुक्ति को प्रतिषिद्ध करती है तथापि उसका परंतुक उच्च न्यायालय की

---

1 अमृतावल्लियाम्माल : बनाम शिरोमणिअम्माल, आई० एल० आर० (1938) मद्रास 757.

2 वेंकटेश्वरन बनाम शारदाम्बाल्, ए० आई० आर० 1936 रंगून 67.

एतत्संबंधी अधिकारिता को सुरक्षित रखता है। किंतु धारा 13 में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति के किसी हिंदू अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित किये जाने में अप्राप्तवय के कल्याण का सर्वोपरि ध्यान रखा जाएगा। न्यायालय किसी वयस्क नातेदार को ही अवयस्क का संरक्षक नियुक्त कर सकता है। हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 10 में यह उपबंधित है कि अप्राप्तवय किसी भी अप्राप्तवय की संपत्ति के संरक्षक के तौर पर कार्य करने के लिए अक्षम होगा। यह धारा विशिष्टतया किसी अवयस्यक को किसी अन्य अवयस्क की संपत्ति के मामले में संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए ही अक्षम घोषित करती है तथापि इससे यह भी अभिप्रेत है कि कोई अवयस्क सामान्यतया किसी अवयस्क के शरीर का संरक्षक नियुक्त नहीं किया जा सकता। न्यायालय एक अप्राप्तवय से किसी अन्य अप्राप्तवय के शरीर संबंधी कल्याण की प्रत्याशा नहीं कर सकता है जब तक कि दोनों की आयु में पर्याप्त अंतर न हो। किंतु न्यायालय नैसर्गिक संरक्षक के हक में हस्तक्षेप भी नहीं कर सकता और एक शिशु की संरक्षिका उसकी अवयस्क सौतेली माता हो सकती है।[1]

किसी अप्राप्तवय के शरीर या संपत्ति या दोनों के लिए संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय को संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 17 के उपबंधों को दृष्टि में रखते हुए अप्राप्तवय की आयु, लिंग, संपत्ति की मात्रा, प्रस्तावित संरक्षक की क्षमता, चरित्र, योग्यता, अवयस्क से उसकी रक्त संबंध की निकटता और अप्राप्तवय की संपत्ति तथा शरीर से उसके पिछले या वर्तमान संबंध आदि का विचार करना पड़ेगा। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए मृत माता-पिता की इच्छाओं को प्राथमिकता दी जाएगी। यदि अवयस्क की आयु इतनी हो गई है कि वह अपना हित तथा कल्याण समझ सके और प्रस्तावित संरक्षक के गुण-दोष की समीक्षा करके मत व्यक्त कर सके तो इसे भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि अप्राप्तवय 15 वर्ष से 18 वर्ष की आयु के बीच है[2] और सुशिक्षित या स्नातक है, तो वह अपने कल्याण को स्वयं समझ सकने में सक्षम हो सकता है और उसकी अप्राप्तवयता मात्र क़ानूनी या विधि द्वारा विहित या पारिभाषिक ही कही जाएगी। ऐसे अप्राप्तवय के शरीर या संपत्ति या दोनों के लिए संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय को अप्राप्तवय की इच्छा या मत का आदर करना चाहिए[3] जब तक कि ऐसा करने में कोई विधिक प्रतिकूलता न हो। यदि अप्राप्तवय शीघ्र ही प्राप्तवय होने वाला हो, तो न्यायालय को संरक्षक नियुक्त नहीं करना चाहिए।[4] यह कोई आवश्यक नहीं है कि संरक्षक की नियुक्ति के लिए आवेदन दिए जाने के प्रत्येक मामले में संरक्षक नियुक्त किया ही जाए। न्यायालय को यह भी विचार करना चाहिए कि क्या संरक्षक नियुक्त करना आवश्यक है। यदि माता अपने अप्राप्तवय पुत्र के कामकाज का प्रबंध उचित ढंग

---

1 सुंदरमणिदेई बनाम बंगसिधार पटनायक, 16 आई० सी० 960 (कलकत्ता).

2 बेटूलाल बनाम श्रीमती एक्सट्रांड, 12 एन० एल० आर० 36 (इस मामले में 14 वर्ष की आयु का बालक और 16 वर्ष की आयु की बालिका बुद्धिमत्तापूर्ण अधिमान के लिए उपयुक्त माने गये थे).

3 भगवान बनाम रामचंद्र, 11 आई० सी० 478.

4 एनीबेसेण्ट बनाम नारायणय्या, 41 आई० ए० 314 (पी० सी०).

से कर रही हो तो संरक्षक की नियुक्ति आवश्यक नहीं है ।[1] उचित पालन-पोषण को सर्वोपरि मानते हुए शिशु की अभिरक्षा अवयस्क की माता को विवाह विच्छेद हो जाने पर भी दी जा सकती है ।[2]

न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक की शक्तियां—न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक की शक्तियां संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 के उपबंधों के अनुसार होती हैं। उसे न्यायालय के नियंत्रण में रहते हुए उसकी अनुज्ञा से ही कार्य करना होता है। संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 27 के उपबंधों के अनुसार प्रमाणपत्रित संरक्षक अप्राप्तवय की संपत्ति के मामले में उसी प्रकार का प्रबंध और व्यवहार करने का अधिकारी है, जिस प्रकार एक युक्तियुक्त और प्रज्ञावान् व्यक्ति संबंधित परिस्थितियों में वैसी संपत्ति के बारे में व्यवहार करता है। न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक को उक्त अधिनियम की धारा 29 के अधीन संपत्ति के व्ययन अथवा अंतरण के लिए न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा से ही कार्य करना होता है। उसे विक्रय के आगम को न्यायालय में जमा कराना चाहिए अथवा उस प्रकार से व्ययनित करना चाहिए जैसा कि न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट किया गया हो; किंतु हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 8 की उपधारा (2) में अप्राप्तवय के संपत्ति संबंधी व्ययन के मामले में नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियों पर लगाये गये निर्बंधनों के अध्यधीन ही न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक को भी कार्य करना होगा। उसकी शक्तियां नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियों से अधिक नहीं हो सकतीं। न्यायालय इस अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (2) के अतिरिक्त भी कोई निर्बन्धन लगा सकता है, जो वह अवयस्क के कल्याण की दृष्टि से आवश्यक समझता है। यदि न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के बिना अवयस्क की संपत्ति के बारे में कोई अन्यसंक्रामण या व्ययन करे, तो यह अवयस्क या उससे व्युत्पन्न अधिकार के अधीन दावा करने वाले व्यक्ति की प्रेरणा पर संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 29 और 30 के उपबंधों के अधीन शून्यकरणीय होगा। उसका इस प्रकार का संव्यवहार हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (3) के अधीन अप्राप्तवय की या उससे व्युत्पन्न अधिकार के अधीन दावा करने वाले व्यक्ति की प्रेरणा पर शून्यकरणीय हो सकता है। किंतु यदि ऐसे संरक्षक द्वारा कोई संव्यवहार न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा से किया गया हो तो उसे अवयस्क की प्रेरणा पर अधिक्षिप्त नहीं किया जा सकता, जब तक कि वह कपटपूर्ण न हो।

वस्तुतः संरक्षक

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4 के खण्ड (ख) से अधीन 'वस्तुत: संरक्षक' से वह व्यक्ति अभिप्रेत हैं, जिसकी देखरेख में किसी अप्राप्तवय का शरीर या उसकी सम्पत्ति या उसका शरीर और संपत्ति दोनों हों और वह व्यक्ति नैसर्गिक संरक्षक, वसीयती संरक्षक, प्रमाणपत्रित संरक्षक और संरक्षक की हैसियत में कार्य करने के लिए प्रतिपाल्य अधिकरण से संबंधित किसी अधिनियमिति द्वारा या उसके अधीन सशक्त व्यक्ति न हो। 'वस्तुत: संरक्षक' पद का अर्थ ही है ऐसा संरक्षक जिसे किसी विधि या

---

[1] श्रीमती देवकी बनाम तखतमल, 19 आई० सी० 783.

[2] मोहिनी बनाम वीरेन्द्रकुमार, ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1359.

प्राधिकार या सक्षम व्यक्ति से शक्ति न प्राप्त हो या व्युत्पन्न हुई हो। उसकी शक्ति मात्र अप्राप्तवय के कल्याण, जो मुख्यतः उसके शरीर या स्थावर-जंगम सम्पत्ति से सम्बन्धित होता है, व्युत्पन्न होती है। विधि में वस्तुतः संरक्षक को मान्यता अप्राप्तवय के कल्याण की दृष्टि से दी जाती है। हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 11 के वाक्यांश 'कोई भी व्यक्ति केवल इस आधार पर कि वह अप्राप्तवय का वस्तुतः संरक्षक है, उस अप्राप्तवय की सम्पत्ति का व्ययन या संव्यवहार का हकदार न होगा' से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दू विधि से वस्तुतः संरक्षक समाप्त नहीं हुआ है अपितु उसकी शक्ति को निर्बन्धित किया गया है और यह वही निर्बन्धन है, जो लगभग नैसर्गिक संरक्षक पर धारा 8 (2) में लगाया गया है। धारा 4 (ख) में 'अन्तर्गत' पद के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें गिनाये गये संरक्षक दृष्टांत स्वरूप हैं और इनके अतिरिक्त भी संरक्षक हो सकते हैं।[1]

वस्तुतः संरक्षक की शक्तियां—हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के लागू होने के पश्चात् से वस्तुतः संरक्षक को अप्राप्तवय की संपत्ति, स्थावर या जंगम, के व्ययन या संव्यवहार करने की शक्ति नहीं रह गई है। इस अधिनियम की धारा 11 के उपबंधों के अधीन यह अधिकथित है कि 'इस अधिनियम के प्रारंभ होने के पश्चात् कोई भी व्यक्ति केवल इस आधार पर कि वह अप्राप्तवय का वस्तुतः संरक्षक है हिन्दू अप्राप्तवय की संपत्ति का व्ययन या संव्यवहार करने का हकदार न होगा।' यह धारा स्पष्ट रूप से वस्तुतः संरक्षक की अप्राप्तवय की संपत्ति के व्ययन या संव्यवहार सम्बन्धी अधिकार को पूर्णतया समाप्त करती है। इस उपबंध का आशय अप्राप्तवय की सम्पत्ति को संरक्षित करना है, जिससे कि कोई अप्राधिकृत व्यक्ति उसकी अप्राप्तवयता का अनुचित लाभ न उठा सके। किंतु यदि कोई व्यक्ति अपने को वस्तुतः संरक्षक समझ कर अप्राप्तवय के भरण-पोषण और शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था के लिए प्रबंध या देख-रेख करता है, तो यह प्रबंध अप्राप्तवय के कल्याण में होने के कारण अविधिमान्य नहीं है। उस के हित में किया गया कार्य अविधिमान्य तब तक नहीं है, जब तक उस कार्य का सम्बन्ध सम्पत्ति के व्ययन या संव्यवहार से नहीं है। उक्त धारा 11 अप्राप्तवय के शरीर के लिए वस्तुतः संरक्षक के अधिकारों को समाप्त नहीं करती। किंतु वह उसके शरीर के कल्याण के लिए उसकी संपत्ति का व्ययन या अन्यथा कोई संव्यवहार नहीं कर सकता। यदि वस्तुतः संरक्षक अप्राप्तबय की पृथक संपत्ति से होने वाली आय को उसकी शिक्षा और भरण-पोषण में व्यय करता है तो इसमें धारा 11 बाधक नहीं है। संपत्ति अधिक होने की दशा में वस्तुतः संरक्षक को चाहिए कि वह सक्षम अधिकारिता के न्यायालय में आवेदन करके प्रमाणपत्रित संरक्षक के रूप में अपनी नियुक्ति करा ले, अन्यथा उसके अनेक ऐसे कार्य अविधिमान्य हो जाएंगे जिनका सम्बन्ध व्ययन आदि से होगा।

अनेक न्यायालयों ने यह संपुष्ट भी कर दिया है कि वस्तुतः संरक्षक को अब अप्राप्तवय की सम्पत्ति के अन्तरण या व्ययन की कोई शक्ति नहीं रह गई है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि वस्तुतः संरक्षक द्वारा अप्राप्तवय की

1 रतन बनाम विष्णु रामचंद्र परदेशी, ए० आई० आर० 1978 बाम्बे 190.

संपत्ति का अन्तरण विधिमान्य नहीं है।[1] उड़ीसा उच्च न्यायालय के अनुसार वस्तुतः संरक्षक द्वारा किया गया अप्राप्तवय की सम्पत्ति का अन्तरण आदितः शून्य होगा और अन्यसंक्रान्ती को उसकी संपत्ति में कोई हक प्राप्त नहीं होगा।[2] इन मामलों के विनिश्चयों का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वस्तुतः संरक्षक द्वारा अप्राप्तवय की संपत्ति का अन्तरण या व्ययन या संव्यवहार किसी पर व्यक्ति का संव्यवहार होगा, जो किसी भी परिस्थिति में या किसी भी तथ्य के आधार पर विधिमान्य नहीं होगा। इस अधिनियम के अधिनियमित होने से पूर्व भी वस्तुतः संरक्षक को अपने प्रतिपाल्य की सम्पत्ति को बंधक आदि करने की शक्ति नहीं थी।[3]

तदर्थ संरक्षक

'तदर्थ' का अर्थ विधि शब्दावली में 'किसी विशेष उद्देश्य या प्रयोजन हेतु निर्मित 'स्थापित' कार्यकारी या सम्बन्धित' किया गया है। यह अर्थ 'तदर्थ' पद के लिए उपयुक्त भी है। एक व्यक्ति की नियुक्ति जब किसी विशिष्ट प्रयोजन या उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है, तब उस नियुक्ति को तदर्थ नियुक्ति कहते हैं। हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 में तदर्थ संरक्षक का कोई उपबन्ध नहीं है। किंतु तदर्थ संरक्षक की आवश्यकता अवयस्कों के लिए कभी-कभी पड़ती है जिसे दृष्टि में रखे बिना अवयस्क के हितों की संरक्षा नहीं हो सकती। वादमित्र या अन्य मित्र इसी श्रेणी में आते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी अप्राप्तवय की सम्पत्ति या शरीर के हित से सम्बन्धित कोई वाद उसकी ओर से न्यायालय में संस्थित करता है तो उसे वादमित्र या अन्यमित्र कहते हैं। किसी अप्राप्तवय की अवयस्कता में अनेक ऐसे अवसर आ सकते हैं जिनमें तदर्थ संरक्षक की आवश्यकता वाद संस्थिति आदि के लिए अथवा निजी रूप में पड़ सकती है। किंतु तदर्थ संरक्षक का कार्यकाल प्रयोजन या उद्देश्य विशेष तक ही होता है। उदाहरणार्थ सहदायिकी कुटुम्ब का कौटुम्बिक व्यवस्था द्वारा विभाजन होते समय कोई सदस्य अप्राप्तवय सहदायिकी का तदर्थ संरक्षक हो सकता है।

तदर्थ संरक्षक की शक्तियां

हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 11 के उपबन्धों के अधीन वस्तुतः संरक्षक को अप्राप्तवय की संपत्ति के अन्तरण की शक्ति नहीं रह गई है। यह उपबन्ध तदर्थ संरक्षक की शक्तियों पर भी लागू होता है और इसे भी अप्राप्तवय की संपत्ति को अन्तरित करने की शक्ति नहीं है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति तदर्थ संरक्षक के रूप में अवयस्क के हित के लिए कोई कार्य नहीं कर सकता है। हिंदू सहदायिकी कुटुंब के कौटुम्बिक व्यवस्था द्वारा विभाजन के समय अप्राप्तवय के हितों की संरक्षा के लिए कोई व्यक्ति तदर्थ संरक्षक के रूप में कार्य कर सकता है और उस समय उसकी यह शक्ति होगी कि वह यह ध्यान रखे कि अप्राप्तवय सहदायिक को उचित अंश मिले और प्राप्त होने वाली संपत्ति उचित मूल्य की हो।

---

[1] ओंकारनाथ दुबे बनाम चकबंदी निदेशक, उत्तर प्रदेश, ए० आई० आर० 1977 एन० ओ० सी० 4 (इलाहाबाद).

[2] दानेयी बनाम रघुपोधम, ए० आई० आर० 1967 उड़ीसा 68.

[3] चोकर बनाम आशुमल, 17 आई० सी० 371 (लाहौर).

विवाहिता अप्राप्तवय बालिका और विधवा अप्राप्तवय बालिका का संरक्षक और उसकी शक्तियां

विवाहिता अप्राप्तवय बालिका का संरक्षक—किसी हिंदू विवाहिता अप्राप्तवय बालिका का नैसर्गिक संरक्षक हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6(ग) के अधीन उसका पति माना गया है। हिंदुओं में विवाह होते ही बालिका की संरक्षकता पति में निहित हो जाती है।[1] किंतु यह विषय विचारणीय है कि अप्राप्तवय विवाहिता बालिका विवाह होते ही पति की संरक्षकता में जाती है, जैसा कि शास्त्रकारों ने माना है,[1] अथवा पितृगृह से विदाई के उपरान्त आती है। अनेक हिंदू कुटुम्बों और जातियों में विवाह के उपरान्त गौना करने की रूढ़ि या प्रथा है और कन्या की विदाई कुछ समय के लिए अस्थगित रहती है। ऐसे मामले में यह कहा जा सकता है कि विधित: संरक्षक पति भले ही हो जाता हो, किंतु वस्तुत: संरक्षक विवाहिता कन्या का पिता या भ्राता या माता होते हैं। इस रूप में वही नैसर्गिक संरक्षक भी बने रहते हैं। जब तक कन्या की विदाई नहीं हो जाती तब तक पति का अपनी पत्नी पर वस्तुत: कोई अधिकार नहीं होता। वह साहचर्य का भी अधिकारी नहीं होता। हिंदू शास्त्रों के अनुसार विवाह संस्कार की वास्तविक पूर्णता विदाई के पश्चात् ही होती है। यही कारण है कि विदाई से पूर्व कन्या यदि विधवा हो जाए तो उसे 'अक्षतयोनि कन्या' माना गया है।[2] ऐसी कन्या का विवाहार्थ संरक्षक अथवा उसकी सम्पत्ति या शरीर का नैसर्गिक संरक्षक पिता ही रहेगा न कि मृत पति का पिता।

विधवा अप्राप्तवय बालिका का संरक्षक—हिंदू प्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6(ग) के उपबन्धों में विधवा अप्राप्तवय बालिका की संरक्षकता का कोई उल्लेख नहीं है। किंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि यह प्रश्न व्यवहार में उठता ही नहीं है। अधिनियमिति में कोई उपबन्ध न होने से यह एक जटिलतर प्रश्न है। यह न्यायिक निर्णयों द्वारा सुस्थिर किया जाना है कि यदि एक विवाहिता अप्राप्तवय बालिका विधवा हो जाए, तो उसका संरक्षक पति का पिता होगा अथवा उसका अपना पिता। ऐसे मामलों में पति के अभाव में श्वसुर की संरक्षता मानी गई है।[3] किंतु हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 13 की उपधारा (1) के उपबंधों के अनुसार अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि माना गया है, जिसे प्रत्येक मामले में ध्यान में रखना आवश्यक है। इस उपबंध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अप्राप्तवय विधवा का संरक्षक उसके मृत पति का पिता (श्वसुर) तभी तक हो सकता है जब तक उसका कल्याण हो, जब उसे शारीरिक कष्ट हो, या उसकी संपत्ति को हानि पहुंचे, तब श्वसुर उसका संरक्षक नहीं रह सकता[4] और न्यायालय विधवा अप्राप्तवय का संरक्षक उसके पिता को बना सकता है। यही विधि विधवा के पुनर्विवाह की संरक्षकता के बारे में भी इस अधिनियम की धारा 13(2) के अनुसार लागू होगी।

---

1 पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।—मनु० 9/3.

2 अक्षता पुन: संस्कारदूषिता।। याज्ञ० 1/67 की मिता० टीका अर्थात् अक्षतयोनि कन्या पुन: संस्कार (विवाह) के पूर्व पुरुष-संबंध से दूषित नहीं होती; पुनर्विवाह के पश्चात् ही दूषित होती है।

3 परशुराम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, ए० आई० आर० 1966 इलाहाबाद 479.

4 रामचंद्र बनाम सीयर, ए० आई० आर० 1966, मद्रास 172.

विवाहिता अप्राप्तवय बालिका के संरक्षक की शक्तियां—पति को नैसर्गिक संरक्षक के रूप में अपनी अप्राप्तवय पत्नी के शरीर और संपत्ति के बारे में वही शक्ति प्राप्त है, जो किसी अन्य नैसर्गिक संरक्षक को। किंतु उस समय स्थिति परिवर्तित हो जाती है, जब अप्राप्तवय पत्नी के कल्याण का प्रश्न उठता है और उसके शरीर तथा संपत्ति का अहित होता है। यदि धारा 13(2) के अधीन न्यायालय के मतानुसार पति के संरक्षक होने में अप्राप्तवय पत्नी अर्थात् विवाहिता लड़की का कल्याण नहीं होगा तो वह संरक्षकता का हकदार नहीं होगा। ऐसी स्थिति में पति को अपनी अवयस्क पत्नी के शरीर और संपत्ति के बारे में कोई शक्ति नहीं रह जायगी। यही विधि विधवा अप्राप्तवय बालिका के संरक्षक की शक्तियों के बारे में भी लागू होगी। उक्त बालिका के कल्याण के प्रभावित होते ही धारा 13(2) के उपबंधों के अधीन न तो उसके मृत पति का पिता, न ही उसका अपना पिता संरक्षकता का हकदार रह जाएगा। उनमें से किसी को उसकी संपत्ति संबंधी संव्यवहार की शक्ति भी नहीं होगी।

अभिरक्षा के प्रत्युद्धरण वापस प्राप्त करना का विधिक उपचार

अप्राप्तवय की अभिरक्षा का प्रत्युद्धरण—यद्यपि हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 में अप्राप्तवय की अभिरक्षा के प्रत्युद्धरण के बारे में कोई उल्लेख नहीं है तथापि इसकी विवेचना के बिना यह अध्याय पूर्ण नहीं कहा जा सकेगा। प्रत्युद्धरण के विधिक उपचार के अभाव में अवयस्क का कल्याण भी संभव नहीं है। न्यायालय को इस अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन यह विचार करने का अवसर कि अप्राप्तवय जिस व्यक्ति की संरक्षकता में रह रहा है, उससे उसका कल्याण होता है अथवा नहीं, इसी उपचार के माध्यम से प्राप्त होता है। अप्राप्तवय की अभिरक्षा के प्रत्युद्धरण का उपचार एक नैसर्गिक अधिकार है। यह उन व्यक्तियों को प्राप्त है, जो नैसर्गिक संरक्षक के रूप में इस अधिनियम में माने गये हैं। यह अधिकार उस वस्तुतः संरक्षक को भी प्राप्त है, जिसकी अभिरक्षा में अप्राप्तवय उस समय तक था जब उसे उसकी अभिरक्षा से हटाया गया था।

अभिरक्षा के प्रत्युद्धरण की विधिक कार्यवाही—इस विषय पर विभिन्न उच्च न्यायालयों में मतभिन्नता है। मद्रास[1] और इलाहाबाद[2] उच्च न्यायालयों के मतानुसार अप्राप्तवय की अभिरक्षा संबंधी मामले संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 25 के उपबंधों के अधीन याचिका द्वारा न्यायालय में उठाये जा सकते हैं, न कि सामान्य वादसंस्थिति द्वारा। किंतु दूसरी ओर मुंबई उच्च न्यायालय का मत है कि ऐसे मामले इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन सामान्य वाद संस्थिति द्वारा भी उठाये जा सकते हैं।[3]

□ □ □

---

1 सती **बनाम** रामान्दी, आई० एल० आर० (1919) 42 मद्रास 647 (पूर्णपीठ).
2 उत्तमकुंअरि **बनाम** भगवन्ताकुंअरि, ए० आई० आर० 1915 इलाहाबाद 199.
3 अचरजलाल **बनाम** चिम्मनलाल, ए० आई० आर० 1916 बाम्बे 129.

विषयानुक्रमणिका

अंग्रेजी-हिन्दी शब्द सूची

Abandon	:	परित्याग करना
Abandoned child	:	परित्यक्त शिशु
Abetment	:	दुष्प्रेरण
Abettor	:	दुष्प्रेरक
Abeyance	:	प्रास्थगन
Absence	:	अभाव, अनुपस्थिति
Absolute	:	आत्यंतिक, अन्तिम
Absolute estate	:	आत्यन्तिक संपदा
Absolute owner	:	आत्यंतिक स्वामी
Absolute power of disposition	:	व्ययन की आत्यंतिक शक्ति
Absolute right	:	आत्यन्तिक अधिकार
Accept	:	प्रतिग्रहण करना, स्वीकार करना
Acceptance	:	प्रतिग्रहण, स्वीकृति
According to	:	के अनुसार
According to law	:	विधि के अनुसार
Accordingly	:	तदनुसार
Account	:	लेखा
Account for	:	लेखा-जोखा देना
Accretion	:	अनुवृद्धि
Accrual of income	:	आय का प्रोद्भव
Accrued interest	:	प्रोद्भूत ब्याज
Accumulation	:	संचयन
Acknowledge	:	अभिस्वीकृत करना
Acquire	:	अर्जित करना, अर्जन करना
Act	:	1. अधिनियम, 2. कार्य
Act in representative character	:	प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य करना
Act in good faith	:	सद्भावपूर्वक कार्य करना
Act in his behalf	:	उसकी ओर से कार्य करना
Act in bad faith	:	असद्भावपूर्ण कार्य
Act on behalf of	:	की ओर से कार्य करना

Actual	:	वास्तविक
Actual possession	:	वास्तविक कब्जा
Adhoc	:	तदर्थ
Adjustment	:	समायोजन
Admissible	:	अनुज्ञेय
Adopt	:	दत्तक ग्रहण करना
Adopted child	:	दत्तक अपत्य
Adopted son or daughter	:	दत्तक पुत्र या पुत्री
Adoption	:	दत्तक-ग्रहण
Adoptive family	:	दत्तक कुटुंब
Adoptive father or mother	:	दत्तक पिता या माता
Adult	:	वयस्क
Adult male members of the family	:	कुटुंब के वयस्क पुरुष सदस्य
Adulterer	:	जारकर्मी
Adultery	:	जारकर्म, जारता
Advance	:	अधिदाय, अधिदाय करना
Advantage	:	फायदा या लाभ
Adverse	:	प्रतिकूल
Adverse to the interest of the minor	:	अप्राप्यवय के हित के प्रतिकूल
Affecting	:	प्रभाव डालने वाला
Affection	:	स्नेह
Affinity	:	विवाह-संबंध
Aforesaid	:	उपर्युक्त
Afterwards	:	तत्पश्चात्
Against	:	विरुद्ध
Age	:	वय, आयु
Agreement	:	करार
Agreement of arbitration	:	माध्यस्थम् करार
Agreement in restraint of marriage	:	विवाह का अवरोधक करार
Agreement in writing	:	लिखित करार
Alienate	:	अन्यसंक्रामण करना
Alienation	:	अन्यसंक्रामण

Alienation of property : संपत्ति का अन्यसंक्रामण
Aliyasantan law : अलियसंतान विधि
Allot : आबंटन करना
Allotment : आबंटन
Allow : अनुज्ञात करना
Ambiguous : संदिग्धार्थ
Amicable settlement : सौहार्दपूर्ण समझौता
Amount : रकम, धनराशि, मात्रा
Analogous : सदृश
Answerable : उत्तरदायी
Antecedent : पूर्वगामी
Apparent : प्रकट, दृश्यमान
Apparent owner : दृश्यमान् स्वामी
Appeal : अपील
Appealable : अपीलनीय, अपील योग्य
Appellate court : अपील न्यायालय
Applicable : लागू
Application for restitution : प्रत्यास्थापन के लिए आवेदन
Apply : लागू होना
Arbitration : माध्यस्थम्
Arise : उठाना, उद्भूत होना
Arrear : बकाया
Arrear of land revenue : भू राजस्व का बकाया
As : के रूप में, के नाते,
As against : के विरुद्ध
As against creditors : लेनदारों के विरुद्ध
As of right : साधिकार
As regards : के विषय में
As respects : के बारे में
Ascendant : पूर्व पुरुष
Ascending degree : उपरली डिग्री
Ascertain : अभिनिश्चित करना
Assent : अनुमति
Assert : प्राख्यान करना
Assets : आस्तियां
Assignee ; समनुदेशिती

Assist	:	सहायता करना
Attach	:	कुर्क करना
Attachment	:	कुर्की
Attain majority	:	प्राप्तवय या वयस्क होना
Attend	:	देखभाल करना
Attest	:	अनुप्रमाणित करना
Auction sale	:	नीलाम विक्रय
Available	:	उपलब्ध
Award	:	अधिनिर्णय
Bad faith, in	:	असद्भावपूर्वक
Bad in law	:	विधि की दृष्टि से दोषपूर्ण
Bar to the suit	:	वाद का वर्जन
Barred by limitation	:	परिसीमा वर्जित
Barred by time	:	कालवर्जित, परिसीमावर्जित
Begotten	:	गर्भाहित; 2. जनित
Benefit	:	फायदा
Bequeath	:	वसीयत करना
Between	:	बीच
Between parties	:	पक्षकारों के बीच
Beyond	:	के परे, से परे
Beyond a period of	:	की कालावधि से परे
Bigamy	:	द्विविवाह
Binding	:	आबद्धकर
Blend	:	संमिश्रण, संमिश्रण करना
Blood, uterine	:	एकोदर रक्त
Blood relationship	:	रक्त नातेदारी
Bonafide	:	सद्भावपूर्वक, सद्भाविक
Bonafide possession	:	वास्तविक कब्जा
Bound by law	:	विधि द्वारा आबद्ध
Business	:	कारबार
By law	:	विधि द्वारा, विधि के अनुसार
By or on behalf of	:	द्वारा या की ओर से
By virtue of	:	के फलस्वरूप
Camera, in	:	बंद कमरे में
Capable of execution	:	निष्पादन योग्य
Capacity	:	सामर्थ्य, हैसियत

Care	:	देख-रेख
Carry out	:	कार्यान्वित करना
Case	:	दशा, मामला
Cease	:	समाप्त हो जाना
Cease to exist	:	अस्तित्वहीन होना
Celebration	:	अनुष्ठापन
Celebration of ceremony	:	गृह्यकर्म का अनुष्ठापन
Certificated purchaser	:	प्रमाणपत्रित क्रेता
Cessation	:	समाप्ति, परिविरति
Character	:	रूप, शील, चरित्र, हैसियत
Charge	:	भार
Charge upon immovable property	:	स्थावर संपत्ति का भार
Child	:	अपत्य, पुत्र-पुत्री, शिशु, संतान
Childless	:	नि: संतान
City civil court	:	नगर सिविल न्यायालय
Claim	:	दावा, दावा करना
Claimant	:	दावेदार
Class	:	वर्ग
Coercion	:	प्रपीड़न
Cognate	:	बंधु
Cohabitation	:	सहवास
Collateral	:	सांपार्श्विक
Collateral heirs	:	सांपार्श्विक वारिस
Collusion	:	दु: संधि
Commencement of Act	:	अधिनियम का प्रारंभ
Common ancestor, descended from a	:	एक ही पूर्वज से अवजनित
Concubinage	:	उपपत्नी के रूप से रखा जाना, उपपत्नीत्व
Concurrent	:	समवर्ती
Condition	:	दशा, शर्त, परिस्थिति
Condition restraining alienation	:	अन्य संक्रामण को अवरुद्ध करने वाली शर्त
Conduct	:	1. आचरण; 2. संचालन करना
Confirm	:	पुष्ट करना

Conjugal rights, restitution of	:	दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन
Conscientiously	:	निष्ठापूर्वक
Consideration	:	प्रतिफल, विचार
Consideration, transferee for	:	सप्रतिफल अंतरिती
Consolidate	:	समेकित करना
Construction	:	अर्थ लगाना, अर्थान्वयन
Construe	:	अर्थ लगाना
Contract for sale		विक्रय की संविदा
Contracting debt	:	ऋण लेना
Contravention	:	उल्लंघन
Conversion	:	संपरिवर्तन
Convert	:	संपरिवर्तित व्यक्ति
Coparcenary	:	सहदायिकी
Coparcernary interest	:	सहदायिकी हित
Coparcenary property	:	सहदायिकी संपत्ति
Coparcener	:	सहदायिक
Court of wards	:	प्रतिपाल्य अधिकरण
Coverture	:	पति संरक्षण
Creation	:	सृजन, सृष्टि
Creditor	:	लेनदार
Cruelty	:	क्रूरता
Custody	:	अभिरक्षा
Custody of the minor	:	अप्राप्तवय की अभिरक्षा
Custom	:	रूढ़ि
Custom having the force of law	:	विधि का बल रखनेवाली रूढ़ि
Customary	:	रूढ़िगत
Deal with	:	1. व्यवहार करना, 2. चर्चा करना
Deal with property	:	संपत्ति के विषय में संव्यहार करना, संपत्ति की बाबत संव्यवहार करना
Dealings	:	व्यवहार
Debt	:	ऋण
Deceased	:	मृतक, मृत

Decision	:	विनिश्चय
Declaration	:	घोषणा
Declaratory	:	घोषणात्मक
Declaratory suit	:	घोषणात्मक वाद
Decree	:	डिक्री, आज्ञप्ति
Decree holder	:	डिक्री का धारक
Dedicate	:	समर्पित करना
Dedication	:	समर्पण
Deed	:	विलेख
Deemed, shall be	:	समझा जाएगा
De facto	:	वस्तुत: वास्तविक
Defeat	:	विफल होना
Defence	:	प्रतिवाद
Defend	:	प्रतिवाद करना
Define	:	परिनिश्चित करना, परिभाषित करना
Definition	:	परिभाषा, परिनिश्चय
Defraud creditors	:	लेनदारों को कपटवंचित करना
Degree	:	मात्रा, पीढ़ी, डिग्री
Degree of prohibited relationship	:	प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी
Degrees of ascent	:	उपरली डिग्रियां
Degrees of descent	:	निचली डिग्रियां, निचली ओर की डिग्रियां
Degrees of relation ship	:	नातेदारी की डिग्रियां
Deity	:	देवता
Dejure guardian	:	विधित : संरक्षक
Delivery of possesion	:	कब्जे का परिदान
Demand	:	मांग करना
Denote	:	द्योतक होना
Denounce	:	प्रत्याख्यान करना
Dependant	:	आश्रित
Deprive	:	वंचित करना
Descendant	:	वंशज
Descended from a common ancestor	:	एक ही पूर्वज से अवजनित
Determination	:	अवधारणा

Determine	:	अवधारित करना, निश्चित करना
Detrimental	:	अहितकर
Devise	:	विल करना, वसीयत द्वारा देना
Devolve	:	न्यागत होना
Discharge	:	उन्मोचन, निर्वहन
Discharge of debt	:	ऋण का उन्मोचन
Discharge of the liability	:	दायित्व का निर्वहन
Discretion	:	विवेकाधिकार
Discretion, in his	:	स्वविवेकानुसार
Disentitle	:	निर्हकित करना
Disposal	:	व्ययन
Dispose	;	व्ययनित करना
Dispossess	:	बेकब्जा करना
Disprove	:	नासाबित, झूठासिद्ध करना
Disputed	:	विवादग्रस्त
Disqualification	:	निरर्हता
Disqualified	:	निरर्हित होना
Disrupt	:	विच्छिन्न होना
Disrupted, family is	:	कुटुंब विभाजित हो जाता है
Dissolution	:	विघटन
Divest	:	निर्निहित करना
Divide	:	विभाजित करना, विभक्त करना
Donation	:	दान
Donee	:	आदाता
Donor	;	दाता
Duration	:	कालावधि, अवधि
During the marriage	:	विवाहित स्थिति के दौरान
Effect, shall have	:	प्रभावी होगा, प्रभावशील होगा
Effect, take	:	प्रभावी होना
Enact	;	अधिनियमित करना
Enactment	:	अधिनियमिति
Encumbrance	:	विल्लंगम
Enforce	:	प्रवर्तित करना, लागू करना
Enforce a partition	:	विभाजन कराना
Enforcement	:	प्रवर्तन

Enter into contract	:	संविदा करना
Enter into possession of interest	:	हित का कब्जा कर लेना
Entitled	:	हकदार
Entry	:	प्रविष्टि, प्रवेश
Equity	;	साम्या
Establish	:	स्थापित करना, सिद्ध करना
Estate	:	संपदा
Estate for the life	:	जीवनपर्यन्त के लिए संपदा
Exclude	:	अपवर्जित करना
Execute	:	निष्पादन करना
Execution	:	निष्पादन
Execution sale	:	निष्पादन विक्रय
Existence	:	अस्तित्व
Explanation	:	स्पष्टीकरण
Express	:	अभिव्यक्त, स्पष्ट
Expression	:	पद, शब्द, अभिव्यक्ति
Expressly authorised	:	अभिव्यक्त रूप से प्राधिकृत
Expressly revoked	:	अभिव्यक्त रूप से प्रतिसंहृत
Extend	:	विस्तार होना, विस्तार करना
Extent	:	विस्तार
Extinction	:	निर्वापन
Face of it, on the	:	प्रत्यक्षतः
Facilitate	:	सुकर बनाना
Fact	:	तथ्य
Fact in issue	:	विवाद्यक तथ्य
Factor	:	कारक, कारण
Fail	;	निष्फल होना, विफल होना
Family	:	कुटुंब
Family business	:	कौटुम्बिक कारबार
Family, disrupted	:	विभक्त कुटुम्ब
Fictitious	:	कल्पित
Footnote	:	पाद-टिप्पण
Forbidden	:	निषिद्ध
Force of law	:	विधि का बल

Fraud	:	कपट
Fraudulent dealing	:	कपटपूर्णसंव्यवहार
Full age	:	पूर्ण वय
Full blood	:	पूर्ण रक्त
Funeral	:	अन्त्येष्टि
Generation	:	पीढ़ी
Gift	:	दान
Give effect	:	प्रभावी करना, कार्यान्वित करना
Give in adoption	:	दत्तक देना
Good faith	:	सद्भावपूर्वक, सद्भाविक रूप से
Grand daughter	:	पौत्री, दौहित्री
Grand father	:	पितामह, मातामह (नाना)
Grand mother	:	पितामही, मातामही (नानी)
Grand son	:	पौत्र, दौहित्र
Great grand daughter	:	प्रपौत्री
Great grand son	:	प्रपौत्र
Guardian	:	संरक्षक
Guardian ad litem	:	वादार्थ संरक्षक
Guardian, de facto	:	वस्तुत: संरक्षक
Guardian for the suit	:	वादार्थ संरक्षक
Guardian in marriage	:	विवाहार्थ संरक्षक
Guardian of the person	:	शरीर का संरक्षक
Guardian of the property	:	संपत्ति का संरक्षक
Guardian, testamentary	:	वसीयती संरक्षक
Guardian, to act as	:	संरक्षक के तौर पर कार्य करना
Guardianship	:	संरक्षकर्ता
Half blood	:	अर्ध रक्त
Heir	:	वारिस
Heir, female	:	नारी वारिस
Heir in possession	:	सकब्जा वारिस
Heir male	:	नरवारिस, पुरुष वारिस
Held	:	अभिनिर्धारित; धारित
Hereafter	:	इसके पश्चात्
Hereditary	:	आनुवंशिक

Herein contained : इसमें अन्तर्विष्ट
Herein provided : इसमें उपबंधित
Hereinafter : इसमें इसके पश्चात्
Herein before : इसमें इसके पूर्व
Hindu undivided family : हिंदू अविभक्त कुटुंब
Hold : धारण करना, रखना
Hold a joint interest : संयुक्त हित रखना
Holder : धारक
Hotch potch : आविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति
Husband : पति
Identical : समरूप, समान
Idiot : जड़
Ill treatment : दुर्व्यवहार
Illegal : अवैध
Illegitimacy : अधर्मजत्व
Illegitimate : अधर्मज
Illustrative : दृष्टांतस्वरूप
Immediate : अव्यवहित
Immediate Possession : अव्यवहित कब्जा
Immediately after : अव्यवहित पश्चात्, ठीक पश्चात्
Immediately before : अव्यवहित पूर्व
Immediately succeeding : ठीक उत्तरवर्ती
Immoral life : अनैतिक जीवन
Immovable : स्थावर
Implied : विवक्षित
Implied consent : विवक्षित संपत्ति
Imply : अन्तर्हित होना
Improper : अनुचित
In accordance with : के अनुसार
In all respects : सभी प्रकार से
In camera : बन्द कमरे में
In consequence of : के परिणाम स्वरूप
In consultation with : के परामर्श से
In course of : के दौरान
In fact : वस्तुतः, तथ्यतः
In favour of : के पक्ष में
In law : विधि की दृष्टि में
In lieu of : के स्थान में, के बदले में

In preference to	:	पर अधिमान देकर
In pursuance of	:	के अनुसरण में
In regard to	:	के विषय में
In relation to	:	के संबंध में
In respect of	:	के बारे में, की बाबत
In restraint of marriage, agreement	:	विवाह का अवरोधक करार
In the course of	:	के अनुक्रम में, के दौरान
In the course of the suit	:	वाद के दौरान
In the exercise of	:	का प्रयोग करते हुए
In the first instance	:	प्रथमतः, सर्वप्रथम
In the matter of	:	के विषय में
In the ordinary course of business	:	कारबार के मामूली
In this behalf	:	अनुक्रम में
In writing	:	इस निमित्त
Incapable	:	लिखित, लिखित रूप से
Incident	:	असमर्थ
Include, shall	:	प्रसंगति
Income accruing	:	के अन्तर्गत होगा
Incompetent	:	प्रोद्भवमान आय
Inconsistent	:	अक्षम
Indebted	:	असंगत
Induce	:	ऋणी
Infant	:	उत्प्रेरित करना
Infirm	:	शिशु
Ingedient	:	शिथिलांग
Inherent	:	अवयव, अंग
Inquiry	:	अन्तर्निहित
Insane	:	जांच
Insanity	:	उन्मत्त, पागल
Insolvency	:	उन्मत्तता, पागलपन
Insolvent	:	दिवाला, दिवालियापन
Instead of	:	दिवालिया
Institute	:	के स्थान पर
Instrument	:	संस्थित करना
Intention	:	लिखत
		आशय

Inter vivos :	जीवित व्यक्तियों के बीच
Intercourse :	समागम, संभोग
Interest :	हित, व्याज
Involve :	अन्तर्ग्रस्त होना
Ipso facto :	स्वयं ही
Irrelevant ,	विसंगत, असंगत
Issue :	संतति, विवाद्यक
Joint family :	अविभक्त कुटुम्ब
Joint family property :	अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति
Joint interest :	संयुक्त हित
Joint owners :	संयुक्त स्वामी
Joint tenants :	संयुक्त अभिधारी
Judgment creditor :	निर्णीत लेनदार
Judgment debt :	निर्णीत ऋण
Judgment debtor :	निर्णीत ऋणी
Judicial process :	न्यायिक प्रक्रिया
Judicial separation :	न्यायिक पृथक्करण
Junior :	कनिष्ठ
Jurisdiction :	अधिकारिता
Jurisdiction, appellate :	अपीली अधिकारिता
Juristic person :	विधिक व्यक्ति
Kin :	1. रक्त-संबंध, 2. कुल्य
Kin, nearness of :	रक्त संबंध की निकटता
Kinsman :	कुल्य
Laid down :	अधिकथित
Land revenue :	भू-राजस्व
Law :	विधि
Law in force :	प्रवृत्त विधि
Law of limitation :	परिसीमा विधि
Law suit :	वाद
Lawful :	विधिपूर्ण, विधियुक्त
Lawful authority :	विधियुक्त प्राधिकार
Lawful charge :	विधिपूर्ण प्रभार
Lawful consideration :	विधिपूर्ण प्रतिफल
Lawful execuse :	विधिपूर्ण कारण
Lawful guardian :	विधिपूर्ण संरक्षक

Lawful purpose : विधिपूर्ण प्रयोजन
Lease : पट्टा
Legacy : वसीयत संपदा
Legal : वैध, विधिक
Legal act : वैध कार्य
Legal necessity : वैध आवश्यकता, विधिक आवश्यकता
Legal obligation : विधिक बाध्यता
Legal proceeding : विधिक कार्यवाही
Legal representative : विधिक प्रतिनिधि
Legal right : विधिक अधिकार
Legal right of possession : कब्जे का वैध अधिकार
Legally : वैध रूप से, विधि द्वारा
Legally competent : विधि द्वारा सक्षम
Legally disqualified : विधितः निरर्हित
Legally married : वैध रूप से विवाहित, विवाह वैध रूप से हुआ है
Legitimacy : धर्मजत्व
Legitimate : धर्मज
Legitimate child : धर्मज संतान, धर्मज अपत्य
Liability : दायित्व
Liable : दायी
Liable to account : लेखा देने का दायी
Liable to attachment : कुर्की के दायित्व के अधीन
Liable to pay : देनदार
Life interest : जीवन पर्यन्त हित
Limited : परिसीमित, सीमित
Limited estate : सीमित संपदा
Limited interest : परिसीमित हित
Limited owner : परिसीमित स्वामी
Line : परंपरा
Lineal ascendant : पारंपरिक पूर्वपुरुष, पारंपरिक पूर्वज
Lineal descendant : पारंपरिक वंशज
Local law : स्थानीय विधि
Local limit : स्थानीय सीमा
Lunacy : पागलपन, उन्मत्तता
Lunatic : उन्मत्त
Maintain : भरण-पोषण करना

Maintain suit	:	वाद चलाना
Maintenance	:	भरण-पोषण
Major	:	प्राप्तवय, वयस्क
Majority	:	प्राप्तवयता, वयस्कता
Male ascendant in male line	:	पुरुष परम्परा में पूर्व पुरुष
Male line	:	पुरुष परंपरा
Marriage ceremony	:	विवाह-कर्म
Marriage tie	:	विवाह-बंधन
Material issue	:	तात्विक विवाद्यक
Matrimonial relief	:	विवाहविषयक अनुतोष
Matter in dispute	:	विवाद-ग्रस्त विषय
Matter in issue	:	विवाद्य विषय
Matter of fact	:	तथ्य की बात
Matter of law	:	विधि का विषय
Means	:	1. साधन; 2. से अभिप्रेत है
Mental capacity	:	मानसिक सामर्थ्य
Mental condition	;	मानसिक दशा
Mesne profit	:	अन्त: कालीन लाभ
Method	:	ढंग, रीति
Minor	:	अप्राप्तवय, अवयस्क
Minority	:	अप्राप्तवयता, अवयस्कता
Misjoinder	:	कुसंयोजन
Mitakshara School of Hindu law	:	हिन्दू विधि की मिताक्षरा शाखा
Mixed question of law and fact	:	विधि और तथ्य का मिश्रित प्रश्न
Mortgage	:	1. बन्धक, 2. बन्धक करना
Mortgaged	:	बन्धकित
Mortgage with possession	:	सकब्जा बंधक
Movable property	:	जंगम सम्पत्ति
Mutual agreement	:	पारस्परिक करार
Namely	:	यथा, अर्थात्
Natural	:	नैसर्गिक, प्राकृतिक
Natural guardian	:	नैसर्गिक संरक्षक
Natural guardiaship	:	नैसर्गिक संरक्षकता
Necessaries	;	आवश्यक सामग्री

Necessary party	:	आवश्यक पक्षकार
Neither party	:	कोई भी पक्षकार नहीं
Next	:	निकटतम, ठीक पश्चात्
Next friend	:	वादमित्र
Notice	:	सूचना
Notice, Judicial	:	न्यायिक अवेक्षा
Notice of fact	:	तथ्य की सूचना
Null and void	:	अकृत और शून्य
Nullity	:	अकृतता
Numerical	:	आंकिक
Obligation	:	बाध्यता
Obligation, under	:	बाध्यताधीन; बाध्य
Obligatory	:	बाध्यकारी
Observance	:	अनुपालन
Observe	:	अनुपालन करना
Obsolete	:	अप्रचलित
Obtain	:	अभिप्राप्त करना
Official assignee	:	शासकीय समनुदेशिती
Official receiver	:	शासकीय (प्रापक) रिसीवर
On behalf of	:	की ओर से
On his behalf	:	अपनी या उसकी ओर से
On the face of it	:	प्रत्यक्ष
Operate	:	प्रभावी होना, प्रवर्तन
Operation of law, by	:	विधि की क्रिया द्वारा
Operation of rules, by	:	नियम की क्रिया द्वारा, नियमों का प्रवर्तन
Opinion	:	राय, मत
Option	:	विकल्प
Oral agreement	;	मौखिक करार
Order	:	1. क्रम, 2. पंथ
Order of preference	:	अधिमान क्रम
Ordinarly	:	सामान्यत:
Ordinary course of business	:	कारबार का मामूली अनुक्रम
Original jurisdiction	:	आरंभिक अधिकारिता
Ostensible	:	दृश्यमान
Overriding effect	:	अध्यारोही प्रभाव
Owner	:	स्वामी

Ownership	:	स्वामित्व
Owning	:	स्वामित्व रखने वाला
Paid off	:	भुगतान कर दिया गया
Partial partition	:	आंशिक विभाजन
Particularly	:	विशिष्ट रुप से
Partition	:	विभाजन
Partition, instrument of	:	विभाजन की लिखत
Partition of estate	:	संपदा का विभाजन
Partly	:	अंशत:
party	:	पक्षकार
Party, third	:	पर व्यक्ति
Payment	:	संदाय, भुगतान
Pedigree, family	:	कुटुम्ब-वंशावली, वंशवृक्ष
Pendency of a suit	:	वाद का लंबित होना
Per capita	:	व्यक्तिवार
Per stirpes	:	शाखावार
Period of limitation	:	परिसीमा काल
Period of time	:	कालावधि
Permission	:	अनुज्ञा
Perpetuity	:	शाश्वतता
Persistently	:	बार-बार
Person	:	शरीर
Person of a minor	:	अप्राप्तवय का शरीर, अवयस्क का शरीर
Petition	:	अर्जी, याचिका
Petitioner	:	याची, अर्जीदार
Physical	:	भौतिक
Physical or mental condition	:	शारीरिक या मानसिक दशा
Physical or mental disability	:	शारीरिक या मानसिक निर्योग्यता
Physical possession	:	भौतिक कब्जा
Pious obligation	:	पुनीत कर्तव्य, धार्मिक कर्तव्य
Plaint	:	वाद-पत्र
Plaintiff	:	वादी
Plea	:	अभिवाक्
Point of fact	:	तथ्य का प्रश्न
Point of law	:	विधि का प्रश्न
Position	:	स्थिति

Possession	:	कब्जा
Possession, reversioner in	;	सकब्जा उत्तरभोगी
Power to adopt	:	दत्तक-ग्रहण की शक्ति
Precedence	:	अग्रता
Preclude	:	रोकना
Predeceased	:	पूर्वमृत
Pre-emption	:	अग्रक्रय
Pre-emption, right of	:	अग्रक्रयाधिकार
Preference	:	अधिमान
Preferencial right	:	अधिमानी अधिकार
Prejudice	:	प्रतिकूल प्रभाव
Prejudicial to	:	प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला
Preliminary	:	प्रारम्भिक
Premature	:	समय से पहले
Preseribed by law	:	विधि द्वारा विहित, विधि विहित
Present	:	उपस्थापित करना, प्रस्तुत करना
Presumption	:	उपधारणा
Presumption of fact	:	तथ्य की उपधारणा
Presumption of law	:	विधि की उपधारणा
Prevalent	:	प्रचलित, विद्यमान
Prima facie	:	प्रथम दृष्ट्या
Probate of will	:	विल का प्रोबेट
Procedure	:	प्रक्रिया
Proceedings	:	कार्यवाही
Proof	:	सबूत
Property in suit	:	वादान्तर्गत सम्पत्ति
Prove	:	साबित करना, सिद्ध करना
Provided	:	उपबन्धित
Provided that	:	परन्तु यह तब जबकि
Provision	:	उपवन्ध, व्यवस्था
Prudent	:	प्रज्ञावान, प्रवृद्ध
Purchase money	:	क्रयधन
Purchaser	:	क्रेता
Purpose	:	प्रयोजन
Putative father	:	ख्यात पिता
Qualified	:	अर्हित

Question in issue :	विवाद्य प्रश्न
Question of fact :	तथ्य का प्रश्न
Question of law :	विधि का प्रश्न
Question of mixed law and fact :	विधि और तथ्य का मिश्रित प्रश्न
Question of priority :	पूर्विकता का प्रश्न
Question of title :	हक का प्रश्न
Real :	वास्तविक, यथार्थ
Real issue :	वास्तविक विवाद्यक
Real owner :	वास्तविक स्वामी
Real purchaser :	वास्तविक क्रेता
Realization :	वसूली
Reasonable :	युक्तियुक्त
Reasonable care :	युक्तियुक्त सावधानी
Reasonable enquiry :	समुचित जांच
Reasonably :	उचित प्रकार से
Rebut :	खण्डन करना
Reckon :	संगणना करना
Recognise :	मान्यता देना, स्वीकार करना
Recognition :	मान्यता
Recognized :	मान्यता प्राप्त
Reconvert :	प्रतिसंपरिवर्तित
Reconversion :	प्रतिसंपरिवर्तन
Recourse :	आश्रय
Recover :	प्रत्युद्धरण
Reduce into writing :	लेखबद्ध करना
Refer :	निर्दिष्ट करना
Refuse ;	नामंजूर करना
Reject :	अस्वीकार करना
Relation :	सम्बन्धी
Relationship :	नातेदारी
Relationship by blood :	रक्त पर आधारित नातेदारी
Relevant :	सुसंगत
Relief :	अनुतोष
Religious and charitable endowment :	धार्मिक और पूर्त विन्यास
Religious persuasion :	धार्मिक आस्था

Relinquish	:	त्याग करना, त्यागना
Relinquishment	:	त्यजन
Relinquishment of possession	:	कब्जे का त्यजन
Remedy	:	उपचार
Removal	:	निराकरण, हटाना
Remove	:	निराकरण करना, हटाना,
Renounce	:	त्यागना
Renouncing	:	त्यजन
Rent	:	लगान, किराया
Renunciation	:	त्यजन, त्याग
Repeal	:	निरसन
Repealed	:	निरसित
Replacement	:	प्रतिस्थापन
Representative	:	प्रतिनिधि
Require	:	अपेक्षा करना
Requirements of law	:	विधि की अपेक्षाएं
Rescind	:	विखंडित करना
Resemble	:	के सदृश होना
Reside	:	निवास करना
Residence	;	निवास-स्थान
Residential	:	आवासिक
Residing	:	1. निवास करने वाला; 2. निवास करना
Respondent	:	प्रत्यर्थी
Restitution of conjugal rights	:	दाम्पत्याधिकारों का प्रत्यास्थापन
Retrospective effect	:	भूतलक्षी प्रभाव
Reversioner	:	उत्तरभोगी
Revocation	:	प्रतिसंहरण
Revoke	:	प्रतिसंहृत करना
Right of disposal	:	व्ययन का अधिकार
Right of priority	:	अग्रता का अधिकार
Rule	:	नियम
Sale proceeds	:	विक्रय आगम
Satisfaction	:	तुष्टि, समाधान
Schedule	:	अनुसूची
Scope	:	विस्तार
Sect	:	पंथ
Section	:	धारा

Security	:	प्रतिभूति
Security for debt	:	ऋण के लिए प्रतिभूति
Separate	:	पृथक्
Separation	:	पृथक्करण
Set aside	:	अपास्त करना
Sever	:	पृथक् करना
Severally	:	पृथक्-पृथक्
Shall form part of	:	का भाग होगा
Shall have effect	:	प्रभावी होगा
Share	:	अंग, भाग, हिस्सा
Similar	:	वैसी ही, समरूप
Sodomy	:	गुदा मैथुन
Sole owner	:	एकमात्र स्वामी
Solemnised	:	अनुष्ठापित
Specific performance	:	विनिर्दिष्ट पालन
Specific relief	:	विनिर्दिष्ट अनुतोष
Specified	:	विनिर्दिष्ट
Spouse	:	पति या पत्नी
Statute	:	कानून
Step daughter	:	सौतेलीपुत्री
Step son	:	सौतेला पुत्र
Step father	:	सौतेला पिता
Step mother	:	सौतेली माँ
Stranger	:	पर व्यक्ति
Subject of dispute	:	विवाद की विषय वस्तु
Subject to	:	के अध्यधीन यह है कि, के अध्यधीन रहते हुए
Subject to the condition	:	शर्त के अध्यधीन
Subject to agreement	:	करार के अधीन
Subsequent	:	पश्चात्वर्ती, उत्तरवर्ती
Substantial	:	पर्याप्त
Substantiate	:	सिद्ध करना
Substitute	:	प्रतिस्थापित करना
Substitution	:	प्रतिस्थापन
Succeed	:	उत्तराधिकारी होना
Succeeding	:	उत्तरवर्ती

Succession	:	उत्तराधिकार
Successor	:	उत्तराधिकारी
Sue	:	वाद लाना, वाद चलाना
Sufficient	:	पर्याप्त
Suit	:	वाद
Surety	:	प्रतिभू
Surplus	:	अधिशेष
Survive	:	उत्तरजीवी होना
Survivorship	:	उत्तरजीविता
System	;	पद्धति
System of law	:	विधि पद्धति
Table	:	सारणी
Take advantage of	;	का फायदा उठाना
Take effect	:	प्रभावी होना, प्रभावशील होना
Take in adoption	:	दत्तक लेना
Take judicial notice	:	न्यायिक अवेक्षा करना
Take steps	:	कार्रवाई करना
Tarwad	:	तरवाड़
Technical	:	पारिभाषिक
Tenable	;	मान्य
Tenant for life	:	आजीवन अभिधारी
Tenants in common	:	सामान्यिक अभिधारी
Term	:	अवधि
Territorial jurisdiction	:	क्षेत्रीय अधिकारिता
Test	:	परख, जांच
Text	:	पाठ
Time-barred	:	कालवर्जित
Title	:	हक
Title-deed	:	हक-विलेख
To that effect	:	उस प्रभाव का
To such an extent	:	इस विस्तार तक
Transfer	:	अन्तरण, अन्तरित करना
Transfer of property	:	सम्पत्ति अंतरण
Transferee for value	:	मूल्यार्थ अन्तरिती
Tranferor	:	अन्तरक
Treatment	:	1. व्यवहार, बर्ताव; 2. चिकित्सा

True owner	:	वास्तविक स्वामी
Trust	:	न्यास
Trustee	:	न्यासी
Unchaste	:	असती
Unchastity	:	असतीत्व
Uncodified	:	असंहिताकृत
Under	:	अधीन
Undivided family	;	अविभक्त कुटुम्ब
Unlawful purpose	:	बिधिविरुद्ध प्रयोजन
Usage	:	प्रथा
Usage having force of law	:	विधि का बल रखनेवाली प्रथा
Uterine blood	:	एकोदर रक्त
Valid	:	विधिमान्य
Validity	:	विधिमान्यता
Various	:	विभिन्न
Varbal	:	मौखिक
Vest absolutely	:	अंतिम रूप से निहित होना
Vested	:	निहित
Vesting of property	:	संपत्ति का निहित होना
Virulut	:	उग्र, असाध्य
Void	:	शून्य
Void for uncertainity	:	अनिश्चितता के कारण शून्य
Voidable	:	शून्यकरणीय
Viodable at the option of	:	के विकल्प पर शून्यकरणीय
Waste	:	दुर्व्यय, दुर्व्ययन करना
Wedlock	:	विवाह
Whereas	:	यत:
Wholly and exclusively	:	पूर्णत: और अनन्यत:
Widow's estate	:	विधवा की सम्पदा
Wilful	:	जानबूझ कर
Wilful neglect	:	जानबूझ कर उपेक्षा
Will	:	1. विल, 2. इच्छा
With due regard	:	सम्यक् ध्यान रखते हुए
With reference to	:	के संदर्भ में
Withdraw	:	प्रत्याहृत करना
Withdrawal	:	प्रत्याहरण
Withhold	:	विधारित करना

हिन्दी-अंग्रेजी शब्द सूची

अंतःकालीन लाभ : Mesne profit
अंतरक : Transferor
अंतरण लिखत : Instrument of transfer
अंतर्गत : Included
अंतर्ग्रस्त : Involved
अंतिम रूप से : Finally
अंत्येष्टि संस्कार : Funeral ceremonies
अकृत : Null
अकृतता : Nullity
अकृतता की डिक्री : Decree of nullity
अध्यारोही प्रभाव : Overriding effect
अनर्हित : Unqualified
अनाथ : Orphan
अनिवार्य : Unavoidable, essential
अनुचित : Undue
अनुचित प्रभाव : Undue influence
अनुज्ञा : Permission
अनुज्ञात : Permitted
अनुज्ञेय : Admissible
अनुप्रमाणित : Attested
अनुमति देना : To assent
अनुमान करना : To infer
अनुवृद्धि : Accretion
अनुष्ठापित : Solemnised
अनुसमर्थन : Ratification
अनुसूची : Schedule
अनैतिक : Immoral
अन्यसंक्रामण : Alienation
अपत्य : Child
अपास्त : Set aside
अपील योग्य : Appealable
अपीलनीय : Appealable
अपीलार्थी : Appellant

अप्राप्तवय	:	Minor
अप्राप्तवयता	:	Minority
अभाव	:	Absence
अभित्यजन	:	Desertion
अभिधारी	:	Tenant
अभिनिर्धारित	:	Held
अभिवाक्	:	Plea
अभिव्यक्त	:	Express
अभ्यासतः	:	Habitually
अर्जित करना	:	To acquire
अर्जी	:	Petition
अर्जीदार	:	Petitioner
अर्थ लगाना	:	Construe
अर्थात्	:	Namely
अर्थान्वयन	:	Construction
अवजनित	:	Descended
अवधारण	:	Determination
अवधि	:	Limit, period
अवयस्क	:	Minor
अवसीयती	:	Non-testamentary
अविकल	:	Unimpaired, intact
अविच्छिन्न	:	Uninterrupted
अविद्यमान	:	Non-existent
अविधितः	:	Illegally
अविधिमान्य	:	Invalid
अविभक्त	:	Joint, undivided
अविभक्त संपत्ति	:	Hotch-potch, undivided property
अविभाज्य संपदा	:	Impartible estate
अविवाहिता	:	Spinster, unmarried
असतीत्व	:	Unchastity
असद्भाव	:	Bad faith
असाध्य	:	Uncurable
अहित	:	Disadvantage
अहितकर	:	Disadvantageous ; Detrimental
आंशिक	:	Partial
आक्षेप	:	Objection, challenge
आगम	:	Proceeds

आजीवन	:	For life
आज्ञप्ति	:	Decree
आत्यंतिक अधिकार	:	Absolute right
आत्यंतिक स्वामी	:	Absolute owner
आनुवंशिक	:	Hereditary
आपसी	:	Mutual
आपसी करार	:	Mutual agreement
आबंटन	:	Allotment
आबद्ध	:	Bound
आबद्धकर	:	Binding
आशय	:	Intention
आस्तियां	:	Assets
इस अर्थ में	:	In this sense
इस निमित्त	:	In this behalf
इसलिए कि	:	In order that
उग्ररूप	:	Virulent form
उच्च न्यायालय	:	High court
उच्चतम न्यायालय	:	Supreme court
उत्तरजीविता	:	Survivorship
उत्तरजीविता द्वारा उत्तराधिकार	:	Succession by survivorship
उत्तरजीवी	:	Survivor
उत्तरजीवी सहदायिक	:	Surviving Coparcener
उत्तरभोगहित	:	Reversionary interest
उत्तरभोगी	:	Reversioner
उत्तराधिकार	:	Succession
उत्तराधिकारी	:	Successor
उद्भूत होना	:	To arise
उन्मत्त	:	Insane
उन्मत्तता	:	Insanity
उपगत	:	Incurred
उपचार	:	Remedy
उपधारणा	:	Presumption
उपधारित	:	Presumed
उपबन्ध	:	Provision
उपबन्धित	:	Provided
उपरली डिग्री	:	Degree of ascent
उस दशा में जब कि	:	In the event of

उस विस्तार तक	:	To the extent of
उसके अधीन	:	Thereunder
उसके आधार पर	:	On the basis thereof
उसके बदले में	:	In lieu thereof
ऋण	:	Debt
ऋण लेना	:	To Contract a debt
ऋणी	:	Debtor
एकमात्र	:	Sole
एकमात्र सहदायिक	:	Sole coparcener
एकमात्र स्वामी	:	Sole owner
एक साथ	:	Simultaneous
एक ही	:	Common
एक ही पूर्वज से अवजनित	:	Descended from a common ancestor
एकोदर	:	Uterine blood
ऐसा ही	:	Like
ऐसा होने पर भी	:	Nevertheless
कथन	:	Statement
कनिष्ठ	:	Junior
कपट	:	Fraud
कपटपूर्ण	:	Fraudulent
कपटपूर्वक	:	Fraudulently
कब्जा	:	Possession
कब्जे का हकदार	:	Entitled to possession
करार	:	Agreement
करार के अध्यधीन	:	Subject to agreement
कर्त्तव्य	:	Duty
कर्त्तव्य का निर्वहन	:	Discharge of duty
कर्त्ता	:	Manager
कल्पित व्यक्ति	:	Fictitious person
कानूनी	:	Statutory
कारबार का मामूली अनुक्रम	:	Ordinary course of business
कार्यकाल	:	Duration
कार्यवाही	:	Proceedings
कार्यान्वयन	:	Implementation
कार्यान्वित करना	:	To give effect to
कार्रवाई	:	Action
कालवर्जित	:	Barred by time

कालावधि	:	Duration, period
(की) बाबत	:	In respect of
कुटुंब	:	Family
कुप्रबन्ध	:	Mismanagement
कुर्की	:	Attachment
कुल्य	:	Kin
कुष्ठ	:	Leprosy
कुसंयोजन	:	Misjoinder
कृत्य	:	Rite
केन्द्रक	:	Nucleus
कोटि	:	Category, Degree
कोष	:	Fund
क्रेता	:	Purchaser
क्रोड पत्र	:	Codicil
क्षेत्रीय अधिकारिता	:	Territorial jurisdiction
खंड	:	Clause
खण्डन करना	:	To rebut
खारिज	:	Rejected
खारिज करना	:	To dismiss
खो देना	:	To lose
ख्यात पिता	:	Putative father
गर्भाहित	:	Begotten
गुण	:	Quality
गुदा मैथुन	:	Sodomy
गृह्यकर्म	:	Ceremonies
गोत्रज	:	Agnate
ग्राम अभिलेख	:	Village record
घोषणा	:	Declaration
घोषणात्मक डिक्री	:	Declaratory decree
चक्रानुक्रम	:	Rotation
चढ़ावा	:	Offering
चित्त विकृति	:	Unsoundness of mind
चुकाना	:	To discharge
जंगम संपत्ति	:	Movable property
जड़	:	Idiot
जनकता	:	Parentage

जनित : Begotten
जन्म : Birth
जांच : Inquiry
जानते हुए : Knowingly
जानबूझकर : Wilful
जारकर्म : Adultery
जारकर्मी : Adulterer
जारता : Adultery
जीवनकाल : Life time
जीवनकाल में : Inter vivos
जीवन स्तर : Standard of living
जीवाभ्यन्तर : Inter vivos
जीविका के साधन : Means of living
जीवित : Alive
जीवित जन्म : Live birth
ज्येष्ठ : Senior
टिप्पण : Note
ठीक पश्चात् : Immediately succeeding
ठीक पूर्ववर्ती : Last preceding
ठीक बाद का : Next
डिक्री : Decree
डिक्री का उन्मोचन : Discharge of decree
डिक्री का धारक : Holder of the decree
डिक्री का निष्पादन : Execution of decree
डिक्री की तुष्टि : Satisfaction of decree
डूबन्त ऋण : Bad debt
ढंग : Mode
तत्काल : Forthwith
तत्क्षण : Forthwith
तत्व : Elements
तत्वत : Materially
तत्पश्चात् : Thereafter, Afterwards
तत्संबंधी : Corresponding
तत्सम : Corresponding
तत्समय : For the time being
तत्समय प्रवृत्त विधि : Law for the time being in force
तथ्य : Fact

तथ्यतः : In fact
तदधीन : Thereunder
तदनुसार : Accordingly
तदर्थ : Adhoc
तदुपरान्त : Thereafter
तात्पर्य : Tenor
तात्पर्यित : Purporting
तात्विक तथ्य : Material fact
तुष्टि : Satisfaction
त्यजन : Renunciation
त्याग देना : Relinquish
दत्तक अपत्य : Adopted child
दत्तक कुटुंब : Adoptive family
दत्तकग्रहण : Adoption
दत्तकग्रहण प्राधिकार : Authority to adopt
दत्तक देना : To give in adoption
दत्तक पिता : Adoptive father
दत्तक पुत्र : Adopted son
दत्तक माता : Adoptive mother
दशा : Condition, State, case
दान : Gift, Donation
दान की लिखत : Instrument of gift
दायित्व : Liability
दायित्व के अधीन : Liable
दायी : Liable
दावा : Claim
दावेदार : Claimant
दिवाला : Insolvency
दिवालिया : Insolvent
दुरुपयोग : Misuse
दुष्प्रेरक : Abettor
दुष्प्रेरण : Abetment
दृश्यमान स्वामी : Ostensible owner
दृष्टान्त : Illustration
दृष्टान्तस्वरूप : Illustrative
देखरेख : Care
देनदार : Liable to pay

देने का दायी : Liable to pay
देवता : Deity
दोषी : Guilty
दौरान : During
द्विविवाह : Bigammy
धन : Money
धन के वाद : Money suit
धनराशि : Sum of money
धर्मज : Legitimate
धर्मज अपत्य : Legitimate child
धर्मजत्व : Legitimacy
धारक : Holder
धारण : Concept
धारा : Section
धारित : Held
धार्मिक आस्था : Religious persuasion
धार्मिक पंथ : Religious order
धार्मिक व्रत : Religious vows
धोखा देना : Defraud
नर : Male
नवीकरण : Renewal
नवीकृत : Renewed
नातेदारी : Relationship
नातेदारी की डिग्रियां : Degrees of relationship
नामंजूर करना : Refuse
नामान्तरण : Mutation
नामित : Named
नारी : Female
ना साबित करना : Disprove
निकटतम : Next
निचली ओर की डिग्री, निचली डिग्री : Degree of descent
निधि : Fund
नियम : Rule
निरर्हता : Disqualification
निरसित : Repealed
निराकरण : Removal

निर्णय	:	Judgment
निर्णीत ऋणी	:	Judgment debtor
निर्णीत लेनदार	:	Judgment creditor
निर्निहित करना	:	To divest
निर्बन्धन	:	Restriction
निर्योग्यता	:	Disability
निर्वापन	:	Extinction
निर्हकित	:	Disentitled
निवास	:	Residence
निवासस्थान	:	Residence
निश्चयात्मक	:	Conclusive
निष्पादन विक्रय	:	Execution sale
निहित	:	Vested
नीलाम	:	Auction
नीलाम विक्रय	:	Auction sale
नैसर्गिक	:	Natural
न्यागत	:	Devolved
न्यायालय की अभिरक्षा	:	Custody of court
न्यायिक पृथक्करण	:	Judicial separation
न्यास	:	Trust
न्यासी	:	Trustee
पंथ	:	Sect, order
पक्षकार	:	Party
पट्टा	:	Lease
पति या पत्नी	:	Spouse
पद्धति	:	System
परन्तु	:	Provided that
परन्तुक	:	Proviso
परख	:	Test
परम्परा	:	Line
पर व्यक्ति	:	Third party, third person
परिणाम	:	Result, consequence
परिणामस्वरूप	:	In consequence of
परित्यक्त करना	:	To abandon
परित्याग	:	Abandonment
परिदान	:	Delivery
परिधि	:	Scope
परिनिश्चित	:	Defined

परिनिश्चय	:	Definition
परिमाण	:	Amount, quantity
परिवर्तन	:	Alteration, Change
परिशिष्ट	:	Appendix
परिसीमा	:	Limitation
परिसीमा वर्जित	:	Barred by time
पर्याप्त	:	Sufficient
पागल	:	Lunatic
पागलपन	:	Lunacy
पाठ	:	Text
पितामह	:	Father's father
पितामही	:	Father's mother
पितृपक्ष या मातृपक्ष	:	Paternal or maternal side
पीढ़ी : डिग्री	:	Degree
पुजारी	:	Priest
पुत्र-पुत्री	:	Child
पुत्रवधू	:	Daughter-in-law (Son's wife)
पुत्री	:	Daughter
पुनरावृत्ति	:	Repetition
पुनरुज्जीवित	:	Revived
पुनरेकीकरण	:	Reunion
पुनर्गठन	:	Reconstitution
पुनर्विवाह	:	Remarriage
पुनीत कर्तव्य	:	Pious obligation
पुरुष परम्परा	:	Male line
पूर्णतः	:	Entirely, wholly
पूर्ण रक्त	:	Full blood
पूर्णरक्त का भाई	:	Brother full-blood
पूर्ण रूप से	:	Absolutely
पूर्ण वय का	:	Of full age
पूर्त	:	Charitable
पूर्त कार्य	:	Charity
पूर्त प्रयोजन	:	Charitable purpose
पूर्त संस्था	:	Charitable institution
पूर्व	:	Previous
पूर्वगामी ऋण	:	Antecedent debt

पूर्वज : Ancestor
पूर्वतन : Previous
पूर्वतर : Earlier
पूर्वपुरुष : Ascendant
पूर्वमृत : Predeceased
पूर्विक : Prior
पूर्विकता : Priority
पूर्विक बंधकदार : Prior mortgagee
पूर्विक व्ययन : Prior disposition
पूर्विक हित : Prior interest
पृथक् : Separate
पृथक्करण : Separation
पृथक्तः : Separately, Severally
पृथक्-पृथक् : Separately, Severally
पौत्र : Son's son
पौत्री : Son's daughter
प्रकट : Apparent
प्रकृति : Nature
प्रक्रिया : Procedure
प्रतिकूल कब्जा : Adverse possession
प्रतिग्रहण : Acceptance
प्रतिनिधि : Representative
प्रतिनिधित्व : Representation
प्रतिपाल्य : Ward
प्रतिफल : Consideration
प्रतिभू : Surety
प्रतिमा : Image
प्रतिवर्तित : Reverted
प्रतिवाद : Defence
प्रतिवादी : Defendant
प्रतिषिद्ध : Prohibited
प्रतिसंपरिवर्तित : Reconvert
प्रतिसंहरण : Revocation
प्रतिसंहृत : Revocated
प्रतिस्थापन : Substitution
प्रतिस्थापित : Substituted
प्रत्यर्थी : Respondent

प्रत्यागम	:	Returns
प्रत्युद्धरण	:	Recovery
प्रथम दृष्टया	:	Prima facie
प्रथा	:	Usage
प्रपौत्र	:	Son's Son's son
प्रपौत्री	:	Son's Son's daughter
प्रबन्ध	:	Management
प्रपीड़न	:	Coercion
प्रभावशील	:	Effectual
प्रमाणपत्रित	:	Certificated, certified
प्रवर्तन	:	Enforcement
प्रविष्टि	:	Entry
प्रवेश	:	Introduction
प्रसंगति	:	Incident
प्राकृतिक	:	Natural
प्राथमिक	:	Primary
प्राधिकार	:	Authority
प्राधिकृत	:	Authorized
प्राप्तवय	:	Major
प्राप्तवयता	:	Majority
प्राप्तवय होना	:	To attain majority
प्रास्थिति	:	Status
प्रोदमूत होना	:	To accrue
प्रोबेट	:	Probate
फायदा	:	Benefit
फायदा पाने का हकदार	:	Entitled to the benefit
बंधक	:	Mortgage
बंधककर्ता	:	Mortgagor
बंधकदार	:	Mortgagee
बंधु	:	Cognate
बदले में	:	Substitute
बल	:	Force
बात	:	Factor, Matter
बाध्यकर	:	Obligatory
बाध्यता	:	Obligation
बाध्यताधीन	:	Under obligation
ब्याज	:	Interest
भरण-पोषण	:	Maintenance

भौतिक कब्जा	:	Physical possession
मठ	:	Matha, Monastery
मध्यस्थ	:	Arbitrator
मातामह	:	Mother's father
मातामही	:	Mother's mother
माध्यस्थम्	:	Arbitration
मानसिक दशा	:	Mental condition
मान्य	:	Valid, Tenable
मान्यता	:	Recognition
माप और सीमांकन	:	Metes and bounds
मूल वाद	:	Original suit
मृत	:	Deceased
मृतक	:	Deceased
यतः	:	Whereas
यथा	:	Namely, for example
यथायोग्य	:	Adequate
यथास्थिति	:	As the case may be
याचिका	:	Petition
युक्तियुक्त	:	Reasonable
रक्त नातेदारी	:	Blood relationship
रक्त संबंध	:	Kin
रक्त संबंध की निकटता	:	Nearness of kin
लंबित	:	Pending
लागू	:	Applicable
लागू होना	:	Application, to apply
लिखत	:	Instrument
वंचित करना	:	To deprive
वयः	:	Age
वयस्क	:	Major
वसीयत	:	Bequest
वसीयत करना	:	To bequeath
वसीयतकर्ता	:	Testator
वसीयती	:	Testamentary
वसीयती संरक्षक	:	Testamentary guardian
वस्तुतः	:	Actual, De facto
वस्तुतः संरक्षक	:	Defacto guardian
वाद	:	Suit

वादपत्र : Plaint
वादमित्र : Next friend
वादान्तर्गत : In suit
वादी : Plaintiff
वारिस : Heir
वास्तव में : Actually
वास्तविक : Defacto, actual
वास्तविक कब्जा : Actual possession
विक्रय आगम : Sale proceeds
विच्छिन्न : Disrupted
विधि के अनुसार : By law
विधि की उपधारणा : Presumption of law
विधि की क्रिया (के प्रवर्तन) द्वारा : By operation of law
विधिक व्यक्ति : Juristic person
विधितः : Dejure
विधिमान्य : Valid
विनिर्दिष्ट : Specified
विनिश्चय : Decision
विभाजन : Partition
विभक्त कुटुंब : Disrupted family
विरासत : Inheritance
विल : Will
विवक्षित : Implied
विवादग्रस्त : In dispute
विवाद्य : In issue
विवाह बंधन : Marriage tie
विवाह बाह्य : Outside wedlock
विवाह विच्छेद : Divorce
विवाहार्थ संरक्षक : Guardian in marriage
विवाहोत्तर सहवास (संभोग) : Consummation of marriage
विवेक : Discretion
विवेकाधिकार : Discretion
विस्तार : Extent, Scope
विस्तारण : Extension
विस्तार पूर्वक : In detail
विस्तृत : Detailed

विहित	:	Prescribed
वैध	:	Legal
वैधव्य	:	Widowhood
व्यक्तिवार	:	Per capita
व्ययन	:	Disposal
व्यवस्था	:	Provision
व्यवहार	:	Dealings
ब्याज	:	Interest
शर्त	:	Condition
शाखा	:	School
शाखावार	:	Per stirpes
शाश्वत	:	Perpetual
शासित	:	Governed
शिथिलांग	:	Infirm
शील	:	Character
शून्य	:	Null, Void
शून्यकरणीय	:	Voidable
श्वशुर	:	Husband's father ; wife's father
संकल्पना	:	Concept
संचालन	:	Conduct
संतति	:	Issue
संतान	:	Child
संदत्त	:	Paid
संपत्ति	:	Property
संपदा	:	Estate
संपरिवर्तन	:	Conversion
संयुक्त अभिधारी	:	Joint tenant
संरक्षक	:	Guardian
सकब्जा	:	In possession
सतीव्रता	:	Chaste
सद्भाव	:	Good faith
सद्भाविक	:	Bonafide
सबूत	:	Proof
समाविष्ट	:	Comprised
सम्मति	:	Consent
सहदायिक	:	Coparcener

सहदायिकी	:	Coparcenery
सहहित	:	Common interest
साथ-साथ	:	Simultaneously
साम्या	:	Equity
सारणी	:	Table
सीमांकन	:	Demarcation
सुकर बनाना	:	Facilitate
सुस्थिर	:	Well settled
सेवायत	:	Shebait
सौतेला/सौतेली	:	Step
स्रोत	:	Source
स्थापित	:	Established
स्थावर	:	Immovable
स्वस्थ चित्त	:	Sound mind
स्वामित्व	:	Ownership
हक	:	Title
हकदार	:	Entitled
हित	:	Interest
हितबद्ध	:	Interested
हेतुक	:	Cause

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

1. अथर्ववेद : जयदेव शर्मा की हिन्दी व्याख्या सहित, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर।

2. अध्यात्म रामायण : मुनिलाल के हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

3. आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र : भीसेन शर्मा की हिन्दी व्याख्या सहित, सनातन धर्म पुस्तकालय, इटावा।

4. आपस्तम्ब धर्मसूत्र : हरदत्त की संक्षिप्त उज्ज्वलावृत्ति सहित, संपादक—एम० जी० शास्त्री, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।

5. ऋग्वेद : जयदेव शर्मा की हिन्दी व्याख्या सहित, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर।

6. कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् : गुलाबराय बनेशंकर छाया, आनन्द आश्रम, पूना।

7. गौतम धर्मसूत्र : मस्करि भाष्य सहित, सं० डा० वेद मित्र, वेद मित्र एण्ड सन्स, नई दिल्ली।

8. गोत्र-प्रवर भास्कर : भट्टोजि दीक्षित विरचित, सं० उमाशंकर त्रिपाठी, सरस्वती सुषमा के दिसम्बर, 1974 अंक में लघुग्रन्थमाला-23, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

9. गोपथ ब्राह्मण : जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता

10. ताण्डय ब्राह्मण : सम्पादक—ए० चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी।

11. तैत्तिरीयोपनिषद् : ईशादि नौ उपनिषद्, हरिदास गोयन्दका की हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

12. तैत्तिरीय ब्राह्मण सायण भाष्य सहित, सम्पादक नारायण स्वामी, आनन्द आश्रम, पूना।

13. तैत्तिरीय संहिता : सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल पार्डी।

14. दक्ष स्मृति : बीस स्मृतियां, द्वितीय खण्ड, हिन्दी भाष्य सहित, संपादक, श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली।

15. पातंजल योग दर्शन : हरिदास गोयन्दका की हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

16. बृहदारण्यकोपनिषद् : शांकर भाष्य के हिन्दी अनुवाद सहित, गीता-प्रेस, गोरखपुर।

17. बौधायन धर्मसूत्र : श्री गोविन्द स्वामी प्रणीत विवरण सहित, सं० ए० चिन्न स्वामी शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी।

18. मत्स्यपुराण : मत्स्यपुराणांक, कल्याण, विशेषांक वर्ष 1984 और 1985, गीताप्रेस, गोरखपुर।

19. मनुस्मृति : गणेशदत्त की सुबोधिनी हिन्दी टीका सहित, ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स, वाराणसी।

20. महाभारत : रामनारायण शास्त्री के हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

21. मानवगृह्यसूत्र : भीमसेन शर्मा की हिन्दी व्याख्या सहित, सनातन धर्म पुस्तकालय, इटावा।

22. मुण्डकोपनिषद् : ईशादि नौ उपनिषद्, हरिदास गोयन्दका की हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

23. मैत्रायणी संहिता : सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल पार्डी।

24. यजुर्वेद : जयदेव शर्मा की हिन्दी व्याख्या सहित, आर्य साहित्य मंडल, अजमेर।

25. याज्ञवल्क्यस्मृति : विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरा व्याख्या सहित (1926), सं० वासुदेव लक्ष्मण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

26. वसिष्ठ धर्मसूत्र : भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।

27. वामन पुराण : वामनपुराणांक, कल्याण विशेषांक वर्ष 1982, गीताप्रेस, गोरखपुर।

28. वायुपुराण : श्रीरामशर्मा की हिन्दी टीका सहित, संस्कृति संस्थान, बरेली।

29. वाल्मीकीय रामायण : रामनारायण शास्त्री के हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

30. विष्णुपुराण : मुनिलाल के हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

31. विष्णुस्मृति : वैजयन्ती व्याख्या सहित, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।

32. शतपथ ब्राह्मण : सायण भाष्य सहित, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

33. शुक्रनीतिसार : ब्रह्मशंकर मिश्र की हिन्दी टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी।

34. श्रीमद्भागवत : गीताप्रेस, गोरखपुर।

निबन्ध और अन्य संस्कृत ग्रन्थ

1. अमर सिंह : अमरकोश (1920), संपादक आर० शामशास्त्री, ओरिण्टल लाइब्रेरी प्रकाशन, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।

2. कमलाकर भट्ट : निर्णयसिंधु (1940), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

2क. कौटिल्य : अर्थशास्त्र, कौटिलीय सम्पादक श्री राम शर्मा, संस्थान, बरेली।

3. जीमूतवाहन : दायभाग (1982), संपादक ए० सुब्रामणियम् शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

4. देवण्ण भट्ट : स्मृतिचंद्रिका (व्यवहारकाण्ड), (1927) संपादक—आर० शामशास्त्री, ओरियण्टल लाईब्रेरी प्रकाशन, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।

5. नन्दपण्डित : दत्तकमीमांसा, आनन्द आश्रम, पूना।

6. नीलकण्ठ भट्ट : व्यवहारमयूख (1923), गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई।

7. प्रतापरुद्र महादेव : सरस्वतीविलास (व्यवहार काण्ड) (1921), ओरियण्टल लाइब्रेरी प्रकाशन, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।

8. मित्रमिश्र : वीरमित्रोदय (व्यवहार अध्याय) (1875) संपादक-जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, सुचारु यंत्रालय, कलकत्ता।

9. यास्क : निघण्टु तथा निरुक्त (1967), लक्ष्मणस्वरूप की अंग्रेजी टीका के सत्यभूषण योगी के हिंदी

अनुवाद सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

10. वरदराज : व्यवहारनिर्णय (1942), संपादक—के० वी० रंगस्वामी आयंगर और ए० एन० कृष्ण आयंगर, आडियार लाइब्रेरी, मद्रास।

इनसाइक्लोपीडिया

इनसाइक्लोपीडिया आफ दी सोशल साइंसेज, (1963) खण्ड-9. दी मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, संयुक्त राज्य अमेरिका।

अन्य ग्रन्थ

जूलियस जॉली : बृहस्पति और नारद स्मृतियों का अंग्रेजी अनुवाद, माइनर लॉ बुक्स, सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट सीरीज, खण्ड 33, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

डी० एफ० मुल्ला : प्रिंसिपल्स आफ हिन्दू लॉ (1983) सं० टी० एस० देसाई, एम० एन० त्रिपाठी, बम्बई।

पाण्डुरंग वामन काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-2) (1980) अनुवादक अर्जुन चौबे कश्यप, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, हिन्दी समिति प्रभाग, लखनऊ।

स्वामी दयानन्द : सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण), वैदिक यंत्रालय, अजमेर।

हरिदत्त : हिन्दू परिवार मीमांसा, (1963), सरस्वती सदन मंसूरी।